शब्दार्थ-तत्त्व

लेखक
डॉ० शोभाकान्त मिश्र

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
प्रेमचन्द मार्ग, राजेन्द्रनगर, पटना

शब्दार्थ-तत्त्व

लेखक
डॉ० शोभाकान्त मिश्र

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी
पटना

विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजनांतर्गत भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित ।

प्रकाशित ग्रंथ संख्या : २८७

संस्करण : प्रथम संस्करण, ११००
फरवरी, १९८६

मूल्य : रु० ४६-०० (छियालीस रुपये)

प्रकाशक : बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी,
प्रेमचन्द मार्ग, राजेन्द्र नगर,
पटना-८०००१६

मुद्रक : नवयुग प्रिंटिंग प्रेस,
पटना-८००००४

प्रस्तावना

शिक्षा-सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति-संकल्प के अनुपालन के रूप में विश्वविद्यालयों में उच्चतम स्तरों तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ कराने के उद्देश्य से भारत-सरकार ने इन भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथों के निर्माण, अनुवाद तथा प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अन्तर्गत अँगरेजी तथा अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है और मौलिक ग्रंथ भी लिखाये जा रहे हैं। यह कार्य भारत-सरकार विभिन्न राज्य-सरकारों के माध्यम से तथा अंशतः केन्द्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। हिंदीभाषी राज्यों में इस योजना के परिचालन के लिए भारत-सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य-सरकारों द्वारा स्वायत्तशासी निकायों की स्थापना हुई है। बिहार में इस योजना का कार्यान्वियन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्त्वावधान में हो रहा है।

योजना के अन्तर्गत प्रकाश्य ग्रंथों में भारत-सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओं में समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ **शब्दार्थ-तत्त्व** डॉ० शोभाकान्त मिश्र की मौलिक कृति है, जो भारत-सरकार के शिक्षा तथा संस्कृति-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से **बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी** द्वारा प्रकाशित की जा रही है। स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों, शोधार्थियों तथा प्राध्यापकों के लिए यह ग्रंथ उपयोगी सिद्ध होगा।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन-सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जायगा।

लोकेश नाथ झा

(लोकेश नाथ झा)
शिक्षामंत्री, बिहार-सरकार
अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी,
पटना

पटना,
अप्रिल, १९८६

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ 'शब्दार्थ-तत्त्व' डॉ० शोभाकान्त मिश्र [एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्याचार्य, पी०-एच० डी०, डी० लिट्०] रीडर, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय] की मौलिक कृति है ।

एम० ए० के पाठ्य-क्रम में भाषाविज्ञान की एक प्रमुख शाखा, अर्थविज्ञान, निर्धारित विषय है । हिन्दी में इस विषय का समग्रता में विवेचन-विश्लेषण करने वाला कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था । इस ग्रन्थ के प्रकाशन से उस अभाव की पूर्ति होगी और अर्थविज्ञान के अध्ययन-अध्यापन को एक नया आयाम मिलेगा, यह मेरा विश्वास है ।

डॉ० शोभाकान्त मिश्र लब्धप्रतिष्ठ लेखक और भाषा एवं साहित्य के परिनिष्ठित विद्वान तथा यशस्वी अध्यापक हैं । साहित्यशास्त्र की अलंकार-धारणा तथा गुण-मीमांसा पर बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी से पूर्वप्रकाशित इनके दो ग्रन्थ काफी लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं और उनसे लेखक को पर्याप्त यश मिला है ।

डॉ० मिश्र पचीस वर्षों से भाषाविज्ञान और काव्य-शास्त्र का अध्यापन करते आ रहे हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में इनके भाषा तथा साहित्य-शास्त्र के दीर्घकालीन अध्ययन-अध्यापन के अनुभव से पुष्ट अर्थवैज्ञानिक चिन्तन का आकलन है । मेरा विश्वास है कि हिन्दी, संस्कृत तथा अन्य भाषाओं के उच्चस्तरीय विद्यार्थी इस ग्रन्थ से पूरा लाभ उठायेंगे ।

ग्रंथ के मुद्रण-प्रकाशन में प्राप्त सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोगों के लिए अकादमी आभार स्वीकारती है ।

(डॉ० वैकुण्ठनाथ ठाकुर)
निदेशक,
बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी,

पटना
अप्रिल, १९८६

समर्पण

सहधर्मिणी

उषाकिरण मिश्र को

सप्रीति

—शोभाकान्त मिश्र

भूमिका

भाषा मानव जीवन का वह महनीय अवदान है जिसने भाव और विचार के विनिमय की शक्ति प्रदान कर मानव-समुदाय को समाज के रूप में संघटित किया, चिन्तन और अभिव्यक्ति की क्षमता देकर उसकी सांस्कृतिक चेतना का विकास किया। वह आदि काल से मनुष्य के भाव और विचार को न केवल वहन करती आ रही है, उन्हें विकसित और समृद्ध भी करती आ रही है। कुछ विचारकों की यह धारणा निराधार नहीं है कि भाषा की सीमा ही मनुष्य के बोध की परा सीमा होती है। भाषा के बिना न तो चिन्तन सम्भव होता है और न अपने बोध का दूसरों तक सम्प्रेषण ही। इस दृष्टि से यह विचार सारपूर्ण है कि हमारे समग्र बोध भाषा-बद्ध ही होते हैं।

प्रकृति ने मानव-मस्तिष्क की विशिष्ट संरचना में वाक्-केन्द्र का निर्माण कर उसे भाषिक क्षमता प्रदान की और ध्वनि-यन्त्रों की रचना कर स्फुट ध्वनियों में अपने बोध को व्यक्त करने की शक्ति दी। मनुष्य ने अपनी प्रकृति-प्रदत्त भाषिक क्षमता से अर्थहीन स्फुट ध्वनियों का विविध रूपों में संयोजन कर विविध भाषाओं के सार्थक, बोध-संवाहक और ज्ञान के साधक स्वरूप का निर्माण किया। मेरी दृष्टि में, अर्थहीन ध्वनियों से सार्थक शब्द का निर्माण सर्वोत्कृष्ट कला है, जिसकी साधना मानव का समष्टि मानस जाने-अनजाने निरन्तर करता रहता है। भाषा मनुष्य की समष्टि चेतना से निर्मित एक ऐसी सामाजिक निधि है, जिसमें भाषा-समुदाय के सभी सदस्यों का सहभाग रहता है।

मानव की आदि सृष्टि के साथ ही उसकी भाषिक क्षमता का जन्म हुआ होगा जिससे उसकी बुद्धि वस्तु जगत् के पदार्थों का सम्बद्ध, सविकल्पक बोध ग्रहण करने में समर्थ हुई होगी और उस बोध के सम्प्रेषण की आकुलता से कुछ स्वतः स्फूर्त स्फुट ध्वनियाँ उसके मुँह से अनायास फूट पड़ी होंगी। सुनने वाले को लगा होगा, जैसे उसके भीतर सहसा कोई बोध स्फुटित हो उठा हो। तब आत्माभिव्यक्ति और आत्मस्थ बोध के स्फोट का कैसा लोकोत्तर आनन्द मिला होगा वक्ता और श्रोता को ! फिर तो स्वतः ही ध्वनियों की नियत व्यवस्था से निश्चित अर्थ को व्यक्त करने की प्रेरणा जगी होगी लोगों के मन में। और, तब से आज तक अर्थ-हीन ध्वनियों की क्रम-विशेष में सार्थक व्यवस्था कर मानव-समुदाय अपने समग्र बोध को व्यक्त करने की कला का उपयोग करता आ रहा है। इस विकास-यात्रा में भाषा लोकव्यवहार से विकसित होती रही है। वह मानव-समुदाय के बोध को

प्रभावित और विकसित भी करती रही है। भाषा और बोध का यह सम्बन्ध चिरन्तन और अविभाज्य है। अर्थ को शिव और वाणी को शक्ति मानकर अर्धनारीश्वर की तरह दोनों के सम्मिलित एक पूर्ण व्यक्तित्व की जो कल्पना की गयी है उसमें केवल धार्मिक विश्वास ही नहीं, एक सूक्ष्म भाषा-तात्त्विक दृष्टि भी है।

जिस भाषा-तत्त्व ने मनुष्य को चिन्तन की शक्ति दी उसकी प्रकृति, शक्ति और व्याप्ति के सम्बन्ध में स्वाभाविक जिज्ञासा से भाषातात्त्विक चिन्तन का उदय हुआ। व्याकरण, दर्शन, भाषाविज्ञान तथा मनोभाषाशास्त्र में इस सम्बन्ध में अनेक ऊहापोह होते रहे हैं। भाषाविज्ञान की एक प्रमुख शाखा—अर्थविज्ञान—में भाषा की अर्थबोधक शक्ति का, भाषिक अर्थ-बोध के स्वरूप का तथा भाषा और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन-विश्लेषण मुख्य रूप से किया गया है। मनोभाषाशास्त्र में वैज्ञानिक प्रयोग के द्वारा भाषा के व्यवहार और उससे होनेवाले अर्थ-बोध की प्रक्रिया को मनोदैहिक प्रतिक्रिया के रूप में विवेचित-विश्लेषित किया जाता है। अध्ययन-विधियों की विविधता के होने पर भी उन शास्त्रों में भाषा-तत्त्व के स्वरूप-निरूपण में उद्देश्यगत समता है। भाषा-दर्शन में भाषा की व्यक्त सत्ता के आधार पर उसके अव्यक्त, सूक्ष्म और अखण्ड तात्त्विक रूप की कल्पना की गयी है जबकि अर्थविज्ञान और मनोभाषाशास्त्र में उसके व्यक्त रूप के सामाजिक व्यवहार में उसकी बोध-प्रक्रिया को अध्ययन-विश्लेषण का विषय बनाया गया है। इस क्रम में भाषा का प्रथम ज्ञान अर्जित करने वाले अबोध शिशु, भाषा के विद्वान, सामान्य, असामान्य, मूक, बधिर, जन्मान्ध आदि विविध वर्गों के व्यक्तियों की भाषिक बोध-प्रक्रिया का अध्ययन किया गया है। इससे भाषातात्त्विक अध्ययन के विविध आयामों का अनुमान किया जा सकता है।

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विचारकों की परस्पर विरोधी मान्यताएँ रही हैं। एक ओर जहाँ स्वतः प्रकाश्य शब्द-ब्रह्म की अखण्ड, अनादि, अनन्त सत्ता मानकर सम्पूर्ण अर्थात्मा सृष्टि को उसका विवर्त माना गया, वहाँ दूसरी ओर शब्द और अर्थ की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मान कर उनके बीच के सम्बन्ध को अनित्य, सामयिक और लोक-व्यवहार से आरोपित-मात्र माना गया है तथा भाषा को अर्थ का अनुगामी और बोध के संवहन में सहायक भर माना गया है। भाषा-तात्त्विक चिन्तन के निष्कर्ष की इस अतिगामी भिन्नता के मूल में विचारकों की दार्शनिक मान्यताएँ निहित हैं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि न तो अर्थहीन भाषा की सत्ता होती है और न भाषा के बिना अर्थ की अभिव्यक्ति सम्भव होती है। सूक्ष्म वाक्-तत्त्व ध्वनि वर्ण, पद तथा वाक्य के रूप में व्यक्त

आकार ग्रहण कर लोक-व्यवहार का निष्पादन करता है। अतः वाणी की जगद्-व्यापिनी पराशक्ति के रूप में उपासना की गयी है—

ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम् ।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥

किसी बोध को पूर्णता में व्यक्त करने वाले वाक्य के अवयवभूत ध्वनि, वर्ण तथा पदों का उस अवयवी वाक्य के साथ कैसा सम्बन्ध रहता है, अर्थहीन ध्वनियों की विशिष्ट व्यवस्था से निर्मित अर्थवान प्रतिपादिक और धातु तथा उनके साथ विशिष्ट प्रत्यय के योग से निष्पन्न पदों के साक्षात् संकेतित अर्थ का वाक्यार्थ के बोध में क्या स्थान होता है, ऐसे प्रश्न को लेकर भी गहन मीमांसा हुई है और अनेक प्रकार के निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं। श्लिष्ट-अश्लिष्ट, योगात्मक-अयोगात्मक, स्थान-प्रधान आदि भाषाओं में वाक्यगत पदों के रूप तथा वाक्यार्थ-बोध में उनके संकेतित अर्थों की स्थिति भी भाषा-तत्त्व-मीमांसा का महत्त्वपूर्ण विषय है।

भाषातात्त्विक चिन्तन में वैचारिक संघर्ष से गति और शक्ति ही आयी है। भाषा-तत्त्व की अपरिमेय कला को निरखने परखने के जितने दृष्टिकोण रहे हैं उन सब से कुछ-न-कुछ नवीन तथ्य उपलब्ध होते हैं। भाषा की अपरिमेय कला को देख कर ही उसे परा वाक् या शब्द-ब्रह्म के रूप में कल्पित किया गया होगा। उस अनन्त कला पर चाहे जिस बिन्दु से विचार किया जाय, उस व्यापक सत्य के कुछ अंश अवश्य उपलब्ध हो जाते हैं। प्रस्तुत रचना में मेरा उद्देश्य विविध चिन्तन से उपलब्ध भाषिक तथ्य का पूर्वग्रह-मुक्त आकलन-मूल्यांकन कर भाषा-रहस्य का उद्घाटन करना रहा है। भाषा चिन्तन के किसी एक प्रस्थान का अध्ययन या केवल भारतीय भाषा-चिन्तन का मूल्यांकन अथवा पाश्चात्य दर्शन, भाषाविज्ञान तथा मनोभाषाशास्त्र में से किसी एक की भाषा-दृष्टि का परीक्षण भाषा-तत्त्व के सम्पूर्ण रहस्य को उद्घाटित करने में पूर्णतः सहायक नहीं हो सकता। भाषातात्त्विक चिन्तन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में शब्दार्थ-तत्त्व के निरूपण का यह प्रथम विनम्र प्रयास सुधी जनों के सामने प्रस्तुत है।

मेरे ब्रह्मलीन पिता जी पण्डित श्री रघुनन्दन मिश्र की पुण्य स्मृति मेरी साधना को सतत शक्ति प्रदान करती रही है। यशःशेष पण्डित जयनाथ मिश्र जी सदा मेरे लेखन-कार्य के प्रति स्नेहपूर्ण जिज्ञासा रखते थे। उनकी स्मृति में मैं श्रद्धावनत हूँ। शब्द-अर्थ विषयक चर्चा में रुचि लेकर जिन विद्वानों ने मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना के लिए प्रोत्साहित और प्रेरित किया है उनमें हिन्दी भाषा तथा भाषाशास्त्र के सुधी विवेचक डॉ० अनन्त चौधरी, संस्कृत भाषा के अभिनिविष्ट विद्वान डॉ० काशीनाथ

मिश्र तथा अंग्रेजी भाषाशास्त्र के समर्पित विचारक डॉ० कपिलमुनि तिवारी विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन की औपचारिकता से कहीं आत्मीयता बाधित न हो जाय इस भय से मौन ही श्रेयस्कर है। मेरी सारस्वत साधना को गति प्रदान करने वाले मनीषियों में से आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, डॉ० विद्यानिवास मिश्र, आचार्य केसरी कुमार, डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ० रामावतार शुक्ल सुहृद्‌वर डॉ० कुमार विमल तथा मेरे पूज्य श्वशुर डॉ० नवलकिशोर झा का चिर-स्मरणीय ऋण मुझ पर है। यदि प्रस्तुत रचना उन्हें कुछ परितोष दे सकी तो मैं अपने श्रम की सार्थकता समझूँगा। बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के विद्यानुरागी निदेशक डॉ० बैकुण्ठनाथ ठाकुर का इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए आभार मानता हूँ। नवयुग प्रिंटिंग प्रेस तथा बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को प्रकाशन-व्यवस्था में सहयोग देने के लिए धन्यवाद देता हूँ।

शोभाकान्त मिश्र

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
पटना विश्वविद्यालय
पटना-८०००५

विषय-सूची

— ० —

शब्दार्थ-चिन्तन : समस्याएँ और दिशाएँ

शब्द और अर्थ के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में मानव के मन में कुतूहल स्वाभाविक है। कोई शब्द क्यों किसी विशेष अर्थ का ही बोध कराता है, अन्य अर्थ का बोध नहीं कराता या किसी विशेष अर्थ के लिए क्यों कुछ निश्चित शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है, अन्य शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता, ऐसे प्रश्न बहुधा बच्चे भी कुतूहलवश किया करते हैं। इन बाल-जिज्ञासाओं से उत्पन्न प्रश्न का उत्तर सरल नहीं। इन प्रश्नों से सम्बद्ध और भी अनेक प्रश्न उठाये जा सकते हैं। क्या किसी शब्द का किसी अर्थ से नित्य सम्बन्ध है? व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें तो शब्दविशेष अर्थविशेष से शाश्वत भाव से जुड़े हुए नहीं जान पड़ते। ब्रील आदि भाषाविज्ञानियों ने शब्द के अर्थ-परिवर्त्तन पर विस्तार से विचार किया है। अर्थविज्ञान के इस चिन्तन के फलस्वरूप अर्थ के परिवर्त्तन की तीन दिशाएँ निर्धारित हुईं—अर्थविस्तार, अर्थसंकोच और अर्थादेश। अर्थोत्कर्ष और अर्थापकर्ष की प्रक्रियाएँ भी इन्हीं तीन दिशाओं में अन्तर्भुक्त हैं। किसी भी भाषा में अर्थपरिवर्त्तन के इन रूपों के पाये जानेवाले असंख्य उदाहरण इस बात के प्रमाण माने जा सकते हैं कि किसी शब्द का किसी विशेष अर्थ के साथ सम्बन्ध सदा एक-सा नहीं रह पाता।

शब्दविशेष के साथ अर्थविशेष के सम्बन्ध की समस्या पर विचार करने के समय यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि कोई विशेष शब्द और उससे अभिहित होनेवाला अर्थ सनातन नहीं। नये-नये शब्द बनते रहते हैं और नये-नये अर्थ भी निर्मित होते रहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि किसी शब्द के साथ किसी विशेष अर्थ का सम्बन्ध कैसे जुड़ जाता है? ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखनेवाले और संसार के समग्र क्रिया-कलाप का उसे ही मूल कारण माननेवाले मनीषियों ने शब्दविशेष में अर्थविशेष के बोध की शक्ति को ईश्वरप्रदत्त माना,[1] किन्तु आधुनिक भाषाविज्ञान के विचारक उस शक्ति को लोकव्यवहार से निर्मित मानते हैं।

---

१. अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपो संकेतः।

शब्द और अर्थ की पूर्वापर स्थिति के सम्बन्ध में भी कुछ प्रश्न उठाये गये हैं और उनका उत्तर अनेक रूपों में ढूँढने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी दो दूरगामी मत उपलब्ध हैं। एक ओर जहाँ शब्द को ब्रह्म मान कर अर्थ को उसका विवर्त माना गया है, वहाँ दूसरी ओर अर्थ की पूर्व-स्थिति स्वीकार कर शब्द को उसे प्रकाशित करने का साधन-भर माना गया है। एक विद्वान ने यह आक्षेप किया है कि शब्द को अर्थ का पूर्वगामी मानना गाड़ी को घोड़े के आगे रखने जैसा है।[1] भाषा के व्यवहार-पक्ष को ध्यान में रखें तो दो पक्षों से इस समस्या पर विचार किया जा सकता है। भाषा का प्रयोग करनेवाला पहले अपने मन में किसी अर्थ को ग्रहण करता है और उस अर्थ को भाषिक रूप देकर उसे व्यक्त करता है। भाषा का प्रयोग वह अर्थ के प्रतीक के रूप में करता है। जब भाषा नहीं बनी थी तब लोग उसके स्थान पर संकेत के सहारे अर्थ को व्यक्त करते थे। आज भी गूँगा व्यक्ति संकेत से ही अर्थ व्यक्त करता है। किसी भाषा का अधूरा ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति जब उस भाषा में अपने विचार और अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने लगता है, तो उसे संकेतों का सहारा लेना पड़ता है। इसके विपरीत श्रोता पहले शब्द को सुनता है और तब उसके संकेतित अर्थ को ग्रहण करता है। इस प्रकार वक्ता की दृष्टि से अर्थ पहले आता है और शब्द उसके बाद तथा श्रोता की दृष्टि से शब्द पहले आता है और अर्थ उसके उपरान्त। किन्तु, शब्द और अर्थ का यह पौर्वापर्य भाषा के उच्चरित स्वरूप और उससे बोध होनेवाले अर्थ की स्थूल दृष्टि से है। हम देखेंगे कि भाषा-दर्शन के मनीषियों ने भाषा के भाषित स्वरूप से आगे बढ़कर उसके सूक्ष्म स्वरूप को परखने का प्रयास किया है। लोकमुख से उच्चरित होनेवाली वैखरी भाषा के मध्यमा, पश्यन्ती और परा; इन क्रमिक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों की कल्पना की गयी है और यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि उस सूक्ष्म अवस्था में भाषा और अर्थ अभिन्न हैं।

इस सन्दर्भ में मूल समस्या यह है कि शब्दार्थ का तात्पर्य क्या है? शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध, शब्दार्थ के स्वरूप आदि के निरूपण का प्रयास अनेक

---

1. Prometheus, according to Mr. Percy Basshe shelley; 'Gave man speech, and speech created thought—which is exactly in our opinion, the cart creating the horse, the sign creating the inn, the effect creating the cause—ullman, Language and style P. 206-7

विचारकों ने अलग-अलग दृष्टियों से किया है। भारत में सहस्राब्दियों से इस विषय पर सूक्ष्म चिन्तन होता रहा है। आधुनिक भाषाशास्त्र में अर्थविज्ञान के विवेचन के प्रसंग में शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण का प्रयास किया गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी शब्द से अर्थ के बोध की प्रक्रिया का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन की विभिन्न शाखाओं में शब्द तथा अर्थ के स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक ऊहापोह हुए हैं।

भारतीय व्याकरण तथा न्याय, मीमांसा आदि दार्शनिक निकायों में भी शब्दार्थ-तत्त्व की सूक्ष्म मीमांसा की गयी है। बौद्धों का अपोहवाद भाषादर्शन के क्षेत्र में उनके तत्त्व-चिन्तन की परिणति है। विभिन्न दार्शनिक प्रस्थानों के मनीषियों का शब्दार्थ-निरूपण उनके तत्त्व-चिन्तन का अनुगमन करता है। सम्पूर्ण सृष्टि के मूल रहस्य का अन्वेषण करते हुए वे निष्कर्ष रूप में जिस तत्त्व की स्थापना कर चुके थे, उसी के आधार पर उन्होंने शब्द और अर्थ के स्वरूप, उनके पारस्परिक सम्बन्ध आदि का विवेचन किया है। अतः तत्त्वविषयक दृष्टि-भेद के अनुरूप उनके शब्दार्थ-विषयक चिन्तन में भी भेद होना स्वाभाविक ही था।

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में विचारकों की अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी, दो दृष्टियाँ रही हैं। भारतीय वैयाकरणों ने शब्द को ब्रह्म मान कर अर्थ को उसका विवर्त माना है। उनकी दृष्टि भाषा के केवल भाषित रूप पर ही नहीं रही है वरन् उन्होंने उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप को दृष्टि में रखकर उसके स्वरूप का निरूपण किया है। उनके अनुसार परावाक् अव्यक्त, अखण्ड और व्यापक है। उससे पृथक् अर्थ की सत्ता नही। वही परा वाणी पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में व्यक्त होती है। परा या सूक्ष्मा वाणी प्राणी के प्राण-अपान के मध्य रहती है, जिसका आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होता और जिसका साक्षात्कार योग आदि के द्वारा ही सम्भव होता है। उस शब्द ब्रह्म का अनादि अविद्या के कारण पश्यन्ती के रूप में परिणमन होता है। इस अवस्था में वर्ण-विभाग नहीं होने से वह क्रमरहित और स्वयंप्रकाश होती है। तीसरी अवस्था मध्यमा है, जिसमें परम अविद्या के कारण अन्तः कल्पित क्रम रहता है, किन्तु वर्णों की कान से सुनाई पड़नेवाली अभिव्यक्ति नहीं होती। इसके अनन्तर दूरगामिनी अविद्या के वश स्थान, करण तथा प्रयत्न से उच्चरित, सुनाई पड़नेवाले, अव्यक्त तथा व्यक्त वर्ण-समुदाय के रूप में परिणमन होता है, जिसे वैखरी कहते हैं। इस प्रकार शब्दब्रह्म की आरम्भिक तीन अवस्थाएँ

नित्य और अतीन्द्रिय होती है।[1] ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य; ये चार उस वाग्देवी के अधिष्ठान हैं।

स्पष्ट है कि जिस प्रकार अद्वैतवादी दर्शन में जीव और जगत को उस एक अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त रूप माना गया है, उसी प्रकार इस मत में भाषा को अव्यक्त शब्दब्रह्म का व्यक्त रूप माना गया है। जैसे संसार के रूप का विकार ब्रह्म को विकृत नहीं कर सकता, उसी प्रकार भाषा में ध्वनि या अर्थ का विकार शब्द को विकृत नहीं कर सकता। शब्द-ब्रह्म नित्य, अखण्ड और अविकारी है।

शब्द और अर्थ में अभेद मानने वाले मनीषियों के मन में भाषा के इसी व्यापक स्वरूप की धारणा निहित थी। भारतीय दर्शन और साहित्य में अनेकत्र शब्द और अर्थ के अभेद सम्बन्ध की धारणा पायी जा सकती है। अर्थ को शिव और वाणी को पार्वती मान कर दोनों के अविच्छेद्य सम्बन्ध की मान्यता व्यक्त की गयी है।[2] कालिदास ने शिव और पार्वती के सम्बन्ध को वागर्थ-सम्बन्ध की तरह अविभाज्य माना है।[5] उस अर्द्धनारीश्वर के रूप में जिस प्रकार शिव और शिवा परस्पर सम्पृक्त हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ परस्पर सम्पृक्त हैं। एक के बिना दूसरे के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती।

द्वैतवादी विचारकों ने शब्द और अर्थ की पृथक-पृथक सत्ता मान कर दोनों के अनित्य सम्बन्ध की धारणा व्यक्त की है। अद्वैतवादी विचार के खण्डन के लिए चार्वाक दार्शनिकों का एक तर्क प्रस्तुत किया गया है। उनकी युक्ति है कि यदि तलवार शब्द उसके अर्थ से अभिन्न है तो मुँह में तलवार शब्द लाते ही जीभ क्यों

---

१ :—स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक्प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥
केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपाऽनुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्त्तते॥
अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥—
भर्तृहरि के द्वारा वाक्यप० स्वोपज्ञ में उद्धृत

तथा—चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्रह्मणा ये मनीषिणः।
गुहात्रीणिनिहितानेङ्गयन्ति तुरीयं वाचोमनुष्या वदन्ति॥ (श्रुति)

२. अर्थः शम्भुः शिवा वाणी।

३. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥—रघुवंश।

नहीं कट जाती ? ऐसा लगता है कि चार्वाक दार्शनिकों का केवल उपहास करने के लिए उनके नाम पर ऐसे तर्क की कल्पना कर ली गयी होगी। चार्वाक शब्दार्थ और प्राकृत अर्थ का भेद नहीं समझते होंगे, यह मान लेने का कोई आधार नहीं। न्याय दर्शन में भी तलवार शब्द के उच्चारण से जीभ के नहीं कटने का उल्लेख कर शब्द-अर्थ का भिन्नाश्रयत्व सिद्ध किया गया है। मुँह से उच्चरित शब्द जिस (अर्थ) की स्मृति जगाता है, उसकी सत्ता मानस प्रत्यय के रूप में, मन के भीतर रहती है।

अर्थ का क्या तात्पर्य है, इसका स्पष्टीकरण वाञ्छनीय है। विभिन्न विचारकों ने अर्थ के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास किया है, जिस पर हम आगे विस्तार से विचार करेंगे। इस सन्दर्भ में भारतीय वैयाकरणों का स्फोटवाद, बौद्ध दार्शनिकों का अपोहवाद मीमांसकों का जातिवाद, नैयायिकों का तद्वान् अर्थात् जातिविशिष्टव्यक्तिवाद आदि प्रसिद्ध सिद्धान्त हैं। मनोविज्ञानियों ने शब्द से उत्पन्न मानस बिम्ब को उसके अर्थ के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में युक्तियाँ दी हैं। भाषाविज्ञान में भी अनेक दृष्टियों से अर्थ को परिभाषित किया गया है। ओग्डेन तथा रिचर्ड ने शब्दार्थ के त्रिकोण की जो कल्पना की है; उसने आधुनिक भाषाविदों को बहुत आकृष्ट किया है। उनके त्रिकोण में शब्द, संकेत तथा संकेतित वस्तु; ये तीन भाग हैं। शब्द ध्वनि-प्रतीक हैं जो किसी अर्थ को प्रतीकित करते हैं और वह प्रतीकित अर्थ किसी वस्तु की ओर निर्देश करता है। उलमान की मान्यता है कि भाषाविदों का सम्बन्ध केवल भाषिक अर्थ से होता है, अ-भाषिक अर्थात् प्राकृत अर्थ से नहीं। अतः भाषा के अर्थमूलक अध्ययन में वस्तुतः शब्द और अर्थ का युग्म ही बच रहता है।[1] वस्तुतः शब्द का संकेतित अर्थ अवधारणारूप ही माना जा सकता है। अनेक पर्यायवाची शब्द एक ही अर्थ को संकेतित करते हैं, और इसके विपरीत अनेकार्थवाची एक शब्द अनेक अर्थों का संकेत करता है। भारतीय वैयाकरणों ने अनेकार्थवाची शब्द को एक न मानकर अनेक माना है। उनके अनुसार अर्थभेद से शब्द भिन्न होते हैं।[2] एक शब्द के यदि

१: ....he (linguist) is not concerned with non-linguistic world ....thus the tripartite relationship is reduced to binary one between name and sense—stephen ullmann, Language and style P. 18.

२. अर्थभेदात् शब्दो भिद्यते।

अनेक अर्थ हों तो अर्थ-भेद से उस एक ही शब्द को समान स्थान प्रयत्न से उच्चरित होने वाले अनेक शब्दों के रूप में स्वीकार किया जायगा।

भाषिक अर्थ प्राकृतिक अर्थ से अभिन्न नहीं। किसी शब्द को सुनकर अर्थ का जो बोध होता है उसका स्वरूप प्राकृतिक वस्तु के ऐंद्रिय प्रत्यक्षीकरण से होनेवाले बोध के स्वरूप से किञ्चित् भिन्न होता है। एक वृक्ष को प्रत्यक्ष देखकर उसके देश-काल-विशिष्ट एक रूप का ग्रहण होता है, पर वृक्ष शब्द सुनकर हमारे मन में देश-काल से निर्विशिष्ट वृक्ष की आकृति आती है। इसीलिए उस धारणा से मेल खानेवाली सभी वस्तुओं को हम वृक्ष समझ लेते हैं, भले ही वे आकार-प्रकार में एक-दूसरे से बहुत भिन्न हों। 'वृक्ष' और 'पौधा' इन दो शब्दों के अर्थ को दृष्टि में रखकर इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। दोनों वस्तुओं का भेद केवल आकार को लेकर है। पौधा छोटा और वृक्ष बड़ा होता है। दोनों की विभाजक उच्चता का निर्णय सरल काम नहीं। कुछ कोशकारों ने एक निश्चित ऊँचाई तक वाले को पौधा और उससे अधिक ऊँचाई वाले को वृक्ष मानने का निर्णय भले ही दिया हो, पर इन दो वस्तुओं के भेद का बोध ऊँचाई को नाप कर नहीं होता, सामान्य अवधारणा के रूप में ही हुआ करता है। इन शब्दों के अर्थबोध में देश-काल वातावरण के अनुरूप व्यक्ति का संस्कार भी सहायक होता है। इसीलिए 'एरण्डोपि द्रुमायते' वाली उक्ति प्रचलित है। सघन वन प्रान्त में रहने वाले लोगों के मन में वृक्ष शब्द को सुनकर जैसे सघन तथा उन्नत वृक्ष की धारणा बनती है, वैसी धारणा मरुप्रदेश में रहनेवाले लोगों के मन में वह शब्द नहीं जगा पाता, क्योंकि वे संस्कारवश छोटे-छोटे वृक्षों को ही—जो आकार-प्रकार में पौधे से भिन्न नहीं होते—वृक्ष मानने के अभ्यस्त होते हैं।

इसी प्रकार कली और फूल का निश्चित तथा एक-दूसरे का व्यावर्तक अर्थ निर्धारित करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। कली ही विकसित होने पर फूल कहलाती है, पर इस प्रश्न का उत्तर देना सहज नहीं कि किस अवस्था के बाद कली की अपनी संज्ञा छूट जाती है और उसे फूल का नया अभिधान मिल जाता है।

मनुष्य की विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप शिशु, किशोर, युवा, प्रौढ़ा, वृद्ध आदि शब्दों का व्यवहार हुआ करता है। जीवन के विशेष काल-खण्डों के लिए उक्त पदों का प्रयोग होता है। काल-खण्डों का यह विभाजन सैद्धान्तिक दृष्टि से नियत माना जा सकता है, पर व्यावहारिक दृष्टि से इन पदों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया पर विचार करें तो पहला प्रश्न यह सामने आता है कि क्या जीवन के किसी ऐसे क्षण का उस काल-बिन्दु के रूप में निर्धारण किया जा सकता है जिसके इस पार की

अवस्था के लिए एक पद का और उस पार के लिए दूसरे पद का प्रयोग उचित माना जा सके ? दूसरा प्रश्न यह होगा कि क्या इन पदों के प्रयोग के समय वक्ता व्यक्ति के जीवन की आयु की क्षण-पल में गणना कर इन पदों में से किसी उपयुक्त, पद का प्रयोग करता है और श्रोता नियत काल की अवस्था का अर्थ ग्रहण करता है ? स्पष्टतः जीवन इतना गतिशील है कि किसी नियत काल-विन्दु का निर्धारण व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं । एक प्रश्न यह भी है कि दो अवस्थाओं की सन्धि का, काल की गणना के आधार पर यदि सैद्धान्तिक रुप में, निर्धारण किया भी जाय तो उस सन्धि-काल की अवधि का निर्धारण कैसे किया जायगा ? दूसरे शब्दों में, दो अवस्थाओं के मध्य के काल-विन्दु को कितने पल या एक पल के कितने खण्ड का माना जायगा ? कवियों ने जो वयःसन्धि का वर्णन किया है, उसका काल के आधार पर क्या नियत अर्थ निर्धारित किया जा सकता है ? निश्चय ही, काल की यह अवधारणा सामान्य और अनियत ही होती है । शिशु, किशोर, युवा आदि का अर्थ-बोध सामान्य अवधारणा के रूप में ही होता है ।

अंग्रेजी में Book और Booklet, River और Rivulet आदि शब्द प्रायः समान अर्थ के आकार-प्रकार की दीर्घता-लघुता के आधार पर प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार उनके अर्थ में केवल आकारगत भेद है । प्रश्न यह है कि क्या उन वस्तुओं के आकार के बीच विभाजक रेखा का निर्धारण सम्भव है ? नदी का आकार ठीक कितना हो तो उसे River और किस विस्तार से कम हो तो उसे Revulet कहेंगे ? इन शब्दों का प्रयोग कोई नदी के विस्तार को नाप कर तो करता नहीं ! भाषा के प्रयोग की दृष्टि से यह आवश्यक भी नहीं । इन अर्थों और उनके लिए उपयुक्त पदों का निर्धारण मनुष्य अपनी सहज प्रज्ञा से ही कर लेता है । इसमें उसका अपना संस्कार ही सहायक होता है ।

भाषा में कुछ ऐसे अनियत अर्थवाले पदों का भी प्रयोग होता है, जिनके अर्थ का ग्रहण व्यक्ति अपने-अपने संस्कार के अनुसार किया करते हैं । धर्म, ईश्वर, विद्वान, सौन्दर्य, सत्य, पाप, पुण्य, बड़ा, छोटा आदि शब्दों का उदाहरण लिया जा सकता है। इनकी अवधारणा देश-काल के आधार पर भिन्न-भिन्न होती है। अलग-अलग संस्कार में पलने वाले व्यक्ति इनका अर्थ अलग-अलग रूप में ग्रहण करते हैं। धर्म और ईश्वर के स्वरूप की धारणा विभिन्न देशों के लोगों ने विभिन्न रूपों में निर्मित की है। ये शब्द उनके संस्कारगत अर्थ को ही उद्‌बुद्ध करते हैं, जो एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। विद्वान और मूर्ख की अवधारणा भी सार्वत्रिक रूप से एक-सी नहीं मानी जा सकती। अनपढ़ लोगों के बीच थोड़ा पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी विद्वान माना जाता है, जबकि विज्ञ जनों

के बीच वही व्यक्ति मूर्ख माना जा सकता है। सौन्दर्य का अर्थ अब तक निर्धारित नहीं हो पाया है और न भविष्य में ही उसे निर्धारित किया जा सकेगा। देश, काल और व्यक्ति की रुचि के भेद से उसके अर्थ में भेद आना स्वाभाविक है। सत्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि अलग-अलग देश-काल के व्यक्ति उसके सम्बन्ध में अलग-अलग और, कुछ स्थितियों में, परस्पर विरोधी धारणाएँ व्यक्त करते रहे हैं। परम सत्ता में विश्वास रखने वाले मनीषियों ने जहाँ ब्रह्म को सत्य माना, वहाँ भौतिकवादी विचारकों ने ब्रह्म की सत्ता को कोरी कल्पना मान कर उसे असत्य मान लिया। निश्चय ही, सत्य के सम्बन्ध में उक्त दो मान्यताओं के अनुयायियों की धारणाएँ अलग-अलग और परस्पर विरोधी होंगी। पाप और पुण्य की परिभाषाएँ समय-समय पर बदलती रही हैं। एक समय जो पाप समझा जाता है वही कार्य दूसरे समय पुण्य मान लिया जाता है। समाज समय-समय पर देश-काल-परिस्थिति के अनुरूप आचार के जो आदर्श निर्धारित करता है उसी के आधार पर पाप-पुण्य की धारणाएँ निर्धारित होती हैं। हिंसा को भी यज्ञ की बलि के अवसर पर पुण्य कार्य माना गया, पर बौद्ध विचारकों ने वेदविहित हिंसा को भी जघन्य और गर्हित कार्य माना। स्पष्ट है कि पाप-पुण्य का कोई सार्वभौम स्थिर स्वरूप नहीं माना जा सकता। इनका अर्थ व्यक्ति अपने देश-काल से निर्मित संस्कार के अनुरूप ही ग्रहण करता है। छोटा-बड़ा, लघु-महान्, लम्बा-नाटा, मोटा-दुबला अल्प-अधिक, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे आदि सापेक्ष शब्दों का अर्थ स्वतन्त्र रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। लम्बा, नाटा, मोटा, दुबला, गोरा, काला आदि पदों के प्रयोग के सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या कोई ऐसा आयाम निश्चित किया जा सकता है, जिससे अधिक या कम के लिए इन आकार-बोधक पदों का प्रयोग किया जाय? दूसरा प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि क्या कोई व्यक्ति किसी की लम्बाई, मोटाई आदि को ठीक-ठीक नाप कर इन पदों का प्रयोग करता है? उत्तर एक ही है कि हम अपनी सामान्य अवधारणा के आधार पर ही इन पदों के अर्थ का निर्णय किया करते हैं।

किसी भी संख्या का अर्थ निर्धारित करना कठिन है। एक संख्या का अर्थ उससे भिन्न सभी सम्भव संख्याओं से सापेक्ष माना जा सकता है। उदाहरण के लिए हम 'नौ' संख्या के अर्थ पर विचार करें। एक और आठ का योग, दो और सात का योग, तीन और छह का योग; तीन और तीन का गुणनफल; अठारह, सत्ताइस आदि का क्रमशः दूसरा, तीसरा भाग और इसी प्रकार दस ग्यारह आदि से एक-दो का घटाव; वही अर्थ देते हैं। पूर्ण संख्याओं के साथ जितनी अपूर्ण संख्याएँ सम्भव हैं, उन सब के साथ कुछ निश्चित पूर्ण या अपूर्ण संख्याओं को जोड़ने या उनसे कुछ

विशिष्ट संख्याओं को घटाने, गुणा करने आदि से 'नौ' का अर्थ मिल सकता है। पूर्ण एवं अपूर्ण संख्याएँ अगण्य हैं। उन सब के सन्दर्भ में उदाहृत संख्या का अर्थ नियत कर पाना कथमपि सम्भव नहीं। संख्या विज्ञान का कोई विशेषज्ञ भी अपने सम्पूर्ण जीवन में किसी एक संख्या के इस सापेक्ष अर्थ को निर्धारित नहीं कर सकता! अनन्त संख्या का अन्त पाना क्या सम्भव है? फिर भी, व्यवहार में वस्तुओं की संख्या से काम चलता ही है।

गणित में प्राकृतिक अर्थ पर विचार नहीं किया जाता। गणित के नियम किसी विशेष प्राकृतिक वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। दो और दो के योग के लिए चार का नियम वस्तु-निरपेक्ष रूप से सनातन है। किसी भी मूर्त या अमूर्त वस्तु की दो तथा दो संख्याओं का योग चार ही होता है। अतः गणित में किसी विशेष प्राकृतिक अर्थ पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती।

किसी भी भाषा में प्रयुक्त लिंग पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लिंग शब्द का होता है, उस लिंग से प्राकृतिक अर्थ का लिंग अभिप्रेत नहीं होता। माता-पिता, भाई-बहन आदि शब्दों के लिंग को देख कर यह भ्रान्ति हो सकती है कि इन शब्दों के लिंग प्राकृतिक अर्थों के ही लिंग हैं, पर संस्कृत में पत्नी अर्थ के वाचक भार्या, दारा और कलत्र शब्दों के क्रमशः स्त्री-पुंनपुंसक लिंगों पर विचार करने से यह तथ्य निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध हो जाता है कि उन शब्दों का लिंग-निर्धारण प्राकृतिक अर्थ को ध्यान में रख कर नहीं किया गया है। यह इस बात का एक प्रमाण है कि शब्द का अर्थ प्राकृतिक या लोकसिद्ध अर्थ से अभिन्न नहीं। शब्द का अर्थ या पदार्थ मानस अवधारणा के रूप में ही गृहीत होता है।

भाषा में अलोकसिद्ध अर्थ के वाचक शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। लोक में उन शब्दों के अर्थ का अभाव होने के कारण उन्हें निरर्थक शब्द नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए स्वर्णपर्वत, वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम, शशश्रृङ्ग आदि शब्द सार्थक हैं, यद्यपि उन शब्दों से निर्दिष्ट अर्थ लोकसिद्ध नहीं हैं। इन शब्दों का अर्थ मानस अवधारणा के रूप में अवश्य गृहीत होता है और वह मानस अवधारणा ही इन पदों की अर्थवत्ता प्रमाणित करती है। देवता, स्वर्ग, अप्सरा, यक्ष, गन्धर्व आदि की परिकल्पना मानसी है। इनकी सत्ता के अलोकसिद्ध होने पर भी इनके वाचक शब्द सार्थक माने जाते हैं। काव्य-विषय के मुख्य दो वर्ग स्वीकृत हैं—(क) स्वतः सम्भवी और (ख) कविप्रौढोक्तिसिद्ध। (कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध काव्य-वस्तु को मैं कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से पृथक् नहीं मानता)। कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु लोक-सिद्ध नहीं होती, फिर भी उसकी मानस परिकल्पना के सिद्ध होने के कारण कवि की उस उक्ति को सत्य और यथार्थ माना जाता है। यहाँ यथार्थ का तात्पर्य

यह नहीं कि वह उक्ति लोकसिद्ध अर्थ के अनुरूप अर्थ का बोध कराती है, उसका तात्पर्य यह है कि वैसी उक्तियों में निर्दिष्ट अर्थ मानस अवधारणा की अनुरूपता के आधार पर ही यथार्थ माना जाता है। इस दृष्टि से शब्दार्थ के सम्बन्ध में भर्तृहरि के 'विकल्प' की, वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त की, बौद्धों के अपोह-सिद्धान्त की तथा कारनेप आदि के नामनिष्ठ-प्रत्यक्षवाद (Nominalistic positivism)' की कल्पना का महत्त्व समझा जा सकता है, जिनका विवेचन हमने यथास्थान आगे के अध्याय में किया है।

भाषा में शब्द अमूर्त भाव और विचार को भी वहन करते हैं। वे अमूर्त भाव और विचार इन्द्रियगोचर नहीं हो सकते। उनकी केवल मानस परिकल्पना सम्भव होती है। लोक-सिद्ध मूर्त वस्तुओं की ओर तो भाषा के अभाव में भी इंगित किया जा सकता है, पर अमूर्त भाव और विचार भाषा में ही रक्षित रह सकते हैं। हम मानव के विकास की उस अवस्था पर भी विचार करें जब भाव और विचार की संवाहिका भाषा का निर्माण मनुष्य नहीं कर पाया था। मूर्त वस्तुओं की ओर इंगित कर वह अपना व्यावहारिक काम तो चला लेता था, पर अपनी अमूर्त अनुभूतियों को, अपने विचारों को व्यक्त करने में वह कितना असमर्थ था! उसके हर्ष-विषाद भले ही कुछ अंश में उसकी आकृति पर व्यक्त हो जाते हों, पर वह अपनी अनुभूति को विशिष्ट रूप देकर समग्रतः व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ था। उसके अन्तर में कुछ कहने की आकुलता रहती होगी, मन में अभिव्यक्ति का कुछ रूप बनता होगा—कहें कि, अव्यक्त भाषा उसके हृदय में अनुभूतियों और विचारों को अभिव्यक्ति का आकार देकर भी मूक रह जाती होगी। इसी आकुलता ने वैखरी भाषा को जन्म दिया होगा। जब अनुभूति का तीव्र वेग मनुष्य के हृदय में दब कर नहीं रह पाया होगा, जब उसके विचार अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उठ कर बाहर आने के लिए अकुला उठे होंगे, तब सहसा उसके हृदय में निहित उस अव्यक्त भाषा का स्फोट हुआ होगा। अव्यक्त शब्द सहसा व्यक्त हो गया होगा। मानव के हृदय में निहित शब्द-अर्थ व्यक्त होकर उसके सामने आ गया होगा। मनुष्य ने अपनी उस नवीन अभिव्यक्ति को उसी भाव से देखा होगा, जैसे अव्यक्त ब्रह्म अपनी समग्र कलाओं से व्यक्त होकर उसके सामने प्रकट हो गया हो। व्याकरण दर्शन में इसीलिए शब्द को ब्रह्म माना जाता है और अर्थ को उस शब्द ब्रह्म का विवर्त। शब्द-अर्थ को उस नित्य और अगोचर शब्द ब्रह्म का स्फोट-रूप स्वीकार किया जाता है।

अमूर्त भाव और विचार को वहन करने वाली भाषा नहीं होती तो अमूर्त भावों और विचारों का अस्तित्व ही सुरक्षित नहीं रह पाता। इसीलिए भाषा

दर्शन के कुछ मनीषियों ने शब्द को अर्थ का संवाहक-मात्र नहीं मान कर उसे अर्थ का मूल आश्रय माना है।

शब्द के संकेत, अर्थात् शब्दविशेष में अर्थविशेष के बोध की शक्ति, पर विचार के समय एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि वह संकेत व्यक्ति में रहता है या उसकी उपाधि में? अर्थात्, किसी शब्द का संकेतित अर्थ व्यक्तिरूप होता है या उपाधि रूप? और अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रश्न को उपस्थित करें, तो प्रश्न है कि जब हम किसी शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे किसी विशिष्ट व्यक्तिरूप अर्थ का ग्रहण होता है या उस अर्थ की जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा; इन चार उपाधियों का बोध होता है? कुछ उदाहरण लेकर इस प्रश्न को स्पष्ट किया जा सकता है। जब हम कहते हैं 'लड़का पढ रहा है', 'गाय को बाँध दो' या 'बाजार से पेंसिल खरीद लाओ', तो ऐसी स्थिति में लड़का, गाय और पेंसिल का अर्थ विशेष व्यक्ति होता है, या उनकी जाति आदि उपाधियाँ? निश्चय ही इन वाक्यों में व्यक्ति का ही बोध होता है जाति आदि का नहीं। सभी लड़के पढ रहे हैं, या सभी गायों को बाँध दो आदि अर्थों का बोध उन वाक्यों में नहीं होता। व्यवहार का निर्वाह व्यक्ति से ही होता है, जाति आदि उपाधियों से नहीं। अब प्रश्न है कि ये शब्द किसी विशेष व्यक्ति के अर्थ का बोध कराते हैं, या सभी व्यक्तियों के अर्थ का समग्रता में बोध कराते हैं? उक्त वाक्यों में प्रत्यक्षतः यह जान पड़ता है कि किसी एक व्यक्ति का ही बोध प्रयुक्त शब्दों से हो रहा है; क्योंकि एक लड़का पढ रहा है, अन्य लड़के चाहे कुछ और काम कर रहे हों। एक वचन का प्रयोग भी एक का ही बोधक यहाँ है। पर, समस्या का यहीं समाधान नहीं हो जाता। जब हम कहते हैं 'गाय का वध नहीं करना चाहिए' और 'गाय मर गयी' तो इन दो वाक्यों में गाय शब्द के अर्थ की व्याप्ति अलग-अलग होती है। गाय का वध नहीं करना चाहिए, इस वाक्य में किसी एक गाय के वध का निषेध अभिप्रेत नहीं, सभी गायों के वध का निषेध इष्ट है, पर 'गाय मर गयी' इस कथन में किसी एक गाय के मरने का अर्थ ग्रहण होता है, सभी गायों के मरने का अर्थ नहीं। इस तरह व्यवहार में कुछ पदों के प्रयोग को देख कर आपाततः यह प्रतीति हो सकती है कि चूँकि समग्र व्यक्तियों में अथवा एक व्यक्ति में शब्द का संकेत व्यवहार-निर्वाहक होता है, इसलिए व्यक्ति में ही शब्द का संकेतग्रह हुआ करता है। आचार्य व्याडि ने व्यक्ति में ही शब्द का संकेत स्वीकार किया था। आचार्य मम्मट ने सबल युक्तियों से इस का खण्डन किया है। व्यक्ति व्यवहारनिर्वाहक भले हो, प्रवृत्ति और निवृत्ति की योग्यता भले ही व्यक्ति में ही रहती हो, पर शब्द के अर्थ का व्यक्ति के रूप में ग्रहण युक्तिसङ्गत नहीं माना जा

सकता। व्यक्ति में संकेतग्रह मानें तो प्रश्न यह होगा कि एक व्यक्ति में संकेतग्रह माना जाय या व्यक्तियों की समग्रता में ? ऊपर के उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि कहीं एक विशिष्ट व्यक्ति में संकेतग्रह की सम्भावना जान पड़ती है और कहीं व्यक्तियों की समग्रता में। ये दोनों सम्भावनाएँ सदोष हैं। यदि यह माना जाय कि शब्द में एक विशिष्ट व्यक्ति के अर्थ का बोध कराने की शक्ति रहती है तो शब्द का अर्थवृत्त इतना छोटा हो जायगा कि उसी जाति के दूसरे व्यक्ति का बोध उस शब्द से नहीं हो पायगा। उदाहरण के लिए 'लड़का' शब्द का अर्थ यदि एक विशेष आयु का एक विशिष्ट व्यक्ति हो तो उससे भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति को लड़का कहा ही नहीं जा सकेगा। कारण यह है कि जिस व्यक्तिविशेष के लिए हम लड़का शब्द का प्रयोग करेंगे, अथवा यह कहें कि लड़का शब्द से हम जिस खास लड़के का अर्थग्रहण करेंगे, उससे अभिन्न तो संसार में दूसरा कोई लड़का होगा नहीं, फिर दूसरे का बोध उस शब्द से कैसे हो सकेगा ? हम व्यवहार में देखते हैं कि बहुत-से व्यक्तियों के लिए उसी एक लड़का शब्द का प्रयोग होता है, जब कि वे लड़के रूप-रंग, आकार-प्रकार, स्वभाव, रुचि आदि में एक दूसरे से बहुत भिन्न होते हैं। प्रकृति की यह विलक्षणता है कि दो व्यक्ति सर्वथा एक-से नहीं होते। उनमें कुछ समानताएँ होती हैं, पर भिन्नता भी अनिवार्यतः रहती है। एक व्यक्ति का बोध उसकी अपनी समग्र विशिष्टताओं के साथ होगा जो विशिष्टताएँ अन्य किसी व्यक्ति में नहीं मिल सकतीं। ऐसी स्थिति में 'लड़का' शब्द का संकेतग्रह जिस एक व्यक्ति में मानेंगे, उससे भिन्न लड़के का बोध वह शब्द नहीं करा सकेगा, क्योंकि उस शब्द से संकेतित एक विशेष लड़के की आकृति की ही अवधारणा हमारे मन में बार-बार बनेगी। परिणाम यह होगा कि भाषा में अलग-अलग सभी लड़कों के बोध के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करना होगा, जो कथमपि सम्भव नहीं है। अनन्त व्यक्तियों के लिए पृथक्-पृथक् अनन्त शब्दों की कल्पना क्या सम्भव है ?

व्यक्तियों की समग्रता में संकेतग्रह मानना भी दोष-मुक्त नहीं। एक शब्द क्या सभी व्यक्तियों की अवधारणा एक साथ उपस्थित करा देता है ? लड़का कहने से क्या संसार के सभी लड़कों का अर्थ-ग्रहण हो सकता है ? प्रश्न इससे भी अधिक दुरूह है। अतीत काल में जितने लड़के संसार में हो चुके हैं और भविष्य में जितने उत्पन्न होंगे, सभी लड़का शब्द के संकेतित अर्थ हैं। प्रश्न है कि लड़का शब्द से अतीत, वर्तमान और भावी; सभी लड़कों के अर्थ की एक साथ उपस्थिति मानने पर 'लड़का पढता है' 'लड़का सुन्दर है' 'लड़का कुरूप है' आदि वाक्यों का प्रयोग कैसे सम्भव होगा ? 'लड़का पढता है' का अर्थ यह नहीं होता कि सभी लड़के पढ रहे हैं। अतः लड़का शब्द का अर्थ न तो एक व्यक्ति को माना जा सकता है और

न सभी व्यक्तियों को। इसीलिए मम्मट की यह युक्तिपूर्ण मान्यता है कि शब्द का संकेत व्यक्ति या व्यक्तियों में न होकर उसकी उपाधियों में हुआ करता है, जो उपाधियाँ जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा अर्थात् संज्ञा के भेद से चार प्रकार की होती हैं।

उपाधि के दो मुख्य भेद हैं—(१) वस्तु-धर्म और (२) वक्ता की इच्छा से प्रदत्त। वस्तुधर्म के सिद्ध और साध्य; दो भेद हैं। सिद्ध उपाधि दो प्रकार की होती है—(क) वस्तु की प्राणप्रद उपाधि, जिसके अभाव में वस्तु की सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इस उपाधि को जाति कहते हैं। गोत्व गाय की जाति है। हम गोत्व रहित गाय की कल्पना नहीं कर सकते और (ख) वस्तु में वैशिष्ट्य का आधान करने वाली उपाधि, जिसे गुण कहते है। साध्यवस्तु धर्म क्रिया है तथा वक्ता की इच्छा से प्रदत्त वस्तु की उपाधि संज्ञा कहलाती है। इस प्रकार वस्तु की चार उपाधियाँ हैं—जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा। प्रथम तीन वस्तुनिष्ठ धर्म हैं, जिनमें से जाति और गुण सिद्ध तथा क्रिया साध्य उपाधि होती है। संज्ञा लोगों के द्वारा दी जाती है। वह भी वस्तु की बपाधि मानी जाती है, पर उसे वस्तुनिष्ठ धर्म नहीं माना जाता। संज्ञा भी साध्य उपाधि है। जाति तथा गुण वस्तु में सिद्ध रूप से रहने वाली उपाधियाँ हैं, जबकि क्रिया और संज्ञा साध्य रूप से।

मम्मट की मान्यता है कि वस्तु की इन उपाधियों में ही शब्द का संकेतग्रह माना जाना चाहिए। अब प्रश्न था कि इन उपाधियों में से किसी एक में शब्द का संकेत रहता है, या सभी उपधियों में? इस सम्बन्ध में भारतीय व्याकरण-शास्त्र तथा दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में अनेक प्रकार की मान्यताएँ प्रचलित थीं। मम्मट ने उन मान्यताओं की ओर निर्देश-भर कर दिया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट शब्दार्थतत्त्व के सम्बन्ध में व्याकरण शास्त्र में प्रतिपादित जात्यादि चारो उपाधियों में शब्द के संकेत का सिद्धान्त, मीमांसा दर्शन में प्रतिपादित केवल जाति में संकेत का सिद्धान्त, न्याय दर्शन में प्रतिपादित तद्वान् अर्थात् जाति-विशिष्ट व्यक्ति में संकेत का सिद्धान्त तथा बौद्ध विचारकों का अपोहवाद या तद्भिन्नभिन्न में सकेत का सिद्धान्त; शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अलग-अलग विचार प्रस्तुत करते हैं। इन विचारकों के शब्दार्थ दर्शन का परीक्षण हम यथास्थान विस्तार से करेंगे। यहाँ संक्षेप में इन मतों का सार प्रस्तुत किया जा रहा है।

व्याकरण दर्शन में जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा; इन चारो उपाधियों में शब्द का संकेत माना गया है। महाभाष्यकार ने शब्द की चतुर्विध प्रवृत्तियाँ मानी हैं। जब हम कहते हैं कि मोहन नाम का यह मेधावी छात्र पढ़ रहा है; तो इस वाक्य

में लड़कपन की जाति का बोध होता है, जो लड़के की न केवल पशु आदि से भिन्न सत्ता का, वरन् प्रौढ, वृद्ध आदि मानव से भी भिन्न सत्ता का बोध कराती है। 'मेधावी' शब्द गुण का बोधक है। उससे सामान्य, मन्द आदि से भिन्न मोहन की एक विशिष्टता का बोध होता है। 'पढता है' एक विशेष क्रिया का बोध कारता है। 'मोहन' शब्द उस लड़के की संज्ञा का बोधक है। इस प्रकार शब्द से जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा अर्थात् यदृच्छा; इन चारों का बोध होता है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि गुण, क्रिया और संज्ञा में विविधता पायी जाती है। ऐसी स्थिति में गुण, क्रिया आदि के किस निश्चित रूप को शब्द का अर्थ माना जायगा? मेधावी यदि गुण है तो उसमें तारतम्य अवश्य होता है। सभी समान रुप से ही मेधावी नहीं होते। तब मेधावी शब्द से किस प्रकार के मेधावी का बोध होगा? गोरा, काला, उजला आदि गुण-बोधक शब्द हैं, पर इनका कोई रूप निश्चित नहीं। क्रिया में भी एक 'चलना' क्रिया के अनन्त भेद पाये जाते हैं। हर व्यक्ति का चलना कुछ वैशिष्ट्य रखता है। अतः कभी-कभी व्यक्ति की चाल उसकी पहचान में सहायक होती है। दूर से किसी को चलते देखकर उसकी चाल की विशेष भंगी के आधार पर लोग उसे पहचान लेते हैं। नेत्रहीन व्यक्ति लोगों की पदचाप के सूक्ष्म भेद को इतना परखता है कि पदचाप सुन कर ही अलग-अलग व्यक्तियों को पहचान लेता है। संज्ञा में भी उच्चारण-भेद से भेद आता है। जब एक अबोध शिशु 'राम' को लाम कहता है; तब एक ही संज्ञा के 'राम' और 'लाम' रूपों में भिन्नता आ जाती है। हर व्यक्ति के उच्चारण में अपनी विशिष्टता रहती है। दो व्यक्तियों का कण्ठस्वर अभिन्न नहीं होता। इसीलिए व्यक्ति को बिना देखे भी, उसकी आवाज को सुन कर हम उसे पहचान लेते हैं—यदि कण्ठस्वर को सुनने में हमारे कान अभ्यस्त हैं। गुण, क्रिया और संज्ञा की इस विविधता में उनके किसी विशिष्ट स्वरूप का शब्दार्थ के रूप में निर्धारण क्या सम्भव है?

वैयाकरणों की युक्ति है कि वस्तुतः गुण, क्रिया और संज्ञा में आपाततः प्रतीत होने वाली विविधता आश्रय-भेद के कारण रहा करती है। आश्रय निरपेक्ष गुण. क्रिया आदि में विविधता नहीं होती। गुण जिन वस्तुओं पर आश्रित रहता है, उन वस्तुओं की भिन्नता के कारण उस गुण में भी भिन्नता की प्रतीति होती है। क्रिया तथा संज्ञा के सम्बन्ध में भी यही बात है। उदाहरण के लिए, बर्फ, दूध, कपड़े आदि का उजलापन गुण उन आश्रयों के भेद के कारण भिन्न जान पड़ता है। चलना क्रिया अपने आश्रयभूत व्यक्तियों की भिन्नता के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। इसी प्रकार संज्ञा की विविधता भी आश्रयगत ही होती है। यह भेद वैसा ही है जैसा भेद एक ही मुँह को शीशे में, तेल में, पानी आदि में देखने से

मुँह में जान पड़ता है। आश्रय भेद से मुख के प्रतिबिम्ब में भेद होने से उस मुख में तात्त्विक भेद नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार आश्रय-भेद के कारण गुण, क्रिया आदि के रूप में भिन्नता की प्रतीति होने पर भी गुण, क्रिया तथा संज्ञा में तात्त्विक विविधता की कल्पनानहीं की जा सकती। अतः व्याकरण में शब्द की प्रवृत्तियों के आधार पर शब्द के चार भेद माने गये हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और संज्ञावाचक। इन चार प्रकार के शब्दों में क्रमशः जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा से विशिष्ट पदार्थ के बोध की शक्ति मानी गयी है। इस प्रकार 'मोहन नाम का यह मेधावी लड़का पढ़ रहा है', इस वाक्य में वैयाकरणों के अनुसार 'लड़का' शब्द लड़कपन जाति से युक्त पदार्थ का, 'मेधावी' शब्द मेधा के गुण से युक्त पदार्थ का, 'पढ रहा है' शब्द विशेष प्रकार की क्रिया से युक्त पदार्थ का तथा 'मोहन' शब्द विशिष्ट संज्ञाधारी पदार्थ का बोध कराते हैं।

अर्थबोध की प्रक्रिया पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा कि उदाहृत वाक्य में 'यह' और नाम से किसी विशिष्ट लड़के का बोध हो जाता है, पर केवल 'लड़का' शब्द सामान्य रूप से लड़कपन जातिविशिष्ट पदार्थ का ही बोधक है। इस प्रकार उस शब्द से निर्विशिष्ट रूप में लड़का-मात्र का बोध होता है और उस जाति के एक या कुछ व्यक्तियों का बोध आक्षेप से होता है। मुख्य अर्थ जाति, गुण आदि के रूप में गृहीत होता है, उस जाति के किसी विशेष व्यक्ति का बोध देश काल प्रसंग आदि के अनुरूप आक्षिप्त हुआ करता है।

पूर्वमीमांसा दर्शन में जात्यादि चार में शब्द के संकेतग्रह के सिद्धान्त को अस्वीकार कर शब्द का संकेत केवल जाति में माना गया है। उस मत के अनुयायियों की मान्यता है कि जिन्हें जाति-शब्द कहते हैं, उनसे तो जाति का बोध होता ही है, जिन्हें गुण-शब्द, क्रिया-शब्द तथा संज्ञा-शब्द (या यदृच्छाशब्द अथवा द्रव्यशब्द) कहा जाता है, उनसे भी जाति का ही बोध होता है। तात्पर्य यह कि मीमांसकों के मतानुसार सभी शब्दों का अर्थ जातिरूप ही होता है, अर्थात् शब्द एक सामान्य अवधारणा ही उत्पन्न करते हैं। कुछ उदाहरणों से इस मान्यता को स्पष्ट किया जा सकता है। उजला, काला, लाल आदि रंग, मन्दता, तीक्ष्णता आदि धर्म वस्तु के गुण माने जाते हैं। वस्तुओं के स्वरूप के घटक परमाणुओं को भी मीमांसक गुण ही मानते हैं, जिन्हें वैयाकरणों ने वस्तु का प्राणप्रद धर्म अर्थात् जाति माना है। अब प्रश्न है कि क्या उजला, काला, लाल आदि शब्द से उन वर्णों के किसी विशेष रूप का बोध होता है? हम शंख, दूध, वर्फ आदि को उजला कहते हैं। शंख के जिस उजलापन का बोध हमें होता है, वह दूध और बर्फ के उजलापन के बोध से अवश्य ही भिन्न होता है, फिर भी हम उजलापन की विविधता में भी एक समान

जाति की कल्पना कर सभी परस्पर भिन्न रूपों के लिए एक ही 'उजला' शब्द का प्रयोग करते हैं। लाल, काला आदि का भी कोई एक नियत रूप नहीं। उनके विविध रूपों में से एक जाति रूप अर्थ का ही बोध होता है, अर्थात् उन वर्णों की सामान्य अवधारणा को ही उन पदों का अर्थ माना जा सकता है।

किसी क्रिया में भी मीमांसकों के अनुसार जाति का ही बोध होता है। चलना क्रिया के विविध रूपों पर हम विचार कर चुके हैं और यह देख चुके हैं कि 'चलना' शब्द से चलने के किसी एक मानक रूप का अर्थबोध स्वीकार नहीं किया जा सकता। चलने की विविध प्रक्रियाओं में से एक सामान्य चलने की क्रिया का ही बोध होता है। एक उदाहरण 'पाक' क्रिया का दिया गया है। गुड़ पकाने, चावल पकाने आदि की प्रक्रिया एक ही नहीं होती। जब हम पकाने की सभी प्रक्रियाओं के लिए 'पकाना' क्रिया का प्रयोग करते हैं तो उस शब्द से गृहीत अर्थ सामान्य या जाति रूप ही हो सकता है।

संज्ञापद से भी मीमांसक जाति रूप अर्थ का ही ग्रहण मानते हैं। उनकी युक्ति है कि किसी भी संज्ञापद का एक ही स्वरूप नहीं होता। उच्चारण-भेद से संज्ञा-पद भिन्न हो जाते हैं, फिर भी उन पदों से सामान्यरूप में जो अर्थ गृहीत होता है, उसे जाति रूप ही माना जाना चाहिए। संज्ञा-पद से अर्थ-बोध की प्रक्रिया पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। अनेक व्यक्तियों की एक ही संज्ञा हो सकती है। संज्ञा चूँकि व्यक्ति की स्वेच्छा से वस्तु को प्रदत्त होती है, इसलिए वह किसी एक ही पदार्थ का बोधक हो, यह आवश्यक नहीं। यदि हम मोहन नाम के चार व्यक्तियों से परिचित हैं और हमारा नौकर आकर कहता है कि 'मोहन नाम के एक व्यक्ति आये हैं' तो उस नाम से किस व्यक्ति के अर्थ का ग्रहण होगा? निश्चय ही, जब तक हम उस व्यक्ति को देख कर उसकी संज्ञा से एक विशिष्ट व्यक्ति के अर्थ का बोध न कर लें, तब तक सामान्य रूप से मोहन संज्ञाधारी सभी व्यक्तियों का अर्थ हमारे मन में आता रहेगा। उस अर्थ के बोध की प्रक्रिया यह होगी कि वह संज्ञा पहले सामान्य रूप से अनेक अर्थों का बोध करायगी और फिर हम उस व्यक्ति को प्रत्यक्ष देख कर एक विशिष्ट अर्थ का बोध करेंगे। तात्पर्य यह कि संज्ञापद का अर्थ भी मूलतः सामान्य या जातिरूप ही होगा, व्यक्तिरूप अर्थ आक्षिप्त होगा। किन्तु, जहाँ हम एक व्यक्ति को देखकर उसका नाम लेकर पुकारते हैं, वहाँ हमारे लिए उस शब्द का अर्थ विशेष व्यक्तिरूप ही होता है। ध्यातव्य है कि उस संज्ञा के प्रयोग के समय नियत अर्थ का बोध प्रसङ्गवश केवल हमारे लिए हो सकता है। उसे आक्षिप्त अर्थ ही माना जायगा। हमारा वह विशिष्ट पदार्थ का बोध, उस संज्ञा के अर्थ को विशिष्ट नहीं बना सकता। रामायण पढने के

प्रसङ्ग में 'राम' संज्ञा एक व्यक्ति का बोध कराती है, पर उसके अर्थ में वह विशिष्टता प्रसङ्ग के अनुरोध से आती है। राम वर्तमान युग में भी असंख्य व्यक्तियों का नाम हो सकता है। इस प्रकार नाम को भी सामान्य या जाति का बोधक माना जा सकता है।

मीमांसकों की शब्दार्थमीमांसा का सार यह है कि सभी प्रकार के पदों का संकेत जाति में ही रहता है, अर्थात् सभी पदों से जाति या सामान्य-रूप अर्थ का ही बोध होता है। इस चिन्तन-पद्धति में यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि क्या सूर्य, चन्द्रमा, वन, गाय, मनुष्य, सुन्दर आदि पदों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया एक-सी ही होती है? सूर्य, चन्द्रमा जैसे पद नियत अर्थ का बोध कराते हैं। क्या वहाँ भी सामान्य या जाति में अर्थ-बोध की कल्पना उतनी ही आवश्यक है, जितनी वन, गाड़ी, घर, मनुष्य, गाय, सुन्दर, प्रेम, घृणा, करुणा आदि पदों के अर्थ-बोध के सन्दर्भ में है? वन, गाड़ी, घर आदि की विशेषता यह है कि उनसे जिन अर्थों का बोध होता है, वे समूहालम्बन रूप होते हैं। उनके अलग-अलग अङ्ग अलग-अलग पद से अभिहित होते हैं। उनके अङ्गों में से किसी को भी उस समग्रताबोधक पद का अर्थ नहीं माना जा सकता, पर एक स्थिति में विभिन्न पदों से गृहीत होने वाले अर्थों के लिए समन्वित रूप से उन अङ्गवाची पदों से स्वतन्त्र एक पद का प्रयोग होने लगता है। उदाहरणार्थ वन शब्द का संकेत लता, वृक्ष आदि के समूह में है। लता या वृक्ष को अलग-अलग वन शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता, पर सबका सम्मिलित रूप वन शब्द का अर्थ होता है। वन के उन उपादानों के किस प्रकार के संघटन से उसमें वनत्व आता है कि उस रूप को वन कहते हैं, इसका निर्धारण असम्भव है। दो-चार वृक्षों, कुछ लताओं और झाड़ियों के सम्मिलित रूप को वन नहीं कहा जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि कम-से-कम कितने वृक्षों के एकत्र सद्भाव से वन का रूप बनता है, और किस संख्या से एक भी वृक्ष के कम होने से वन का वनत्व समाप्त हो जाता है। जब किसी सम्पूर्ण वन को काट कर हटाया जा रहा हो तो क्या इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है कि किस स्थिति में हम उस वन की सत्ता का विनाश मान लेते हैं? यह उत्तर तो हो ही नहीं सकता कि वन के अङ्गभूत सभी वृक्षों के कट जाने पर वनत्व समाप्त होता है, क्योंकि इतस्ततः दो-चार वृक्ष बच भी रहें तो उसे वन नहीं कहेंगे। इसी प्रकार घर, गाड़ी आदि के अर्थ का भी नियत स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। इन पदों के अर्थ को सामान्य या जातिरूप ही मानना पड़ेगा। प्रेम, घृणा, करुणा, हर्ष, विषाद आदि अमूर्त भावों के बोध की प्रक्रिया इन मूर्त वस्तुओं का अर्थ देने वाले पदों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया से अवश्य ही किञ्चित् भिन्न होती है। इन अमूर्त भावों के भी रूप-रंग की कल्पना कर मनुष्य ने उन्हें मूर्त रूप में

ग्रहण करने का प्रयत्न किया है, पर उनका रूप विशिष्ट और नियत नहीं बन पाया। उनकी सामान्य अवधारणा ही सम्भव हो सकती है। इस प्रकार विशिष्ट वस्तु का बोध कराने वाले तथा मूर्त-अमूर्त समूहात्मक अर्थ का बोध कराने वाले सभी शब्दों के अर्थग्रहण की एक ही प्रक्रिया की कल्पना (—जाति मात्र में शब्द के संकेतग्रह की मान्यता) में कुछ आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। अस्तु, इस प्रसङ्ग में शब्दार्थ के बोध के सम्बन्ध में जाति-मात्र में शब्द की शक्ति मानने वाले मीमांसकों के मत की ओर निर्देशमात्र अपेक्षित है।

न्याय दर्शन में शब्द के अर्थ की समस्या पर बहुत ऊहापोह हुए हैं। शब्द में अर्थ-बोध की शक्ति के सम्बन्ध में नैयायिकों का सिद्धान्त 'तद्वान्' अर्थात् 'जातिविशिष्ट व्यक्ति या जातिमान्' का सिद्धान्त कहलाता है। उनकी मान्यता यह है कि केवल व्यक्ति में तो शब्द का संकेत माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि एक व्यक्ति में शब्द का संकेत मानने से उससे भिन्न अन्य व्यक्तियों का अर्थ-बोध उस शब्द से नहीं हो सकेगा। सभी व्यक्तियों में एक साथ अर्थ-बोध की शक्ति मानने पर एक साथ एक शब्द से सभी व्यक्तियों की उपस्थिति सम्भव नहीं। केवल जाति में भी शब्द का संकेत नहीं माना जा सकता। केवल जाति में शब्द का संकेत मानने वाले यह कल्पना करेंगे कि शब्द मुख्यतः जाति का बोध कराते हैं और व्यक्ति का बोध आक्षेप से होता है, पर कठिनाई यह है कि शब्द में व्यक्ति के बोध की वृत्ति के नहीं रहने पर व्यक्ति का शब्द से बोध हो ही नहीं सकेगा। अतः शब्द की शक्ति जाति-विशिष्ट पदार्थ में मानी जानी चाहिए। तात्पर्य यह कि न्याय-सिद्धान्त के अनुयायी जातियुक्त पदार्थ को शब्द का अर्थ मानते हैं। शब्द से किसी विशिष्ट पदार्थ का जब बोध होता है तब उसकी जाति के साथ ही उसका बोध होता है। 'गाय' शब्द से गोत्व जाति से युक्त एक विशिष्ट आकृति वाले प्राणीरूप अर्थ का बोध होता है।

बौद्ध विचारकों ने शब्द के अर्थ के स्वरूप पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया है। उनका शब्दार्थ-चिन्तन स्वभावतः ही उनके तत्त्व-चिन्तन से प्रभावित है। बौद्ध विचारकों ने अपने तत्त्व-चिन्तन के निष्कर्ष के रूप में सभी वस्तुओं को क्षणिक माना है—सर्वं क्षणिकम्'। किसी भी वस्तु की सनातन सत्ता नहीं मानी जा सकती। किसी भी वस्तु के स्थिर रूप की कल्पना नहीं की जा सकती। जब वस्तु का कोई रुप स्थिर नहीं हो सकता, तब समस्या यह है कि किसी भी शब्द का संकेतित अर्थ किसे माना जायगा? जब हम किसी वस्तु के लिए यह कहते हैं कि 'यह अमुक वस्तु है' तो जब तक शब्द का उच्चारण पूरा भी नहीं होता, तब तक उस वस्तु का वह रूप नष्ट हो चुका होता है। उसका आकार पहली वस्तु जैसा भले जान पड़े, पर वस्तुतः एक क्षण की वह वस्तु दूसरे क्षण ठीक उसी रुप में रह ही नहीं सकती।

बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक के रूप-परिवर्तन पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति के जीवन में भी परिवर्तन का क्रम निरन्तर चलता रहता है। बौद्ध हर क्षण की अवस्था को पूर्व की अवस्था से स्वतन्त्र एक अवस्था मानेंगे, जो क्षण-भर भी स्थिर नहीं रहती। किसी बालक को बालक कहते ही उसका वह रूप नष्ट हो जाता है। इस तरह यह माना गया कि शब्द के अर्थ की विध्यात्मक सत्ता नहीं होती, अर्थात् शब्द विधि-रूप में किसी अर्थ का बोध नहीं करा सकता। अर्थ सदा निषेध-रूप में ही बोधगम्य होता है।

बौद्ध व्यक्ति में शब्द का संकेत नहीं मानते, क्योंकि उनके मतानुसार व्यक्ति का कोई एक स्थिर रूप होता ही नहीं, जिसे शब्द का अर्थ माना जा सके। जाति आदि की सत्ता उन्हें अमान्य है। अतः जाति आदि में शब्द का संकेत वे नहीं मानते। वे शब्द का अर्थ अपोह-रूप या अतद्व्यावृत्ति-रूप मानते हैं। अतः उनके शब्दार्थ-दर्शन को अपोहवाद या तद्भिन्नभिन्नवाद कहते हैं। अपोह का अर्थ है आच्छादन। अतद्व्यावृत्ति का तात्पर्य है—अर्थ से भिन्न सभी वस्तुओं का निषेध। इस प्रकार अपोहवाद या तद्भिन्नभिन्नवाद का सार यह है कि शब्द का अर्थ तद्भिन्न का व्यावर्तन या अपोह-रूप होता है। उदाहरणार्थ, इस मत के अनुसार 'गाय' शब्द का अर्थ होगा—गाय से भिन्न सकल सम्भव पदार्थों का व्यावर्तन, अर्थात् गाय से भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न पदार्थों का बोध। गाय से भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न 'गाय' ही हो सकती है। इस तरह बौद्ध विचारकों के अनुसार 'गाय' शब्द विधि-रूप में किसी अर्थ का बोध नहीं कराता, उससे भिन्न का निषेध या व्यावर्तन करता है, और इस व्यावर्तन-रूप अर्थ के बोध की ही शक्ति शब्द में रहती है। शब्द का अर्थ भाव-रूप न होकर अभाव का अभाव-रूप होता है।

इस सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझने के लिए बौद्ध विचारकों के तत्त्व-चिन्तन की इस विशेषता को भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि वे विश्व की सत्ता वेदना के रूप में ही स्वीकार करते हैं। पंचस्कन्धात्मक जगत वेदना की निरन्तर धारा है। अतः शब्दार्थ भी वेदना-रूप ही होगा। शब्द का अपोह-रूप अर्थ मानने का आशय यह है कि उसमें तद्भिन्न वेदनाओं को ढँक लेने की शक्ति होती है और इस प्रकार तद्भिन्न से भिन्न में शब्द का संकेत रहता है।

अभाव के अभाव, निषेध के निषेध, तद्भिन्न से भिन्न के अर्थ-बोध के सम्बन्ध में यह शंका हो सकती थी कि अभाव भी एक सत्ता है, वह भाव-सापेक्ष है, पर बौद्धों के शून्यवाद में इस सम्भावित शंका का समाधान इस युक्ति से करने का प्रयास किया गया है कि वह अभाव 'प्रसज्य लक्षण' होता है, उसे भाव-सापेक्ष रूप में ग्रहण

नहीं किया जाना चाहिए। निष्कर्ष यह कि बौद्ध मत के अनुसार शब्द को सुनने से जो अर्थ-बोध की वेदना उत्पन्न होती है, वह बाह्य जगत में सिद्ध किसी वस्तु की वेदना के रूप में न होकर, तद्भिन्न वेदनाओं के व्यावर्तन के रूप में होती है।

इन मतों के अतिरिक्त शब्दार्थ के सम्बन्ध में प्रचलित अन्य अनेक मतों का उल्लेख कुमारिल भट्ट के श्लोकवार्तिक में आया है। कुमारिल ने यह निर्देश किया है कि इस सम्बन्ध में भारतीय विचारकों के असंख्य मत हैं। उपरिनिर्दिष्ट चार मतों के साथ आकृतिवाद तथा जात्याकृतिव्यक्तिवाद का परिचय वांछनीय है।

आकृति में शब्द का संकेत माननेवाले विचारकों की मान्यता है कि शब्द का अर्थ आकृति-रूप होता है। किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण इस आधार पर होता है कि वक्ता क्या कहना चाहता है और श्रोता अर्थ को किस रूप में ग्रहण करता है। मानस-प्रत्यक्षीकरण आकृति का ही होता है और उसे ही शब्द का अर्थ माना जाना चाहिए। 'गाय' कहने से एक विशेष प्रकार की आकृति का बोध होता है, जो आकृति अन्य पशुओं की आकृति से भिन्न होती है। यह आकृति ही गाय शब्द का अर्थ है।[1]

कुछ मनोविज्ञानियों ने भी शब्द से बननेवाले मानस बिम्ब को शब्द का अर्थ माना है। मनोविज्ञानियों की वह मान्यता आकृतिवाद की इस मान्यता से अभिन्न है। इस मान्यता की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि यह कुछ ही शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया को ध्यान में रखकर निर्मित है। गाय, मनुष्य, वृक्ष आदि पदों के अर्थ के सम्बन्ध में यह बात भले ही कुछ हद तक सही जान पड़े; पर पशु, पक्षी आदि पदों के सम्बन्ध में—जिनके अर्थ का रूप नियत नहीं—इस मत को स्वीकार करने में कठिनाई हो सकती है। अमूर्त भावों और विचारों की आकृति के मानस प्रत्यक्षीकरण की कल्पना व्यर्थ है। कुछ भावों के रूप-रंग की कल्पना कर उन्हें आकार देने का प्रयास भले ही किया गया हो; पर सभी अमूर्त वस्तुओं की आकृति की कल्पना असम्भव है। वैसी स्थिति में किसी वस्तु को अमूर्त कहने का कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा। इससे भी बड़ी कठिनाई वाक्य के किसी योजक पद के अर्थ के सम्बन्ध में होगी। 'कि' 'या' 'और' 'अपितु' आदि पदों के अर्थ की क्या आकृति मानी जायगी? इन पदों को निरर्थक तो कहा नहीं जा सकता! इन पदों के अर्थ हैं; पर उन अर्थों की कोई आकृति नहीं। दूसरी बात यह कि आकृति व्यक्ति की तरह ही विशिष्ट

---

१. अतः प्रत्यक्षविषये पदं प्रवर्त्तमानमाकृतावेव वर्तितुमर्हति।

—न्याय मञ्जरी, प्रमाण प्रकरण, पृष्ठ २९१.

मानी जाती है और उसमें शब्द का संकेत मानने से इस मत में उसी प्रकार आनन्त्य और व्यभिचार-दोष उपस्थित होंगे, जिस प्रकार व्यक्ति में संकेत मानने में वे दोष दिखाये गये हैं।

शब्दार्थ-तत्त्व के सम्बन्ध में गौतम ने जात्याकृतिव्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया है। उनकी मान्यता है कि शब्द से जाति, आकृति तथा व्यक्ति का सम्मिलित रूप में बोध होता है। वे जाति-शब्द से केवल जाति के बोध के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। केवल व्यक्ति को भी उनके अनुसार किसी शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं और यह निर्धारित कर पाना असम्भव है कि किस व्यक्ति को शब्द का अर्थ माना जायगा। केवल आकृति को शब्द का अर्थ मानने में आपत्ति यह होगी कि गाय आदि की आकृति मिट्टी, लकड़ी तथा धातु आदि से बनायी जा सकती है पर उसे गाय शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। केवल जाति को शब्द का अर्थ मानने में कठिनाई यह है कि व्यक्ति या आकृति से पृथक् केवल जाति की अवधारणा बन ही नहीं सकती। व्यक्ति या आकृति के सन्दर्भ में ही जाति का बोध सम्भव होता है। अतः गौतम के मतानुसार जाति, आकृति और व्यक्ति सम्मिलित रूप में—पृथक्-पृथक् नहीं—शब्द के अर्थ होते हैं।

कुमारिल ने व्यक्ति तथा जाति को शब्द का अर्थ मानने वाले एक सिद्धान्त की चर्चा की है। इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द से क्रमशः व्यक्ति तथा जाति-रूप अर्थ का बोध होता है। हम व्यावहारिक जीवन में किसी व्यक्ति के बोध के लिए ही शब्द का प्रयोग करते हैं। दूसरी बात यह कि व्यक्ति की ही अवधारणा सम्भव होती है और उस अवधारणा को ही अर्थ माना जाता है। अतः व्यक्ति को ही शब्द का अर्थ माना जाना चाहिए। जो जाति को शब्द का अर्थ मानते हैं, उनके मतानुसार भी जाति के व्यापक परिवेश में सभी व्यक्ति आ ही जाते हैं। अतः व्यक्ति को शब्द का अर्थ माना जाना चाहिए। व्यक्ति के बोध में आनन्त्य और व्यभिचार दोष दिखाकर जाति को शब्द का अर्थ सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। यह युक्ति दी गयी है कि सभी व्यक्तियों में एक सामान्य या जाति की सत्ता होने के कारण ही सब को एक शब्द से अभिहित किया जाता है। अतः शब्द का अर्थ जाति या सामान्य ही होता है। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर व्यक्ति में शब्द का संकेत मानने वाले विचारकों ने अपने मत में यह परिष्कार कर लिया है कि शब्द मुख्यतः व्यक्ति का ही बोध कराते हैं और वह व्यक्ति-रूप अर्थ जाति को व्यञ्जित करता है। जाति शब्द के अर्थ से व्यञ्जित अवश्य होती है, पर व्यञ्जित होनेवाली जाति को शब्द का मुख्य अर्थ नहीं माना जा सकता। उसे शब्द के व्यक्ति-रूप अर्थ का नियामक मात्र स्वीकार किया जा सकता है। जाति को शब्द

का अर्थ मानने वाले जहाँ जाति-रूप मुख्य अर्थ से व्यक्ति-रूप अर्थ को आक्षिप्त मानते हैं, वहाँ इस मत में, ठीक उसके विपरीत, व्यक्ति-रूप मुख्य अर्थ से जाति को व्यञ्जित माना गया है। स्पष्ट है कि यह मत व्यक्ति में शब्द का संकेतग्रह मानने वाले मत का ही किञ्चित् परिष्कृत रूप है। इसे भी उक्त दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं माना जा सकता, जो दोष व्यक्तिवाद में दिखाये गये हैं।

शब्दार्थ-तत्त्व के सम्बन्ध में उक्त मतों के उल्लेख से यह बात स्पष्ट है कि युगों से शब्द और अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में मानव-मन में जिज्ञासा का भाव रहा है और उससे प्रेरित होकर असंख्य मनीषियों ने शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में जितने ऊहापोह हुए, उतनी ही अधिक जटिलताएँ सामने आती गयीं। अध्यात्मवादी तथा भौतिकवादी दर्शन की विभिन्न शाखाओं के विचारकों ने अपने-अपने तत्त्व-चिन्तन के आदर्श के अनुरूप 'ज्ञानमीमांसा' के प्रसंग में शब्द के अर्थ-बोध के स्वरूप का निर्धारण करने की चेष्टा की। सम्पूर्ण सृष्टि के सम्बन्ध में द्वैत तथा अद्वैत की मान्यताओं से शब्द और अर्थ के द्वैत तथा अद्वैत के विचार उत्पन्न हुए। भाषाविज्ञान में शब्दार्थ-चिन्तन को दार्शनिक जटिलता से मुक्त कर, वैज्ञानिक पद्धति पर, भाषा के व्यक्त रूप में शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास हो रहा है। मनोविज्ञानियों ने अर्थ-बोध की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, पर इस दिशा में वे दार्शनिकों के चिन्तन की तुलना में अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर पाये हैं। मनोविज्ञान और भाषा-विज्ञान के योग से मनोभाषाशास्त्र (Psycholinguistics) नाम का स्वतन्त्र शास्त्र विकसित हुआ है जो शब्दार्थ की समस्या को अपने अध्ययन का मुख्य विषय मानता है।

शब्द और अर्थ के अपरिमेय स्वरूप को देखकर, उसकी अचिन्त्य दुर्बोधता का अनुभव कर और उसके व्यक्त-अव्यक्त रूप का अनन्त विलास देखकर ही कुछ दार्शनिकों ने शब्द को ब्रह्म और अर्थ को उसका विवर्त माना होगा। अर्थ को शम्भु और वाणी को पार्वती के रूप में कल्पित कर दोनों के अभेद सम्बन्ध की कल्पना का रहस्य यह है कि अर्थ का संकेत शब्द में ही निहित रहता है। कहीं-कहीं एक ही शब्द में अनेक अर्थों के बोध की शक्ति रहती है और इसके विपरीत एक ही अर्थ के लिए अनेक पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग होता है। एक शब्द से अनेक अर्थ के ग्रहण के स्थल में भाषादर्शन के कुछ विचारक समान स्वरूप वाले अनेक शब्दों की कल्पना कर लेते हैं। कुछ शब्दों में तो लिंग-भेद से एक रूप में अनेक पदों की सत्ता स्पष्ट हो जाती है, पर जहाँ एक शब्द अनेक अर्थों में समान लिंग में ही प्रयुक्त होता है, वहाँ उनका भेद उतना स्पष्ट नहीं रहता। उदाहरणार्थ,

'टीका' शब्द पुल्लिग में बिन्दी का बोधक है, पर स्त्रीलिंग में टिप्पणी का। वह शब्द एक नहीं, अर्थानुरूप दो है। अनेक पर्यायवाची शब्दों के एक अर्थ की स्वीकृति में भी दो मत हो सकते हैं। कुछ विचारक सभी पर्यायवाची शब्दों का अर्थ एक ही मानेंगे तो दूसरे विचारक उन शब्दों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म भेद की कल्पना कर लेंगे। इतना अवश्य सत्य है कि अनेक पद समान अर्थ की ओर निर्देश करते हैं। एक शब्द के अनेक अर्थों के आधार पर समान स्वरूप वाले अनेक पदों की कल्प शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक कुछ विशिष्ट पूर्व मान्यताओं को व्यक्त करती है। शब्द-अर्थ के नियत सम्बन्ध की सूचना देने के लिए ही यह कल्पना की गयी जान पड़ती है। पश्चिम के अनेक भाषाविज्ञानियों ने शब्द को अर्थ का ध्वनि-प्रतीक माना है। वह ध्वनि-प्रतीक अर्थ को संकेतित करता है।

पाश्चात्य दर्शन और भाषाविज्ञान में भारतीय शब्दार्थ-चिन्तन की तरह ही अनेक दृष्टियाँ उपलब्ध हैं। वस्तु-निर्देशात्मक पदार्थ-सिद्धान्त अर्थ के स्वरूप का अध्ययन उन वस्तुओं के सन्दर्भ में करता है, जिनका उल्लेख भाषिक व्यवहार में किया जाता है। इस चिन्तन में समाजशास्त्रीय अध्ययन से भी सहायता ली जाती है। मानव का सम्पूर्ण संस्कार, जो शब्द के अर्थ को विशेष रूप में ग्रहण करने में अचेतन भूमिका निभाता है, अर्थवैज्ञानिक अध्ययन का विषय माना जाता है। प्रत्यय-सिद्धान्त में पद के अर्थ की सत्ता मानव के संबोध में मानी गयी है। भाषिक अर्थ का प्रत्यक्ष सम्बन्ध लोक सिद्ध या लोक में असिद्ध अर्थ या प्राकृतिक वस्तु से नहीं। भाषिक अर्थ का स्वरूप एक तार्किक संरचना या मानस विकल्प के रूप में स्वीकार किया गया है। इस दृष्टि से तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों का शब्दार्थ-चिन्तन भर्तृहरि तथा बौद्ध चिन्तकों के अर्थ-दर्शन के निकट पहुँच जाता है। भाषाविज्ञानियों का एक वर्ग शब्द के किसी नियत अर्थ की सत्ता को अस्वीकार कर व्यवहार के आधार पर अर्थ का निर्धारण उचित मानता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द अस्त्रागार में रखे हुए अस्त्र की तरह होते हैं जिनकी शक्ति प्रयोक्ता के कौशल में निहित रहती है। एक ही शब्द वक्ता और श्रोता के भेद से असंख्य अर्थों का बोध करा सकता है। इस तरह भाषा से व्यक्त विविध अर्थच्छटाओं पर भी शब्दार्थ-निरूपण के सन्दर्भ में विचार किया गया है।

मनोभाषाशास्त्र (Psycho Linguistics) में अनेक प्रायोगिक विधियों से शब्दार्थ के स्वरूप तथा उसके मनोस्नायविक प्रभाव के स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। मनोभाषाशास्त्रीय अध्ययन से जो निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं, उनमें से बिम्ब-सिद्धान्त और प्रतिक्रिया-सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

बिम्ब-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द से अर्थ का मानस-बिम्ब के रूप में ग्रहण होता है। अमूर्त भाव तथा विचार के बोधक शब्द के अर्थ-बिम्ब-ग्रहण के पूर्वग्रह को सिद्ध करने के लिए बिम्बवादियों ने अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ भी की हैं। प्रतिक्रिया-सिद्धान्त यह मानता है कि शब्द वह उत्तेजक है जो श्रोता में स्नायविक प्रतिक्रिया जगाता है। यह प्रतिक्रिया ही किसी शब्द के अर्थ का स्वरूप है।

इस अध्याय में शब्द-अर्थ-विषयक जितने मतों की चर्चा की गयी है, उन सबमें कुछ शक्तियाँ और सीमाएँ हो सकती हैं। यदि पूर्वग्रहमुक्त होकर व्याकरण, दर्शन, भाषाविज्ञान और मनोविज्ञान के क्षेत्र में किये गये शब्दार्थ-चिन्तन का समीक्षात्मक और तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो सभी विचारों के आलोक में शब्दार्थ के व्यापक स्वरूप तथा शब्द-अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्टता से परखा जा सकता है।

शब्दार्थ-चिन्तन के इन विविध आयामों का समीक्षात्मक और तुलनात्मक अध्ययन इस रचना का उद्देश्य है।

द्वितीय अध्याय

शब्दार्थ का स्वरूप

शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के क्रम में मूल प्रश्न यह है कि उस अर्थ की सत्ता मानव के बोध-रूप में मानी जानी चाहिए या लोकसिद्ध वस्तु के रूप में ? दूसरे शब्दों में, शब्दार्थ प्रत्यय-रूप है या वस्तु-रूप ? इसी प्रश्न को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि शब्द से जिस अर्थ का ग्रहण होता है वह जाति या सामान्य रूप होता है या व्यक्ति-रूप ? यह प्रश्न इतना जटिल है कि उसका कोई उत्तर आसानी से नहीं दिया जा सकता। दोनों पक्षों में कुछ युक्तियाँ हैं। यदि यह कहें कि शब्द केवल प्रत्यय-रूप जाति या सामान्य का बोध कराता है. तो 'गाय मर गयी' जैसे भाषिक प्रयोग का क्या औचित्य होगा ? गाय की प्रत्ययगत जाति का मरना तो सम्भव ही नहीं। पर यहीं यह समस्या भी आती है कि गाय शब्द से किसी विशिष्ट व्यक्ति का ही बोध नहीं होता। वह शब्द रूप, गुण, क्रिया आदि में परस्पर भिन्न असंख्य व्यक्तियों का सामान्य रूप में ही बोध कराता है। समस्या की इस जटिलता के कारण ही वैयाकरणों, दार्शनिकों, भाषाविज्ञानियों तथा मनोविज्ञानियों के अनेक ऊहापोहों के बाद भी इस समस्या का कोई सर्वसम्मत समाधान नहीं हो पाया है। इस दिशा में विभिन्न विचारकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन वाञ्छनीय है।

भारतीय विचारकों ने अर्थ को बुद्धिगत प्रत्यय-रूप तथा वस्तु-रूप मानने के पक्ष में अलग-अलग युक्तियाँ दी हैं, जिनका औचित्य परीक्षणीय है। भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में पूर्वप्रचलित अर्थविषयक बारह मतों का उल्लेख किया है। हम विभिन्न विचारकों के अर्थविषयक आकृतिवाद, व्यक्ति-जातिवाद, जात्याकृति-व्यक्तिवाद, जातिविशिष्टव्यक्तिवाद, अपोहवाद, तथा जात्यादिचतुष्टयवाद का संक्षिप्त परिचय दे चुके हैं। इन सभी भारतीय विचारधाराओं का मूल्यांकन कर हम पाश्चात्य दार्शनिकों, मनोविज्ञानियों तथा आधुनिक भाषाविज्ञानियों के एतद्विषयक मत का परीक्षण करेंगे, और सभी मतों के आलोक में अर्थविषयक किसी मान्य सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास करेंगे।

भारतीय वैयाकरणों ने अर्थ को शब्दनिष्ठ माना है। उनकी दृष्टि में अर्थ शब्द से पृथक नहीं, उसी में अन्तर्लीन रहता है।[1] अतः शब्द से रहित कोई अर्थ-बोध सम्भव नहीं।[2] शब्द-अर्थ का यह समन्वित बोध बुद्धिगत होता है। इस प्रकार अर्थ को बुद्धिगत स्वीकार किया गया है। लोक-सिद्ध बाह्य अर्थ का भी बोध शब्द से होता है। यह बोध प्रत्यय-रूप होने के कारण बुद्धिगत ही होता है।

एक प्रश्न यह उठाया गया है कि अर्थ को प्रत्यय-रूप मात्र मानने से लोक-व्यवहार कैसे सम्भव होगा? एक व्यक्ति दूसरे से कहता है—'थोड़ा पानी दो' और वह पानी लाकर दे देता है। निश्चय ही पानी शब्द एक लोकसिद्ध बाह्य पदार्थ का बोध कराता है। यदि पानी का अर्थ केवल उसका प्रत्यय होता तो गिलास में पानी भरकर लाना सम्भव नहीं होता।

अनेक सार्थक शब्दों का अर्थ शब्द में ही अन्तर्निहित रहता है, शब्द से बाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं। या, तो, भी, पुनः, नहीं आदि शब्दों के अर्थ की सत्ता मानव की बुद्धि में ही रहती है।

भर्तृहरि ने शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्वप्रचलित जिन बारह मतों का उल्लेख किया है, उनके आलोचनात्मक अध्ययन से शब्दार्थ-स्वरूप-विषयक कई तथ्य सामने आते हैं। वे मत निम्नलिखित हैं—

(१) शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में एक मत यह है कि अर्थ निराकार होता है अर्थात् शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है वह किसी विशिष्ट आकार से युक्त नहीं होता। शब्द आकाररहित अर्थ-तत्त्व का ही बोध कराते हैं। जिस प्रकार देवता, स्वर्ग आदि शब्दों से आकारहीन अर्थ का बोध होता है उसी प्रकार लोक-सिद्ध मूर्त्त वस्तु का निर्देश करने वाले गाय आदि शब्दों से भी निराकार अर्थ-तत्त्व का ही बुद्धि से ग्रहण होता है।[3] इस मत को मानने वालों की युक्ति यह होगी कि गाय शब्द असंख्य गो व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है, जो व्यक्ति रूप, गुण आदि में एक दूसरे से भिन्न होते हैं। यदि गाय शब्द से विशिष्ट आकार-युक्त किसी प्राणी का बोध हो, तो उससे भिन्न आकार वाले दूसरे प्राणी का बोध

---

१. शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः अर्थोऽबहिर्भूतः।—पतञ्जलि, महाभाष्य, १, १, ६६।

२. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
—भर्तृहरि, वाक्यपदीय १, १२३।

३. अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम्।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु॥—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २, १२९

उसी शब्द से कैसे सम्भव होगा? भाषिक व्यवहार में यह देखा जाता है कि एक ही गाय शब्द रूप-गुण में परस्पर भिन्न असंख्य गायों के लिए प्रयुक्त होता है। यह इसलिए सम्भव होता है, कि गाय शब्द से एक विशिष्ट प्रकार के प्राणी की निराकार सत्तामात्र का बोध होता है। इस प्रकार अलोकसिद्ध वस्तु तथा अमूर्त भाव और विचार के वाचक शब्दों से तो निराकार अर्थ का बोध होता ही है, अन्य सभी शब्दों से भी अस्त्यर्थ-रूप निराकार अर्थ का ही ग्रहण होता है। यदि अर्थ को साकार माना जाय तो आकाशकुसुम, देवता, स्वर्ग तथा सुख, दुःख आदि शब्दों से भी आकार का बोध होना चाहिए, पर शब्द से सार्वत्रिक रूप में निराकार सत्ता-रूप अर्थ का ही बोध होता है।

समस्या यह है कि यदि गाय आदि शब्दों से भी निराकार अस्त्यर्थ ही बोध-गम्य होता है तो लोग आकारयुक्त विशिष्ट गाय व्यक्ति के लिए गाय शब्द का प्रयोग कैसे करते हैं और 'गाय को बाँधो' जैसे वाक्य को सुन कर सुनने वाला किसी साकार प्राणी को बाँधने की क्रिया में कैसे प्रवृत्त होता है? इस समस्या का समाधान इस युक्ति से किया गया है कि शब्द का अर्थ तो तत्त्वतः अस्त्यर्थ-रूप निराकार ही होता है, फिर भी उसके साथ अविनाभाव रूप से सम्बद्ध साकार व्यक्ति का बोध उसी शब्द से हो जाता है। अतः साकार वस्तु-विशेष को शब्द का मुख्य अर्थ नहीं माना जाना चाहिए। शब्द से पहले अस्त्यर्थ-रूप निराकार अर्थ-तत्त्व गृहीत होता है, जो शब्द का मुख्य अर्थ होता है, फिर उस मुख्य अर्थ के साथ अविनाभाव सम्बन्ध के कारण विशेष आकृतियुक्त व्यक्ति का बोध होता है। मुख्य अर्थ से सम्बद्ध आकारवान् वस्तु को भी मुख्यार्थ मान लेने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए।[1]

अस्त्यर्थ या सत्तारूप निराकार अर्थ-तत्त्व को शब्द का मुख्यार्थ मानने पर अर्थ-बोध का क्या स्वरूप होगा, यह विचारणीय है। इस सिद्धान्त के अनुसार गाय शब्द को सुनकर हम यह समझेंगे कि कोई एक सत्ता है जो गाय शब्द से अभिहित होती है। इसी प्रकार मनुष्य शब्द अपने से अभिहित किसी निराकार सत्ता का ही बोधक होगा। इस प्रकार भाषिक व्यवहार में कठिनाई यह होगी कि गाय, मनुष्य आदि शब्दों से बोधगम्य होनेवाले अर्थों में आकार आदि का अभाव होने के कारण भेद कर पाना सम्भव नहीं होगा। सभी शब्दों से

---

१. प्रयोगदर्शनाभ्यासादाकारावग्रहस्तु यः।
न स शब्दस्य विषयः स हि यत्नान्तराश्रयः॥—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २, १२०

अनिर्दिष्ट आकारहीन सत्ता-मात्र का बोध होने लगेगा और फलतः भाषिक व्यवहार ही असिद्ध हो जायगा।

इस समस्या का समाधान करने के लिए यह युक्ति दी जा सकती है कि उस सत्तारूप निराकार अर्थ-तत्त्व से अविनाभाव-रूप से सम्बद्ध साकार व्यक्ति के आधार पर एक शब्द का अर्थ दूसरे शब्द के अर्थ से भिन्न रूप में बोधगम्य होता है। वही साकार व्यक्ति अर्थ का व्यावर्तक होता है। ऐसी स्थिति में कठिनाई यह होगी कि अस्त्यर्थ-रूप निराकार अर्थ को साकार व्यक्ति पर आधृत मानना पड़ेगा और इस प्रकार यह सिद्धान्त जाति-विशिष्ट व्यक्ति में शब्द का संकेत मानने वाले न्यायमत के निकट पहुँच जायगा। फिर केवल निराकार अस्त्यर्थ को ही नहीं, साकार व्यक्तियुक्त निराकार सत्ता-रूप अर्थ को शब्द का अभिधेय मानना पड़ेगा। हाँ, यह कठिनाई केवल लोकसिद्ध मूर्त वस्तु की ओर निर्देश करने वाले शब्दों तक ही है। अलोकसिद्ध वस्तु या अमूर्त भाव-रूप अर्थ के बोधक शब्दों से निराकार अर्थ का ही बोध होता है। या, तो, भी आदि शब्दों के अर्थ का कोई आकार कल्पना में भी नहीं आता, भले ही हम स्वर्ग, देवता आदि शब्दों के अर्थ को एक कल्पित आकार देकर ग्रहण करते हों। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद जैसे शब्दों के अर्थ को भी कुछ आकार देकर ग्रहण करने के प्रयास में उनके रंग आदि की कल्पना कर ली गयी है, पर मूलतः उन शब्दों का अर्थ निराकार ही है।

आधुनिक भाषावैज्ञानिक विचारक भी शब्द से वस्तु के सामान्य का बोध ही स्वीकार करते हैं। वह बुद्धि से गृहीत होनेवाला सामान्य निरवयव, निराकार और निर्विशिष्ट होता है। इसीलिए वे शब्दार्थ और शब्द से निर्दिष्ट विशिष्ट लोकसिद्ध वस्तु में भेद कर लेते हैं। शाब्दबोध सामान्य का होता है और लोक-व्यवहार शब्दविशेष से निर्दिष्ट विशिष्ट वस्तु से चलता है। कमल शब्द विशेष प्रकार के फूल की ओर निर्देश करता है। उस प्रकार के फूल असंख्य हैं, जो रूप, गुण, आकार में एक दूसरे से किञ्चित् भिन्नता रखते हैं। कमल शब्द के शाब्द-बोध में हम उन सभी फूलों का अमूर्त निष्कर्ष ग्रहण करते हैं, हमें उन सबमें सामान्य रूप से रहने वाली जाति का बोध होता है। अतः, शब्द का संकेत या शब्द से होनेवाला बोध उस शब्द से निर्दिष्ट वस्तु से अभिन्न नहीं। शाब्दबोध सामान्य या जाति का होने से निराकार होता है; पर निर्दिष्ट वस्तु साकार भी हो सकती है और निराकार भी। ध्यातव्य है कि जाति या सामान्य की सत्ता व्यक्तियों में ही रहती है। व्यक्तिनिरपेक्ष जाति या सामान्य की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः जाति या सामान्य को शब्दार्थ मानने में भी इस तथ्य

की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उसमें व्यक्तिबोध भी अन्तर्निहित रहता है। अन्यथा, कमल शब्द से एक ही प्रकार के फूलों के निष्कर्ष-ग्रहण का क्या कारण होता? स्पष्ट है कि सभी शब्दों से निराकार अर्थ के ग्रहण का सिद्धान्त विवादमुक्त नहीं है। अमूर्त अर्थ के वाचक शब्दों के सम्बन्ध में यह मत युक्तिसंगत माना जा सकता है।

(२) शब्दार्थ को निराकार सामान्य रूप मानने वाले उक्त मत के विपरीत दूसरा मत उसे साकार और विशिष्ट मानता है। इस मत के अनुसार शब्द से प्रथमतः किसी एक व्यापक अवधारणा का बोध होता है और तदनन्तर उस जाति का किसी विशिष्ट आकार वाली वस्तु अर्थात् विशिष्ट गुण, क्रिया आदि से युक्त व्यक्ति का बोध होता है। इस आकारवान् वस्तु को भी अर्थ माना जाता है, क्योंकि वाक्य-रचना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे अपेक्षित होते हैं। यह सिद्धान्त शब्द के शक्यार्थ या वाच्यार्थ को उसके अर्थ से भिन्न मानता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द का शक्यार्थ या वाच्यार्थ है जाति, व्यक्ति, गुण, या क्रिया-रूप अर्थ और शब्द का अर्थ है वह तत्त्व, जो वाक्य में सम्बन्ध को सूचित करता है।[1]

भर्तृहरि ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनका मत है कि शब्द केवल जाति का बोध कराते हैं। यह ठीक है कि वाक्यगत सम्बन्ध के निर्वाह के लिए शब्द के जाति-रूप वाच्य अर्थ के साथ विशिष्ट व्यक्ति-रूप अर्थ का भी बोध आवश्यक होता है, फिर भी उस पूरक अर्थ को शब्दार्थ मानने में कोई औचित्य नहीं। विशिष्ट स्वरूप का शब्द के साक्षात् संकेत से बोध न होकर जातिबोध के अनन्तर उसके पूरक के रूप में बोध होता है। अतः उसे शब्द का अर्थ मानना उचित नहीं।[2]

(३) शब्दार्थ-विषयक तीसरे मत में कहा गया है कि भाषिक व्यवहार की दृष्टि से शब्द के अभिधेय अर्थ में उन विशिष्ट तत्त्वों का भी समावेश माना जाना चाहिए जो अर्थ को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करते हैं। तात्पर्य यह कि शब्द का अर्थ केवल सामान्य या जाति ही नहीं, उस जाति के व्यक्ति को विशिष्ट रूप के साथ बोधगम्य बनाने वाले गुण आदि भी हैं। 'घट' कहने से केवल घड़े की जाति का ही बोध नहीं होता, उसके विशेष आकार-प्रकार का भी

---

१. केचिद्भेदाः प्रकाश्यन्ते शब्दैस्तदभिधायिभिः।
अनुनिष्पादिनः कांश्चिच्छब्दार्थ इति मन्यते॥
—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २, १२१

२. जातिप्रत्यायके शब्दे या व्यक्तिरनुषंगिणी।
न तान् व्यक्तिगतान् भेदान् जातिशब्दोऽवलम्बते॥—वही, २, १२२

बोध होता है। अतः जाति के साथ विशिष्ट स्वरूप प्रदान करने वाले गुण आदि को भी शाब्दबोध के अन्तर्गत माना जाना चाहिए। इस मत में विशिष्टता प्रदान करनेवाले गुण आदि के बोध को जाति-बोध का अनुगामी नहीं मानकर शब्द से एक ही साथ जाति एवं आकृति का बोध स्वीकार किया गया है। अतः जाति और आकृति तथा आकृति को विशिष्टता प्रदान करने वाले गुण, क्रिया आदि को शब्द का मुख्य अर्थ माना गया है।

वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने शब्दार्थ-विषयक इस मत को पूर्वनिर्दिष्ट मत की अपेक्षा अधिक युक्तिसंगत माना है; पर उनकी मान्यता है कि शब्द का अर्थ अनियत और अपूर्ण होता है। शब्द समस्त विशेषताओं से युक्त किसी निश्चित स्वरूप वाले अर्थ का बोध नहीं कराता। यदि 'घड़ा' शब्द से किसी निश्चित रूप-रंगवाली एक वस्तु का बोध होता तो उससे रूप-रंग में भिन्न दूसरे घड़े का बोध उसी शब्द से नहीं हो पाता। तथ्य यह है कि हर घड़ा रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि में दूसरे से कुछ भिन्न होता है। इन व्यक्तिगत विशेषताओं के होने पर भी घड़ा शब्द सभी का बोधक है। अतः व्यक्तिगत वैशिष्ट्य शाब्दबोध का विषय नहीं माना जा सकता।[1]

भर्तृहरि की युक्ति है कि शब्द मुख्य रूप से जाति का बोध कराता है और व्यक्तिगत भेद का बोध आनुषंगिक रूप से होता है। जाति में आनुषंगिक रूप से रहनेवाले व्यक्तिगत भेद को शब्द का मुख्य अर्थ नहीं माना जा सकता। एक दृष्टान्त से इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। क्रिया की सत्ता साधन-सापेक्ष है। साधन से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं। फिर भी क्रिया साधन से—कर्त्ता कर्म तथा कारण से—भिन्न है। 'यज्ञ करो' इस कथन से जिस क्रिया का बोध होता है वह कर्त्ता, कर्म आदि से भिन्न है। क्रिया-शब्द क्रिया के साधनभूत कर्त्ता, कर्म आदि का बोध नहीं करा सकता। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द के बोध में जाति के साथ आनुषंगिक रूप से व्यक्तिगत भेद के बोध के मिश्रित रहने पर भी व्यक्तिगत भेद के बोध को उस शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता।[2]

(४) अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में चौथे मत में कहा गया है कि शब्द से सामूहिक रूप में जाति के साथ समस्त आकार का भी मुख्य या गौण रूप में बोध होता है। जातिरहित व्यक्ति का अस्तित्व नहीं और जाति का भी व्यक्ति-निरपेक्ष

---

१. नहि सकलविशेषसहितमर्थं शब्दः प्रत्याययितुमलम्।
—वाक्यपदीय २, १२३ पर पुण्यराज की टीका

२. क्रिया विना प्रयोगेण न दृष्टा शब्दचोदिता।
प्रयोगस्त्वनुनिष्पादी शब्दार्थ इति मन्यते॥—भर्तृहरि, वाक्यपदीय २, १२४

अस्तित्व नहीं। दोनों की सत्ता परस्पर सापेक्ष है। अतः शाब्दबोध में साध्य-साधन-विशिष्ट समग्र का—व्यक्तियुक्त जाति का—बोध मिश्रित रहता है। जाति में प्रधान या गौण रूप से उस जाति के व्यक्ति के समस्त आकार मिले रहते हैं। शब्द से उस आकार-विशिष्ट जाति का ही बोध होता है। अतः आकार-विशिष्ट जाति को शब्द का अर्थ माना जाना चाहिए।[1] एक उदाहरण लेकर इस मत को स्पष्ट किया जा सकता है। गाय शब्द से गोत्व जाति का जो बोध होता है उसमें एक चतुष्पद प्राणी-विशेष की आकृति का भी बोध मिश्रित रहता है। उस प्राणी के आकार से रहित गोत्व जाति का बोध सम्भव नहीं। अतः यह मत मानता है कि जाति तथा आकार की समग्रता शब्द का अर्थ है। ध्यातव्य है कि यह मत आकारवान वस्तु के बोधक शब्दों के अर्थबोध की प्रक्रिया पर ही विचार करता है। अमूर्त भाव बोधक शब्दों के अर्थ में आकारबोध की कल्पना नहीं की जा सकती।

आकार को शब्द का अर्थ मानने वाले अर्थात् अर्थ को साकार मानने वाले द्वितीय मत से इस मत का भेद यह है कि जहाँ द्वितीय मत में कुछ आकारों को शब्द का साक्षात् अर्थ तथा अन्य आकारों को अविनाभाव सम्बन्ध से ज्ञेय माना गया है, वहाँ इस मत में किसी विशिष्ट आकार को नहीं वरन् सर्वाकारविशिष्ट जाति को शब्द का अर्थ माना गया है।

विकल्प और समुच्चयरहित समवाय को शब्द का अर्थ माननेवाले विचारकों की मान्यता है कि यदि शब्द से अवयव का बोध होता तो प्रत्येक शब्द का बहुवचन में प्रयोग होता, क्योंकि अवयव या आकार समुच्चय को शब्दार्थ मानने पर उस अर्थ में अनेक आकारों का समावेश रहेगा और फलतः उन अनेक आकाररूपी अर्थों का बोधक होने से शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होगा। यदि अर्थ में विकल्प रहे, अर्थात् कहीं उसे अवयवसमुच्चय और कहीं अवयवीरूप माना जाय तो शब्द कहीं बहुवचन और कहीं एकवचन होगा, पर भाषिक प्रयोग में प्रत्येक शब्द का एकवचन में भी प्रयोग होता है और बहुवचन में भी। स्पष्ट है कि अवयव समुच्चय या विकल्प शब्द का अभिधेय अर्थ नहीं। अवयवातिरिक्त अवयवी को ही शब्द का अर्थ माना जाना चाहिए।[2]

---

१. सर्व एवाकारा गुणप्रधानभावेन पदस्यार्थः।
—वाक्यपदीय २, १२४ पर पुण्यराजकृत टीका।

२. समुदायोऽभिधेयः स्यादविकल्पसमुच्चयः।—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २,१२६

(५) कुछ विचारकों का मत है कि असत्य संसर्ग शब्द का अर्थ है।[1] शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही शब्दार्थ माना गया है। शब्द से निर्दिष्ट होने वाली वस्तु का जाति, गुण, क्रिया रूप से शब्द के साथ संसर्ग माना गया है। जाति, गुण आदि अनित्य हैं। अतः अनित्य के साथ रहने वाला सम्बन्ध भी अनित्य ही होता है। इस प्रकार इस मत के अनुयायी शब्द तथा उसके अर्थ के बीच रहने वाले असत्य सम्बन्ध को शब्दार्थ मानते हैं। एक उदाहरण से असत्य सम्बन्ध-रूप अर्थ के स्वरूप को स्पष्ट किया जा सकता है। घट शब्द का अर्थ है किसी विशिष्ट घट का घटत्व जाति के साथ सम्बन्ध। ऐसे सम्बन्ध का उन पदों से पृथक् बोध सम्भव नहीं जिनके बीच वह रहता है। इस प्रकार घट व्यक्ति तथा सभी घटों में समान रूप से रहने वाली घटत्व जाति से पृथक् सम्बन्ध का बोध असत्य होता है।

(६) शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचारकों की मान्यता है कि अर्थ असत्य नहीं, असत्याभास सत्य है। तत्त्वतः अर्थ सत्य होता है, पर असत्य वस्तु के साथ संसर्ग होने के कारण वह असत्य प्रतीत होता है।[2]

असत्य उपाधियुक्त सत्य को शब्दार्थ मानने वाले विचारकों के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कमलशील ने स्वर्ण और स्वर्णरचित आभूषण के सम्बन्ध का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। स्वर्णविरचित हार, कुण्डल आदि आभूषणों में स्वर्ण व्यापक तत्त्व के रूप में रहा करता है। यह व्यापक मूलतत्त्व या सामान्य एक-रूप तथा अपरिवर्तनशील होने के कारण सत्य माना जाता है, जबकि व्यक्तिगत विशिष्ट रूप जिसमें विविधता होती है, असत्य माना जाता है। शब्द से जाति तथा व्यक्ति; दोनों रूपों का अर्थ-बोध होता है। अतः अर्थ को असत्योपाधि सत्य कहा गया है।[2]

महाभाष्यकार पतञ्जलि की दृष्टि में द्रव्य भी पद का अर्थ है और वह नित्य है।[4] नागेश ने इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि समग्र शब्द का

---

१. असत्यो वापि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते।—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २, १२६

२. असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धनम्। वही, २, १२७

३. अन्येत्वाहुः। यदसत्योपाधि सत्यं स शब्दार्थ इति। तत्र शब्दार्थत्वेन असत्या उपाधयो विशेषा वलयाङ्गुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्वभेदानुयायिनः सुवर्णादेः सामान्यात्मनः तत् सत्यं असत्योपाधि।
—शान्तरक्षितकृत तत्त्वसंग्रह पर कमलशील की पञ्जिका, पृ० ८८९

४. द्रव्यं हि नित्यम्।—पतञ्जलि, महाभाष्य, आ० १

अर्थ तत्त्वतः एक ब्रह्मतत्त्व है। वही ब्रह्म असत्य रूप में प्रतिभासित होता है। यह नामरूपात्मक जगत असत्य है; केवल एक ब्रह्म सत्य है। शब्द उस नित्य ब्रह्मतत्त्व का बोध कराते हैं। अतः अर्थ तत्त्वतः सत्य है, पर नामरूपात्मक जगत से संसर्ग होने के कारण शब्दार्थ असत्य रूप में आभासित होता है। इसीलिए शब्दार्थ को असत्याभास सत्य कहा गया है।[1]

श्रोत्रग्राह्य शब्द तथा विभिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य अर्थ में अध्यास या तादात्म्य-प्रतीति का कारण यह है कि शब्द और अर्थ मानव-मन के बोध के विषय हैं। इन्द्रियाँ वे माध्यम हैं, जिनसे मन विभिन्न विषयों का बोध ग्रहण करता है। मन में विभिन्न इन्द्रियों के विषय का बोध अलग-अलग नहीं रह कर कभी-कभी मिश्रित अनुभूति के रूप में भी बदल जाता है। इसी लिए ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष में मन एक इन्द्रिय के विषय का अन्य इन्द्रिय से भी ग्रहण कर लेता है। रूप, रस और गन्ध की मिश्रित अनुभूति का उदाहरण विन्यासपूर्वक विभिन्न रंगों से रंजित तथा अनेक सुरभित पदार्थों से सुगन्धित सुस्वादु भोज्य पदार्थ के आस्वादन में मिल सकता है। मन से निरपेक्ष इन्द्रियों की ग्राहकता स्वीकार नहीं की जा सकती। एक स्थिति में कोई स्पर्श मानव के सम्पूर्ण अस्तित्व को झंकृत कर देता है, पर दूसरी स्थिति में वैसा ही स्पर्श चेतना में कोई झंकार उत्पन्न नहीं करता। यदि त्वचा ही स्पर्श को ग्रहण करती तो सभी स्थितियों में स्पर्श की प्रतिक्रिया समान ही होती। स्पर्श के बोध के पीछे भी मानव-मन की भावना निहित रहती है। इसलिए स्पर्श की अनुभूति के साथ रूप का बोध भी मानव-चेतना में मिश्रित हो जाता है। स्पष्ट है कि विभिन्न विषयों के बोध में ज्ञानेन्द्रियाँ केवल माध्यम का कार्य करती हैं। ज्ञान के लिए ज्ञान के विषय का केवल किसी इन्द्रिय से सम्पर्क ही पर्याप्त नहीं, उस इन्द्रिय के साथ चेतना का सम्पर्क भी आवश्यक होता है। मन कहीं और हो तो, दृष्टि-पथ से कोई गुजर जाय, फिर भी उसका बोध नही होता; कान से शब्द टकराकर रह जायँ, उनका ज्ञान नहीं होता; त्वचा से किसी वस्तु का स्पर्श हो, पर उसकी अनुभूति नहीं होती। पाँच वर्गों में विभाजित विषयों का ग्रहण, अलग-अलग पाँच ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से एक ही मन किया करता है, जहाँ पहुँच कर बोध पृथक्-पृथक् नहीं रह कर मिश्रित भी हो जाते हैं; तत्त्वतः भिन्न पदार्थों में अध्यास से तादात्म्य का बोध भी हो जाता है। यही स्थिति शाब्दबोध की भी उक्त शिद्धान्त में मानी गयी है। विषयों को ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रियों की विभिन्नता के

---

१. नागेशकृत उद्योत टीका।

आधार पर पद तथा पदार्थ में अध्यास या तादात्म्य-बोध की सम्भावना का खण्डन नहीं किया जा सकता।

[८-९] शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में दो अन्य परस्पर विरोधी मतों का उल्लेख करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि एक मत के अनुसार अर्थ शब्द के द्वारा ही व्यक्त हो सकता है; अतः अर्थ शक्तिहीन है। वह अपने को व्यक्त नहीं कर सकता। शब्द ही अर्थ की अभिव्यक्ति की शक्ति रखता है। तात्पर्य यह कि शब्द जिस रूप में अर्थ का बोध करा सकता है, वही अर्थ का स्वरूप होता है। शाब्दबोध से स्वतन्त्र अर्थ का अपना कोई नियत स्वरूप नहीं होता। अर्थ शब्द में अन्तर्निहित शक्ति से परिकल्पित तत्त्व है। शब्द का वाच्य अर्थ क्रिया, द्रव्य आदि रूप होता है। अतः क्रिया आदि को शब्द का अर्थ माना जाता है।[1]

पुण्यराज ने इस मत का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि अर्थ की सत्ता शब्द के अधीन है। उसे शब्द से ही अभिव्यक्ति की शक्ति प्राप्त होती है। अर्थ निरात्मक अर्थात् स्वत्वहीन और असत्य है। विवक्षा के अनुरूप शब्द से जिस रूप में अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है, वही अर्थ का स्वरूप बन जाता है। विवक्षा के अनुरूप अर्थ के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। अतः अर्थ का अपना कोई नियत स्वरूप नहीं।[2]

अनेक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में इस मत का औचित्य निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है। जिन पदार्थों की सत्ता मानव के भावलोक-मात्र में है, उनका स्वरूप-निर्धारण कठिन है। शब्द ही उनके स्वरूप के बोध की शक्ति रखता है। उन अर्थों के स्वरूप के अनियत होने के कारण वक्ता की विवक्षा तथा श्रोता के संस्कार एवं रुचिभेद के अनुरूप उन अर्थों का स्वरूप बदलता रहता है। पाप-पुण्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, प्रेम-घृणा, नैतिकता-अनैतिकता जैसे शब्दों का अर्थ नियताकार नहीं। शब्द ही उनके स्वरूप को विवक्षानुरूप किसी विशेष रूप में व्यक्त करता है। शब्द-बोध्य यह स्वरूप ही, जो देश, काल, तथा वक्ता-श्रोता के संस्कार के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है, शब्दार्थ का स्वरूप है; किन्तु यह मत लोकसिद्ध पदार्थों के वाचक शब्द के अर्थ के स्वरूप का उचित स्पष्टीकरण नहीं कर पाता।

---

१. अशक्तेः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता।
एकस्यार्थस्य नियता क्रियादिपरिकल्पना॥ —भर्तृहरि, वाक्यपदीय '२' १३१,

२. वही, पुण्यराजकृत टीका, २, ४४१

उक्त मत के विपरीत दूसरे मत में कहा गया है कि अर्थ सर्वशक्तिमान् है। शब्द में अर्थ-बोध की नियत शक्ति रहती है। शब्द-विशेष में अर्थ-विशेष का बोध कराने का जो संकेत रहता है, उससे अर्थ बोध का विषय बनता है। शब्द से अर्थ का प्रकाशन होता है। इस मत के अनुसार अर्थ असीम है। वह नाना रूपों में व्यक्त होता है। शब्द उसके अनन्त और अपरिमेय रूप में से किसी विशेष रूप को ही व्यक्त कर सकता है। अर्थ सत्य है, जो अनेक रूपों में अपने को व्यक्त करता है और शब्द से अर्थ के व्यक्त विशिष्ट रूपों का ही प्रकाशन होता है।

पुण्यराज ने इसके स्पष्टीकरण में कहा है कि संसार की सभी वस्तुएँ बोध्य होने के कारण अर्थ ही हैं। अर्थ सर्वात्मा है। सर्वबोधकता की शक्ति के कारण शब्द को सर्वशक्तिमान् माना जाता है, तो अर्थ भी सर्वशक्तिमान् माना गया है, क्योंकि समग्र वस्तुएँ बोध्य हैं। शब्द के द्वारा विभिन्न रूपों में निरूपित अर्थ बोध का विषय बन जाता है।[1]

भारतीय वैयाकरणों ने अर्थ को सर्वात्मा माना है। महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने यह मान्यता व्यक्त की है कि शब्द में समग्र अर्थ का बोध कराने की शक्ति रहती है और अर्थ में भी बोध का विषय बनने की शक्ति रहती है। वैयाकरणों की मान्यता है कि सभी शब्द सभी अर्थों के बोध की शक्ति रखते हैं, पर व्यवहार से शब्द-विशेष में अर्थ-विशेष के बोध की शक्ति नियत हो जाती है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि वस्तुजगत तथा मानस लोक की समग्र सत्ता अर्थ है, जिसे प्रकाशित करने की शक्ति शब्दमात्र में रहती है, पर व्यवहार से किसी विशेष अर्थ के वाचक के रूप में कोई विशेष शब्द जनमानस में स्वीकृत हो जाता है। जो कुछ बोध्य या ज्ञेय है वह अर्थ है, चाहे वह वस्तु जगत् में सिद्ध हो या असिद्ध, भावरूप हो या अभावरूप, मूर्त हो या अमूर्त, सत्य हो या कल्पित, या केवल वेदना या अनुभूति-रूप हो। ऐसे व्यापक अर्थतत्त्व को निरात्मक, स्वत्वहीन या असत्य मानकर उपेक्षित कर देना उचित नहीं, उसे सर्वात्मा या सर्वशक्तिमान् माना जाना चाहिए।

समग्र बोध्य विषय को अर्थ मानने में यह विचारणीय है कि शब्द भी बोध्य होता है। वर्णसमूह का नियत क्रम में बोध शब्द के स्वरूप का बोध है। ऐसी स्थिति में समग्र बोध्य को अर्थ मानने पर अर्थ की परिभाषा इतनी व्यापक हो जाती है कि शब्द भी अर्थवर्ग में समाविष्ट हो जाते हैं। वाच्य अर्थ और वाचक

---

१. सर्वात्मकत्वादर्थस्य नैरात्म्याद् वा व्यवस्थितम्।
अत्यन्तयतशक्तित्वाच्छब्द एव निबन्धनम्॥—वाक्यप्रदीय ,२,४३४,
इस पर पुण्यराज की टीका भी द्रष्टव्य

शब्द का भेद नहीं रह जाता। शब्द-अर्थ में अभेद मानने वाले विचारकों को यह स्थिति शायद अनुकूल ही जान पड़े, किन्तु भाषिक व्यवहार के विश्लेषण में वाच्य-वाचक या अर्थ और शब्द का पृथक्-पृथक् स्वरूप निर्धारित होना ही चाहिए। शब्द अर्थ के प्रकाशक हैं। प्रकाशक और प्रकाश्य पदार्थ को उक्त परिभाषा एक में मिला देती है। यह ठीक है कि शब्द भी कहीं शब्द का अर्थ बन जाता है। उदाहरण के लिए व्याकरण में जब यह कहा जाता है कि अग्नि से ढक् प्रत्यय होता है, तो वहाँ अग्नि से तात्पर्य अग्नि शब्द का है, लोकसिद्ध अग्नि पदार्थ का नहीं। इसी प्रकार 'शब्द' का उदाहरण दिया जा सकता है। शब्द वर्णसमूह रूप शब्द का भी बोधक है, जिसमें श्, अ्, ब्, द् तथा अ वर्णों की नियत क्रम में व्यवस्था है और वह सार्थक पद होने के कारण एक अर्थ का भी बोधक है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द से शब्द के स्वरूप का भी बोध होता है और उसके वाच्य अर्थ का भी। वाच्य-वाचक के भेद को रेखांकित करने के लिए उक्त अर्थ-परिभाषा में इतना संशोधन अपेक्षित है कि वस्तुजगत या लोकमानस में भावात्मक या अभावात्मक सत्ता रखने वाले वे समग्र पदार्थ अर्थ हैं, जिन्हें प्रकाशित करने की शक्ति शब्द में रहती है।

अर्थ को सर्वशक्तिमान् अर्थात् अपने आप को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करने में समर्थ मानने वाले उक्त मत में यह आपत्ति की जा सकती है कि लोकसिद्ध या मानव विश्वास में रहने वाले कुछ पदार्थ तो स्वयं आत्मप्रकाशन कर सकते हैं, पर भाषिक व्यवहार में ऐसे असंख्य सार्थक शब्द आते हैं, जिनके अर्थ का शब्द-निरपेक्ष प्रकाशन सम्भव नहीं। कह सकते हैं कि, वाचक शब्द से पृथक् उन अर्थों की कोई सत्ता ही नहीं। उदाहणार्थ, मनुष्य, गाय, नदी, पर्वत आदि लोकसिद्ध पदार्थ तथा स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य आदि लोकमानस में विश्वास के रूप में रहने वाले पदार्थ तो अपनी भावात्मक या अभावात्मक सत्ता की अभिव्यक्ति शब्द-निरपेक्ष रूप में भी कर सकते हैं, पर असंख्य शब्दों के अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द पर ही आश्रित रहती है। नहीं, तो, भी, और आदि शब्दों के अर्थ शब्द-निरपेक्ष सत्ता नहीं रखते। वे शब्द से स्वतन्त्र होकर आत्मप्रकाशन नहीं कर सकते।

(१०) शब्दार्थ-सम्बन्धी एक सिद्धान्त में बुद्धिगत प्रत्यय या मानसबिम्ब को शब्दार्थ माना गया है। यह मानस प्रत्यय या बिम्ब बाह्य वस्तु से उत्पन्न होता है और फलतः बाह्य वस्तु के रूप में प्रतीत होने लगता है।[1] तत्त्वतः शब्द बुद्धि में

---

१. यो वार्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः।
स बाह्यवास्त्विवति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते ॥—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २, १३४

तथा—बुद्ध्युपारूढ एवं शब्दार्थो न बाह्यः।—वहीं, पुण्यराजकृत टीका।

रहकर बुद्धिगत अर्थ का ही बोध कराता है, उस बुद्धिगत प्रत्यय को उत्पन्न करने वाले बाह्य पदार्थ से शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं होता, पर समस्या यह है कि भाषिक व्यवहार में बाह्य वस्तु का बोध कराने के लिए भी शब्द का प्रयोग किया जाता है और श्रोता उस शब्द का बाह्य अर्थ समझ कर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। 'पानी दो' जैसे कथन में पानी शब्द से हमें केवल मानस प्रत्यय या बिम्ब का ही बोध नहीं होता, बाह्य जगत में सिद्ध एक पदार्थ का भी बोध होता है। अर्थ को केवल बुद्धिगत मानने वाले बाह्य वस्तु का शब्द से ज्ञान भ्रम या अध्यास के कारण मानते हैं। उनकी युक्ति है कि वस्तुतः शब्द मानसबोध से ही सम्बद्ध हैं अर्थात् शब्द का अर्थ बुद्धि का ही विषय है, बाह्य नहीं; फिर भी बुद्धि में विकल्प या प्रत्यय के रूप में रहने वाले पदार्थ से बाह्य वस्तु की रूपगत समता के कारण वह मानस विकल्प-रूप शब्दार्थ बाह्य वस्तु के साथ अध्यास के कारण तादात्म्य स्थापित कर बाह्य अर्थ का बोध करा देता है।

शून्यवादी बौद्धों ने बाह्य जगत की सत्ता को अस्वीकार कर मानस वेदना को ही अर्थ के स्वरूप-निरूपण के सन्दर्भ में विचारणीय माना है और अर्थ-स्वरूप-विषयक अपोहवाद में तद्भिन्न वेदनाओं से भिन्न को शब्दार्थ का स्वरूप माना है। बुद्धिगत विकल्प को अर्थ मानने वाला यह मत बौद्धों के अपोहवाद से अंशतः मिलता-जुलता अवश्य है, पर उससे अभिन्न नहीं है। कमलशील ने बौद्धों के अपोहवाद से इस मत का भेद स्पष्ट करते हुए कहा है कि बौद्ध मनोगत वेदना को शब्दार्थ का स्वरूप मानते हैं, पर वेदना उत्पन्न करने वाली बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं मानते, जबकि वाक्यपदीय में उद्धृत उक्त मत में शब्द से अभिहित होने वाले मानस विकल्प को तो सत्य माना ही गया है, उसके साथ अध्यास के कारण शाब्दबोध का विषय बनने वाली बाह्य वस्तु को भी सत्य माना गया है।

शब्दार्थ केवल बुद्धिगत प्रत्यय-रूप ही है, या बाह्य पदार्थ भी शब्द का अर्थ होता है, इस सम्बन्ध में विचारकों में मतैक्य नहीं। नागेश ने अर्थ को बुद्धिगत ही माना है, पर पतञ्जलि भर्तृहरि, आदि ने मुख्यतः शब्दार्थ को बुद्धिगत विकल्प के रूप में स्वीकार करने पर भी शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु को भी शब्दार्थ माना है। ऑग्डेन तथा रिचर्ड्स आदि ने शब्द, अर्थ और उससे निर्दिष्ट वस्तु के त्रिक की कल्पना कर शब्दार्थ के स्वरूप पर विचार किया। उलमान आदि ने निर्दिष्ट बाह्य वस्तु को शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण में विचारणीय नहीं माना। वे भाषा-शास्त्रीय विवेचन के लिए शब्द-अर्थ का युग्म ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बुद्धिगत विकल्प, प्रत्यय या मानस-बोध को शब्द का अर्थ मानने में विचारक प्रायः एक मत हैं। मतभेद इस बात में है कि जहाँ कुछ विद्वान शब्द के

अर्थ को बुद्धिगत विकल्प तक ही सीमित मानते हैं, वहाँ अन्य विचारक उसे विकल्प-रूप होने के साथ ही बाह्य पदार्थ-रूप भी मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वस्तु-जगत में सिद्ध या साध्य वस्तुओं के वाचक शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में ही यह मतवैभिन्न्य है। अलोकसिद्ध मनोगत सत्ता-मात्र रखने वाली वस्तुओं के वाचक शब्द के अर्थ को बुद्धिगत विकल्प या मानस विकल्प के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। 'नहीं' जैसे शब्द का अर्थ मानव-मन के बोध में ही अपनी सत्ता रखता है, मनोलोक से बाहर वस्तु-जगत में उसका अस्तित्व नहीं ढूँढा जा सकता। संख्यावाचक शून्य आदि शब्दों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

(११) शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के क्रम में कुछ विचारकों ने उसे बुद्धिगत विकल्प-रूप भी माना है और लोकसिद्ध वस्तु-रूप भी। उनकी मान्यता है कि कुछ शब्द बुद्धिगत अमूर्त विकल्प के वाचक होते हैं, पर कुछ शब्दों से आकारविशेष से युक्त लोकसिद्ध मूर्त वस्तुओं का बोध होता है।[1] उदाहरणार्थ, पाप-पुण्य, ज्ञान-अज्ञान, स्वर्ग, देवता आदि शब्द से मानस विकल्प का अर्थ-बोध होता है, पर गाय, घड़ा, नदी, पर्वत आदि शब्दों से बोधगत होने वाले अर्थ विशिष्ट आकृतियों से युक्त बाह्य वस्तुओं का स्मरण दिलाते हैं। इस प्रकार शब्दार्थ अमूर्त विकल्प-रूप भी होता है और मूर्त बाह्य वस्तु-रूप भी। सभी शब्दों का अर्थ एक-सा नहीं होता।

(१२) भर्तृहरि के द्वारा वाक्यपदीय में उद्धृत शब्दार्थ स्वरूप-विषयक बारह मतों में से अन्तिम मत में यह धारणा व्यक्त की गयी है कि शब्द के वाच्य अर्थ का कोई नियत स्वरूप नहीं होता। वक्ता की विवक्षा तथा श्रोता की ग्राहकता के अनुरूप एक ही शब्द का अर्थ अनेक रूपों में व्यक्त होता है। इस मत के अनुसार श्रोता-वक्ता की वासना अर्थात् उनका संस्कार शब्दार्थ के स्वरूप का नियामक है। व्यक्ति के संस्कार के अनुरूप शब्दार्थ का स्वरूप बदलता रहता है।[2]

इस मत का स्पष्टीकरण एक उदाहरण देकर किया गया है। एक ही वस्तु के स्वरूप को व्यक्ति की दृष्टि वासना अथवा दृष्टि-दोष के कारण अनेक रूपों में ग्रहण

---

१. आकारवन्तः संवेद्या व्यक्तस्मृतिनिबन्धनाः।
ये ते प्रत्यवभासन्ते संविन्मात्रं तत्त्वतोऽन्यथा ॥—वही, २,१३५

२. प्रतिनियतवासनावेशेनैव (प्रतिनियताकारोऽर्थः) तत्त्वतस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयते।—वाक्यपदीय २,१३६ पर पुण्यराज की टीका।

करती है। उसी प्रकार अपनी-अपनी वासना के अनुरूप व्यक्ति किसी शब्दके अर्थ को विविध रूपों में ग्रहण करता है। जो व्यक्ति जिस रूप में किसी शब्दार्थ के स्वरूप को ग्रहण करता है, वही उस व्यक्ति के लिए उस शब्दार्थ का स्वरूप होता है। अतः शब्दार्थ के किसी नियत स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पुण्यराज ने कहा है कि किसी शब्द का कोई एक नियत अर्थ नहीं।

वक्ता अपनी वासना के अनुरूप किसी शब्द का किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयोग करता है। यह आवश्यक नहीं कि सभी श्रोता उसकी बुद्धि में संस्कारानुरूप स्थित अर्थ को ठीक उसी रूप में ग्रहण करें। वस्तुतः होता यह है कि प्रत्येक श्रोता अपनी-अपनी वासना के अनुरूप वक्ता के उस कथन का अलग-अलग अर्थ ग्रहण करता है।[1] उदाहरणार्थ एक ही घट शब्द को लें। वैशेषिक दर्शन को मानने वालों की दृष्टि में उस शब्द से अवयवी का अर्थात् अवयवों से संघटित अंगी का बोध होता है। सांख्यमतानुयायी को उस शब्द से त्रिगुणात्मक पदार्थ का बोध होता है। जैन विचारकों को वह शब्द परमाणुसंचय मात्र का बोध कराता है। ऐसी स्थिति में यह निर्धारित करना कठिन है कि वस्तुतः घट शब्द का क्या अर्थ है।[2] एक दृश्य वस्तु को अलग-अलग संस्कार वाले व्यक्ति विभिन्न रूपों में तो ग्रहण करते ही हैं, एक व्यक्ति भी सदा एक शब्द का एक ही अर्थ ग्रहण नहीं करता। देश-काल या अवस्था भेद से वह एक ही वस्तु का अलग-अलग रूप में बोध ग्रहण करता है।[3] व्यक्ति की वासना में परिवर्तन होने के कारण उसके अर्थ-बोध के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहता है। सभी व्यक्ति तत्त्वदर्शी तो हो नहीं सकते। लोगों के ज्ञान और शब्द-प्रयोग में अपूर्णता एवं अव्यवस्था रहती ही है। अतः शब्दार्थ के स्थिर स्वरूप का निर्धारण सम्भव नहीं।[4]

शब्दार्थ के अस्थिर स्वरूप वाले इस सिद्धान्त का भर्तृहरि ने जो इतना विस्तृत विवेचन किया है उससे यह जान पड़ता है कि उन्हें यह सिद्धान्त बहुत-कुछ मान्य था। भर्तृहरि वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण थे। अतः उनकी दृष्टि में पद और पदार्थ की वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं, पदार्थ के स्वरूप का निर्णय आत्मनिष्ठ वासना

---

१. वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु ।।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते । —वाक्यप० २,१३७

२. वही, पुण्यराजकृत टीका ।

३. एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक् ।
कालान्तरेण वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः । —वाक्य० २,१३८

४. तस्माददृष्टतत्त्वानां सापराधं बहुच्छलम् ।
दर्शनं वचनं वापि नित्यमेवानवस्थितम् । – वही, २,१४०.

या संस्कार से होता है। वस्तुतः वाक्य को भाषा की मूल और अविभाज्य इकाई मानने वाले भर्तृहरि के विचार में पद के वाच्य अर्थ की कोई सत्ता ही नहीं। पद और पदार्थ वाक्यार्थ-बोध में सहायक के रूप में उपादेय हैं, उनका वस्तुगत कोई मूल्य नहीं।

पद का कोई स्थिर स्वरूप वाला अर्थ माना जाना चाहिए या नहीं, यह एक विवादास्पद प्रश्न है, जिस पर हमने अन्यत्र विचार किया है। यहाँ इतना निर्देश कर देना पर्याप्त होगा कि शब्दार्थ को सर्वथा अनियत, अस्थिर और व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न-भिन्न मान लेने से भाषिक व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती। शब्द के माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान इसीलिए सम्भव होता है कि श्रोता-वक्ता शाब्दबोध के समान धरातल पर रहते हैं। वक्ता का अभिप्राय कुछ और हो और श्रोता कुछ और ही समझे तो भाषा समाज को एक सूत्र में कभी नहीं पिरो सकेगी। यह ठीक है कि घड़ा में कुछ दार्शनिक परमाणुसंचय मानते हैं, कुछ त्रिगुण-समाहार, पर यह तो तत्त्व-निरूपण की दृष्टि हुई, घड़े को एक वस्तु के रूप में सभी एक-सा ही देखते हैं। उसका आकार, रंग-रूप तो सबको समान ही दीख पड़ता है। अतः पद के किसी अर्थ के एक सर्वसामान्य रूप को—कोश आदि में निर्धारित रूप को—सर्वथा उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता।

अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में भर्तृहरि एवं पुण्यराज ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि वक्ता जिस रूप में किसी शब्द के अर्थ का निरूपण करता है, वही उस शब्द के अर्थ का स्वरूप बन जाता है। तात्पर्य यह कि शब्दार्थ के स्वरूप का निर्धारण प्रयोग से होता है। एक वक्ता शब्द का एक रूप में प्रयोग कर एक अर्थ व्यक्त करता है, दूसरा वक्ता उसी शब्द का दूसरे रूप में प्रयोग कर दूसरा अर्थ व्यक्त कर सकता है। अतः अर्थ का कोई एक नियत स्वरूप नहीं होता।[1]

शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का निर्देश करते हुए भर्तृहरि तथा पुण्यराज ने कहा है कि शब्द अर्थ की ओर संकेत भर कर सकते हैं, अर्थ का स्पर्श नहीं कर सकते।[2] जैसे उँगली दूरस्थ वस्तु का स्पर्श किये बिना भी उस ओर इंगित कर देती है, वैसे ही शब्द अर्थ के स्वरूप की ओर इंगित कर देता है।

अर्थ को वक्ता के अभिप्राय के अधीन माना गया है। शब्द विभिन्न अर्थों का

---

१. लक्षणाद्व्यवतिष्ठन्ते पदार्था न तु वस्तुतः।
उपकारात् स एवार्थः कथंचिदनुगम्यत ।। —भर्तृहरि, वाक्यपदीय २,४३७
इस पर पुण्यराज की टीका भी द्रष्टव्य

२. वस्तूपलक्षणं शब्दो नोपकारस्य वाचकः।
न स्वशक्तिः पदार्थानां संस्प्रष्टुं तेन शक्यते ।। —वही, २,४३५

विभाजक होता है। जब वक्ता किसी शब्द का उच्चारण करता है, तब श्रोता यह अनुमान कर लेता है कि बोलने वाला इस अर्थ का बोध कराना चाहता है। सुनने वाला अपने ज्ञान के अनुरूप ही वक्ता के उच्चरित शब्द का अर्थ समझता है। इस प्रकार शब्द को अनुमापक और अर्थ को अनुमेय माना गया है।[1] शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध व्यक्ति की कल्पना से आरोपित होता है। शब्दार्थ का कोई स्थिर स्वरूप नहीं। वह असत्य है। शब्द के अर्थ की परिवर्तनशीलता इसी तथ्य को प्रमाणित करती है।

कुछ विचारकों की मान्यता है कि अर्थ सर्वशक्तिमान् होने पर भी वक्ता की विवक्षा के अनुरूप अपना स्वरूप बदलता रहता है। अतः मूलतः अर्थ नित्य, सत्य और अविकारी है, पर वक्ता-श्रोता की इच्छा के अनुरूप अनेक रूप ग्रहण करता है।[2]

भर्तृहरि के वाक्यपदीय में उल्लिखित अर्थ-विषयक उपरिविवेचित बारह मतों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि के समय तक शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक ऊहापोह हो चुके थे। अर्थ-विषयक चिन्तन में अनेक दृष्टियाँ रही हैं, जिनमें से कुछ तो एक-दूसरे के ठीक विपरीत हैं। इस विषय में विचारगत विविधता अर्थ के स्वरूप की जटिलता और अनन्तता का ही प्रमाण है। अर्थ के स्वरूप-निर्धारण में विभिन्न सम्प्रदाय के विचारकों की दार्शनिक मान्यता का भी प्रभाव रहा है। अतः तत्त्व-निरूपण-विषयक दार्शनिक दृष्टि की भिन्नता तथा तत्त्व-विषयक अलग-अलग मान्यता के अनुरूप उनके शब्दार्थ-स्वरूप-सम्बन्धी चिन्तन में स्वभावतः ही अलग-अलग निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं। यह ध्यातव्य है कि उक्त बारह मतों में से कोई भी एक मत शब्दार्थ के स्वरूप की सर्वथा पूर्ण और सर्वमान्य व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता, फिर भी सभी मतों में आंशिक रूप से कुछ-न-कुछ तथ्य पाया जा सकता है। बारह मतों के आकलन का क्रम शब्दार्थ-विषयक चिन्तन के किसी व्यवस्थित क्रम का भी द्योतक नहीं। वे बारह अलग-अलग प्रस्थान हैं, अर्थ-विषयक चिन्तन के मार्गक्रमण नहीं। अपने भाषादर्शन के अनुकूल मत को भर्तृहरि ने सबसे अन्त में अवश्य प्रस्तुत किया है, पर उससे पूर्व आकलित ग्यारह मतों का उन्होंने खण्डन नहीं किया है। यह उनकी अर्थ-दृष्टि की उदारता का परिचायक है। वे

---

१. शब्दादर्थाः प्रतीयन्ते स भेदानां विधायकः।
अनुमानं विवक्षायाः शब्दादन्यन्न विद्यते ॥ वाक्य प० ३,१४,१९८
वक्तुरभिप्रायादर्थानां व्यवस्था न धर्मतः।
—वही, हेलाराज-टीका, २, पृ० ५५०

२. योऽसौ येनोपकारेण प्रयोक्तृणां विवक्षितः।
अर्थस्य सर्वशक्तित्वात् स तथैव व्यवस्थितः ॥—वही, २,४३१

सभी मतों के आंशिक सत्य को समझते थे। वस्तुतः जिस प्रकार सृष्टि के मूल रहस्य एवं ब्रह्म के व्यापक स्वरूप के सम्बन्ध में कोई एक सर्वमान्य एवं निर्णायक सिद्धान्त स्थापित नहीं हो पाया है, फिर भी उस सम्बन्ध में अलग-अलग दृष्टियों से किये गये चिन्तन में आंशिक सत्य है और उनका वैचारिक महत्त्व है, उसी प्रकार शब्द-ब्रह्म और उसकी अर्थात्मा अभिव्यक्ति के अपरिमेय स्वरूप के सम्बन्ध में उक्त बारह मतों में से कोई भी एक मत अन्तिम और सर्वमान्य वाक्य नहीं कहता, फिर भी उनमें आंशिक सत्य है और उनका अपना वैचारिक महत्त्व है। वे सिद्धान्त शब्दार्थ के स्वरूप-विश्लेषण में उपादेय हो सकते हैं। उनमें अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में जो दृष्टियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, उनका सार-संक्षेप इस प्रकार है—

१. शब्द से आकार-हीन अर्थ-तत्त्व का बोध होता है। आकार उस अर्थ-तत्त्व से अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़ा रहता है। अतः आकार-विशेष की भी प्रतीति शब्द से हो जाती है।

२. अर्थ साकार होता है। कुछ आकारों का बोध शब्द कराता है और कुछ आकारों का बोध उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध के कारण होता है। ये दो मत परस्पर विरोधी हैं।

३. शब्द समग्र विशेषताओं से युक्त अर्थ का बोध नहीं कराता। जातिमात्र का बोध शब्द से होता है। अतः अर्थ का स्वरूप अनिश्चित और अपूर्ण होता है।

४. सभी आकार से युक्त जाति शब्द का अर्थ है। जाति और व्यक्ति की परस्पर सापेक्ष सत्ता होने के कारण व्यक्तिविशिष्ट जाति या जातिविशिष्ट व्यक्ति शब्द का अर्थ है।

५. अवयवातिरिक्त अवयवी शब्द का अर्थ है। अवयव-समुच्चय या उसका विकल्प शब्दार्थ नहीं, केवल अवयवी शब्दार्थ होता है।

६. शब्द का अर्थ असत्य संसर्ग-रूप है। असत्य और अनित्य जाति, द्रव्य आदि से सम्बन्ध के कारण शब्दार्थ को अनित्य माना गया है। अनित्य जाति आदि के साथ सम्बन्ध ही शब्दार्थ का स्वरूप है। अतः शब्द का अर्थ संसर्ग-रूप और अनित्य माना गया है। अर्थ को असत्याभास सत्य भी कहा गया है। अर्थ तत्त्वतः सत्य है, पर असत्य वस्तु के साथ संसर्ग के कारण असत्य प्रतीत होता है।

७. अर्थ शब्द से अभिन्न-रूप है। शब्द ही अध्यास-रूप को प्राप्त कर अपने स्वरूप का बोध कराता है। पदार्थ का स्वरूप अध्यास से आच्छादित होकर शब्द से अभिन्नतया बोध का विषय बनता है। इस बोध में शब्द, अर्थ और उनके

सम्बन्ध की अभेद-प्रतीति हुआ करती है। अतः शब्द के स्वरूप को ही अर्थ का स्वरूप माना गया है।

८. अर्थ शब्द में निहित शक्ति से उत्थापित तत्त्व है। शब्द जिस रूप में अर्थ का बोध कराता है वही अर्थ का स्वरूप होता है। इस प्रकार अर्थ अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्द पर निर्भर रहता है। वह अपनी अभिव्यक्ति में स्वयं असमर्थ है। अतः उसे असर्वशक्तिमान् माना गया है। अर्थ की सत्ता शब्द के अधीन होने के कारण विवक्षानुरूप वह परिवर्तित होता रहता है। अतः उसे निरात्मक और असत्य भी कहा गया है।

९. उक्त मत के विपरीत एक मत में अर्थ को सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा तथा सत्य माना गया है। जो कुछ बोध्य है, वह सब अर्थ है। शब्द नियत शक्ति का बोध कराता है। अर्थ बोध्य होने से यह शक्ति रखता है कि वह सभी शब्दों से बोध्य हो सके। अतः अर्थ नित्य और सर्वशक्तिमान् है।

१०. अर्थ बुद्धिगत विकल्प-रूप या बोध-रूप है। उससे सम्बन्ध के कारण ही शब्द से बाह्य वस्तु का भी बोध हो जाता है, पर बाह्य वस्तु शब्द का अर्थ नहीं।

११. एक मत में अर्थ को बुद्धिगत और बाह्य दोनों माना गया है। कुछ शब्दों से बोधगम्य अर्थ आकार-विशेष से युक्त होता है और लोकसिद्ध बाह्य वस्तु की स्मृति दिलाता है, पर कुछ शब्दों से आकारहीन बोधगत अर्थ की ही उपलब्धि होती है।

१२. अन्तिम मत में शब्द के अर्थ को अनियत रूप वाला माना गया है। किसी शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं। हर व्यक्ति अपनी वासना के अनुरूप अर्थ को ग्रहण करता है। व्यक्ति के संस्कार के अनुरूप शब्द का अर्थ बदलता रहता है। अतः शब्दार्थ का स्वरूप अस्थिर या अनिश्चित माना गया है।

अर्थ-विषयक उक्त बारह मतों पर विचार करने से एक तथ्य यह सामने आता है कि शब्द में अर्थ शक्ति या संकेत के रूप में रहा करता है, इसे सभी विचारकों ने किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है। कोई शब्द यदि लोकसिद्ध मूर्त वस्तु की ओर निर्देश करता है, तो उस निर्दिष्ट वस्तु को शब्द का अर्थ मानने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। अर्थ के साथ उन वस्तुओं का सम्बन्ध रहने के कारण शब्दार्थ बोध के साथ निर्दिष्ट वस्तु का भी बोध हो जाता है। शब्द-विशेष से आकार-विशिष्ट वस्तु के बोध का यही रहस्य है।

शाब्दबोध में शब्द और अर्थ की अभेदतया प्रतीति या शब्दाध्यास की मान्यता अर्थवैज्ञानिक चिन्तन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

पद के अर्थ को अस्थिर, अनिश्चित या असिद्ध मानकर वाक्य में प्रयोग के द्वारा श्रोता-वक्ता के संस्कार के अनुरूप अर्थ-ग्रहण का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है, उससे मिलता-जुलता एक सिद्धान्त आधुनिक भाषाविज्ञान में भी प्रतिष्ठित हुआ है। वाक्य को भाषा की मूल इकाई मानकर वाक्यार्थ मात्र की सत्ता मानने वाले वाक्यस्फोटवादी चिन्तन में पद के नियत अर्थ की सत्ता नहीं मानी जाती। इस मत के औचित्य पर हम अन्विताभिधानवादी विचारकों के अर्थ-चिन्तन की परीक्षा के क्रम में विचार करेंगे।

कई मतों में शाब्दबोध के सम्बन्ध में यह समस्या उठायी गयी है कि शब्द से जाति का बोध माना जाय या आकार-विशेष युक्त व्यक्ति का? इसका उत्तर अलग-अलग दृष्टियों से दिया गया है। कुछ विचारकों ने शब्द का संकेत जाति-मात्र में माना है और जाति से अविनाभाव-सम्बन्ध के कारण परम्परया आकार-विशिष्ट व्यक्ति का बोध स्वीकार किया है, तो अन्य विचारकों ने आकृति-विशिष्ट पदार्थ में ही शब्द का शक्तिग्रह स्वीकार किया है। शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में यह मतवैभिन्न्य अर्थ के स्वरूप की जटिलता का प्रमाण है। पाश्चात्य दर्शन, मनोविज्ञान तथा भाषाविज्ञान में भी शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक मत प्राप्त होते हैं। उनका मूल्याङ्कन हम उचित सन्दर्भ में करेंगे। अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में मत की अनेकता का एक कारण यह भी है कि विभिन्न शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। गाय, घड़ा आदि लोकसिद्ध वस्तुओं के वाचक शब्द को सुन कर हमें जिस तरह उन परिचित पदार्थों के विशिष्ट आकार आदि की स्मृति हो आती है, उस तरह पाप-पुण्य, उल्लास-विषाद, सौन्दर्य आदि शब्दों को सुन कर नहीं होती। जिन लोकसिद्ध वस्तुओं को हमने प्रत्यक्ष देखा नहीं है, उनका भी शाब्दबोध तो होता ही है, पर वैसे शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया प्रत्यक्ष दृष्ट पदार्थ के वाचक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया से किञ्चित् भिन्न अवश्य होती है। संख्यावाचक दो, चार, शून्य आदि शब्दों का अर्थबोध ठीक वैसा ही नहीं होता, जैसा घोड़ा, गाड़ी, घर, सड़क आदि शब्दों का अर्थबोध होता है। उपसर्ग, प्रत्यय, योजक पद आदि के अर्थ-बोध की प्रक्रिया भी मूर्त पदार्थों के वाचक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया से अभिन्न नहीं होती। जाति, गुण, क्रिया तथा नाम के वाचक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रियाएँ भी एक-दूसरे से कुछ भिन्न होती हैं। इसीलिए भारतीय वैयाकरणों ने जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक तथा संज्ञावाचक या यदृच्छात्मक शब्दों को अलग-अलग वर्गों में बाँट कर उनके अर्थ पर विचार किया है, पर वहाँ भी एक समस्या रह जाती है; क्या जातिवाचक गाय, मनुष्य आदि शब्दों से केवल गोत्व, मनुष्यत्व आदि जाति का ही बोध होता

है, उससे अविनाभाव-रूप से सम्बद्ध व्यक्ति और उसकी विशिष्ट आकृति का बोध नहीं होता ? गुण, क्रिया आदि के बोधक शब्द क्या जाति का बोध नहीं कराते ? इन समस्याओं पर विचार अपेक्षित है । वैयाकरणों के अर्थ-सिद्धान्त की समीक्षा के सन्दर्भ में हम इन समस्याओं पर विचार करेंगे ।

भर्तृहरि के वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने अर्थ को अठारह प्रकार का माना है ।[1] शब्दार्थ के स्वरूप की विविधता का निर्देश करने की दृष्टि से पुण्यराज का यह विचार महत्त्व रखता है । उनके द्वारा निर्दिष्ट शब्दार्थ के अठारह प्रकार हैं—(१) वस्तुमात्र, (२) अभिधेय, (३) शास्त्रीय, (४) लौकिक, (५) विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतु, (६) वास्तविक, (७) मुख्य (८) परिकल्पितरूपविपर्यास, (९) व्यपदेश्य, (१०) अव्यपदेश्य, (११) सत्त्वभावापन्न, (१२) असत्त्वभूत, (१३) स्थिरलक्षण, (१४) विवक्षाप्रापितसन्निधान, (१५) अभिधीयमान, (१६) प्रतीयमान, (१७) अभिसंहित तथा (१८) नान्तरीयक ।

वस्तुमात्र अर्थ से तात्पर्य उस बाह्य अर्थ का है, जिसकी अपनी सत्ता तो है, पर उसका प्रतिपादन या बोधन नहीं कराया जा सकता । वही बाह्य अर्थ यदि प्रतिपादन का विषय बन जाता हो तो उसे अभिधेय या वाच्य अर्थ कहते हैं । अभिधेय अर्थ शास्त्रीय भी हो सकता है और लौकिक भी । शास्त्र में प्रतिपाद्य अर्थ में आवाप तथा उद्धार अर्थात् अर्थ का आक्षेप तथा निषेध रहा करता है, पर लौकिक अर्थ अखण्ड होता है और लोक में प्रवृत्ति-निवृत्ति का हेतु होने से वाक्यार्थ के रूप में ही व्यक्त होता है—पदों के अलग-अलग अर्थ के रूप में उसकी खण्डशः सत्ता नहीं होती । इसीलिए शास्त्रीय अर्थ (अर्थात् शास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ) को आवापोद्धारिक और लौकिक अर्थ को अखण्ड माना गया है ।[2] लौकिक अर्थ को प्रवृत्ति-निवृत्ति-निमित्त होने के कारण अखण्ड वाक्यार्थ रूप मानने में मतभेद हो सकता है । बच्चों के भाषा-ज्ञान के अर्जन की प्रक्रिया पर विचार करें तो यह पायेंगे कि लोक-प्रतिपाद्य अर्थ के बोध में भी आवाप और उद्धार की प्रक्रिया चलती रहती है । बच्चे जब एकाधिक वाक्य सुनते हैं तब आवाप-उद्धार की प्रक्रिया से ही किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण करते हैं । उदाहरणार्थ, जब वे एक बार, 'गाय को ले आओ,' यह वाक्य सुनते हैं और एक विशिष्ट प्राणी को लाते देखते हैं, फिर वे कभी दूसरा वाक्य सुनते हैं—'गाय को बाँधो' और उसी प्राणी को बाँधने की क्रिया देखते हैं, तो वे यह निर्णय कर लेते हैं कि गाय उस विशिष्ट प्राणी का

---

१. अर्थोऽष्टादशधा…………।—वाक्यपदीय २,८१ पर पुण्यराज की टीका ।
२. लौकिकस्त्वखण्डः ।

वाचक शब्द है और लाना तथा बाँधना अलग-अलग क्रियाओं के वाचक शब्द हैं। यह निर्णय और वाक्य के अलग-अलग शब्दों के अर्थ का निर्धारण आवाप और उद्धार से ही सम्भव होता है। स्पष्ट है कि लौकिक अर्थ को अखण्ड वाक्यार्थ-रूप मानने वाले उक्त मत में भाषा के ज्ञान को अर्जित करने वाली इस व्यावहारिक प्रक्रिया की उपेक्षा कर दी गयी है। वस्तुतः अर्थ का लौकिक और शास्त्रीय वर्गों में विभाजन भी व्यावहारिक सुविधामात्र के लिए है, तात्त्विक नहीं।

तत्त्वतः अविद्यमान अर्थ का जब विद्यमान अर्थ के रूप में बोध होता है, तब वैसे अर्थ को विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतु अर्थ कहा जाता है। वैसी स्थिति में वर्तमान काल में व्यक्ति के निकट विद्यमान नहीं रहने पर भी वह अर्थ विशिष्ट आकार से युक्त होकर बोध का विषय बनता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'कंसं घातयति' का उदाहरण देकर अर्थ के इस रूप को स्पष्ट किया है। कंस अतीत काल का व्यक्ति है और 'मारता है' वर्तमानकालिक क्रियारूप है। इस प्रकार के प्रयोग में कंस आदि अतीत काल के व्यक्ति भी मनुष्य के बोध में विशेष आकार ग्रहण कर उपस्थित हो जाते हैं। इस अर्थ के ठीक विपरीत वास्तविक अर्थ का स्वरूप होता है। वह असत्य या कल्पित नहीं होता। उसकी लोकसिद्ध सत्ता होती है। गाय, घोड़ा, घड़ा, घर आदि शब्दों का अर्थ वास्तविक होता है।

शब्द की अभिधा शक्ति से ज्ञेय अर्थ मुख्य अर्थ कहलाता है। बैल, गधा आदि शब्द अभिधा शक्ति से तत्तत् जाति के पशु का बोध कराते हैं। वे पशु उन शब्दों के मुख्य अर्थ हैं। अभिधा शक्ति को छोड़ लक्षणा या व्यञ्जना शक्ति से जिस अर्थ को लक्षित या व्यञ्जित किया जाता है उसे परिकल्पितरूपविपर्यास अर्थ कहते हैं। इसमें अर्थ के मूलरूप में परिवर्तन आ जाता है। उदाहरणार्थ, मूर्ख आदमी के लिए जहाँ बैल या गधा शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ उस शब्द से गृहीत अर्थ उसके मूल अर्थ से विपर्यस्त होने के कारण परिकल्पितरूपविपर्यास अर्थ कहलाता है। ऐसे अर्थ को गौण अर्थ भी कहा जाता है।

जिस अर्थ का वर्णन किया जा सके, उसे व्यपदेश्य या समाख्येय अर्थ कहते हैं। जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य व्यपदेश्य अर्थ हैं। इसके विपरीत जिस अर्थ का तात्त्विक रूप से वर्णन सम्भव नहीं हो, उसे अव्यपदेश्य अर्थ कहा जाता है। इन्द्रियों से अग्राह्य सूक्ष्म अर्थ, जिनकी सत्ता केवल मानव के बोध में ही रहा करती है, अव्यपदेश्य या असमाख्येय हैं, क्योंकि उनके स्वरूप का ठीक-ठीक वर्णन सम्भव नहीं। हर्ष-विषाद, प्रेम-घृणा आदि शब्दों का अर्थ अव्यपदेश्य है।

बाह्य सत्ता वाली वस्तु का बोधक अर्थ सत्त्वभावापन्न अर्थ कहलाता है। इसके विपरीत असत् वस्तु का (अर्थात् ऐसी वस्तु का, जिसकी बाह्य जगत में सिद्ध सत्ता

नहीं हो) बोधक अर्थ असत्त्वभूत अर्थ माना जाता है। आकाशकुसुम, शशविषाण आदि पदों का अर्थ असत्त्वभूत है।

शब्द का निश्चित या स्थिर अर्थ स्थिरलक्षण अर्थ कहलाता है। उदाहरणार्थ, राजपुरुष शब्द में पुरुष का अर्थ स्थिर है। वह राजा से सम्बद्ध पुरुष का ही स्थिर रूप से बोध कराता है। इस स्थिरलक्षण अर्थ के विपरीत विवक्षाप्रापित-सन्निधान अर्थ होता है, जहाँ अर्थ स्थिर न होकर विवक्षा के अनुरूप विभिन्न रूपों में गृहीत हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'राज्ञः पुरुषस्य' जैसे प्रयोग में विवक्षा के अनु-रूप कोई राज्ञः को पुरुषस्य का विशेषण मान सकता है और कोई इसके विपरीत पुरुषस्य को राज्ञः का विशेषण मान सकता है। इस प्रकार विवक्षा के अनुरूप उस प्रयोग का अर्थ अलग-अलग हो जायगा। स्थिरलक्षण और विवक्षाप्रापितसन्निधान अर्थों के स्वरूप-निर्धारण में जिस भेद की ओर संकेत किया गया है उसका औचित्य विचारणीय है। वस्तुतः यह भेद अर्थ के वाचक शब्दों का है, अर्थ के स्वरूप का नहीं। विवक्षानुरूप शब्द के स्वरूप का निर्धारण हो जाने पर अर्थ का बोध स्थिर रुप में ही होता है। द्व्यर्थक, अनेकार्थबाची तथा श्लिष्ट शब्दों के अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि सन्दर्भ-विशेष में विवक्षा के अनुरूप शब्द के स्वरूप का निर्धारण होता है और तब उसके अर्थ का ग्रहण होता है। इसीलिए तो अर्थभेद से एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न शब्द माना जाता है; भले ही उच्चारण स्थान और प्रयत्न की समानता के कारण वे शब्द एक जान पड़ें। अर्थ के भेद से शब्द-भेद के सिद्धान्त को मान लेने पर सभी शब्दों का अर्थ स्थिरलक्षण ही माना जा सकता है।

प्रस्तुत रूप से वर्णित अर्थ अभिधीयमान कहलाता है। प्रस्तुत अर्थ से भिन्न अर्थ जिसका बोध व्यञ्जना वृत्ति से होता है, प्रतीयमान अर्थ माना जाता है।

किसी शब्द से जाति या व्यक्तिरूप जिस अर्थ का बोध होता है, उसे अभिसंहित अर्थ कहा गया है। उस अर्थ के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहते वाले अर्थ को नान्तरीयक अर्थ माना गया है। उदाहरणार्थ, गाय शब्द से जो गोत्व जाति या उस जाति के किसी व्यक्ति का अर्थ गृहीत होता है वह अभिसंहित अर्थ तथा उस शब्द से जाति या व्यक्ति के साथ उसके वर्ण आदि का जो ग्रहण होता है उसे नान्तरीयक अर्थ माना गया है। यह अनुभवसिद्ध है कि गाय कहने से हमें जिस प्राणी का बोध होता है उसके रंग, आकार आदि का भी बोध उसमें मिला रहता है; पर रंग, आकृति आदि को गाय शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। गाय के विभिन्न रंगों के लिए शुक्ल. कृष्ण आदि शब्दों का प्रयोग होता है, उसके प्रत्येक अवयव के लिए सींग, पूँछ आदि शब्दों का प्रयोग होता है। गाय शब्द से भिन्न

शब्दों से अभिधेय होने के कारण उन वस्तुओं को गाय शब्द का अभिसंहित अर्थ तो नहीं माना जा सकता, पर गाय शब्द से बोधगम्य अर्थ के साथ अविनाभाव रूप से जुड़े होने के कारण उन्हें नान्तरीयक अर्थ-वर्ग में माना गया हैं।

शब्दार्थ के स्वरूप के उक्त अठारह प्रकार पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द की मुख्य अर्थात् अभिधा शक्ति से तथा गौण अर्थात् लक्षणा-व्यञ्जना शक्ति से ग्राह्य समग्र अर्थ-रूपों को दृष्टि में रखकर अर्थ का विभाग किया गया है। मुख्य अभिधेय, वास्तविक, विशिष्टावग्रहसंप्रत्ययहेतु, व्यपदेश्य, अभिसंहित आदि अर्थ शब्द की अभिधा शक्ति से ग्राह्य हैं तथा परिकल्पितरूपविपर्यास, प्रतीयमान आदि अर्थ लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक गौणी वृत्तियों से बोध्य हैं। प्रस्तुत प्रकरण में शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण-क्रम में हमारा सम्बन्ध शब्द की मुख्य शक्ति से ग्राह्य अर्थ से ही है। शब्द के प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ का निर्धारण सम्भव भी नहीं। एक ही शब्द प्रसंग, वक्ता, श्रोता आदि के भेद से अलग-अलग अर्थ की व्यञ्जना कर सकता है। शब्द का मुख्य या वाच्य अर्थ ही नियत माना जा सकता है। शब्दकोश में उसी नियत अर्थ का विवेचन किया जाता है। लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थ अनन्त हैं। प्रसंग आदि से उनका विभिन्न रूपों में ग्रहण होता है।

शब्द के अर्थ का लौकिक तथा शास्त्रीय अर्थ के रूप में विभाजन अर्थ वैज्ञानिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं रखता। लौकिक अर्थ के प्रतिपादन में शब्द-विशेष का जो साक्षात् संकेतित अर्थ होता है, वही अर्थ उस शब्द का शास्त्रीय अर्थ के निरूपण में भी होता है। शब्दार्थ के स्वरूप-बोध की प्रक्रिया लोक और शास्त्र में समान ही रहती है। शास्त्रकार लाघव के लिए जहाँ कुछ नवीन पारिभाषिक शब्दों का अभिमत अर्थ में प्रयोग करता है वहाँ भी शब्द अपने संकेतित अर्थ का ही मुख्य शक्ति से बोध कराता है। उदाहरणार्थ, व्याकरण में प्रयुक्त 'नदी' संज्ञा एक विशेष पारिभाषिक अर्थ का बोध कराती है। उसका जलप्रवाहरूप नदी से कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसे प्रतिज्ञाज्ञापित अर्थ लोक-व्यवहार की भाषा में भी रहा करते हैं। समय-समय पर नवीन आविष्कृत वस्तु का भी जब कोई नामकरण किया जाता है, तब उसका अर्थ प्रतिज्ञाज्ञापित ही होता है, जिसके बोधन की शक्ति उस नाम में आ जाती है।

अर्थ को स्थिर-लक्षण तथा विवक्षाप्रापितसन्निधान वर्गों में विभाजित करना भी आवश्यक नहीं जान पड़ता। अर्थ अपने वाचक शब्द में स्थिररूप में ही रहा करता है। विवक्षानुरूप किसी सन्दर्भ में शब्द का जो अर्थ गृहीत होता है उसका उस शब्द के साथ स्थिर सम्बन्ध रहता है। अतः उस सन्दर्भ में अर्थ-विशेष के

वाचक शब्द का भी विशिष्ट रूप में ही बोध होता है। उदाहरणार्थ, एक द्व्यर्थवाची टीका शब्द के अर्थ पर विचार करें। 'सुन्दर टीका' का अर्थ किसी पुस्तक की अच्छी टिप्पणी भी है और ललाट पर लगायी जाने वाली अच्छी बिन्दी भी। प्रयोग के सन्दर्भ के अनुरूप टीका के अर्थ अलग-अलग गृहीत होते हैं, पर यह नहीं कहा जा सकता कि टीका शब्द में कोई एक स्थिर अर्थ नहीं है। वस्तुतः टीका एक शब्द नहीं, समान ध्वनि वाले दो शब्द हैं। दोनों का एक-एक अर्थ स्थिर है। जिस प्रसंग में हम टिप्पणी अर्थ ग्रहण करते हैं उसमें उसी अर्थ के वाचक टीका शब्द का ग्रहण करते हैं, बिन्दी के वाचक टीका शब्द का नहीं, जो तत्त्वतः टिप्पणी के वाचक टीका शब्द से भिन्न है। टीका शब्द का अलग-अलग दो लिंगों में प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि टीका समान ध्वनि वाले दो शब्द हैं। ध्वनि की समता के कारण ही उनके एक होने की भ्रान्ति हो जाती है। स्पष्ट है कि स्थिरलक्षण तथा विवक्षाप्रापितसन्निधान को अर्थ का अलग-अलग प्रकार मानना वैज्ञानिक नहीं। एक कथन के अनेक अर्थ हो सकते हैं, पर विवक्षा के अनुरूप जो अर्थ गृहीत होता है, वही उस सन्दर्भ में उस शब्द का स्थिर अर्थ होता है।

शब्दार्थ के उक्त अठारह प्रकार की कल्पना में कुछ अव्याप्ति-अतिव्याप्ति के होने पर भी उसका महत्त्व सर्वथा उपेक्षणीय नहीं। शब्द की मुख्य शक्ति से ग्राह्य वाच्य अर्थ के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए अर्थ के स्वरूप पर विभिन्न दृष्टियों से विचार कर लेना उपादेय ही है। भाषा के समग्र शब्द-भाण्डार और उसके वाच्य अर्थ के स्वरूप की विविधता को देखते हुए अर्थ के कुछ प्रकारों के निर्धारण में पुण्यराज की अर्थवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है। शब्दार्थ के अभिसंहित तथा नान्तरीयक भेद के निरूपण में अर्थ-विषयक वैज्ञानिक दृष्टि का प्रमाण मिलता है। शब्द अवयवातिरिक्त अवयवी का बोध कराते हैं, पर उस बोध में अवयवी के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध अवयवों का बोध भी अनिवार्यतः निहित रहता है। उदाहरणार्थ, गाय शब्द से निर्दिष्ट जिस प्राणी-विशेष का बोध होता है, उसमें उसकी विशिष्ट आकृति, (वर्ण, सींग, आँख, कान, पूँछ आदि अवयव) तथा उसकी किसी क्रिया आदि का बोध भी अन्तर्निहित रहता है। घर शब्द के अर्थ-बोध में दीवार, छत, खिड़की, दरवाजा आदि अवयवों का बोध मिश्रित रहता है। अब प्रश्न यह है कि गाय या घर शब्द का अर्थ क्या माना जाय? उत्तर स्पष्ट है : अवयवों से व्यतिरिक्त अवयवी अर्थात् अवयवों का समुदाय उस शब्द का वाच्य अर्थ है, अवयव नहीं। अलग-अलग अवयव अलग-अलग शब्द के वाच्य अर्थ होते हैं। सींग, पूँछ, नाक, कान आदि अवयवों को गाय शब्द का वाच्य अर्थ नहीं माना जा सकता। वे तत्तत् शब्दों के वाच्य हैं, फिर भी गाय शब्द के अर्थ-बोध में उन अवयवों का बोध मिश्रित रहता है। इसी समस्या के समाधान के

लिए शब्द-विशेष के सामुदायिक या अवयवी-रूप अर्थ को अभिसंहित तथा उसमें अविनाभाव-रूप से रहनेवाले अवयव-बोध को नान्तरीयक अर्थ माना गया है। अवयवी ही तत्त्वतः शब्द का वाच्य अर्थ होता है। नान्तरीयक अर्थ अन्य पदों के वाच्य होने पर भी समुदाय-रूप अर्थ के बोध के साथ गौण या अङ्ग-रूप में मिले रहते हैं।

शब्द के वाच्य अर्थ के स्वरूप की विविधता को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है कि उसे वस्तुमात्र, विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतु, वास्तविक, व्यपदेश्य, अव्यपदेश्य, सत्त्वभावापन्न, असत्त्वभूत आदि वर्गों में बाँट कर उनके स्वरूप पर विचार किया जाय। शब्द से लोक-सिद्ध, लोक में असिद्ध किन्तु मानव की भावना-मात्र में सिद्ध, मूर्त, अमूर्त, शब्द से अपृथक्सिद्ध, अतीत, सम्भाव्य एवं विद्यमान, एक तथा अनेक भावात्मक एवं अभावात्मक सत्ता वाले पदार्थों का बोध होता है। उन भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले पदार्थों के वाचक पदों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया समान नहीं होती। अतः शब्दार्थ को अलग-अलग वर्गों में विभाजित कर उनके स्वरूप का विश्लेषण ही वैज्ञानिक होगा। गाय, घड़ा, घर, कमल आदि मूर्त पदार्थों के वाचक शब्द का अर्थ जिस रूप में गृहीत होता है उस रूप में प्रेम, घृणा, सौन्दर्य, पाप, पुण्य आदि अमूर्त तथा ईश्वर, स्वर्ग, परलोक आदि लोक में असिद्ध तथा भावना-मात्र में सिद्ध वस्तुओं के वाचक शब्दों का अर्थ गृहीत नहीं होता। मूर्त वस्तुओं के वाचक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में भी यह ध्यातव्य है कि जिन वस्तुओं के स्वरूप से व्यक्ति का पूर्व-परिचय रहता है, उनके वाचक शब्दों का अर्थ वह जितने स्पष्ट एवं निश्चयात्मक रूप में ग्रहण करता है, उतने स्पष्ट रूप में अपरिचित वस्तुओं के वाचक शब्द का अर्थग्रहण नहीं कर पाता। जिसने कमल को देखा नहीं हो, उसे कमल शब्द के अर्थ का जो बोध होगा, वह निश्चय ही उस व्यक्ति के अर्थ-बोध से भिन्न होगा, जो कमल के अनेक रूपों को देख चुका है। इसीलिए कुछ विचारकों ने शाब्दबोध में व्यक्ति के ज्ञान एवं संस्कार को बोध का नियामक मान लिया है। शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण में यह तो सम्भव नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के बोध की स्पष्टता-अस्पष्टता, निश्चयात्मकता-अनिश्चयात्मकता पर विचार किया जा सके, फिर भी मूर्त-अमूर्त, सिद्ध-असिद्ध, शब्द से पृथक्सिद्ध तथा अपृथक्सिद्ध वस्तुओं के वाचक शब्दों के अर्थ-बोध के स्वरूप की भिन्नता को रेखांकित अवश्य किया जा सकता है। वन्य कुसुम शब्द के अर्थ का स्वरूप आकाशकुसुम के अर्थ के स्वरूप से अभिन्न नहीं। गाय शब्द के अर्थ-बोध का स्वरूप 'नहीं', शून्य, 'है', 'भी' आदि शब्दों के अर्थ-बोध के स्वरूप के समान नहीं। गाय शब्द का अर्थ शब्द से पृथक्सिद्ध वस्तु की स्मृति का कारण होता है, पर 'नहीं', 'भी', 'तो', आदि शब्दों का अर्थ शब्द से भिन्न सत्ता रखने वाली किसी वस्तु का बोधक नहीं।

निष्कर्ष यह कि अर्थ के कुछ प्रकारों का निर्देश करते हुए पुण्यराज ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनका अर्थ के स्वरूप-निर्धारण में बहुत-कुछ उपयोग किया जा सकता है।

अर्थ के कितने प्रकार मान्य हैं, इसपर विचार करने के पूर्व हमारे सामने प्रकृत समस्या यह है कि शब्दार्थ का स्वरूप क्या है? अर्थ का क्या तत्पर्य है? शब्द का अर्थ क्या होता है? शब्द क्या बोध कराता है? इन प्रश्नों पर जिन बारह मतों का उल्लेख भर्तृहरि ने किया है, उनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक मत प्रचलित रहे होंगे।

कुमारिल भट्ट के तत्त्ववार्तिक में शब्दार्थ-सम्बन्धी अनेक मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। उनमें शब्द-अर्थ की समस्या की जटिलता का संकेत तो मिलता ही है, साथ ही उक्त विषय में भारतीय चिन्तकों की विशिष्ट अभिरुचि और समस्या के प्रति उनकी बहुआयामी जिज्ञासा का भी प्रमाण मिलता है। यह सही है कि तत्त्ववार्तिक में निर्दिष्ट सभी शब्दार्थ-चिन्तन आज विशेष चर्चा के विषय नहीं हैं और न उनका व्यवस्थित सम्प्रदाय अतीत काल में ही विकसित हो पाया था, फिर भी इस बात में सन्देह नहीं कि उनमें प्रस्तुत अनेक विचार-बिन्दुओं ने व्याकरण, न्याय, मीमांसा तथा बौद्ध-मत के शब्दार्थ-चिन्तन को गति और शक्ति दी है। उनमें से कुछ का त्याग और कुछ का ग्रहण परवर्ती काल में भी होता रहा है। शब्दार्थ की सुव्यवस्थित धारणाएँ प्रस्तुत करनेवाले वैयाकरणों तथा मीमांसकों ने प्रबल तर्कों से उन विचारों का खण्डन कर उन्हें अग्राह्य या अमान्य भले बताया हो, उन्हें उपेक्षणीय नहीं माना है। यह उन मतों के ऐतिहासिक महत्त्व का द्योतक है। ऐसी असंख्य विचार-सरणियाँ महान चिन्ता-धारा के प्रवाह से अवरुद्ध या आक्रान्त होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व विसर्जित करती रहती हैं। काल प्रवाह में अब उनकी चर्चा केवल शब्दार्थ-चिन्तन के इतिहास के सन्दर्भ में ही की जाती है। कुमारिल के द्वारा चर्चित अर्थ-दृष्टियों का यहाँ संक्षिप्त परिचय देना ही अभिप्रेत है।

आकृतिवाद—कुमारिल के द्वारा निर्दिष्ट शब्दार्थ-धारणाओं में प्रथम प्रचलित धारणा आकृतिवाद की थी। इस धारणा के अनुसार शब्द का अर्थ आकृति-रूप होता है। वक्ता जिस अर्थ के संप्रेषण के लिए शब्द का प्रयोग करता है उसकी एक विशिष्ट आकृति उसके मन में रहती है और श्रोता के मन में भी शब्द को सुन कर वैसी ही आकृति का बोध जगता है। वक्ता के मन में निहित और शब्द के माध्यम से श्रोता के मन में संप्रेषित बोध—आकृति-रूप में आया हुआ बोध—ही शब्द का अर्थ होता है। इस आकृतिवादी सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान का

विषय आकृति या अवयव-संस्थान ही होता है। शब्द का प्रयोग ज्ञान के विषयभूत पदार्थों का बोध कराने के उद्देश्य से किया जाता है। अतः आकृति को ही शब्द का अर्थ माना जाना चाहिए। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि गाय को हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, मनुष्य आदि से भिन्न उसकी विशिष्ट आकृति ही कराती है। अतः आकृति ही शब्दविशेष का विशिष्ट अर्थ है।[1] न्यायमंजरी में आकृतिवाद के इस चिन्तन का सार प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रतिनिधि के रूप में प्रयुक्त होता है और प्रत्यक्ष ज्ञान आकृति का ही होता है, अतः आकृति को ही शब्दका अर्थ माना गया है।[2] ध्यातव्य है कि गौतम ने 'जात्याकृतिव्यक्ति' को पद का अर्थ मान कर इस आकृतिवादी सिद्धान्त को अंशतः स्वीकार किया है।

अर्थ के आकृतिवादी सिद्धान्त के विरुद्ध एक आपत्ति यह है कि पशु, पक्षी, लता, वृक्ष, फूल, फल आदि की विशिष्ट जाति की आकृति के बोध के सन्दर्भ में भले ही यह मत आपाततः सही जान पड़े, पर जिन वस्तुओं की नियत आकृति नहीं होती उनके वाचक शब्दों के अर्थ के सन्दर्भ में यह सिद्धान्त उपयुक्त नहीं। अमूर्त भाव, विचार आदि की आकृति के बोध की कल्पना का कोई आधार नहीं होगा। दूसरी आपत्ति यह कि आकारवान वस्तुओं की आकृति भी अलग-अलग होती है। एक व्यक्ति की आकृति उसी जाति के दूसरे व्यक्ति की आकृति से भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में किसी विशिष्ट आकृति को तो शब्द का वाच्य अर्थ माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि भाषिक अर्थ की यह विशेषता है कि वह किसी वर्ग के सभी व्यक्तियों के सामान्य धर्म का प्रतिनिधित्व करता है।

व्यक्ति तथा जातिवाद—एक प्रस्थान के विचारक क्रमशः व्यक्ति और जाति को शब्द का अर्थ मानते हैं। उनकी मान्यता है कि भाषिक व्यवहार में शब्द अनिवार्यतः व्यक्ति का ही निर्देश करते है, क्योंकि लोक-व्यवहार व्यक्ति से ही चलता है, जाति से नहीं। भाषा से लोक-व्यवहार सम्पादित होने का रहस्य यह है कि शब्द व्यक्ति-बोध में सहायक हैं। दूसरी बात यह कि लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय व्यक्ति ही होता है, अमूर्त जाति नहीं, अतः भाषिक ज्ञान का विषय भी व्यक्ति को ही माना जाना चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय का ही बोध शब्द से होता है। न्यायमंजरी में भी इस मान्यता का उल्लेख किया गया है।[3] एक बात और, जाति को शब्द का वाच्य

१. कुमारिल, तत्त्ववार्तिक, पृ० १३६-३७
२. अतः प्रत्यक्षविषये पदं प्रवर्त्तमानंमाकृतावेव वर्तितुमर्हति।—न्यायमं पृ० २९१
३. प्रत्यक्षविषये वृत्तिः पदस्येष्टा परैरपि।
निष्कृष्टं न च सामान्यमात्रं प्रत्यक्षगोचरः।
व्यक्त रेव पदार्थत्वं तस्मादभ्युपगम्यताम्।-जयन्त, न्याय मं. पृ. २९२

अर्थ मानने वाले विचारक भी जब जाति से अविनाभाव रूप से सम्पृक्त व्यक्ति को भी शब्द का वाच्य अर्थ मानते ही हैं, तब व्यक्ति को ही शब्द का अर्थ क्यों नहीं माना जाय ?[1] अर्थ-बोध में लिंग, वचन आदि का बोध भी यह सिद्ध करता है कि अर्थ व्यक्ति-रूप ही होता है क्योंकि लिंग, वचन, संख्या आदि का भेद व्यक्ति में ही हो सकता है, जाति में नहीं ।

व्यक्ति को शब्द का अर्थ माननेवाले सिद्धान्त की हमने यथास्थान विस्तृत समीक्षा की है । इस मत की सबसे बड़ी सीमा यह कि एक ही शब्द से रूप-गुण में परस्पर भिन्न विविध व्यक्तियों के बोध के रहस्य का स्पष्टीकरण इससे नहीं नहीं हो पाता ।

जातिवादी विचारकों की मान्यता है कि समग्र व्यक्तियों में समानरूप से अन्तर्निहित एक जाति के कारण ही परस्पर भिन्न व्यक्तियों को एक ही शब्द से अभिहित किया जा सकता है । वह जाति या सामान्य ही शब्द का अर्थ होता है । व्यक्तिवादियों ने पीछे चल कर अपने सिद्धान्त की सीमा का अनुभव कर उसमें इतना परिष्कार कर लिया कि शब्द का अर्थ होता तो व्यक्ति ही है, पर वह शब्द व्यक्ति-रूप अर्थ के भीतर निहित जाति के अर्थ को भी व्यञ्जित करता है, फिर भी जाति शब्दार्थ न होकर शब्द का गम्य अर्थ मात्र है । व्यक्ति को मुख्य और जाति को गम्य या व्यञ्जित अर्थ मानने के कारण इस मत को व्यक्ति-जातिवाद कहा गया है ।

जातिवाद—जाति को शब्द का अर्थ मानने वाले विचारकों की युक्ति है कि शब्द से व्यक्ति का भी बोध होता अवश्य है, पर शब्द किसी एक खास व्यक्ति का बोध नहीं कराता, जाति-विशिष्ट व्यक्ति का ही बोध कराता है । व्यक्ति का नियमन करने वाली जाति को ही शब्द का अर्थ माना जाना चाहिए । जातिवादी भी शब्द से व्यक्ति-बोध के तथ्य को स्वीकार करते हैं, पर व्यक्ति को शब्द का वाच्य अर्थ नहीं मानते, जिस तरह व्यक्तिवादी व्यक्ति के साथ जाति के बोध के तथ्य को स्वीकार करने पर भी जाति को शब्द का अर्थ नहीं मानते । स्पष्टतः इन दो विरोधी मतों का विरोध व्यक्ति और जाति के बोध में पौर्वापर्य तथा प्रधानता-अप्रधानता के प्रश्न को लेकर ही है ।

इन मतों के अतिरिक्त गौतम के द्वारा प्रतिपादित जाति, आकृति और व्यक्ति को सम्मिलित रूप में शब्द का अर्थ मानने वाला सिद्धान्त, उनके अनुयायियों का

---

१. कुमारिल, तत्त्ववार्तिक, पृ. १३८

तद्वानवाद अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति-बोध का सिद्धान्त, बौद्धों का अपोहवाद, वैयाकरणों का जात्यादिचतुष्टयवाद तथा मीमांसकों का जातिवाद ; तत्त्ववार्तिक में उल्लिखित और विवेचित हैं। ये शब्दार्थ-विषयक कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनकी विशिष्ट चिन्तन परम्पराएँ हैं। अतः हम उनका क्रमबद्ध विवेचन-मूल्यांकन प्रस्तुत अध्याय में यथास्थान करेंगे।

न्याय, मीमांसा, व्याकरण आदि में भी शब्दार्थ-चिन्तन की विविध अन्तः-धाराएँ हैं, जो शब्द-तत्त्व के विवेचन में उन विचारकों की दृष्टि की व्यापकता और उदारता का परिचय देती हैं। प्राचीन न्याय और नव्य न्याय का तत्त्व-चिन्तन-सम्बन्धी दृष्टि-भेद ; पूर्वमीमांसा और उत्तर-मीमांसा का मतभेद तो प्रसिद्ध ही है। व्याकरण में भी शब्दार्थ-तत्त्व के निरूपण में जात्यादि चतुष्टयसिद्धान्त, शब्दाध्यासवाद आदि की चर्चा होती रही है। जात्यादिचतुष्टय में जहाँ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य को अलग-अलग शब्द का संकेतित वाच्य अर्थ माना गया है वहीं पतञ्जलि के स्वार्थ अर्थात् जाति, द्रव्य-अर्थात् व्यक्ति, लिङ्ग, संख्या और कारक; इन पाँच को शब्द का अर्थ मानने वाले सिद्धान्त की भी चर्चा होती रही है। वस्तुतः जात्यादिचतुष्टयवाद और स्वार्थ आदि पञ्चवाद तत्त्व-चिन्तन से प्राप्त विरोधी निष्कर्ष पर आधृत अलग-अलग सिद्धान्त नहीं, एक ही तथ्य पर अलग-अलग बिन्दुओं से विचार करने से प्राप्त परस्पर सम्बद्ध अविरोधी सिद्धान्त हैं। 'तत्त्व-बोधिनी' में ज्ञानेन्द्र सरस्वती ने यह उल्लेख किया है कि महाभाष्यकार के अनुसार शब्द के अर्थ में स्वार्थ, द्रव्य, लिंग, संख्या और कारक का बोध अन्तर्निहित रहता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में वाजप्यायन के जातिवादी और व्याडि के व्यक्ति-वादी सिद्धान्त का उल्लेख कर उनका मूल्यांकन किया है। लिंग, संख्या और कारक के बोध को शब्द के अर्थ में अन्तर्भूत मानने के सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि संस्कृत-जैसी संश्लिष्ट भाषा के पद के अर्थ-बोध के सन्दर्भ में यह मान्यता सही हो सकती है, जहाँ सुप् प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न नाम-पद, लिंग वचन और कारक का भी बोध कराते हैं, पर विश्लिष्ट या स्थान-प्रधान भाषाओं के शब्दार्थ के स्वरूप के सन्दर्भ में यह सिद्धान्त सही नहीं है। स्पष्टतः यह अर्थ-बोध का सार्वभौम सिद्धान्त नहीं। पाणिनि ने लिंग-बोध को शब्दार्थ-बोध का आवश्यक अंग नहीं माना है। वस्तुतः लिंग शब्द का होता है, शब्द से बोध्य अर्थ का नहीं। पत्नी अर्थ के वाचक भार्या, दारा और कलत्र शब्दों का क्रमशः स्त्रीलिंग, पुंलिंग और नपुंसक लिंग में प्रयोग इसका प्रमाण है। संस्कृत भाषा में भी सभी पदों के अर्थ-बोध में लिंग बोध का अन्तर्भाव मानने में कुछ दूरारूढ कल्पना ही करनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ, अहम्, त्वम् जैसे सर्वनाम पदों का प्रयोग स्त्रीलिंग तथा पुंलिंग में समान रूप से होता है। अस्ति, नास्ति जैसे क्रिया पदों के अर्थ में लिंग-बोध अनिवार्यतः मिश्रित

नहीं रहता। संस्कृत में तो क्रियापद में लिंग-भेद होता ही नहीं। यदि वैयाकरण सर्वनाम तथा क्रियापदों के अर्थ-बोध में लिंग-बोध का मिश्रण सिद्ध करने के लिए यह युक्ति दें कि समग्र भाषिक प्रयोग के सन्दर्भ में जब किसी पद का प्रयोग वाक्य के अंग के रूप में होता है, तब सर्वनाम और क्रियापदों का भी लिंग बोध-गम्य हो जाता है, तो ऐसी युक्ति को पूर्वमान्यता को सिद्ध करने के लिए उनका आग्रहमात्र ही माना जायगा, क्योंकि वैयाकरण स्वयं प्रातिपदिक और धातु को अर्थवान् मानते हैं और वाक्य-सन्दर्भ से स्वतन्त्र रूप में भी उनका अर्थ-निर्धारण करते हैं। स्पष्ट है कि शब्द से स्वार्थ और द्रव्य, अर्थात् जाति और व्यक्ति के बोध की तरह लिंग, वचन और कारक का बोध भाषा का सार्वत्रिक नियम नहीं।

कौण्ड भट्ट ने शब्द के अर्थ के उक्त पाँच घटकों के अतिरिक्त स्वयं शब्द को भी अर्थ का एक घटक माना है। इस तरह अर्थ के छह अवयव मान लिये गये हैं।[1] अर्थ-बोध में उसके वाचक शब्द का बोध भी अनिवार्यतः सम्मिलित रहता है। कहीं-कहीं तो शब्द ही शब्द का वाच्यार्थ होता है। 'अग्नेर्ढक्' जैसे प्रयोग में अग्नि का अर्थ अग्नि शब्द ही है जिसके साथ 'ढक्' प्रत्यय का विधान किया गया है।

स्वार्थ, द्रव्य आदि पाँच तथा शब्द को भी मिलाकर स्वार्थादि छह तत्त्वों को शब्दार्थ का स्वरूप मानने वाला यह व्याकरण-सिद्धान्त उतना लोकप्रिय नहीं हो सका, जितना जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य ; इन चार को पदार्थ मानने वाला मत हुआ है। अतः व्याकरण के अर्थ-दर्शन में जात्यादि चतुष्टय सिद्धान्त ही हमारा मुख्य विवेच्य होगा।

व्याकरण का अर्थ-दर्शन—अर्थविषयक व्याकरण-सिद्धान्त की चर्चा के क्रम में हमने देखा है कि शब्द का संकेत व्यक्ति में नहीं मान कर उसकी उपाधियों में माना गया है। व्यक्ति को शब्द का संकेतित अर्थ मानने में आनन्त्य तथा व्यभिचार ; ये दो दोष दिखाये गये हैं। अतीत, वर्तमान और अनागत—सभी व्यक्तियों का किसी शब्द से बोध सम्भव नहीं। व्यक्तियों की अनन्ता के कारण समग्र व्यक्तियों को शब्द का संकेतित अर्थ या प्रवृति-निवृत्ति-निमित्त मानने में आनन्त्य दोष होता है और किसी एक व्यक्ति को उस शब्द का संकेतित अर्थ मानने में उसी शब्द से अन्य व्यक्तियों का बोध होने के कारण व्यभिचार दोष होता है। अतः पतञ्जलि आदि वैयाकरणों ने व्यक्ति की उपाधियों में—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा या द्रव्य में—शब्द का संकेत स्वीकार किया है।

---

१. कौण्ड भट्ट, वैयाकरण भूषण सार, पृ. ३२७-२८

वैयाकरणों के मतानुसार पद से बोध्य अर्थ या प्रमेय के चार भेद हैं—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। द्रव्य को यदृच्छा अर्थात् वक्ता की इच्छा से आरोपित नाम या संज्ञा भी कहा जाता है। शब्द से बोधगत होनेवाले अर्थ के उक्त चार प्रकार मानने के कारण वैयाकरणों ने उन विभिन्न प्रकार के अर्थों के वाचक शब्द के भी चार वर्ग स्वीकार किये हैं। कुछ शब्द जातिवाचक, कुछ गुणवाचक, कुछ क्रियावाचक तथा कुछ द्रव्यवाचक या संज्ञा-शब्द होते हैं। अर्थ-विश्लेषण की दृष्टि से ये शब्द एक-दूसरे से भिन्न माने गये हैं। किसी भी भाषिक व्यवहार के स्वरूप पर विचार करने से विभिन्न वर्गों के शब्दों का पारस्परिक पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भाषिक व्यवहार वाक्य-रूप में ही सम्भव होता है, जिसमें अनेक शब्द प्रयुक्त होकर जाति, गुण, क्रिया आदि की समग्रता से एक पूर्ण अर्थ का बोध कराते हैं। वाक्य में प्रयुक्त उन शब्दों के अर्थमूलक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शब्द अलग-अलग जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा का अर्थ-बोध कराते हैं। उदाहरणार्थ, 'उजली गाय जा रही है', इस वाक्य में सभी शब्द यद्यपि कुछ विशिष्टताओं से युक्त गाय का ही निर्देश करते हैं, फिर भी वे शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची नहीं, परस्पर भिन्न हैं। सब के अर्थ-बोध का क्षेत्र अलग-अलग है। 'उजली' गुणवाचक शब्द है, जिससे गाय के रंग का बोध होता है। 'गाय' जातिबोधक शब्द है जिससे एक विशिष्ट जाति के प्राणी का बोध होता है। उसकी जाति के बोध से ही घोड़ा, हाथी आदि अन्य जातियों से भिन्न एक खास गो-जाति के प्राणी का बोध होता है। ध्यातव्य है कि जाति के बोध में उस जाति के किसी व्यक्ति का बोध भी अनिवार्यतः मिला रहता है, पर शब्द से मुख्यतः जाति का ही बोध होता है और तब उस जाति के साथ अविनाभाव-रूप से रहने वाले व्यक्ति का भी बोध होता है। अतः जाति को ही शब्द का मुख्य अर्थ माना गया है, व्यक्ति को नहीं। कहीं-कहीं शब्द से विशिष्ट व्यक्ति के बोध की भ्रान्ति इसलिए हो जाती है कि लोग शाब्दबोध और ऐन्द्रिय बोध का अन्तर ध्यान में नहीं रखते। यदि आँखों के सामने जाती हुई उजली गाय को देख कर उक्त वाक्य का प्रयोग किया जाय, तो वहाँ गाय शब्द एक विशिष्ट व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त माना जा सकता है, पर गाय शब्द का प्रयोग सदा प्रत्यक्ष प्राणी-विशेष के लिए ही नहीं होता। उस शब्द से सामान्यतः जाति ही बोध का विषय बनती है। अतः शाब्द-बोध और ऐन्द्रिय बोध के भेद को दृष्टि में रख कर ही शब्दार्थ के स्वरूप पर विचार किया जाना चाहिए। भर्तृहरि ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि आग को छूने से जो इन्द्रिय से दाह का बोध होता है उससे दाह शब्द को सुन कर होने

वाला बोध अभिन्न नहीं।[1] उँगली में दाह का बोध विशिष्ट प्रकार का हो सकता है, किन्तु दाह शब्द से जो बोध होता है, वह दाह-सामान्य का ही बोध हो सकता है। निष्कर्ष यह कि गुण, क्रिया तथा संज्ञा के बोधक शब्दों से भिन्न शब्द जाति या सामान्य का ही बोध कराते हैं, व्यक्ति का नहीं। इस प्रकार उक्त वाक्य में 'उजली' शब्द से गाय के गुण का, 'गाय' शब्द से गो-जाति का तथा 'जा रही है' शब्द से विशेष काल में गाय की चलन-क्रिया का बोध होता है। एक ही प्राणी की विभिन्न अवस्थाओं का बोधक होने पर भी अर्थ-बोध की दृष्टि से उस वाक्य के विभिन्न शब्दों का क्षेत्र अलग-अलग है। व्यक्ति को शब्द का संकेतित अर्थ मानने में एक आपत्ति यह भी है कि तब उक्त वाक्य के सभी शब्दों को, एक ही व्यक्ति का—उसकी विभिन्न अवस्थाओं का—बोधक होने के कारण, परस्पर पर्यायवाची मानना पड़ेगा।[2] उदाहरणार्थ, 'उजली' शब्द से एक विशिष्ट प्राणी का बोध माना जायगा, 'गाय' शब्द से भी उसी विशिष्ट व्यक्ति का बोध स्वीकार किया जायगा और इसी तरह 'जा रही है' शब्द से भी उसी व्यक्ति का अर्थ-ग्रहण माना जायगा। फलतः सभी शब्द एक ही अर्थ के वाचक होने के कारण एक-दूसरे के पर्यायवाची होंगे, और अनेक पर्यायवाची शब्दों का एकत्र प्रयोग भाषिक संरचना की दृष्टि से असंगत हो जायगा। इस प्रकार व्यक्ति में शब्द का संकेत मानने से भाषा के किसी भी वाक्य में संरचना का औचित्य नहीं रह जायगा और समग्र भाषिक प्रयोग ही असंगत हो जायगा। अतः वैयाकरणों ने भाषिक व्यवहार में शब्दों के विषय-विभाग को स्पष्ट करने के लिए शब्दों को जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा के बोधक मान कर अलग-अलग वर्गों में विभाजित किया है।

व्याकरण-दर्शन के अनुसार शब्द की चार प्रवृत्तियों को स्पष्ट रूप से समझने के लिए विभिन्न शब्दों से संकेतित जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक भेद का स्पष्टीकरण आवश्यक है। जाति के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के क्रम में उसकी निम्नलिखित विशेषताओं का निर्देश किया गया है—

(क) जाति वस्तु का प्राणप्रद धर्म हैं। उसी से व्यक्ति का बोध होता है।[3]

---

१. अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥—वाक्यपदीय २, ४१९

२. व्यक्तिः शब्दार्थ इति मते गौः शुक्लश्चलोडित्थः इत्यादीनां सर्वेषां विषय-स्वरूपमात्रपरत्वेन एकार्थापत्तिः।—विद्याधर, एकावली।

३. उक्तं हि वाक्यपदीये नहि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः। गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति।—मम्मट के द्वारा काव्यप्रकाश में वाक्यपदीय का सिद्धान्त उद्धृत।

(ख) वह वस्तु का सहजात धर्म है।

(ग) वह वस्तु का सिद्ध धर्म हैं।

(घ) वह वस्तु या द्रव्य से अनिवार्यतः सम्बद्ध रहती है।

(ङ) वस्तु के साथ उसकी अविभाज्य स्थिति रहती हैं।

(च) जाति नित्य और अपरिवर्तनीय होती है।

(छ) जाति और सामान्य में सभी दृष्टियों से समता होने पर भी दोनों में एकमात्र भेद यह है कि जाति वस्तु का सहजात धर्म है, पर सामान्य का सहजात होना आवश्यक नहीं।

मनुष्य, गाय, घड़ा, कमल आदि शब्दों से जाति या सामान्य का बोध होता है, किसी विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति का नहीं। सभी व्यक्तियों के बीच समान रूप में रहने वाली जाति या सामान्य को ही मनुष्य का मन उनके वाचक शब्दों से ग्रहण किया करता है। उसी में शब्द का संकेत रहता है। गाय आदि शब्द से किसी विशेष गाय के बोध का कारण यह है कि व्यक्ति जाति से अविनाभाव रूप में सम्बद्ध रहने के कारण जाति के साथ ही बोध का विषय बन जाता है; पर शब्द का साक्षात् सम्बन्ध व्यक्ति से नहीं, जाति से ही होता हैं। अर्थ-बोध की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गाय आदि शब्द को सुनने से जो मानस बोध उत्पन्न होता है, वह किसी विशिष्ट रूप-रंग से युक्त एक गाय व्यक्ति का या विशिष्ट रूप वाले अनेक गाय व्यक्तियों का बोध नहीं होता, एक गाय-सामान्य का ही बोध होता है। लोक-सिद्ध गाय जाति के जितने व्यक्ति हैं, सभी एक दूसरे से कुछ भिन्नता या विशिष्टता रखते हैं। एक गाय शब्द से व्यक्ति की उन समग्र विशिष्टताओं का बोध नहीं हो पाता। वह शब्द गाय-सामान्य का बोध कराता है, जो उजले, काले आदि किसी विशेष रंग से या किसी मोटी-दुबली आदि आकृति से विशिष्ट नहीं होता।[1] अतः, वैयाकरणों की मान्यता है कि जातिवाचक गाय, मनुष्य आदि शब्द का संकेत जाति या सामान्य में रहता है। यही शाब्दबोध और ऐन्द्रिय बोध का अन्तर है। ऐन्द्रिय बोध विभिन्न विशेषताओं से युक्त व्यक्ति का बोध होता है, जबकि शाब्द बोध निर्विशिष्ट जाति या सामान्य का बोध होता है।

गुणवाचक शब्दों की अर्थ-बोध-प्रक्रिया जातिवाचक शब्दों की बोध-प्रक्रिया से किञ्चित् भिन्न मानी गयी है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए गुण के स्वरूप पर

---

१. न हि गौरित्युक्ते विशेषः प्रख्यायते—शुक्ला नीला कपिला कपोतिकेति।—
पतञ्जलि, महाभाष्य, १, २, ६४

विचार करना अपेक्षित है। गुण की निम्नलिखित विशेषताएँ मानी गयी हैं—

(क) गुण वस्तु का सिद्ध धर्म है।

(ख) वह द्रव्य से अनिवार्यतः सम्बद्ध रहता है।

(ग) वह वस्तु का विशेषाधायक धर्म है, जो एक ही जाति के व्यक्तियों में परस्पर भेद करता है और दूसरी जाति के व्यक्तियों से भी उसका भेद करता है।

(घ) गुण द्रव्य का आगमापायी और परिवर्तनीय धर्म है।

जाति तथा गुण की उक्त विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए दोनों का पारस्परिक भेद समझा जा सकता है। जाति और गुण; दोनों द्रव्य से अनिवार्यतः सम्बद्ध रहते हैं, पर जहाँ जाति द्रव्य का सहजात, नित्य और अपरिवर्तनीय धर्म है वहाँ गुण आगमापायी और परिवर्तनीय धर्म है। वस्तु के उत्पन्न होने के साथ ही साथ उसकी जाति भी उत्पन्न होकर उसमें अन्तर्निष्ठ हो जाती है। इस प्रकार काल की दृष्टि से जाति और उसके आधारभूत द्रव्य में कोई पौर्वापर्य क्रम नहीं दिखाया जा सकता, पर गुण वस्तु का सहजात और अपरिवर्तनीय धर्म नहीं। वह द्रव्य में कालक्रम से आ-जा सकता है। एक फूल अपने विकास के साथ अनेक रंग ग्रहण करता है। एक गुण छूटता है और दूसरा आ जाता है। गिरगिट का रंग बदलना प्रसिद्ध ही है। मनुष्य में शूरता, विद्वत्ता आदि गुण आगमापायी होते हैं, जाति की तरह सहजात और नित्य नहीं।

गुण और जाति में दूसरा भेद यह है कि गुण एक व्यक्ति का दूसरे से वैशिष्ट्य बताने वाला धर्म है, जबकि जाति वस्तु का प्राणप्रद धर्म है। अतः जाति के बिना व्यक्ति का बोध सम्भव नहीं।

गुण के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदाय के विचारकों में मतभेद है। हम यथास्थान उन मतों का मूल्यांकन करेंगे। यहाँ गुण के सम्बन्ध में वैयाकरणों की मान्यता का स्पष्टीकरण ही अभिप्रेत है, जिसके आधार पर गुणवाचक स्वतन्त्र शब्द-वर्ग की कल्पना की गयी है। पतञ्जलि की मान्यता है कि गुण एक और अपरिवर्तनीय होता है। उदाहरणार्थ, उजलापन का गुण एक विशिष्ट व्यष्टि (individual) है। यद्यपि दूध, बर्फ, कपड़ा आदि वस्तुओं के उजलेपन में भेद का बोध होता है, पर वस्तुतः वह भेद आश्रयगत है। उजलापन के विभिन्न आश्रयों का भेद उस वर्ण पर आरोपित हो जाता है। वस्तुतः उस वर्ण में कोई भेद नहीं। किसी वर्ण में भेद का दूसरा कारण यह है कि उस वर्ण में अन्य वर्णों का

मिश्रण हो जाता है।[1] अन्यथा, वह वर्ण एक और अपरिवर्तनीय ही है। निष्कर्ष यह कि गुण के मूलतः एक होने पर भी आश्रय-भेद से तथा अन्य गुणों के मिश्रण से उसमें भेद-बोध तथा तारतम्य आ जाता है। 'यह कपड़ा उस कपड़े से अधिक सफेद है' ऐसे कथन में एक ही सफेदी के गुण में जो तुलनात्मक दृष्टि से एक की अपेक्षा दूसरे को अधिक सफेद कहा जाता है, उसका औचित्य आश्रयगत भेद की दृष्टि से ही है।[2] अन्यथा उजलापन आदि गुण के एक होने के कारण उस में तारतम्य दिखाना 'मैं अपने से अधिक बलवान हूँ' जैसे कथन की तरह असङ्गत होता।

पतञ्जलि ने गुण को विशिष्ट मान कर जाति से उसका भेद किया है। उदयन ने पतञ्जलि की इस मान्यता का खण्डन करते हुए यह युक्ति दी है कि गुण-विशेष को एक और अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि गुण का परिवर्तन प्रत्यक्ष-सिद्ध है। घड़ा जब बनता है, तब उसका रंग मटमैला या काला रहता है। आग में पकने पर घड़े का रंग लाल हो जाता है। इस प्रकार काले वर्ण का लाल वर्ण में परिवर्तन प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इस परिवर्तन को अन्य वर्णों के मिश्रण का परिणाम नहीं माना जा सकता। अतः गुण को अनित्य और परिवर्तनशील माना जाना चाहिए।[3]

शालिकण्ठ ने प्रभाकरकृत बृहती की ऋजुविमला नामक टीका में पतञ्जलि की मान्यता का समर्थन किया है और उस मत पर उदयन के उक्त आक्षेप का खण्डन किया है। शालिकण्ठ का तर्क है कि तत्त्वतः गुणविशेष एक और अपरिवर्तनीय होता है। गुण में परिवर्तन का बोध बाह्य तत्त्वों के कारण होता है। द्रव्य और गुण में समवाय सम्बन्ध रहता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि द्रव्य और किसी विशेष गुण के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला समवाय नष्ट हो जाता है और अन्य गुण का उस वस्तु के साथ समवाय उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार समवाय की उत्पत्ति और उसका विनाश भ्रमवश गुण के परिवर्तन के रूप में प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः गुण नित्य है और द्रव्य के साथ उसका सम्बन्ध अनित्य। परिवर्तन गुण

---

१. किं पुनरेकं शौक्ल्यं आहोस्वित् नाना ? किं चातः ? यद्येकं प्रकर्षो नोपपद्यते, नहि तेनैव तस्यप्रकर्षो भवति। —पतञ्जलि, महाभाष्य, ३, ५५

२. अस्तु एकं शौक्ल्यं। × × × ननु चोक्तं 'प्रकर्षो नोपपद्यते, नहि तेनैव तस्य प्रकर्षो भवतीति'। गुणान्तरेण प्रच्छादनात् प्रकर्षो भविष्यति।—वही

३. .... यथा यथा हि धवले कृष्णद्रव्यानुप्रवेशस्तथा तथा तारतम्याभास इति तदयुक्तम्। तेषामाश्रयस्थितौ अपि पावकसंयोगात् पूर्वरूपनिवृत्तिरुत्तर-रूपोत्पादश्च न स्यात्।—प्रशस्तपाद-भाष्य पर उदयन-कृत किरणावली, पृ० ४७-४८.

में नहीं होता, गुण और द्रव्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले समवाय में होता है। घड़े के वर्ण-परिवर्तन के उदाहरण पर ही विचार करें; कच्चे घड़े का जो वर्ण होता है, वह आग में पकने पर बदल जाता है। इसका कारण यह है कि कच्चे घड़े के साथ वर्ण-विशेष का सम्बन्ध स्थापित करने वाला समवाय लुप्त हो जाता है और लाल वर्ण का घड़े के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला समवाय उत्पन्न हो जाता है। उत्पत्ति और विनाश समवाय का होता है, जिससे वर्ण के परिवर्तन की भ्रमात्मक प्रतीति हो जाती है। कालापन, उजलापन आदि गुण द्रव्य-निरपेक्ष-रूप में अपनी नित्य सत्ता रखते हैं। द्रव्य में उनकी अभिव्यक्ति होती है, अतः द्रव्य-सापेक्ष बोध होने के कारण विभिन्न द्रव्यों में गुण की भिन्नता की प्रतीति होने लगती है। जिस प्रकार ज्ञान की अखण्ड और नित्य सत्ता होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति के आश्रय-भेद के कारण उसमें तारतम्य की प्रतीति होती है, उसी प्रकार अखण्ड और नित्य उजलापन आदि में भी तारतम्य और परिवर्तन की प्रतीति होती है। गुण शाश्वत रूप में सर्वत्र वर्तमान रहते हैं, पर समवाय के उत्पन्न होने पर ही द्रव्य में अभिव्यक्त होते हैं।[1]

शाब्दबोध की प्रक्रिया को दृष्टि में रखते हुए यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब गोत्व आदि जाति की तरह ही कृष्णत्व, शुक्लत्व आदि गुण को भी एक, सर्व-व्यापी तथा समवाय सम्बन्ध से अनेक वस्तुनिष्ठ माना जाय तो उसमें जाति के सभी लक्षण होने के कारण उसे जाति ही क्यों न मान लिया जाय? वैयाकरणों ने इस प्रश्न के उत्तर में यह युक्ति दी है कि शुक्लत्व आदि गुण भी यद्यपि गोत्व आदि जाति की तरह ही एक संश्लेषणात्मक तत्त्व है, फिर भी दोनों अभिन्न नहीं। गोत्व आदि जाति है और शुक्लत्व आदि सामान्य। शाब्दबोध की दृष्टि से दोनों में बहुत-कुछ साम्य होने पर भी एक भेद यह है कि जहाँ जाति सहजात होती है वहाँ सामान्य का सहजात होना आवश्यक नहीं। इस प्रकार वैयाकरणों की मान्यता है कि जाति

---

१. ननु प्रतिगुण्यरुणादीनां भेदात् एकं सामान्यमङ्गीकर्तुं युक्तम् अन्यथा शब्दादीनां प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। अत्राभिधीयते—भिन्नत्वमभिन्नत्वं वा वस्तुनो भिन्नाभिन्नावभासिबुद्धिनिबन्धनम्। अत्र तावदरुणिमादिषु न भेद-बुद्धिरस्ति। यापि च पटुमन्दताभिर्विशेषैर्विशेषबुद्धिः, सापि न स्वरूप-भेदमावहति—विशेषमात्रत्वात्। ननु अरुणिमादयः परमाणुषु पार्थिवेषु पाकजः सर्वकार्यद्रव्येषु न कारणगुणपूर्वा—इत्युत्पत्तिमत्वात् अपरापरतैव अवसीयते। मैवम्—कस्यायमभ्युपगमः? आकृतिवद द्रव्येषु गुणः समवैतीति वयं प्रतिपद्यामहे। स गुणसमवायः कस्यचित् कथंचित् उदेति अपैति च। न च समवायमपि नित्यमेकमभ्युपगच्छामः। तेन सकलद्रव्येषु एकोऽरुणिमा अरुणपदाभिधानीय-इति। —बृहती, ऋजु विमला, पृ. १६४

और गुण की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता है। इसीलिए उन्होंने जातिवाचक तथा गुणवाचक शब्दों के अलग-अलग वर्ग स्वीकार किये हैं।

क्रियावाचक शब्दों की जातिवाचक तथा गुणवाचक शब्दों से स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए क्रिया की निम्नलिखित विशेषताएँ स्वीकार की गयी हैं—

(क) क्रिया-सातत्य काल-सापेक्ष होता है।
(ख) उसमें पौर्वापर्यक्रम का बोध निहित रहता है।
(ग) वह वस्तु का साध्य धर्म है।

क्रिया का बोध साध्य धर्म के रूप में ही होता है। शब्दरत्न में साध्य का अर्थ माना गया है, उत्पाद्यमान। क्रिया वस्तु में पूर्वसिद्ध नहीं होती, वह उत्पाद्यमान होती है। उसमें पूर्वापर क्रम रहता है। क्रिया के आरम्भ से लेकर उसकी समाप्ति पर्यन्त एक निश्चित क्रम रहा करता है। क्रियापद से आद्यन्त क्रम के साथ समग्र क्रिया का एक अर्थ के रूप में बोध होता है। क्रिया-क्रम के अलग-अलग अवयव का अलग-अलग अर्थ के रूप में बोध नहीं होता। अतः क्रियापद को नानार्थक नहीं मान कर एक क्रियापद का एक ही अर्थ माना गया है।

उत्पाद्यमान या साध्य धर्म क्रिया के काल-सापेक्ष होने के कारण ही उसे काल के आधार पर प्रमुख तीन वर्गों में—भूत, भविष्यत, तथा वर्तमान कालीन क्रिया-वर्गों में—विभाजित किया जाता है। क्रिया के सभी अवयवों की समाप्ति हो जाने पर उससे भूत, उसका प्रागभाव रहने पर भविष्यत तथा किसी अंग के वर्तमान रहने पर वर्तमान क्रिया का बोध होता है। इस प्रकार क्रिया के साध्य धर्म होने का तात्पर्य यह है कि वह ऐसा धर्म है जिसमें अवयवों के पूर्वापर क्रम का बोध निहित रहता है। भूतकालिक क्रिया, पूर्ण हो जाने के कारण, सिद्ध भी कही जा सकती है। भावी तथा वर्तमान क्रिया असिद्ध होती है पर सभी क्रियाओं में काल का क्रम होने से सबको साध्य कहा जाता है। भर्तृहरि ने, क्रम के आश्रित होने के आधार पर ही, क्रिया को साध्य माना है।[1] कुछ विचारकों की मान्यता है कि क्रिया को साध्य कहने में साध्य शब्द का प्रयोग उपलक्षण के रूप में किया गया है। अतः उससे सिद्ध क्रिया का भी बोध होता है। 'वैयाकरण भूषण' में क्रिया के दो प्रकार माने गये हैं—साध्य और सिद्ध। धातु-रूप से कथित क्रिया साध्य-रूप में होती है। उसमें अन्य क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती, केवल कारक के साथ उसका सम्बन्ध

---

1. यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते॥—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, ३, ८, १

अपेक्षित होता है। उदाहरणार्थ, 'पकाता' है, पकाया या पकायेगा आदि प्रयोग में क्रिया साध्य रूप में कथित है। ऐसे पदों में सत्त्व का अभाव रहता है। अतः उन्हें साध्य कहा जाता है। जब कृत् प्रत्यय लगाकर धातु से सत्त्व बोधक पद बनाये जाते हैं और उनके प्रयोग के लिए अन्य क्रिया की अपेक्षा हो जाती है तथा कारक से उनका सम्बन्ध नहीं रह जाता, तब वैसे सत्त्वभूत पदों को सिद्ध क्रियारूप माना जाता है। निष्कर्षतः क्रिया-सातत्य काल-सापेक्ष होने के कारण जाति तथा गुण से स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। जाति तथा गुण से उसका यह भी भेद है कि जहाँ जाति और गुण सिद्ध वस्तु-धर्म हैं, वहाँ क्रिया मुख्यतः साध्य वस्तु-धर्म है, स्थिति-विशेष में क्रिया भले ही सत्त्वभूत होकर सिद्ध रूप भी ग्रहण कर ले। क्रियापद के अर्थ-बोध की प्रक्रिया यह है कि उसके अवयवों का क्रम आद्यन्त की समग्रता में पद के एक, पूर्ण अर्थ के रूप में गृहीत होता है। क्रिया अनिवार्यत साधन-सापेक्ष होती है, पर क्रियापद का संकेत उन साधनों में नहीं होता, केवल क्रिया में ही क्रियापदों का संकेत रहता है। क्रिया-सातत्य काल-सापेक्ष रहता है, पर गुणबोधक शब्द से कालबोध आवश्यक नहीं। कुछ गुण भले ही कालबोध भी कराते हों, जैसे चेहरे की झुर्री वार्धक्य का काल-सापेक्ष बोध कराती है, कुछ फूल का समय के साथ बदलता हुआ रंग भी कालबोधक हो सकता है, पर गुण की काल-सापेक्षता सार्वत्रिक नहीं।

संज्ञा वक्ता की इच्छा से वस्तु पर आरोपित उपाधि है। उसका वस्तु के गुण आदि से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः संज्ञापद से वस्तु के वैशिष्ट्य या प्रवृत्तिनिमित्त पर प्रकाश नहीं पड़ता, उसमें वक्ता के अभिप्राय की ही प्रधानता रहती है। वक्ता व्यक्तिविशेष का बोध कराने के लिए किसी नाम का प्रयोग करता है। उस नामपद में, निर्दिष्ट व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य प्रवृत्ति-निमित्त नहीं होता। इसलिए संज्ञा-पद का व्यक्ति में संकेत होने पर भी आनन्त्य और व्यभिचार-दोष नहीं आता।

संज्ञा या नामपद को यदृच्छा या द्रव्यवाचक शब्द भी कहा जाता है। उससे किसी वस्तुनिष्ठ धर्म का बोध नहीं होता। संज्ञापद वस्तुतः अपने ध्वनि-समूह को ही समग्रतः बोध का विषय बनाते हैं। उस बोध में ध्वनियों का नियत क्रम अन्तिम वर्ण के साथ मिलकर एक अखण्ड शब्दस्फोट के रूप में व्यक्त होता है। जैसे तन्तुओं से बने वस्त्र के ज्ञान में अलग-अलग तन्तु का ज्ञान तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार शब्द के स्वरूप-बोध में उसके विधायक वर्णों के क्रम का बोध

तिरोहित हो जाता है।[1] संज्ञापद से वस्तुनिष्ठ धर्म का बोध न होकर शब्द के स्वरूप का ही बोध होने के कारण उसे द्रव्यवाचक शब्द भी कहा जाता है।[2] इस प्रकार शब्दबोध की दृष्टि से अन्य पदों से संज्ञापद का भेद यह है कि जहाँ अन्य पद वस्तुनिष्ठ जाति, गुण या क्रिया का बोध कराते हुए अपने से पृथक् वस्तु की सत्ता का बोध कराते हैं, वहाँ संज्ञापद जाति, गुण तथा क्रिया-रहित एक द्रव्य का बोध कराता है, जो कुछ ध्वनियों का समूह मात्र होता है। वह ध्वनि-समूह ही संज्ञापद या द्रव्यवाचक शब्द का अर्थ होता है। ऐसे शब्दों से जाति, गुण आदि का बोध नहीं होता, वरन् उस द्रव्य का बोध होता है, जो सभी उपाधियों का आधार होता है।[3]

द्रव्यवाची शब्दों के अर्थबोध के सम्बन्ध में आचार्यों के द्वारा व्यक्त उक्त मान्यता में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या नाम से केवल शब्द का बोध होता है, किसी वस्तु का नहीं? यह अनुभव-सिद्ध है कि हम नाम का प्रयोग किसी वस्तु के लिए ही करते हैं, किसी ध्वनि-समूह मात्र के बोध के लिए नहीं। यह ठीक है कि एक ही नाम के अनेक व्यक्तियों में एक-से जाति, गुण आदि नहीं पाये जाते। अतः नाम को वस्तुनिष्ठ धर्म नहीं माना जा सकता, उसे केवल वक्ता के द्वारा आरोपित उपाधि माना जा सकता है, फिर भी वे शब्द वस्तु का निर्देश अवश्य करते हैं। संज्ञापद के बोध की प्रक्रिया से सम्बद्ध एक समस्या यह भी है कि उससे जाति, गुण तथा क्रिया से भिन्न किन्तु उन सबके आधारभूत जिस द्रव्य का बोध माना जाता है उसका स्वरूप क्या माना जाय?

संज्ञावाचक पद को द्रव्यबोधक मानने में इस बात की स्वीकृति है कि वे पद द्रव्य का बोध कराते हैं। कुछ विचारकों ने द्रव्य-बोध से तात्पर्य ध्वनि-समूह रूप शब्द मात्र के बोध का माना है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उन पदों का प्रयोग उनके विधायक ध्वनि समूह से भिन्न पदार्थ के बोध के लिए किया जाता है। उन पदों से निर्दिष्ट द्रव्य के बोध का स्वरूप विचारणीय है। द्रव्य वह आधारभूत तत्त्व है

---

१. डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिषु अर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। —मम्मट, काव्यप्रकाश, २, पृ० ३५

२. डित्थादिशब्दानां स्वरूपं डित्थादि शब्दा एव।—वहीं, चण्डीदास की टीका

३. एवं डित्थादिशब्दानां संज्ञात्वविदितात्मनाम्।
अभिधेयस्य सामान्यशून्यत्वाद् व्यक्तिवाचिता॥—अतएव हि द्रव्यशब्दा इत्युच्यन्ते। —न्यायमं० १ पृ० २९८

जिसमें गुण, क्रिया तथा जाति अभिव्यक्ति पाते हैं। गुण तथा क्रिया का ऐन्द्रिय बोध सम्भव है, पर जाति तथा द्रव्य सूक्ष्म होने से अनुभव-मात्र-वेद्य हैं। द्रव्य के स्वरूप को कुछ दार्शनिकों ने अनिर्वचनीय तथा दुर्ज्ञेय माना है। गुण तथा क्रिया को देखकर उनके आधारभूत द्रव्य की सत्ता की अनुभूति तो होती है, पर उसके स्वरूप का निर्धारण सम्भव नहीं। गुण और क्रिया से पृथक् इन्द्रिय-वेद्य कोई तत्त्व नहीं बच जाता, जिसे द्रव्य-रूप में अलग से समझा जा सके। शाब्दबोध में भी द्रव्यवाचक पद से संकेतित द्रव्य-रूप अर्थ के बोध की ऐसी ही समस्या है। उन पदों के अर्थ के स्वरूप को निर्धारित करना सम्भव नहीं।

द्रव्य की अनिर्वचनीयता को दृष्टि में रखते हुए कुछ वैयाकरणों ने तात्त्विक दृष्टि से द्रव्यवाचक शब्द या संज्ञापद के स्वतन्त्र अस्तित्व को अस्वीकार कर शब्द की तीन ही प्रवृत्तियाँ मानी हैं—जातिशब्द, गुणशब्द तथा क्रियाशब्द। इनसे स्वतन्त्र यदृच्छाशब्द अर्थात् द्रव्यवाचक या संज्ञापद का अस्तित्व नहीं।

महाभाष्य के टीकाकार कैयट ने इस तथ्य के स्पष्टीकरण में कहा है कि वस्तु के नामकरण में प्रशस्त गुण या क्रिया का उसपर आरोप किया जाता है। अतः सभी शब्द यौगिक ही होते हैं। शब्द से या तो गुण का बोध होता है या क्रिया का। गुण तथा क्रिया से रहित द्रव्य का बोध सम्भव नहीं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं। वस्तु के बोध में या तो इन गुणों का बोध होता है या व्यक्ति की किसी क्रिया का। इनके आश्रयभूत द्रव्य का इनसे पृथक् बोध नहीं होता। उदाहरण के लिए, दूध शब्द से संकेतित पदार्थ का बोध किस रूप में होता है? हम जब उसे देखते है, तब उसका उजला रूप बोध का विषय बनता है। छूने से उसकी तरलता का, पीने से उसके स्वाद का तथा सूँघने से उसकी गन्ध का बोध होता है। उसका रूप-रंग, तरलता, स्वाद तथा गन्ध; ये सब उसके गुण हैं, जो बोध का विषय बनते हैं। इन गुणों के आधारभूत द्रव्य की सत्ता का बोध केवल अनुभूतिगत होता है। स्थूल दृश्य जगत को द्रव्य कहा जाता है, पर लोकसिद्ध पदार्थों की बोध-प्रक्रिया में द्रव्य के गुण और उसकी क्रिया के बोध के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो पाता। इसीलिए जैन दार्शनिक सूक्ष्म-नित्य द्रव्य का चेतना-मात्र से ग्रहण मानते हैं, जो स्वयं भी सूक्ष्म और नित्य होती है।

पतञ्जलि की मान्यता है कि नामकरण गुण और क्रिया का ही किया जाता है। गुण और क्रिया तत्त्वतः अमूर्त और नित्य हैं। द्रव्य में उनकी अभिव्यक्ति होती है। व्यक्ति से अलग हम न तो गुण को देख सकते हैं, न क्रिया को। वस्तुतः गुण या क्रिया के स्वरूप को किसी शब्द से विशिष्ट रूप में अभिहित नहीं किया जा सकता। गुड़ के मीठापन को, शिशु के सौन्दर्य को, हृदय के अनुराग को, किसी

फूल की सुरभि को, कोयल के कण्ठ-स्वर को तथा प्रिया के मादक स्पर्श को क्या कोई शब्द विशिष्ट रूप में अभिहित कर सकता है ? शब्द उन्हें केवल नाम दे सकते हैं, उनके स्वरूप को ठीक-ठीक बता नहीं सकते। द्रव्य में अभिव्यक्त गुण-क्रिया अनित्य हैं, पर तत्त्व-रूप में उनकी नित्य सत्ता है। उनका द्रव्य में व्यक्त रूप ही ऐन्द्रिय बोध का विषय बनता है। गुण तथा क्रिया के बोध के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वे सभी उन पर वक्ता की यदृच्छा से आरोपित नाम ही हैं। विभिन्न भाषाओं में एक ही अर्थ के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग भी यही सिद्ध करता है कि वे शब्द उस अर्थ के यादृच्छिक नाम हैं। यदि किसी गुण या क्रिया का किसी एक शब्द से ही सम्बन्ध होता, तो संसार में भाषा का भेद ही नहीं होता। इसीलिए भर्तृहरि ने तत्त्व-रूप में शब्दब्रह्म को स्फोट रूप मानकर (वाच्य और वाचक या शब्द और अर्थ-रूप मानकर) लौकिक भाषा को अनित्य, विकारी तथा अपूर्ण माना है। निष्कर्ष यह कि भाषा के समग्र शब्द, चाहे वे गुणवाचक हों या क्रियावाचक, यदृच्छा से अर्थ पर आरोपित नाम ही हैं। अतः जातिबोधक, गुणबोधक तथा क्रियाबोधक शब्द-वर्गों से भिन्न द्रव्यबोधक या यदृच्छात्मक नामबोधक शब्दवर्ग की कल्पना आवश्यक नहीं।

पतञ्जलि ने एक जगह शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति स्वीकार कर उनके चार वर्ग माने हैं। फिर यदृच्छा शब्दों के अलग वर्ग की कल्पना को अनावश्यक बताकर शब्दों की त्रयी प्रवृत्ति मानने वाले सिद्धान्त का उल्लेख किया है।[1]

पतञ्जलि के मत की व्याख्या में नागेश ने जो यह युक्ति दी है कि सभी शब्द यौगिक हैं और वे या तो गुण का बोध कराते हैं या क्रिया का—द्रव्य का नहीं और, इसलिए गुण आदि के वाचक शब्द भी यदृच्छात्मक नाम ही हैं, उसमें थोड़ा-सा परिष्कार अपेक्षित है। अर्थबोध की प्रक्रिया की दृष्टि से—अतात्त्विक या व्यावहारिक दृष्टि से ही सही—गुणवाचक तथा क्रियावाचक पदों की सार्थकता का निर्णय वस्तु के गुण या उसकी क्रिया से तुलना कर, किया जा सकता है, पर यदृच्छा या नाम-पद का वस्तु के गुण या क्रिया से सम्बन्ध नहीं होने के कारण, उसकी सार्थकता पर वस्तु के रूप-गुण आदि के आधार पर विचार नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, किसी लाल वस्तु को कोई काली कहे तो उस कथन को अयथार्थ मान लिया जाता है, पर किसी कुरूप व्यक्ति का नाम सुन्दर लाल हो तो उस नाम को असत्य नहीं माना जाता। अतः जाति, गुण तथा क्रिया के वाचक

---

१. त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः।—पतंजलि, १, १, २ पर महाभाष्य।

शब्दों से पृथक् द्रव्यवाचक या यदृच्छात्मक संज्ञापदों के अलग वर्ग की कल्पना भाषा के व्यावहारिक विश्लेषण की दृष्टि से अनुचित नहीं।

मीमांसा सिद्धान्त—प्रभाकर के मतानुयायी मीमांसकों ने शाब्दबोध-विषयक वैयाकरण मत को स्वीकार कर शब्द के जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के आधार पर चार वर्ग माने हैं, पर कुमारिल भट्ट के मतानुयायी केवल जाति में ही शब्द का संकेत मानते हैं। उनकी युक्ति है कि शाब्दबोध केवल जाति का होता है। अतः जातिवाचक शब्द से भिन्न गुणवाचक, क्रियावाचक तथा द्रव्यवाचक या संज्ञावाचक शब्द-वर्गों की कल्पना व्यर्थ है। जातिवाचक शब्दों का संकेत तो वैयाकरणों ने भी जाति में माना ही है। भाट्ट मीमांसकों की मान्यता है कि जिन शब्दों को वैयाकरणों और प्रभाकर-मतानुयायी मीमांसकों ने गुणबोधक, क्रियाबोधक तथा व्यक्ति या वस्तु के नामबोधक शब्द-वर्गों में विभाजित किया है, उनसे भी गुण, क्रिया आदि की जाति या सामान्य का ही बोध होता है। इस मान्यता के अनुरूप गुण, क्रिया तथा द्रव्य के वाचक शब्दों की अर्थबोध-प्रक्रिया पर अलग-अलग विचार करें:—

उजला, लाल आदि शब्द गुण के बोधक माने गये हैं। प्रश्न है कि उजला शब्द से रंग-विशेष का बोध किस रूप में होता है? दूध, वर्फ, शंख, कागज आदि का रंग उजला होता है, पर सबका उजलापन एक-सा नहीं होता। सबमें कुछ अपना वैशिष्ट्य होता है। फिर उजला में तुलनात्मक दृष्टि से एक की अपेक्षा दूसरे को अधिक या कम उजला भी कहा जाता है। इन बातों से उजला रंग की अनेकता तथा उनमें गुणात्मक तारतम्य सिद्ध है। फिर, गुण में परिवर्तन भी होता है। ऐसी स्थिति में, गुणबोधक उजला आदि शब्द से किसी एक विशिष्ट गुण का बोध कैसे माना जा सकता है? अतः भाट्टमतानुयायी मीमांसकों की मान्यता है कि किसी भी गुणवाचक शब्द से उस गुण के असंख्य रूपों में समान रूप से रहने वाली जाति का ही बोध होता है। दूध, वर्फ, शंख आदि का उजलापन एक नहीं, फिर भी उन अनेक में समान रूप से रहनेवाली उजलापन की जाति उजला शब्द से गृहीत होती है। इस प्रकार जिन शब्दों को गुणवाचक मान कर जातिवाचक शब्दों के वर्ग से पृथक् वर्ग में रखा गया है, वे भी वस्तुतः जाति का ही बोध कराते हैं। प्रत्येक गुण के स्वरूप में विविधता होने के कारण एक शब्द से उन विविध रूपों का बोध नहीं माना जा सकता, उन विविध रूपों में समान रूप से रहने वाली जाति को ही शब्दबोध का विषय माना जा सकता है।[1]

---

१. हिमपयःशंखाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादि सामान्यम्।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, २, पृ० ३७

क्रियापद के अर्थ बोध की भी ऐसी ही स्थिति है। एक क्रिया के विविध रूप होते हैं, फिर भी उनका एक ही शब्द से बोध होता है। उदाहरणार्थ, पकाना क्रिया को लें। गुड़ तथा चावल को पकाने की क्रिया अभिन्न नहीं होती। अलग-अलग वस्तुओं को पकाने की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है, फिर भी सबका बोध एक 'पकाना' क्रियापद से होता है। चलना क्रिया के स्वरूप पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हर व्यक्ति के चलने का ढंग अलग-अलग होता है। इसीलिए कभी-कभी व्यक्ति चाल से भी पहचान लिया जाता है। एक ही व्यक्ति कभी अपेक्षाकृत अधिक तेजी से चल सकता है, कभी मन्द गति से। आदमी और विभिन्न पशुओं के चलने की क्रिया भी भिन्न-भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में, पकाने या चलने के विविध रूपों के लिए पकाना, चलना आदि क्रियापदों में से एक के प्रयोग का रहस्य यह है कि उस पद का संकेत क्रिया-सामान्य या उस क्रिया की जाति में रहता है, जो सभी रूपों में समान रूप से अनुस्यूत रहकर सभी रूपों का बोध कराती है। अतः क्रियापदों के स्वतन्त्र वर्ग की कल्पना पूर्वमीमांसा मत के अनुयायियों को मान्य नहीं। उनके अनुसार क्रियापद भी वस्तुतः जाति या सामान्य के ही बोधक होते हैं।[1]

पूर्वमीमांसा दर्शन में संज्ञापद या यदृच्छा शब्द को भी जातिवाचक ही माना गया है। वैयाकरण जिस संज्ञापद को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानते हैं, उसे भी भाट्ट-मतानुयायी मीमांसक जातिवाचक ही मानते हैं। उनकी युक्ति है कि एक नाम से अनेक व्यक्तियों को अभिहित किया जा सकता है, जो रूप-रंग में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हैं। ऐसी स्थिति में नाम की एक जाति का ही बोध होता है। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट किया गया है कि यदि अनेक व्यक्तियों का नाम देवदत्त हो, तो सबमें उस संज्ञा की एक जाति, 'देवदत्तत्व' की सत्ता माननी ही पड़ेगी, जो उस नाम से अभिहित सभी व्यक्तियों में समान रूप से रहती है। सभी व्यक्तियों में नाम की एक जाति न हो, तो एक नाम का विभिन्न व्यक्तियों के लिए प्रयोग सम्भव नहीं हो। एक व्यक्ति के एक नाम के सम्बन्ध में भी यह युक्ति दी गयी है कि उस नाम से निर्दिष्ट व्यक्ति का स्वरूप निरन्तर परिवर्तनशील है। शैशव-काल से लेकर वृद्धावस्था तक निरन्तर परिवर्तित होते हुए असंख्य रूपों का बोध जो एक शब्द करा पाता है, वह जाति में नाम-पद के संकेत के कारण ही।

---

१. गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, २ पृ० ३७

दूसरी बात यह है कि एक वस्तु के एक नाम का जब अलग-अलग व्यक्ति उच्चारण करते हैं, तब उनके उच्चारण में परस्पर कुछ-न-कुछ भेद हुआ ही करता है। उच्चारण-भेद से भिन्न शब्द-रूपों में से किस एक रूप को संज्ञापद का प्रामाणिक स्वरूप माना जायगा, यह निर्धारित कर पाना असम्भव है। उदाहरण के लिए 'राम' शब्द का उच्चारण एक ही व्यक्ति अनेक बार करे, तो हर बार उच्चरित शब्द दूसरे से भिन्न होगा और अनेक व्यक्ति उस शब्द का अनेक बार उच्चारण करें तो भी प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा प्रत्येक बार उच्चरित शब्द कुछ विशिष्टता लिये रहेगा। बच्चा तो 'राम' को 'लाम' कहता है, कोई बच्चा 'नाम' भी कहता है, फिर भी हम उसे 'राम' के रूप में ही ग्रहण करते हैं। लाम, नाम तथा असंख्य रूपों में उच्चरित 'राम' एक शब्द के रूप में गृहीत होता है, इसका रहस्य यह है कि उस शब्द की रूपगत विविधता में समानरूप से अन्तर्निहित 'रामत्व' की जाति का ही बोध हमें होता है। इस प्रकार अनेक व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त एक नाम हो या एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त एक नाम; मीमांसक सर्वत्र जाति में ही उस शब्द का संकेत स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार न तो नाम-पद का कोई एक नियत स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है और न उससे निर्दिष्ट एक या अनेक व्यक्तियों के ही किसी स्थिर या सनातन रूप को निर्धारित किया जा सकता है। हमें नामपद की जाति का ही बोध हो सकता हैं और वह पद अपने निर्दिष्ट अर्थ की जाति का ही बोधक होता है।[1]

इस प्रकार मीमांसक सभी शब्दों का संकेत जाति में ही मानते हैं। वैयाकरणों ने जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा या यदृच्छा; इन चार उपाधियों में शब्द का संकेत माना था, पर भाट्ट मीमांसा-मत के अनुयायियों ने चार उपाधियों की जगह केवल जाति को शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त माना। वैयाकरण इस प्रकार की मान्यता की सम्भावना से परिचित थे। अतः पतञ्जलि ने गुणवाचक शब्द से गुण की जाति के बोध की सम्भावना का खण्डन करते हुए यह युक्ति दी थी कि यदि गोत्व की तरह शुक्लत्व आदि की अखण्ड गुण-जाति का ही बोध शुक्ल आदि गुणबोधक शब्द से भी होता तो शुक्लतर, शुक्लतम आदि का बोध सम्भव नहीं होता, पर यह अनुभव-सिद्ध है कि एक वस्तु के उजलेपन से दूसरी वस्तु के उजलेपन को अधिकता-न्यूनता आदि का बोध होता है। गुण का यह तारतम्य उसे जाति से भिन्न सिद्ध करता है, क्योंकि

---

२. बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये। —मम्मट, काव्यप्रकाश, २. पृ० ३७-३८.

जाति में तारतम्य नहीं होता ।[1]

उदयन ने गुणवाचक शब्द का जाति मात्र में संकेत माननेवाले मत के विरुद्ध यह तर्क दिया है कि यदि गोत्व जाति की तरह गुणवाचक उज्ज्वल शब्द से भी उज्ज्वलता की जाति का ही बोध माना जाय तो 'उजली गाय' जैसे प्रयोग में एक ही पदार्थ में—गाय-पद से वाच्य अर्थ में—उज्ज्वलत्व एवं गोत्व; इन दो जातियों का सांकर्य मानना पड़ेगा । ऐसा सांकर्य दोष माना जाता है । फलतः 'उजली गाय' सदोष प्रयोग माना जायगा, जब कि भाषिक प्रयोग की दृष्टि से वह प्रयोग सर्वथा निर्दोष है । अतः जातिवाचक तथा गुणवाचक पदों की अर्थबोध-प्रक्रिया में अन्तर माना ही जाना चाहिए ।[2]

मीमांसकों ने गुण, क्रिया आदि की जाति के बोध की कल्पना इस आधार पर की है कि गुण, क्रिया तथा संज्ञा के बोधक पदों से निर्दिष्ट अर्थों में अनेक-रूपता रहती है । उन अनेक रूपों में से किसी एक विशिष्ट रूप में या अनन्त रूपों में शब्द का संकेत नहीं माना जा सकता । अतः समग्र रूपों में समान रूप से रहनेवाली जाति में ही शब्द का संकेत माना जाना चाहिए । इस मान्यता के विरुद्ध वैयाकरणों की मान्यता यह है कि गुण, क्रिया तथा द्रव्य सनातन तत्त्व हैं, जो सृष्टि में सूक्ष्म रूप से सदा विद्यमान हैं । उनमें रूपगत वैविध्य नहीं । उदाहरणार्थ, उज्ज्वल आदि गुण एक अखण्ड सूक्ष्म सत्ता के रूप में सृष्टि में व्याप्त है । विभिन्न पदार्थों में उसकी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति होती है । अतः उसमें भेद आश्रय-भेद के कारण प्रतीत होता है । उज्ज्वल शब्द उस अखण्ड उज्ज्वलता के गुण का ही बोध कराता है । उज्ज्वल रंग के अनेक रूपों की कल्पना कर उसमें निहित जाति को शाब्दबोध का विषय मानना उचित नहीं ।

न्यायमत—नैयायिकों ने भाषिक व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए शाब्दबोध के स्वरूप पर विचार किया और उस सम्बन्ध में वैयाकरणों तथा मीमांसकों के मत को अमान्य समझ कर नवीन सिद्धान्त की स्थापना की। व्याकरण तथा पूर्वमीमांसा के शब्दार्थ-दर्शन में एक आपत्ति यह की जा सकती है कि चारो उपाधियों में शब्द का संकेत माननेवाले वैयाकरण तथा जातिमात्र में संकेत मानने वाले भाट्टमतानुयायी मीमांसक शब्द से व्यक्ति के बोध की प्रक्रिया की तर्कसम्मत व्याख्या नहीं कर

---

१. किं पुनरेकं शौक्ल्यं आहोस्वित् नाना ? किं चातः ? यद्येकं प्रकर्षो नोपपद्यते । नहि तेनैव तस्य प्रकर्षो भवति ।—पतञ्जलि, महाभाष्य, ३, ५५

२. अस्तु तर्हि शुक्लत्वादिकं सामान्यमेव इति चेत् । न, गोत्वादिनापरापरभावानुपपत्तौ जातिसांकर्यप्रसङ्गात् ।—उदयन, किरणावली

पाये। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हम शब्द का प्रयोग व्यक्ति के बोध के लिए भी करते हैं। 'पेंसिल खरीद लाओ' जैसे प्रयोग में हमारा तात्पर्य पेंसिल पद के वाच्य व्यक्ति (individual) से ही होता है, जाति या जात्यादि चार उपाधियों से नहीं। मीमांसकों की युक्ति होगी कि पेंसिल शब्द तत्त्वतः तो जाति का ही बोध कराता है, पर उस जाति से अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध व्यक्ति का भी आक्षेप से बोध हो जाता है। वैयाकरण भी मानेंगे कि वह शब्द व्यक्ति की उपाधि का ही बोध मुख्यतः करता है, और तदनन्तर आक्षेप से व्यक्ति का बोध हो जाता है। नैयायिकों का तर्क, इन मतों के विरुद्ध, यह है कि यदि आक्षेप से व्यक्ति का बोध माना जाय तो किसी शब्द से किसी भी व्यक्ति का आक्षेप किया जा सकता है और फलतः शब्द-अर्थ की कोई व्यवस्था भाषा में रह ही नहीं सकती। अतः व्यक्ति-बोध को आक्षेप पर आधृत नहीं मान कर शब्द में ही व्यक्ति का भी संकेत मानना उचित होगा।

दूसरी आपत्ति यह है कि जाति आदि के बोध के आधार पर जो शब्द को चार वर्गों में विभाजित किया गया है, उनमें से किसी एक वर्ग के शब्द को एक ही उपाधि का बोधक नहीं माना जा सकता। न तो जातिवाचक शब्द से केवल जाति का ग्रहण होता है, न गुणवाचक शब्द से केवल गुण का। क्रियावाचक शब्दों तथा द्रव्यवाचक संज्ञापदों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। किसी भी शब्द की अर्थबोध-प्रक्रिया पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य में से किसी एक ही उपाधि का अमिश्र रूप में बोध उस शब्द से नहीं होता। उदाहरणार्थ, गाय शब्द से केवल गोत्व जाति का ही बोध नहीं होता, उस जाति के साथ किसी-न-किसी गुण, क्रिया तथा द्रव्य का भी बोध होता है। अमूर्त जाति-मात्र का मानस-प्रत्यक्षीकरण न होकर, गाय शब्द से एक आकृति-युक्त प्राणी का मानस-प्रत्यय होता है। इसी प्रकार गुणवाचक लाल, उजला आदि शब्दों के अर्थबोध में द्रव्य का बोध मिश्रित रहता है। कुछ व्यक्तिवाचक संज्ञा भी कभी-कभी गुण आदि का बोध कराती हैं। नारद, विभीषण आदि संज्ञा-पदों के अर्थबोध में उनके विशिष्ट गुणों का बोध भी मिश्रित है। इस प्रकार, शाब्दबोध में जाति, गुण, क्रिया आदि का बोध मिश्रित रहता है। अतः शब्दों का चार वर्गों में विभाजन युक्तिसङ्गत नहीं। इसी युक्ति से नैयायिकों ने जातिमात्र में शब्द की शक्ति माननेवाले मीमांसकों के मत का भी खण्डन किया है। जब गाय आदि शब्द गोत्व आदि जाति के साथ गुण, क्रिया तथा द्रव्य का भी बोध कराते हैं, तब गाय शब्द का मुख्य अर्थ केवल गोत्व जाति को मानने में क्या औचित्य होगा? गुण, क्रिया तथा द्रव्य-निरपेक्ष जाति का बोध सम्भव नहीं।

शब्दबोध के स्वरूप के सम्बन्ध में नैयायिकों की मान्यता है कि जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य का सम्मिलित रूप शाब्दबोध का विषय है। कोई भी शब्द जाति, गुण आदि में से किसी एक का ही बोध नहीं कराता। वह उन सबका—जाति, आकृति तथा व्यक्ति का—मिश्रित बोध कराता है।[1]

नैयायिकों ने केवल जाति या सामान्य को शाब्दबोध का विषय मानने वाले मत के खण्डन के लिए प्रत्यक्ष ज्ञान को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। गाय को प्रत्यक्ष देखकर जो ज्ञान होता है, वह केवल गोत्व जाति का ज्ञान नहीं होता। उसमें जाति के साथ उसके विशेषाधायक गुण, क्रिया तथा एक विशिष्ट अवयव-संस्थान का ज्ञान भी मिला रहता है। नैयायिकों का मत है कि शब्द से होनेवाला ज्ञान भी उस प्रत्यक्ष ज्ञान से मिलता-जुलता ही होता है। नैयायिक शब्द से होने वाले प्रत्यय और प्रत्यक्ष ज्ञान में समान तत्त्व ही स्वीकार करते हैं। जिस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान जिस रूप में होता है, उस वस्तु के लिए प्रयुक्त शब्द से भी उसी रूप में बोध होगा। चूँकि प्रत्यक्ष ज्ञान जाति, गुण, क्रिया आदि के समुदाय का होता है, इसलिए शाब्दबोध का विषय केवल जाति या सामान्य को मानना उचित नहीं।[2] शाब्दबोध के स्वरूप पर दृष्टि रखते हुए नैयायिकों की यह धारणा इस रूप में प्रस्तुत की जा सकती है कि जब हम गाय, हाथी, कमल, घड़ा आदि शब्दों को सुनकर उन शब्दों से निर्दिष्ट अर्थों का मानस बोध प्राप्त करते हैं तो उस बोध में केवल कोई निराकार, सूक्ष्म जाति ही नहीं आती, उन वस्तुओं की अलग-अलग आकृतियाँ भी आती हैं। हाथी शब्द से मन में उभरने वाली आकृति, कमल शब्द से गृहीत आकृति से अवश्य ही भिन्न होती है। हाथी, कमल आदि का सामान्य भी उनकी विशिष्ट आकृति से निरपेक्ष रूप में बुद्धि में नहीं आ पाता।

ध्यातव्य है कि शाब्दबोध-विषयक अपने मत की पुष्टि के लिए जो उदाहरण नैयायिकों ने दिये हैं, वे लोकसिद्ध मूर्त पदार्थों के वाचक शब्दों के साथ ही घटित होते हैं। किन्तु, शब्द का विषय लोकसिद्ध या इन्द्रियगोचर पदार्थों तक ही सीमित नहीं है। शब्द अमूर्त तथा अलोकसिद्ध अर्थों का भी बोध कराते हैं। ऐसी स्थिति में

---

१. जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थाः।—गौतम, न्यायसूत्र

२. प्रत्यक्षं न हि निष्कृष्ट जात्यंशपरिवेष्टितम्।
तद्गोचरप्रवृत्तश्च शब्दस्तं कथयेत् कथम्॥—तस्मात् प्रत्यक्षविषयेप्रवर्तमानं तत्समानविषयमेव भवितुमर्हति पदम्, न सामान्यमात्रनिष्ठम्।
—न्यायमं. १, पृ०. २९६.

प्रत्यक्ष ज्ञान से शब्द-ज्ञान की तुलना से समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हो पाता। प्रेम, घृणा, सौन्दर्य जैसे शब्दों के अर्थ में आकृति-व्यक्ति का बोध मानने का कोई आधार नहीं। संख्यावाचक पदों के बोध को प्रत्यक्ष ज्ञान के सन्दर्भ में नहीं परखा जा सकता।

जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान या ऐन्द्रियबोध होता है, उनके शाब्दबोध के सम्बन्ध में भी नैयायिकों की मान्यता के विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि इन्द्रिय-ग्राह्य प्रत्यक्ष ज्ञान और शब्दजनित ज्ञान में समान तत्त्व ही हों तो फिर दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता ही क्यों मानी जाय? नैयायिक प्रत्यक्ष से स्वतन्त्र शब्द-प्रमाण का अस्तित्व मानते हैं। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और शाब्दबोध में स्पष्टता का भेद रहता है। कमल के किसी एक फूल को प्रत्यक्ष देखते समय उसकी आकृति, रंग आदि का जितना स्पष्ट बोध होता है उतना स्पष्ट बोध 'कमल का फूल' सुन कर नहीं हो पाता। मिठाई खाने का स्वाद मिठाई शब्द को सुनने से नहीं लिया जा सकता। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान और शाब्दबोध में समान तत्त्वों की सत्ता की मान्यता समीचीन नहीं।

नैयायिकों ने अपनी मान्यता के विरुद्ध सम्भावित उक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए कहा है कि प्रत्यक्ष ज्ञान और शाब्दबोध में समान तत्त्व के होने का तात्पर्य खींचतान कर, दोनों के अभिन्न होने का नहीं लगाया जाना चाहिए। निश्चय ही आग की उष्णता का जैसा बोध, आग से उँगली के छू जाने पर होता है, वैसा आग शब्द को सुन लेने पर नहीं होता, फिर भी आग के शाब्दबोध में उष्णता का बोध सामान्य रूप से रहता अवश्य है। दोनों में भेद है, तो केवल तीव्रता का। प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तु की समग्र विशिष्टताएँ बोधगत होती हैं, जबकि शब्द-ज्ञान में धर्मी का बोध मुख्य रूप से और धर्म का उसके साथ गौण रूप से हो पाता है। अतः शाब्दबोध में भी ऐन्द्रियबोध की तरह आकृति आदि के बोध के मिश्रित रहने के कारण, शब्द का संकेत केवल सामान्य या जाति में नहीं माना जा सकता।[1] सूक्ष्म रूप से विचार करने पर तो प्रत्यक्ष ज्ञान के स्वरूप में भी अभिन्नता या एकरूपता नहीं रहती। एक ही वस्तु के अनेक बार के प्रत्यक्षीकरण में कुछ-न-कुछ देश-कालादि जनित भिन्नता हो ही जाती है।

---

१. ननु सर्वात्मना प्रत्यक्षतुल्यविषयाः शब्दाः, प्रतिपत्तिसाम्यप्रसङ्गात्। न च शब्दादिन्द्रियाच्च तुल्ये प्रतिपत्ती भवतः। तदुक्तम्—"अन्यथैवाग्निसम्बन्धात् दाहं दग्धोऽभिमन्यते"—इत्यादि। उच्यते। + + + सकलविशेषग्रहणाग्रहणाभ्यां प्रतिपत्तिविशेषसिद्धेः। धर्म्यभिप्रायेण च संप्लवस्योक्तत्वात्। नैतावता सामान्यमात्रनिष्ठः शब्दो भवति। —न्यायमं० १, पृ० २९६।

प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन ने भी शब्द का संकेत उस द्रव्य में माना है, जिसमें जाति, गुण तथा क्रिया; ये तीन उपाधियाँ रहा करती हैं। यह मन्तव्य उन्होंने 'त्व' तथा 'तल' प्रत्ययों के प्रयोग की सार्थकता के स्पष्टीकरण के क्रम में व्यक्त किया है। उनका कथन है कि द्रव्य में निहित गुण आदि के बोध के लिए 'त्व' तथा 'तल' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है।[1] स्पष्ट है कि गुण, क्रिया तथा जाति से युक्त द्रव्य को ही शाब्दबोध का विषय माना गया है।[2] महाभाष्य में पतञ्जलि ने भी एक जगह 'गौः' शब्द के स्वरूप पर विचार करते हुए यह मान्यता व्यक्त की है कि 'गौः' शब्द एक ऐसी ध्वनि-व्यवस्था है, जिसके उच्चारण से सींग, पूँछ आदि अवयवों के समन्वित रूप का बोध होता है।

वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा में आम शब्द की अर्थबोध-प्रक्रिया का उदाहरण देकर इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि शब्द के अर्थ-बोध में गुण आदि का बोध भी मिला रहता है। शब्द वस्तु की किसी एक ही उपाधि का बोध नहीं कराता, वह समग्रतः वस्तु-रूप का बोध कराता है। होता यह है कि वासना-रूप में व्यक्ति के मन में स्थित वस्तु का ऐन्द्रिय बोध शब्द से प्रकाशित होता है। वह लौकिक बोध रूप-गुण आदि का मिश्रित बोध हुआ करता है। अतः शब्द से वस्तु के रूप-गुण आदि का समन्वित बोध ही होता है। आम शब्द के अर्थ-बोध में उस फल के खट्टा, मीठा आदि होने के गुण की जिज्ञासा भी सम्मिलित रहती है। कारण यह है कि आम के प्रत्यक्ष ज्ञान में उसके रूप-रंग के बोध के साथ उसके स्वाद आदि का भी बोध घुला-मिला रहता है। अतः रूप को देखकर गुण का भी बोध जग जाता है।[3] यद्यपि आम का रूप चक्षुग्राह्य, उसकी गन्ध नासिका-ग्राह्य तथा उसका स्वाद रसना-ग्राह्य होता है, फिर भी इन विभिन्न इन्द्रियग्राह्य गुणों का बोध परस्पर मिश्रित होता है, अतः एक का बोध दूसरे के बोध को भी जाग्रत करता है। ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष से एक इन्द्रिय से ग्राह्य गुण के दूसरी इन्द्रिय से बोध का यही रहस्य है। आम के रूप-रंग को देखकर उसके सामान्य स्वाद का

---

१. त्वतलोर्गुणवचनस्य।—वार्तिक,

२. तथा चाहुः—यस्य गुणस्य हि भावात् द्रव्ये शब्दनिवेशः तदभिधाने त्वतलादयः—इति। गुणस्य हि भावात् द्रव्ये शब्दनिवेशः इति तद्द्रव्यत्वपक्षसाक्षीण्यक्षराणि। —न्यायमंजरी, १, पृ० २९७, १, पृ० २९७.

३. येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः। —महाभाष्य, पस्पसा।

४. अत एव चाम्रफलादौ श्रुते रसविशेषजिज्ञासा। विशेषजिज्ञासायाः सामान्यज्ञानपूर्वकत्वात्। —वै० सि० मं० पृ० ४५९

भी बोध हो जाता है, भले ही उसके विशिष्ट स्वाद का बोध जीभ-मात्र से ही हो।[1] स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तु के किसी एक ही पक्ष का स्वतन्त्र बोध नहीं रहता, विविध पक्षों का मिश्रित बोध रहता है। इसी तरह शब्द का संकेत जाति, गुण, क्रिया आदि में से किसी एक में, अन्यनिरपेक्ष रूप में, नहीं माना जा सकता। शब्द का संकेत जाति, गुण आदि के सम्मिलित स्वरूप में माना जाना चाहिए।

जाति-मात्र में शब्द का संकेत मानने वाले भाट्टमतानुयायी मीमांसकों के मत का नैयायिकों ने खण्डन किया है। केवल जाति या सामान्य को शब्द का संकेतित अर्थ मानने के पक्ष में मीमांसकों ने एक युक्ति यह दी है कि शब्द नित्य है। अतः नित्य जाति से ही उसका नित्य सम्बन्ध माना जा सकता है। गुण, क्रिया और द्रव्य अनित्य एवं परिवर्तनशील हैं। अतः उनके साथ नित्य शब्द का सनातन सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। दूसरे, जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य में शब्द का संकेत मानने में नानात्व दोष भी होगा।[2] इस मत के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि यदि शब्द का संकेतित अर्थ केवल जाति हो, तो उससे व्यक्ति का बोध कैसे होता है? इस बात में दो मत नहीं हो सकते कि भाषिक व्यवहार में व्यक्ति-बोध का बहुत महत्त्व है। किसी उद्देश्य से की जानेवाली क्रिया के सम्पादन की सामर्थ्य व्यक्ति में ही होती है और इसलिए व्यक्ति में ही भाषा की प्रवृत्ति-निवृत्ति की योग्यता रहती है। अतः शब्द से व्यक्ति-बोध के तथ्य की उपेक्षा तो की नहीं जा सकती। 'घड़े में पानी भरो' जैसे वाक्य-प्रयोग में यदि 'घड़ा', 'पानी' तथा 'भरने' की क्रिया से केवल घड़ा आदि की जाति का ही बोध श्रोता को हो, तो वह किसी घड़े में पानी भरने की लौकिक क्रिया में प्रवृत्त ही क्यों होगा? अतः शब्द से केवल जाति का ही नहीं, व्यक्ति का भी बोध माना ही जाना चाहिए।

मीमांसक इस समस्या का समाधान इस युक्ति से करना चाहेंगे कि शब्द से जाति के साथ व्यक्ति का भी बोध अवश्य होता है, क्योंकि जाति और व्यक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है, पर उस व्यक्ति-बोध को शब्द का संकेतित या मुख्य अर्थ मानना युक्तिसंगत नहीं होगा। कारण यह है कि जाति और व्यक्ति; दोनों में शब्द का संकेत मानने पर प्रत्येक शब्द की दो शक्तियों की कल्पना करनी होगी,

---

१. चक्षुरादिभिरपि सामान्यतो रसादिग्रहणं भवत्येव। विशेषस्तु रसनादितत्तदिन्द्रियग्राह्य एव। अत एव आम्रफले दृष्टे रसविशेषादिजिज्ञासा।
—वै, सि, मं, पृ० ४५९.

२. आकृतिव्यक्तिरिक्तेऽर्थे सम्बन्धो नित्यतास्य च।
न सिध्येतामिति ज्ञात्वा तद्वाच्यत्वमिहोच्यते॥
—कुमारिल, श्लोकवार्तिक, आकृतिवाद, १

जो तार्किक दृष्टि से उचित नहीं। शब्द की मुख्य शक्ति जाति का ही बोध कराती है। पहले जाति का बोध होने पर ही, व्यक्ति का बोध हो सकता है। अतः जाति को शब्द का मुख्य अर्थ मानकर मीमांसकों ने शब्द की गौणी शक्ति से व्यक्ति का बोध स्वीकार किया है।[1] मण्डन मिश्र ने व्यक्ति को लक्षणीय अर्थात् लक्षणा शक्ति से बोध्य कहा है।[2] इस प्रकार मीमांसक शब्द से व्यक्ति के बोध के तथ्य को तो अस्वीकार नहीं करते, पर व्यक्ति को शब्द का मुख्यार्थ नहीं मानकर शब्द की गौणी वृत्ति से ग्राह्य लक्ष्यार्थ मानते हैं।

इस मान्यता पर नैयायिकों का यह आक्षेप है कि मीमांसकों ने लाघव के नाम पर जो केवल जाति में शब्द का संकेत और व्यक्ति को लक्षणीय अर्थ माना है, वह उचित नहीं। शब्द अपनी मुख्य शक्ति से ही विशेषण और विशेष्य; दोनों का बोध करा सकता है। उदाहरणार्थ, दण्डी शब्द विशेषणभूत दण्ड का बोध भी मुख्य शक्ति से ही कराता है और विशेष्यभूत दण्डधारी का बोध भी उसी शक्ति से कराता है। इसी तरह शब्द मुख्य शक्ति से ही जाति और व्यक्ति; दोनों का बोध करा सकते हैं।

मीमांसक अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए उक्त आक्षेप का खण्डन इस युक्ति से कर सकते हैं कि शब्द की एक ही मुख्य शक्ति से दो अर्थों का बोध सम्भव नहीं। एक शब्द की मुख्य शक्ति से दो अर्थों के बोध का जो उदाहरण नैयायिकों ने दिया है, वह उदाहरण ही गलत है। उस उदाहरण में प्रस्तुत दण्डी शब्द पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि एक ही शब्द दण्ड तथा दण्डधारी व्यक्ति का बोध नहीं कराता। दण्डी शब्द के दो अंश हैं—दण्ड तथा इन्। दण्ड शब्द से दण्ड वस्तु का बोध होता है और उसके साथ लगे 'इन्' प्रत्यय से दण्ड धारण करनेवाले व्यक्ति का बोध होता है। इस प्रकार 'दण्डी' शब्द के प्रकृति-प्रत्यय विभाग से दो खण्ड हैं, जो दो अर्थों का बोध कराते हैं, पर गाय, घड़ा आदि जैसे एक-एक शब्द से, मुख्य शक्ति के द्वारा ही, जाति तथा व्यक्ति-रूप दो अर्थों के बोध का सिद्धान्त

---

१. नहि वयं व्यक्तिप्रतीतिं भवन्तीमपह्नुमहे नापि भवन्तीं जातिप्रतीतिमपह्नुमहे + + + + उभयप्रतीतेः प्रत्यात्मवेदनीयत्वात्, उभयत्र चाभिधात्री शक्तिरतिभारः जातेर्विशेषणत्वात्पूर्वतरं प्रतिपत्तिरिति सैव शब्दार्थो भवितुमर्हति तस्यां च शब्दादवगतायां तत एव व्यक्त्यवगमः सेत्स्यतीति नोभयत्र शाब्दो व्यापारः।
—न्याय मं०, ६२७३

२. जातेरस्तित्व नास्तित्वे न हि कश्चिद् विवक्षति।
नित्यत्वात् लक्षणीयाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे॥
—जगदीशकृत शब्द-शक्तिप्रकाशिका में उद्धृत।

स्वीकार करने में क्या औचित्य होगा ?[1]

नैयायिकों का तर्क यह होगा कि केवल जाति का कोई उपयोग नहीं होता। उपयोगिता व्यक्ति की ही होती है। अतः, भाषिक व्यवहार की उपयोगिता की दृष्टि से व्यक्ति को भी शब्द का मुख्य अर्थ माना जाना चाहिए। मीमांसकों की मान्यता है कि जाति के अमूर्त होने पर भी उसकी उपयोगिता तो है ही। जिस प्रकार अमूर्त आत्मा शरीर में रहकर कार्य-साधन करती है, उसी प्रकार अमूर्त जाति भी व्यक्ति में रहकर कार्योपयोगी होती है। अतः जाति को मुख्य अर्थ और व्यक्ति को गौण अर्थ माना जाना चाहिए।[2]

व्यक्ति-बोध के लिए शब्द में जातिबोधक मुख्य शक्ति के अतिरिक्त एक गौण या लक्षणा शक्ति की कल्पना का नैयायिकों ने प्रबल तर्क से खण्डन किया है। मीमांसकों के मतानुसार प्रत्येक शब्द में अर्थ-बोध की दो शक्तियाँ होती हैं। उसकी मुख्य शक्ति जाति का बोध कराती है और तदनन्तर उसकी लक्षणा शक्ति से, उस जाति से युक्त व्यक्ति का बोध होता है। मीमांसको के इस मत के विरुद्ध एक आपत्ति तो यह है कि व्यक्ति के बोध के लिए जो लक्षणा शक्ति की कल्पना की गयी है, वह युक्तिसंगत नहीं। लक्षणा शक्ति से ज्ञेय अर्थ के लिए जो बातें अपेक्षित मानी गयी हैं, वे शब्द से व्यक्ति के बोध में नहीं पायी जातीं। लक्षणा शक्ति से लक्ष्य अर्थ का बोध वहाँ माना जाता है, जहाँ मुख्य अर्थ बाधित या अनुपपन्न हो जाता है और तब रूढ़ि अथवा किसी प्रयोजन के कारण उस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध होता है। शब्द की मुख्य शक्ति से यदि जाति का ही बोध माना जाय तो उस अर्थ में बाधा अर्थात अनुपपत्ति नहीं होने

---

१. ननु दण्डिशब्दादिव विशेषणं च जातिं विशेष्यां च व्यक्तिं गोशब्दादेव प्रतिपद्यामहे। कोऽस्यातिभारः? विषमोऽयं दृष्टान्तः। तत्र हि प्रकृति-प्रत्ययविभागेन द्वयप्रतीतिरवकल्पते। + + गोशब्दे तु नैष न्यायः सम्भवति इह तु गोशब्द एक एव। स च विशेषणे विशेष्ये वा वर्त्तेत। विशेष्ये वर्त्तमानो विशेषणे प्रमाणान्तरमपेक्षते। विशेषणे तु वर्त्तमानस्तदवगमाय विशेष्यमाक्षिपति न कश्चिद् दोषः।—न्यायमं० १, पृ० २७३

२. यत्तु अमूर्त्तत्वात् जातेः न क्रियांगत्वमिति। नैष दोषः। अमूर्त्तानामपि गुणकर्मणां क्रियासाधनतयोपपत्तेः + "लक्षितव्यक्तिसाध्यं तु तत्साध्यं कार्यमिष्यते। यथा भूतेन्द्रियोत्पाद्यं आत्मकर्तृकमुच्यते"—आत्मा तावत् सर्वकर्मसु अधिकृतः कर्ता च। सा चामूर्त्तत्वात् देहेन्द्रियद्वारेण औदुम्बरी-सम्मार्जनाज्यावेक्षणादीनि कार्याणि निवर्त्तयन् कर्त्ता तेषु भवति, एवं जातिरपि व्यक्तिवर्त्मना तन्निर्वर्त्तयन्ती साधनतां लप्स्यते। अतश्च जाति रेवांगम् इति मीमांसका जगुः—वही, १, पृ० २७४

के कारण व्यक्ति के बोध के लिए लक्षणा शक्ति की उपस्थिति ही नहीं होगी। अतः व्यक्ति को शब्द का लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता।

दूसरी आपत्ति यह है कि यदि व्यक्ति को शब्द से अभिहित अर्थात् उसकी मुख्य शक्ति से बोध्य नहीं मानकर, उसकी लक्षणा शक्ति से लक्षित माना जाय और केवल जाति को ही उसका मुख्य अर्थ माना जाय, तो लिंग, वचन आदि के बोध के लिए शब्द के साथ जो प्रत्यय लगाये जाते हैं, उनका कोई औचित्य नहीं होगा। यह निर्विवाद तथ्य है कि जाति एक और अमूर्त सत्ता है। उसके लिंगभेद और वचनभेद की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः भाषा में लिंग, वचन आदि के भेद का बोध कराने वाले प्रत्ययों के प्रयोग की सार्थकता व्यक्ति को शब्द का अर्थ मानने पर ही सिद्ध होती है।[1] जाति को मुख्यार्थ और व्यक्ति को लक्ष्यार्थ मानने पर लिंग-वचनबोधक प्रत्ययों के प्रयोग का औचित्य इसलिए भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि शब्द से अभिहित मुख्यार्थ में ही विभक्ति-प्रत्यय आदि का औचित्य होता है, उससे लक्षित होनेवाले अर्थ में नहीं। स्वयं कुमारिल भट्ट ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और यह प्रतिपादित किया है कि धूम से अनुमित अग्नि अभिहित न होकर लक्षित है, इसलिए उस लक्षित अर्थ के साथ 'दहति' आदि का प्रयोग सम्भव नहीं होगा।[2] निष्कर्ष यह कि व्यक्ति को शब्द का लक्ष्यार्थ मानने पर लिंग वचन-भेद के बोधक प्रत्ययों का शब्द के साथ प्रयोग असंगत सिद्ध हो जायगा। इस प्रकार शब्द के साथ लिंग-वचनबोधक प्रत्ययों का प्रयोग जहाँ शब्द से व्यक्ति के बोध का तथ्य प्रमाणित करता है, वहाँ वह यह भी प्रमाणित करता है कि व्यक्ति का बोध शब्द की लक्षणा शक्ति से नहीं, अपितु मुख्य शक्ति से ही होता है।

उक्त आपत्तियों के उत्तर में मीमांसक यह कह सकते हैं कि जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' जेसे प्रयोग में जल-प्रवाह में घर के होने के मुख्यार्थ के बाधित हो जाने पर

---

१. अत्राभिधीयते—न जातिः पदस्यार्थो भवितुमर्हति। पदं हि विभक्त्यन्तो वर्णसमुदायो न प्रातिपदिकमात्रम्। तत्र च प्रकृतिप्रत्ययौ इतरेतरान्वितमर्थमभिधत्त इति स्थितम्। द्वित्रियादिश्च विभक्तिः प्रातिपदिकाद् उच्चरन्ती प्रातिपदिकार्थगतत्त्वेन स्वार्थमाचष्टे। युगपच्च त्रितयं विभक्त्यर्थः—कारकं लिंगं संख्या च। न चैतत् त्रितयं प्रातिपदिकार्थे जातौ अन्वेति। न जातिः कारकं, न च जातेः स्त्री-पुं-नपुंसकविभागः, न चास्य द्वितीयादि योग इति।—न्यायमं० १, पृ० २७४

२. पदार्थान्वयश्च आक्षेपिते न स्यात्। उक्तं हि तद्भूताधिकरणे
गम्यमानस्य चार्थस्य नैव दृष्टं विशेषणम्।
शब्दान्तरैर्विभक्तया वा धूमोऽयं ज्वलतीतिवत्।—वैयाकरण भू० पृ० ११७

लक्षणा शक्ति से गंगा शब्द का अर्थ उसका किनारा समझा जाता है और उस लक्ष्यार्थ किनारे के साथ 'है' आदि क्रियाओं का अन्वय हो सकता है, उसी प्रकार शब्द की गौण शक्ति से लक्षित व्यक्ति-रूप अर्थ के साथ भी लिंग, वचन आदि के बोधक प्रत्ययों का प्रयोग हो सकता है। अतः लिंग-वचन के बोधक प्रत्यय के प्रयोग से व्यक्ति का मुख्यार्थ होना सिद्ध नहीं होता। किन्तु, इस युक्ति का आधार सबल नहीं। जाति को शब्द का मुख्यार्थ और व्यक्ति को उसका लक्ष्यार्थ सिद्ध करने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि लक्ष्यार्थ के बोध में एक निश्चित क्रम हुआ करता है। पहले शब्द की अभिधा शक्ति से मुख्य अर्थ का ज्ञान होता है और तब मुख्यार्थ की अनुपपत्ति का बोध होने पर लक्षणा शक्ति से मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य लक्ष्य अर्थ का ज्ञान होता है। शब्द से जो किसी व्यक्ति का बोध होता है उसमें पहले जाति के बोध और तदनन्तर व्यक्ति के बोध का नियत क्रम नहीं रहता। अतः व्यक्ति को भी जाति की तरह ही शब्द का मुख्यार्थ ही माना जाना चाहिए। दूसरी बात यह है कि शब्द की मुख्य शक्ति से जाति का बोध तथा लक्षणा शक्ति से व्यक्ति का बोध मानने के लिए प्रत्येक शब्द में अर्थ-बोध की दो शक्तियों की कल्पना की गयी है, जो उचित नहीं।[1]

अब यदि भाट्ट मीमांसक उक्त कठिनाइयों से बचने के लिए जाति और व्यक्ति में 'भेदाभेद' की कल्पना का सहारा लेकर यह युक्ति दें कि शब्द से जाति के बोध के साथ ही व्यक्ति का भी बोध हो जाता है और इसलिए दोनों के बोध में कोई क्रम मानने की आवश्यकता नहीं, तो यह उनकी आत्मघाती युक्ति ही होगी। ऐसा मान लेने पर व्यक्ति भी शब्द का अभिधेयार्थ ही हो जायगा और परिणामतः जातिमात्र में शब्द का संकेत मानने वाला मीमांसा-मत स्वतः खण्डित हो जायगा। व्यक्ति को शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ मानने वाले मत के विरुद्ध जो-जो तर्क भाट्ट मीमांसकों ने दिये हैं, वे सब उनके इस मत के विरुद्ध भी लागू हो जायँगे।[2]

---

१. ननु व्यक्तिलक्षणया सर्वमुपपत्स्यते—इत्युक्तम्। न च युक्तमुक्तम्। सकृत् प्रयुक्तं पदं अंशेन किञ्चित् अर्थमभिदधाति, ततो अर्थान्तरं लक्षयति। तद्गतत्वेन पुनर्लिंगसंख्याद्यभिवक्ते—इति न प्रतीतिकोऽयं क्रमः।
—न्याय मं० पृ० २९४-९५

२. सर्वेष्वेव 'गां नय'—इत्यादि जातिविशिष्टबोधकवाक्येषुवृत्तिद्वय-कल्पनायां गौरवाच्च। युगपद् वृत्तिद्वयविरोधस्यादूषणापत्तेश्च।
—वैयाकरण भूषण, पृ०-११८

३. जातिव्यक्तयोरभेदात्····दानान्वय इति चेत्, न। तथा सति व्यक्तेर्वाच्य-त्वम् आयातमेव। आनन्त्याद्युक्ताकृत्यधिकरणीयदोषतादवस्थ्याच्च।
—वही, पृ० ११९

जातिमात्र में शब्द का संकेत मानने में एक आपत्ति यह भी है कि यदि गाय कहने से 'गोत्व' जाति का बोध हो, तो जाति के बोध केलिए 'त्व' प्रत्यय लगाने की क्या आवश्यकता है ? यदि गाय शब्द से ही गोत्व जाति का बोध मान कर 'त्व' प्रत्यय के प्रयोग को अर्थहीन मान लें, तो प्रश्न यह होगा कि क्या 'गाय उजली है' और 'गोत्व उजला है' का एक ही अर्थ है ?[1]

इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसक यह कह सकते हैं कि गाय शब्द से गोत्व जाति का बोध अवश्य होता है, पर गाय व्यक्ति का बोध भी उसमें मिला रहता है, जो व्यक्ति उस गाय शब्द का लक्ष्यार्थ होता है, किन्तु 'गोत्व' शब्द से व्यक्ति-निरपेक्ष केवल जाति का बोध होता है। यही दोनों शब्दों के अर्थ का अन्तर है। मीमांसकों का यह तर्क केवल तर्क के लिए है। व्यक्ति से सर्वथा निरपेक्ष जाति की कल्पना ही निराधार होगी। जाति का बोध अनिवार्यत: उस व्यक्ति के साथ ही हो सकता है जिसमें वह अन्तर्निहित रहती है।[2]

इस प्रकार केवल जाति में शब्द का संकेत मानने वाले सिद्धान्त से तथा अलग-अलग वर्गों के शब्दों से केवल जाति अथवा गुण आदि में उसका संकेत मानने वाले मत से असहमत होकर नैयायिकों ने निष्कर्ष रूप में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि जाति, व्यक्ति और आकृति सम्मिलित रूप में शब्द का संकेतिति अर्थ है। ये तीनों शब्द के वाच्य अर्थ हैं, भले ही कहीं इनमें से किसी एक की प्रधानता हो और शेष दो गौण रूप में रहें। उदाहरणार्थ, 'गाय को पाँव नहीं लगाना चाहिए' इस कथन में सभी गाय व्यक्तियों में समान रूप से रहने वाली जाति की प्रधानता है, व्यक्ति और आकृति अप्रधान हैं। 'गाय को खोल दो', 'गाय को बाँधो' आदि प्रयोग में किसी निश्चित गाय व्यक्ति का बोध प्रधान रूप से होता है, उसकी जाति और आकृति का बोध अप्रधान रूप से। 'गाय का चित्र बनाओ' इस कथन

---

१. × × × गोशब्दाद् गोत्वशब्दाच्च तुल्ये प्रतिपत्ती स्याताम्। गौ: शुक्ल:—इतिवच्च गोत्वं शुक्लमिति बुद्धि: स्यात्। चातुर्वर्ण्यादिवच्च स्वार्थे एव गोशब्दाद् भावप्रत्ययस्त्वतलादि:स्यात्। —न्यायमं० १, पृ० २९६

२. अथ मन्येथा:—आक्षिप्तव्यक्तिकां जातिं गोशब्दो वक्ति, भावप्रत्ययान्तस्तु निकृष्टस्वरूपमात्रनिष्ठामिति —तदनुपपन्नम्। अनाक्षिप्तव्यक्तिकाया जाते: क्वचिदपि अदर्शनात्।—वही पृ० २९६

तथा

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् शशविषाणवत्।—कुमारिल, श्लोक वार्तिक

में आकृति का बोध प्रधान और जाति तथा व्यक्ति का बोध उसके अंग के रूप में होता है।[1]

बौद्धमत—बौद्ध विचारकों ने शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरणों के जात्यादि चतुष्टयवाद, पूर्वमीमांसकों के जातिवाद तथा नैयायिकों के तद्वानवाद अर्थात् जात्याकृतिव्यक्तिवाद के सिद्धान्त को अस्वीकार कर एक नवीन सिद्धान्त की स्थापना की, जो अपोहवाद या तद्भिन्न-भिन्नवाद के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धों के शब्दार्थस्वरूप-विषयक चिन्तन का, उनके तत्त्व-चिन्तन अर्थात् सृष्टि-सम्बन्धी दार्शनिक विश्वास से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था।

बौद्ध विचारकों ने अपने तत्त्व-चिन्तन के निष्कर्ष के रूप में यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि सृष्टि के बाह्य पदार्थों की नित्य सत्ता नहीं। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का कोई विषय सत्य नहीं। शाब्दबोध के स्वरूप पर विचार करते हुए उन्होंने यह मान्यता व्यक्त की है कि शब्द को सुनकर उनसे सम्बद्ध वस्तुओं का बोध होता है, पर उन बोधगम्य वस्तुओं की तात्त्विक सत्ता नहीं है। किसी वस्तु का स्वरूप क्षणमात्र भी स्थायी नहीं। ऐसी ही सतत विनाशशील वस्तुओं का बोध शब्द से होता है। प्रत्यक्ष-दृश्य जगत के पदार्थों को असत्य सिद्ध करने के लिए बौद्धों ने यह उदाहरण दिया है कि दृष्टि-दोष के कारण यदि किसी को दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं, तो इससे दो चन्द्रमाओं की तात्त्विक सत्ता सिद्ध नहीं हो जाती, उसी प्रकार अज्ञानवश बाह्य वस्तुओं का जो प्रत्यक्ष बोध होता है, उससे बाह्य पदार्थों की तात्त्विक सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती।[2]

शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में बौद्ध विचारकों की धारणा के स्पष्टीकरण के लिए जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के सम्बन्ध में उनकी मान्यता को समझ लेना आवश्यक होगा। जाति आदि के सम्बन्ध में बौद्धों के विचार व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों में व्यक्त एतद्विषयक विचार से सर्वथा भिन्न हैं। यही कारण

---

१. स्थितेऽपि तद्वतो वाच्यत्वे क्वचिद् प्रयोगे जातेः प्राधान्यम्, व्यक्तेरंगभावः। यथा 'गौः न पदा स्प्रष्टव्या', इति सर्वगवीषु प्रतिषेधो गम्यते। क्वचिद् व्यक्तेः प्राधान्यं जातेरंगभावः। यथा—'गां मुञ्च', 'गां बधान' इति नियतां काञ्चित् व्यक्तिमुद्दिश्य प्रयुज्यते। क्वचित् आकृतेः प्राधान्यं व्यक्तेरंगभावो जातिर्नास्त्येव। यथा—पिष्टकमय्यो गावः क्रियन्तामिति—न्याय मं० १, पृ० २९७

२. नहि सर्वथा शब्दार्थापवादोऽस्माभिः क्रियते—तस्य आगोपालमपि प्रतीतत्वात् किन्तु तात्त्विकत्वं धर्मो यः परैस्तत्रारोप्यते तस्य निषेधः क्रियते। न तु धर्मिणः।—तत्त्वसंग्रह पंजिका, खण्ड १, पृ० २७७

है कि बौद्धों के शब्दार्थ-चिन्तन का निष्कर्ष भी अन्य दार्शनिक सम्प्रदाय के विचारकों के निष्कर्ष से सर्वथा भिन्न है।

वैयाकरणों ने जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य को शब्द का संकेतित अर्थ माना है, भाट्ट मतानुयायी मीमांसकों ने जातिमात्र को शब्द का संकेतित अर्थ माना है, नैयायिकों ने जाति-विशिष्ट पदार्थ को शब्द के संकेत का विषय माना है। इस प्रकार इन तीनों मतों में शब्द से जाति के बोध को किसी-न-किसी रूप में स्वीकृति मिली है, पर बौद्ध जाति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। समस्या यह है कि यदि एक वर्ग के सभी व्यक्तियों में समान रूप से रहनेवाली एक जाति की सत्ता नहीं मानी जाय तो एक ही शब्द से, रूप-गुण में परस्पर भिन्न व्यक्तियों का बोध कैसे सम्भव होगा? एक उजली, मोटी, दुधारू गाय के लिए यदि गाय शब्द का प्रयोग हो सकता हो, तो काली, दुबली, बूढ़ी, तथा दूध न देने वाली गाय के लिए उसी शब्द का प्रयोग कैसे किया जा सकेगा? यह जाति ही तो है, जो व्यक्तियों में समान रूप से रहकर, रूपगत भिन्नता मे भी, एकता का सम्बन्ध जोड़ती है। यदि जाति के अभाव में भी विभिन्न व्यक्तियों का, जो एक दूसरे से रूप-गुण में भिन्न होते हैं, एक ही गाय शब्द से बोध मांना जाय तो प्रश्न यह है कि हाथी, घोड़ा आदि का भी बोध गाय शब्द से क्यों नहीं होता?

बौद्ध विचारक इस समस्या का समाधान इस युक्ति से करना चाहते हैं कि निश्चय ही एक गाय रूप, गुण, अवस्था आदि में दूसरी गाय से भिन्न होती है। वह दूसरी गाय से उसी तरह भिन्न होती है जिस तरह घोड़ा, हाथी आदि से भिन्न होती है. फिर भी एक गाय शब्द से परस्पर भिन्न सभी गाय व्यक्तियों के बोध का रहस्य यह है कि गाय शब्द का संकेत गाय से भिन्न समग्र पदार्थों से भिन्न में रहता है। गाय से भिन्न पदार्थों से गाय के जिस भेद का बोध शब्द कराता है, वह भेद सभी गाय व्यक्तियों में समान रूप से रहकर उन्हें एक वर्ग के सम्बन्ध में बाँधता है। इसीलिए गाय शब्द परस्पर भिन्न गायों का तो बोध कराता है, पर घोड़ा, हाथी आदि का बोध नहीं कराता। गाय—भिन्न से भिन्न के बोध में केवल गाय व्यक्तियों का ही बोध आता है, चाहे वे एक दूसरे से कितने ही भिन्न क्यों न हों—गाय से भिन्न हाथी, घोड़ा आदि का बोध नहीं, क्योंकि गाय-भिन्न से भिन्न के बोध में घोड़ा, हाथी आदि के बोध का निषेध भी निहित रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के उदाहरण से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। किसी गाय को प्रत्यक्ष देखने पर जो बोध होता है, वह गाय-भिन्न से भिन्न के बोध के रूप में होता है। चाहे हम काली गाय को देखें या उजली गाय को; चाहे हृष्ट-पुष्ट गाय को देखें या दुबली-पतली गाय को; सबमें परस्पर भिन्नता तो रहेगी ही, पर सब के बोध में

एक बात की समता होगी कि काली गाय को देखने पर भी हमें गाय-भिन्न से भिन्न का बोध होगा और उजली गाय को देखकर भी वैसा ही बोध होगा। तद्भिन्न से भिन्न में शब्द का संकेत होने के कारण गाय शब्द, चाहे किसी भी गाय व्यक्ति के लिए प्रयुक्त क्यों न हो, गाय का ही बोध करायगा, उससे भिन्न घोड़ा हाथी आदि का नहीं, जिनके निषेध की शक्ति उस गाय शब्द में ही रहती है। इस प्रकार गाय शब्द से सभी गायों का बोध हो सकता है, भले ही वे एक-दूसरे से कितने भी भिन्न क्यों न हों। अतः एक शब्द से परस्पर भिन्न असंख्य व्यक्तियों के बोध के तथ्य की संगति बैठाने के लिए सभी व्यक्तियों में समान रूप से रहने वाली किसी जाति की दूरारूढ़ कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। गाय से भिन्न सभी पदार्थों से भिन्न होने का धर्म ही सभी गाय व्यक्तियों को एक वर्ग में ला देता है और एक ही गाय शब्द से अलग-अलग गाय व्यक्तियों का बोध सम्भव होता है। गाय शब्द गाय-भिन्न से गाय के भेद का ही बोध कराता है। शब्द में विधि रूप से किसी जाति के बोध की शक्ति नहीं रहती, क्योंकि जाति की कोई सत्ता ही नहीं। शब्द निषेधात्मक रूप में तद्भिन्न से भिन्न का बोध कराता है। निष्कर्षतः, सभी शब्दों का अर्थ होता है—तद्भिन्न का निषेध। बौद्ध निषेध को अयथार्थ तथा भ्रममूलक मानते है। अतः उनके अनुसार सभी शब्द-ज्ञान अयथार्थ तथा भ्रमात्मक होता है, जिसके विषय की तात्त्विक सत्ता नहीं होती।[1]

बौद्ध विचारक द्रव्य की भी सत्ता नहीं मानते, जिस द्रव्य को अन्य विचारकों ने जाति, गुण तथा क्रिया का आधार माना था। बौद्धों की मान्यता है कि व्यक्ति या द्रव्य, गुण आदि का समाहार-मात्र होता है। उनसे पृथक उसका कोई अस्तित्व नहीं। गुणों को हटाकर कोई ऐसी वस्तु नहीं बच रहती, जिसे द्रव्य कहा जा सके तथा उन गुणों का आधार माना जा सके। उदाहरण के लिए 'घड़ा' को देख कर उसके आकार, वर्ण आदि का जो बोध होता है, उससे भिन्न उसमें कोई वस्तु नहीं रहती, जिसे द्रव्य कहा जा सके। अतः बौद्ध विचारकों की मान्यता है कि जैसे जंगल वृक्षों का समाहारमात्र होता है और वृक्षों के समुदाय से पृथक् जंगल के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती, वैसे ही द्रव्य या व्यक्ति गुणों का

---

१. विकल्पविषये वृत्तिरिष्टा शब्दानुमानयोः।
अवस्तुविषयाश्चैते विकल्पा इति वर्णितम्॥

+ + +

या च भूमिर्विकल्पानां स एव विषयो गिराम्।
अत एव हि शब्दार्थमन्यापोहं प्रचक्षते॥—न्यायमं० १ पृ० २७६

समाहारमात्र होता है और गुण-समुदाय से पृथक् उसकी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती।[1]

वस्तुओं के निरन्तर परिवर्तित होते रहने के कारण बौद्ध विचारक उसे क्षणिक मानते हैं। उनकी दृष्टि में किसी भी वस्तु का रूप क्षणमात्र भी स्थायी नहीं होता, वह प्रतिपल नष्ट होता रहता है। अतः कोई भी वस्तु दो समय एक नहीं हो सकती। उसका एक रूप एक समय नष्ट हो जाता है और दूसरे ही पल उसका दूसरा रूप आ जाता है। यह क्रम हर क्षण चलता रहता है, जिसमें उस वस्तु के किसी एक स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। वस्तु की एकता का जो ज्ञान होना है, वह अनेक वस्तुओं में काल-प्रवाह के कारण होनेवाली एकता की भ्रमात्मक प्रतीति है। जैसे अलग-अलग वस्तुओं को बहुत वेग के साथ घुमाने पर उनकी अनेकता का तात्त्विक ज्ञान दब जाता है और उनमें ऐक्य का आभास होने लगता है, वैसे ही कालप्रवाह की क्षिप्र गति के कारण परस्पर भिन्न असंख्य वस्तुओं में ऐक्य का भ्रमात्मक ज्ञान हो जाता है। यदि हम एक व्यक्ति को अनेक बार देख कर एक ही व्यक्ति समझते हैं, तो बौद्धों के मतानुसार यह भ्रमात्मक ज्ञान है। वह व्यक्ति जो पहले था, अब नहीं है। तब और अब का व्यक्ति परस्पर भिन्न है, फिर भी कालप्रवाह उनमें ऐक्य का भ्रम उत्पन्न कर देता है। इस भ्रम से ही पहचान सम्भव होती है।

इस प्रकार जाति, द्रव्य या व्यक्ति आदि के अस्तित्व को अस्वीकार कर बौद्धों ने शाब्दबोध के सम्बन्ध में अपोहवाद या तद्भिन्न भिन्नवाद के सिद्धान्त की स्थापना की, जिसके अनुसार शब्द विधिमुखेन जाति, व्यक्ति या द्रव्य आदि का बोध नहीं करा सकता, क्योंकि उनकी तात्त्विक सत्ता ही नहीं है; शब्द का संकेत तद्भिन्न से भेद में रहा सकता है। शब्द तद्भिन्न का निषेध करता है और इस प्रकार तद्भिन्न से उस वस्तु की भिन्नता का बोध कराता है। गाय शब्द का अर्थ, अपोहवाद के अनुसार, गाय से भिन्न सभी पदार्थों से गाय की भिन्नता का बोध है। अन्य का अपोहन अर्थात् निषेध कर, उनसे भेद के बोध में शब्द की शक्ति मानने के कारण ही इस मत को अपोहवाद कहा जाता है।

भामह ने शब्दार्थविषयक अपोह सिद्धान्त के विरुद्ध यह युक्ति दी है कि यदि गाय आदि का संकेत केवल निषेधात्मक रूप में तद्भिन्न के निषेध में माना जाय, तो

---

५. ननु धर्मातिरेकेण धर्मिणोऽनुपलम्भनात्।
तत्संघमात्र एवायं गवादिः स्यात् वनादिवत्॥
—श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, वा० १५१

उस शब्द से विधिरूप में गाय के वाच्य अर्थ का बोध कैसे सम्भव होगा ? एक ही शब्द से विधि और निषेध रूप दो अर्थों का बोध सम्भव नहीं। दूसरी बात यह है कि गाय शब्द से गाय से भिन्न पदार्थों के निषेध के बोध के लिए यह आवश्यक है कि गाय का बोध पहले हो जाय ; तभी गाय से भिन्न पदार्थों का बोध सम्भव होगा। गाय पदार्थ का बोध हुए बिना गाय से भिन्न पदार्थों का बोध ही कैसे होगा, जिनके निषेध का बोध उस शब्द से ज्ञात हो ? तीसरी बात यह है कि शब्द की अभिधा शक्ति उसके साक्षात् संकेतित अर्थ का ही बोध कराती है। तात्पर्य यह कि शब्द का मुख्यार्थ-बोध शब्द से जनित अव्यवहित ज्ञान होता है। अपोहवाद के अनुसार गाय शब्द से अव्यवहित रूप में गाय-भिन्न का ही बोध होगा, उन गाय-भिन्न पदार्थों से भिन्न का अर्थात् गाय का बोध व्यवहित ज्ञान होने के कारण अभिधा शक्ति की सीमा के अन्तर्गत नहीं माना जा सकेगा। इस प्रकार बौद्धों के अपोह-सिद्धान्त के अनुसार किसी भी शब्द से अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ का ही—यह कहें कि अनर्थ का ही—बोध होगा।[1]

अपोहवाद के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट का आक्षेप है कि जाति की सत्ता का खण्डन कर बौद्ध विचारकों ने जो तद्भिन्न से भेद में शब्द का संकेत माना है वह प्रकारान्तर से जातिवाद के सिद्धान्त का ही उपस्थापन है। तद्भिन्न का निषेध या अभाव अन्ततः किसी भावात्मक सत्ता का ही द्योतन करता है। अभाव भाव-सापेक्ष होता है। इसलिए अभाव को भी एक सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है। अपोहवाद में तद्भिन्न के निषेध को शब्द का संकेतार्थ मान कर बौद्धों ने—अविचारित रूप में ही सही—उस भावात्मक सत्ता को स्वीकार कर ही लिया है, जिसका वे खण्डन करना चाहते हैं। अभाव के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभावरूपों का निर्धारण भाव-सत्ता की तुलना में ही किया जाता है। दूध में दही का प्रागभाव दूध की भावात्मक सत्ता का ही बोधक है। इसी प्रकार दही की भावात्मक सत्ता दूध का प्रध्वंसाभाव-मात्र है। हर अभाव भाव-सापेक्ष होता है, अभाव का कोई-न-कोई भावात्मक सन्दर्भ अवश्य होता है, अतः तद्भिन्न-भिन्नवाद भी अन्ततः किसी भावात्मक

---

१. यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः॥
अर्थज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम्।
अपवादविधिज्ञाने फले चैकस्य वः कथम्॥
पुराऽगौरिति विज्ञानं गोशब्दश्रवणाद् भवेत्।
येनागोप्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः॥
—भामह, काव्यालं०, ६, १७,-१६.

सत्ता वाले पदार्थ का ही निर्देश करता है, चाहे वह पदार्थ लोकसिद्ध मूर्त्त पदार्थ हो या उसकी केवल भावगत सत्ता हो।[1]

अपोहवाद में दिखायी गयी उक्त असंगति के मार्जन के लिए बौद्ध विचारक यदि यह युक्ति दें कि गाय आदि शब्द से भावात्मक रूप में गाय आदि व्यक्ति का बोध होता है, जो व्यक्ति क्षणिक तथा स्वतःपूर्ण होता है, तो यह युक्ति बौद्ध सिद्धान्त के प्रतिकूल होगी, क्योंकि बौद्ध व्यक्ति को क्षण क्षण विनष्ट होती हुई खण्ड वेदनाओं की शृंखला-भर मानते हैं जिसमें कालप्रवाह से ऐक्य का आभास उत्पन्न हो जाता है। उस निरन्तर विनष्ट होते हुए रूप में से किसी भी एक खण्ड को बौद्ध शब्द से संकेतित नहीं मानते। उनकी दृष्टि में शब्द स्वतः भ्रमात्मक तथा मानस-परिकल्पना रूप है और इसलिए वैसे शब्द से वस्तुगत क्षण-क्षण परिवर्तनशील व्यक्ति का निर्देश नहीं माना जा सकता।

बौद्ध वस्तु की भावात्मक सत्ता स्वीकार नहीं करते। इसलिए वे अभाव को भाव-सापेक्ष नहीं मानते। शाब्दबोध-विषयक अपोह सिद्धान्त के सन्दर्भ में उक्त आक्षेप का खण्डन करने के लिए वे यह युक्ति दे सकते हैं कि शब्द से होनेवाला तद्भिन्न का निषेध किसी भावात्मक सत्ता की अपेक्षा नहीं रखता, वह निषेध 'प्रसज्य-लक्षण' होता है। प्रसज्य-लक्षण अभाव भाव-निरपेक्ष आत्यन्तिक अभाव होता है। शाब्दबोध में तद्भिन्न का प्रसज्य-प्रतिषेध होता है, जिसके लिए किसी भावात्मक सत्ता की कल्पना आवश्यक नहीं।

मीमांसकों ने प्रसज्य-लक्षण प्रतिषेध की इस मान्यता का खण्डन किया है। उनकी युक्ति है कि यदि शाब्दबोध में तद्भिन्न के अपोह को प्रसज्य-प्रतिषेध-रूप माना जाय, तो इससे आत्यन्तिक अभाव के सिद्धान्त की स्थापना होगी और सभी लौकिक व्यवहारों की सम्भाव्यता बाधित हो जायगी। ऐसी स्थिति में शब्द से किसी भावात्मक सत्ता का बोध नहीं होने के कारण सभी ज्ञान को भ्रमात्मक मानना पड़ेगा, जो युक्तिसंगत नहीं होगा। उदाहरण के लिए, किसी से यह कहने पर कि 'थोड़ा पानी दो' उसे किसी भावात्मक वस्तु का बोध नहीं होगा और फलतः पानी देने की क्रिया का सम्पादन वह नहीं कर सकेगा, पर यह तथ्य है कि बौद्ध भी दूसरे से पानी माँग कर पीते हैं और उस भावात्मक वस्तु से अपनी प्यास बुझाते हैं। दूसरी

---

१. भावान्तरमभावो हि पुरस्तात् प्रतिपादितः।
तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्मा भावः क इति कथ्यताम्॥
—कुमारिल, श्लोक वा०, अपोहवाद, वा. २.

बात यह है कि यदि अभाव को सर्वथा भावनिरपेक्ष मान लिया जाय और शाब्दबोध में तद्भिन्न के निषेध को प्रसज्य-प्रतिषेध रूप मान लिया जाय तो विभिन्न मानस विकल्पों से—बौद्धों के शब्द में कहें तो विभिन्न प्रसज्य अभावों से—बनने वाले विचार को केवल अभावों का समाहार-मात्र मानना पड़ेगा और उस विचार का कोई भी मानस-बाह्य सन्दर्भ नहीं रह जायगा। फलतः, यह मानना पड़ेगा कि वाक्य का सम्बन्ध केवल ऐसे मानस-विचार से होता है, जिसके प्रतिरूप बाह्य संसार में कोई भी वस्तु नहीं रहती। भाषिक व्यवहार में यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि किसी उक्ति की व्यावहारिक योग्यता हुआ करती है, पर कथन का सम्बन्ध बाह्यवस्तु-निरपेक्ष विचार मात्र से मान लेने पर उसमें कोई व्यवहारयोग्यता नहीं मानी जा सकेगी। तीसरी बात यह कि बाह्य वस्तु-निरपेक्ष मानस विकल्प समुदाय को शाब्दबोध का विषय मानने पर भी बौद्धों का 'प्रसज्य अभाव' का सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो जायगा, क्योंकि प्रसज्य-प्रतिषेध को शब्द के संकेत का विषय मानकर भी वे मानस विकल्प की तो भावात्मक सत्ता मान ही लेते हैं, भले ही बाह्य जगत में उसके प्रतिरूप की तात्त्विक और भावात्मक सत्ता वे नहीं मानते हों। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होगा कि मानस प्रत्यय की भावात्मक सत्ता मान लेने पर शाब्दबोध के लिए 'प्रसज्य-प्रतिषेध' की कल्पना ही क्यों की जाय? उस मानस प्रत्यय की भावात्मक सत्ता को ही शब्द के संकेत का विषय क्यों नहीं माना जाय?[1]

बौद्ध विचारक अभाव की वस्तुगत सत्ता नहीं मानते, फिर भी प्रसज्य अभाव की भ्रमात्मक सत्ता को पदार्थ मान लेते हैं। यदि बौद्ध यह मानें कि अभाव अपने आप में एक तात्त्विक सत्ता है, तो फिर यह मान्यता नैयायिकों की अभाव-विषयक मान्यता से अभिन्न हो जायगी।[2] अतः मीमांसक यह मानते हैं कि बौद्धों के शाब्द-बोध-विषयक अपोह-सिद्धान्त में यौक्तिक संगति नहीं।

कुमारिल भट्ट ने अपोहवाद में असंगति दिखाने के लिए एक और प्रश्न उठाया है। शब्द यदि तद्भिन्न का निषेध करता है तो उस तद्भिन्न को सामान्य रूप माना

---

१. निषेधमात्ररूपश्च शब्दार्थो यदि कल्प्यते।
अभावशब्दवाच्या स्यात् शून्यताऽन्यप्रकारिका॥
तस्यां चाश्वादिबुद्धीनाम् आत्मांशग्रहणं भवेत्।
तत्रान्यापोहवाच्यत्वं मुधैवाभ्युपगम्यते॥ —तत्त्वसंग्रह, का. ९१९-२०

२. किम् अपोहलक्षणं सामान्यं वाच्यत्वेनाभिधीयमानं पर्युदास लक्षणं चाभिधीयते, प्रसज्यलक्षणं वा? × × द्वितीये पक्षे तु न किञ्चित् वस्तु वाच्यं शब्दानाम् इत्येतोऽप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गः। तुच्छरूपाभावस्य चानभ्युपगमात् न प्रसज्यप्रतिषेधाभ्युपगमो युक्तः, परमतप्रवेशानुषङ्गात्।
—कमलशील, प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ. ४३३.

जायगा या व्यक्तिरूप ? उदाहरणार्थ, गाय शब्द से गाय-भिन्न हाथी, घोड़ा आदि का जो निषेध माना गया है उसमें हाथी, घोड़ा आदि के सामान्य का निषेध स्वीकार किया गया है या विशिष्ट हाथी, घोड़ा आदि व्यक्तियों का निषेध ? बौद्ध व्यक्ति को अनिर्वचनीय मानते हैं, अतः उनके मतानुसार व्यक्ति के निषेध में शब्द की शक्ति नहीं मानी जा सकती। गाय शब्द से गाय-भिन्न पदार्थों के सामान्य का अपोह मानने पर गाय-भिन्न घोड़ा, हाथी आदि का अभावात्मक रूप ही सूचित होगा, क्योंकि बौद्ध विचारक सामान्य को अन्यापोहमात्र मानते हैं। ऐसी स्थिति में कठिनाई यह होगी कि शब्द का अर्थ अभाव का अभाव माना जायगा, जो युक्ति-संगत नहीं। गाय शब्द का अर्थ होगा—अभावरूप गाय-भिन्न पदार्थों के सामान्य का अभाव। अभाव भाव का ही माना जा सकता है, अभाव का नहीं। अभाव के अभाव की तात्त्विक अभाव के रूप में ही कल्पना सम्भव नहीं, वह कल्पनाविलास-मात्र होगा।[1] अभाव का अभाव भावरूप ही हो सकता है, पर बौद्ध भाव-सत्ता में विश्वास करते ही नहीं। दो निषेध परिणामतः विधि का ही रूप ग्रहण कर लेते हैं। अतः तद्भिन्न सामान्य का निषेध मानने पर बौद्ध इस कठिनाई में पड़ जाते हैं कि वे शब्द से जिस विधिरूप अर्थ के बोध का खण्डन करना चाहते हैं, उसी के बोध का सिद्धान्त स्थापित हो जाता है।[2] अपोह के सिद्धान्त के अनुसार शब्द का संकेत तद्भिन्न से भिन्न में मानने पर अर्थ भाव-रूप या विधिरूप में परिणत होता है, क्योंकि निषेध का निषेध विधिरूप में—अभाव का अभाव भाव रूप में—फलित होता है, पर यह बौद्ध-सिद्धान्त के अनुरूप नहीं, और यदि तद्भिन्न से अभिन्न में शब्द का संकेत मान लिया जाय तो और भी बड़ा अनर्थ होगा। गाय शब्द का अर्थ गाय से भिन्न कोई भी पदार्थ भले हो जाय, गाय पद से वाच्य पदार्थ उसका अर्थ नहीं माना जा सकेगा।[3] ध्यातव्य है कि बौद्धों ने तद्भिन्न से भिन्न को ही शब्द के संकेत का विषय माना है, तद्भिन्न से अभिन्न को नहीं।

तद्भिन्न-भिन्नवाद के विरुद्ध एक प्रश्न यह उठाया गया है कि इस मत के

---

१. अपि चाश्वादयः सामान्यरूपेण वाऽपोह्येरन् विशेषात्मना वा। न विशेषात्मना—तदङ्गत्वात् अशब्दवाच्यत्वाच्च। सामान्यात्मना तु तेषामपि अपोहरूपत्वात अभावत्वम्। कथं च अभावस्यैवाभावः क्रियते।

—न्यायमं० १, पृ० २७९। श्लोकवा० अपोहवाद ९५-७ द्रष्टव्य।

२. करणे वा प्रतिषेधद्वययोगात् विधिरवतिष्ठते—इति विधिरूपः शब्दार्थः स्यात्।

—वही, पृ. २७९

३ अपोह्यात्मनश्च तुरगादेर्योऽपोहः स तस्माद्विलक्षणः अन्यथा वा ? वैलक्षण्ये तस्य भावात्मता भवेत्। अवैलक्षण्ये तु यादृश स्वापोह्यः, तादृश एव तदपोह—इति गौरप्यगौः स्यात्।

—वही, पृ० २७९

अनुसार 'सत'. 'ज्ञेय' आदि शब्दों के अर्थ-बोध का क्या स्वरूप माना जायगा ? बौद्ध-मतानुसार उन शब्दों के अर्थ-बोध का स्वरूप होगा—'सत्-भिन्न अर्थात् असत् से भिन्न का बोध' तथा 'ज्ञेय-भिन्न अर्थात् अज्ञेय से भिन्न का बोध', पर इस प्रकार की बोध-प्रक्रिया तर्क से सिद्ध नहीं की जा सकती। असत्, अज्ञेय आदि कल्पना-मात्र है, अतः उनके अभाव या उनसे भिन्न की कल्पना को भी केवल कल्पना ही माना जा सकता है। न असत् अज्ञेय आदि की कोई सत्ता है और न वे अपने से भिन्न की ही कोई सत्ता सिद्ध कर सकते हैं। ज्ञेय पदार्थ का ही अपोहन हो सकता है और ज्ञान के लिए वस्तु की सत्ता आवश्यक है। जो वस्तु ज्ञात या ज्ञेय नहीं, उसका व्यवच्छेद कैसे सम्भव होगा ? यदि यह कहें कि सत् तथा ज्ञेय शब्द से जो बोधगत होता है उसका अपोह होता है, तो बौद्ध-सिद्धान्त की असंगति स्वतः स्पष्ट हो जाती है। वैसी स्थिति में तो यह मानना पड़ेगा कि सत् शब्द से बोधगत होने वाला सत् ही अपोह का विषय बन जाता है। इसी प्रकार ज्ञेय शब्द बोधगत होने वाले ज्ञेय अर्थ का ही निषेध करता है।[1] इस प्रकार अपोहवाद सत्, ज्ञेय आदि शब्दों की अर्थबोध-प्रक्रिया की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाता।

अपोहवाद पर आक्षेप करते हुए यह कहा गया है कि उसके अनुसार स्वयं 'अपोह' शब्द का अर्थ-निर्धारण भी कठिन है, जिस शब्द का प्रयोग उस सिद्धान्त की आख्या के रूप में किया गया है। अपोहवाद के अनुसार 'अपोह' का अर्थ है—'अपोह-भिन्न, अर्थात् अनपोह से भिन्न।' अनपोह न हो उसे अपोह कहेंगे, पर प्रश्न यह होगा कि 'अनपोह' क्या है ? क्या उसका स्वरूप-निर्धारण हो सकता है ? यदि अनपोह का स्वरूप ही हम नहीं समझ सकते, तो उससे भिन्न अपोह के स्वरूप को समझने का प्रश्न कहाँ उठता ? अनपोह में जो नञ् का अंश अन् है, वह 'नहीं होने' के भाव को व्यक्त करता है। अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि अपोह के 'नहीं होने' का क्या अर्थ है ? 'नहीं होना' को छोड़ कर बौद्धमत के अनुसार क्या बच रहता है ? इस प्रकार किसी भी शब्द का कोई अर्थ, अपोहवाद के अनुसार निर्धारित नहीं हो सकेगा। निषेध वाचक नञ् का अर्थ अपोहवाद नहीं बता सकता। 'नहीं होता है, से भिन्न' का क्या अर्थ होगा ? उपसर्ग, निपात आदि का अपोहवाद

---

१. सज्ज्ञेयादिशब्दानामपोह्यनिरूपणासम्भवात् नापोहवाचित्वम्। नहि असद् अज्ञेयं वा किञ्चिदवगतं यद् व्यवच्छिद्यते। ज्ञातं चेत् सद् एव तज्ज्ञेयं च—इत्यतः कथं सच्छब्देन सदेव ज्ञेयशब्देन च ज्ञेयमेव अपोह्यते। अज्ञातं तु नितरामनपोह्यम्, कल्पितं तु तद् वक्तुमशक्यम्, कल्पनयैव सत्त्वाज्ज्ञेयत्वाच्च।
—न्यायमं० पृ० २७९

के अनुसार कोई अर्थ नहीं बताया जा सकता। कारण यह है कि उनके वाच्य से भिन्न का बोध और अपोहन सम्भव नहीं।[1]

उद्योतकार ने अपोहवाद के खण्डन के लिए यह युक्ति दी है कि 'सब' शब्द के अर्थबोध की प्रक्रिया का अपोहवाद के अनुसार कैसे विश्लेषण किया जा सकेगा। जहाँ एक से अधिक पदार्थ हों, शब्द से निर्दिष्ट पदार्थ से भिन्न पदार्थों की सत्ता हो, वहाँ तो यह कहा जा सकता है कि किसी पदार्थ से भिन्न पदार्थों का निषेध करता हुआ शब्द उनसे भिन्न का बोध कराता है, पर 'सब' शब्द के वाच्य अर्थ से भिन्न की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती, जिसका उस शब्द से निषेध हो और उससे भिन्न का बोध 'सब' शब्द के अर्थ के रूप में हो। 'सब' से भिन्न 'असब' की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसे सब शब्द का अपोह्य माना जा सके। यदि बौद्ध यह युक्ति दें कि 'सब' शब्द अपने वाच्य से भिन्न एक, दो आदि संख्याओं का निषेध करता हुआ, उनसे भिन्न समुदाय रूप में 'सब' का बोध कराता है, तो यह उनकी अपनी ही तत्त्व-विषयक मान्यता का खण्डन करने वाली युक्ति होगी। बौद्ध स्वयं अङ्गों से भिन्न अङ्गी का कोई अस्तित्व नहीं मानते। समुदाय के अङ्गों को छोड़कर समुदाय कुछ बच नहीं जाता। एक, दो आदि वे अङ्ग हैं, जिनका संघटित रूप ही 'सब' कहा जाता है। यदि 'सब' शब्द से एक, दो आदि सभी अङ्गों का अपोहन माना जाय, तो उस शब्द से सब के अर्थ का भी निषेध हो जायगा। दो, तीन आदि शब्दों के अर्थबोध की दृष्टि से भी अपोहवाद में यही कठिनाई है। 'दो' शब्द के बोध में यदि उसके घटक एक का तथा दो से भिन्न सभी संख्याओं का निषेध माना जाय तो सबसे भिन्न, निरपेक्ष रूप में 'दो' बोध का विषय बन हीं नहीं पायगा। दो के बोध के लिए एक का बोध ही अपेक्षित होता है, उसके बोध का निषेध नहीं। अतः उद्योतकार का मत है कि अपोहवाद शाब्दबोध के स्वरूप की युक्तिसङ्गत व्याख्या नहीं कर पाता;[2]

१. अपोहशब्दस्य च किं वाच्यमिति चिन्त्यताम्। अनपोहो न भवतीत्यपोहः—कश्चायमपोहः कथं वाऽसौ न भवति, अभवन् वा किमवशिष्यते—इति सर्वमवाचकम्। प्रतिषेधवाचिनां च नञादिशब्दानां का वार्ता। अत्र 'न भवतीति न'—इति कोऽर्थः। उपसर्गनिपातानां च कथमपोहविषयत्वम् इष्यते।
—न्यायमं० २७९

२. अन्यापोहश्च शब्दार्थ इत्ययुक्तमव्यापकत्वात्। यत्र द्वैराश्यं भवति—तत्र इतरप्रतिषेधात् तदितरः प्रतीयते। यथा गोरिति पदे गौः प्रतीयमानः अगौः प्रतिषिध्यमानः। न पुनः सर्वपदे एतदस्ति। नहि असर्वं नाम किञ्चिदस्ति यत् सर्वपदेन निवर्त्त्येत। एकादिव्युदासात् व्यापकमिति चेत् ?—अथ मन्यसे एकादि असर्वम्, तत् सर्वशब्देन निवर्त्त्येत ? तन्न। स्वार्थापवाददोष-

उद्योतकार ने अपोहवाद के खण्डन के लिए जो उदाहरण दिये हैं उनके शाब्द-बोध के स्वरूप का तटस्थ मूल्याङ्कन अपेक्षित है। 'सब' शब्द के वाच्य से भिन्न का निषेध असम्भव माना गया है, क्योंकि 'सब' के वाच्य से भिन्न कुछ बचता ही नहीं। शाब्दबोध के स्वरूप पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि शब्द अवयवातिरिक्त अवयवी का बोध कराता है। यही कारण है कि अवयवी के वाचक शब्द को अवयव-बोधक शब्द का पर्याय नहीं माना जा सकता। यह ठीक है कि जंगल वृक्षों का समुदाय-मात्र है। वृक्षों से पृथक् जंगल की कोई सत्ता नहीं। यह भी ठीक है कि जंगल के बोध में वृक्षों का बोध अन्तर्निहित रहता है, पर शाब्द-बोध का वैशिष्ट्य यह है कि वृक्ष-समुदाय के बोधक जंगल शब्द को उसके अङ्ग के बोधक वृक्ष शब्द का पर्याय नहीं माना जा सकता। न तो उस समुदाय का बोध अवयव-बोधक वृक्ष शब्द से हो सकता हैऔर न अङ्गभूत वृक्ष का बोध उस समुदाय बोधक जंगल शब्द से ही हो सकता है। यही बात 'सब' शब्द के अर्थबोध के सम्बन्ध में कही जा सकती है। संसार के सभी सम्भव पदार्थ—चाहे उनकी भावात्मक सत्ता मानी जाय या अभावात्मक—'सब' शब्द के वाच्च अर्थ के अङ्ग हैं, पर अङ्गभूत पदार्थों के अलग-अलग बोध के लिए 'सब' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। आदमी, हाथी, घोड़ा, गाय, घर, नदी आदि सभी पदार्थों के समुदाय के लिए 'सब' शब्द का प्रयोग होता है, पर हाथी, घोड़ा आदि शब्दों को 'सब' शब्द का पर्याय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार बौद्ध-मत पर किये गये उक्त आक्षेप का उत्तर यह दिया जा सकता है कि 'सब' शब्द के अर्थबोध में बौद्ध उस शब्द के बाच्य से भिन्न अर्थात् 'सब' शब्द को छोड़ अन्य समग्र शब्दों से बोधगम्य पदार्थों का अपोह मानते हैं। यदि यह माना जाय कि 'सब' शब्द के वाच्य से भिन्न कुछ बचता ही नहीं, तो बौद्ध यह पूछ सकते हैं कि भाषा में अन्य शब्दों की आवश्यकता ही क्या है? केवल एक 'सब' शब्द से समग्र पदार्थों का बोध हो ही जाता। स्पष्ट है कि शब्द अन्य पदवाच्य का अपोह करता हुआ अपने वाच्य अर्थ का बोध कराता है। शब्द से वाच्य अर्थ भावरूप भी हो सकता है और अभावरूप भी। बौद्ध विचारकों ने समग्र भाव-सत्ता को अस्वीकार कर शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में एक उलझन अवश्य उत्पन्न कर दी है।

प्रसङ्गात्। एवं सति एकादिव्युदासेन प्रवर्त्तमानः सर्वशब्दः अङ्गस्य प्रतिषेधात् अङ्गव्यतिरिक्तस्य चाङ्गिनः अनभ्युपगमात् अनर्थकः स्यात्। एवं सर्वे समुदायशब्दा एकदेशप्रतिषेधरूपेण प्रवर्त्तमानाः समुदायिव्यतिरिक्त-समुदायानभ्युपगमात् अनर्थकाः·······प्राप्नुवन्ति। द्वयादिशब्दानां च समुच्चयविषयत्वात् एकादिप्रतिषेधे प्रतिषिध्यमानम् असमुच्चया द्वयादि-शब्दानामनर्थकत्वम्। —न्याय वार्तिक, द् पृ० ३२९

अपोहवाद के विरुद्ध एक प्रश्न यह उठाया गया है कि अपोहवादी गाय शब्द का अर्थ यदि गाय-भिन्न से भिन्न मानते हैं तो वह गाय-भिन्न-भिन्न रूप अर्थ भावात्मक माना जाता है या अभावात्मक? यदि उसे भावात्मक माना जाय तो क्या उसे गाय तत्त्व से अभिन्न माना जायगा, या भिन्न? अर्थ को भावात्मक रूप मानने पर तो बौद्ध विचारकों की यह मूल धारणा ही खण्डित हो जायगी कि शब्द का अर्थ प्रसज्य अभाव रूप होता है। यदि बौद्ध अर्थ को अभाव रूप सिद्ध करने के लिए गाय शब्द के अर्थ को गाय तत्त्व से भिन्न मानें तो बात और भी बिगड़ जायगी, क्योंकि वैसी स्थिति में गाय शब्द का अर्थ होगा—अगाय या गाय-भिन्न, जिससे सम्पूर्ण भाषिक व्यवहार ही अव्यवस्थित हो जायगा। इसलिए बौद्ध दूसरे विकल्प को मानकर यह कह सकते हैं कि गाय शब्द का 'अगाय भिन्न' अर्थ अभावरूप होता है। ऐसी मान्यता के विरुद्ध आपत्ति यह होगी कि उस गाय के साथ किसी भी क्रिया का प्रयोग सम्भव नहीं होगा। क्रिया भावात्मक सत्ता रखनेवाली वस्तु के साथ ही रह सकती है, अभावात्मक वस्तु के साथ नहीं। दूसरी बात यह है कि गाय आदि शब्द को सुनकर जो अर्थ का मानस-प्रत्यक्षीकरण होता है, वह अभाव रूप नहीं होता, भाव रूप ही होता है। अतः शब्दार्थ को प्रसज्य अभाव रूप मानने वाला बौद्ध-सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।[1]

शब्दार्थ-विषयक बौद्ध-मत के विरुद्ध यह प्रश्न उठाया गया है कि गाय शब्द का 'गाय-भिन्न से भिन्न' रूप जो अर्थ माना गया है, उस अर्थ को प्रत्येक वस्तु के अपोह के आधार पर भिन्न-भिन्न माना जायगा या समग्र वस्तुओं के अपोह में एक रूप? यदि पहला विकल्प मानकर प्रति व्यक्ति को अलग-अलग गाय-भिन्न का निषेध' माना जाय तो आपत्ति यह होगी कि व्यक्ति के रूप की अनन्तता के कारण बौद्ध उसे शब्द से अवर्णनीय मानते हैं, फिर व्यक्ति को अलग-अलग शाब्दबोध का—अपोह रूप का विषय कैसे माना जायगा और यदि दूसरे विकल्प को मानकर यह कहा जाय कि सभी व्यक्तियों में एक ही रूप में 'गाय-भिन्न के निषेध का बोध होता है', तो आपत्ति यह होगी कि सभी व्यक्तियों में सामान्य या जाति की सत्ता बौद्ध इस कार मान

---

१. यश्चायमन्यापोह :—अगौर्न भवतीति गोशब्दस्यार्थः स किं भावोऽथाभावः? यदि भावः किं गौरगौरिति? यदि गौर्नास्ति विवादः। अथागौर्गो-शब्दस्यार्थः अहो शब्दार्थकौशलम्! अभावस्तु न युक्त :—प्रैषसंप्रतिपत्त्योरविषयत्वात्। न हि गोशब्दश्रवणात् अभावे प्रैषो न वा संप्रतिपत्तिः। शब्दार्थश्च प्रतिपत्त्या प्रतीयते। न च गोशब्दादभावं कश्चित् प्रतिपद्यत—इति।—न्याय वा० पृ० ३२९। तत्त्वसं० वा० ९९२-९८ तथा उसकी पंजिका टीका भी द्रष्टव्य।

ही लेते हैं, फिर जाति या सामान्य की सत्ता का खण्डन कर अपोह रूप अर्थ की कल्पना की आवश्यकता ही क्या थी ?[1]

अपोह रूप शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया गया है कि किसी शब्द का जो 'तद्भिन्न-भिन्न' रूप अर्थ माना गया है उसे वाच्य अर्थात् अपने में पूर्ण सत्ता वाला माना जायगा या उसे भी अवाच्य या अभावरूप ही माना जायगा ? उदाहरणार्थ, गाय का अर्थ 'गाय-भिन्न-भिन्न' के रूप में बोधगत होने वाला भावरूप ही माना जायगा या फिर उसके भी अभाव की कल्पना 'गाय-भिन्न-भिन्न से भिन्न' रूप में करनी होगी ? यदि अपोहरूप अर्थ को वाच्य मानें तो प्रश्न होगा कि उसे विधिरूप में वाच्य मानें या अन्य के निषेध रूप में ? बौद्ध अपोह को भावरूप नहीं मानकर अभावरूप ही मानते हैं । ऐसी स्थिति में अन्य का निषेध, फिर उसका अभाव बताने के लिए उससे भी भिन्न का निषेध कल्पित करना पड़ेगा और इस प्रकार अपोह की जितनी भी धारणाएँ बनती जायँगी उन सबको अभावरूप सिद्ध करने के लिए 'तद्भिन्न की व्यावृत्ति' की कल्पना होती चलेगी और इस 'अन्य व्यावृत्ति' की कल्पना का कहीं अन्त नहीं होगा । इस अनवस्था दोष के कारण उद्योतकार ने अपोह-सिद्धान्त को अमान्य बताया है ।[2]

कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि केवल नञ् समास वाले पद का अर्थ अन्यापोह रूप होता है । शेष पदों का अर्थ अन्यव्यावृत्तिरूप या अपोहरूप नहीं माना जा सकता, उनका विधिरूप अर्थ ही माना जाना चाहिए ।[3]

अपोहवाद के विरुद्ध किये गये उक्त आक्षेपों का खण्डन करने के लिए बौद्ध विचारकों ने कहा है कि अपोहवाद के स्वरूप को ठीक से समझे बिना ही, कुछ विद्वानों ने पूर्वग्रह-ग्रस्त होकर, उसके ऊपर निराधार आक्षेप किये हैं । अपोह को

---

१. अयं चापोहः प्रतिवस्तु एकोऽनेको वा इति वक्तव्यः । यद्येकोऽनेकगोसम्बन्धी तदा गोत्वं तदिति । अथानेकस्ततः पिण्डवद् आनन्त्यादाख्यानानुपपत्तेरर्थप्रत्ययो न युक्तः ।—न्यायवा०, पृ० ३३०

२. इदं च तावाद् प्रष्टव्यो जायते भवान् । किञ्चायमपोहो वाच्योऽथावाच्य इति । वाच्यत्वे विधिरूपेण वा वाच्यः स्यात् अन्यव्यावृत्त्या वा ? तत्र यदि विधिरूपेण तदाऽनैकान्तिकः शब्दार्थः अन्यापोहः शब्दार्थ—इति । अथान्यव्यावृत्या इति पक्षस्तदा तस्यापि अन्यव्यवच्छेदस्य अपरेण अन्यव्यवच्छेदरूपेण अभिधानं, तस्याति अपरेण इत्यनवस्था स्यात् ।
—वही, पृ० ३३०-३१

३. तस्माद् येष्वेव शब्देषु नञ् योगस्तेषु केवलम् ।
भवेदन्यनिवृत्त्यंशः स्वात्मैवान्यत्र गम्यते ।।
—श्लोकवा०, अपोहवाद, वा० १६४

केवल निषेध रूप मानकर उसके विरुद्ध यह तर्क दिया गया है कि भावात्मक सत्ता के सन्दर्भ के बिना अपोह की सार्थकता नहीं है। बौद्ध विचारकों का मत है कि यदि अपोह के स्वरूप और उसके तीन रूपों को ठीक-ठीक समझ लिया जाय, तो उस सिद्धान्त के विरुद्ध दिये गये तर्कों में से अनेक की निस्सारता स्वतः स्पष्ट हो जायगी। अपोह 'पर्युदास' रूप भी होता है और 'प्रसज्य प्रतिषेध' रूप भी। पर्युदास रूप अपोह का भावात्मक सन्दर्भ होता है, पर 'प्रसज्य प्रतिषेध का किसी भी प्रकार, किसी भावात्मक सत्ता से सम्बन्ध नहीं होता। भाव-सापेक्ष पर्युदास लक्षण अपोह के दो भेद स्वीकृत हैं। एक में भावात्मक वस्तु केवल कल्पित होती है, और दूसरे में वह वस्तु यथार्थ रूप में रहती है। इस प्रकार अपोह के तीन रूप होते हैं—बुध्यात्मा पर्युदास, अर्थात्मा पर्युदास और प्रसज्य प्रतिषेध।[1]

इन तीनों के स्वरूप तथा पारस्परिक भेद का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। प्रसज्य-प्रतिषेध रूप अपोह के सम्बन्ध में बौद्ध विचारकों की धारणा है कि किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा शब्द-बोध 'तद्भिन्न से भिन्न' के रूप में ही होता है। गाय को देखकर या गाय शब्द को सुन कर जो बोध होता है, उसका स्वरूप इस प्रकार का होता है—'यह गाय—भिन्न से भिन्न' है। ऐसे बोध में तद्भिन्न का अपोह स्पष्ट रूप में बोधगत होता है।[2] प्रसज्य-लक्षण अपोह में अपोह्यमान तद्भिन्न की भावात्मक सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। अभाव के अभाव को भी भावरूप नहीं मानकर—जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है—अभाव रूप ही मानने के कारण ऐसे अभाव को प्रसज्य-लक्षण अर्थात् सर्वथा भाव-निरपेक्ष अभाव माना जाता है।

पर्युदास लक्षण अपोह में अपोह्यमान तद्भिन्न का बोध भी अपेक्षित माना जाता है। बुध्यात्मा पर्युदास अपोह में तद्भिन्न की—जिसका निषेध होता है—वस्तुनिष्ठ सत्ता नहीं होती। वह अपोह्यमान तद्भिन्न केवल भावनागत होता है। उदाहरणार्थ, गाय शब्द की बोध-प्रक्रिया पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि गाय व्यक्तियों में, एक दूसरे से, गुण आदि का भेद होने पर भी क्रिया आदि के साम्य के कारण हम उन सभी व्यक्तियों को एक वर्गगत समझ लेते हैं और गाय-भिन्न हाथी, घोड़ा आदि से उसे भिन्न रूप में ग्रहण करते

---

१. तथा हि द्विविधोऽपोहः पर्युदासनिषेधतः।
द्विविधः पर्युदासोऽपि बुध्यात्माऽर्थात्मभेदतः॥—तत्त्वसंग्रह, वा० १००४

२. प्रसज्यप्रतिषेधश्च गौरगौर्न भवत्ययम्।
अतिविस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते॥—वही

हैं। सभी गाय व्यक्तियों में कुछ समता के आधार पर सब का एक गाय शब्द से बोध और तद्भिन्न हाथी, घोड़ा आदि से उसके भेद अर्थात् अपोह-सा बोध बुध्यात्मा पर्युदास-लक्षण का उदाहरण है, क्योंकि सभी गाय व्यक्तियों का बोध सम्भव नहीं।[1]

अर्थात्मा पर्युदास लक्षण अपोह का उदाहरण शब्द से एक व्यक्ति के बोध में देखा जा सकता है। गाय शब्द का प्रयोग जब एक गाय के लिए किया जाता है, तब न केवल गाय-भिन्न हाथी, घोड़े से अपोह का बोध होता है, वरन् अन्य गायों से भी उस एक गाय के भेद का बोध होता है। अन्य सभी गाय-व्यक्तियों से भिन्न व्यक्ति रूप में ही उस एक गाय व्यक्ति का बोध होता है। यह वस्तुनिष्ठ अपोह बुध्यात्मा अपोह का—इस उदाहरण में बुद्धिगत गाय के बिम्ब का—कारण बनता है।[2]

बुध्यात्मा पर्युदास लक्षण अपोह के सम्बन्ध में कहा गया है कि बाह्य वस्तु का जो मानस बिम्ब बनता है वह शब्द से गृहीत होता है। अर्थात्मा पर्युदास-रूप अपोह तथा प्रसज्य प्रतिषेध-लक्षण अपोह उसी बुध्यात्मा पर्युदास अपोह से लक्षित होता है। शब्द से व्यक्ति का बोध सम्भव नहीं, क्योंकि व्यक्ति का स्वरूप सतत परिवर्तनशील है और उस अस्थिर रूप में से किसी भी एक रूप को शब्द निर्दिष्ट नहीं कर सकता। जब तक शब्द का उच्चारण हो, तब तक व्यक्ति के रूप में असंख्य परिवर्तन हो जाते हैं, फिर शब्द व्यक्ति के रूप का निर्देश कैसे कर सकेगा? अतः उसका अपोह मानस बिम्ब से ही बोधगम्य हो सकता है। प्रसज्य-प्रतिषेध का बोध भी मानस-बिम्ब के आधार पर ही होता है। अतः अपोहवाद पर ऐसे आक्षेप का कोई आधार नहीं रह जाता कि "अपोहवाद के अनुसार गाय शब्द का अर्थ गाय-भिन्न का निषेधमात्र होता है और उससे गाय व्यक्ति का बोध नहीं हो पाता, ऐसी स्थिति में गाय व्यक्ति के बोध के लिए किसी दूसरे शब्द के प्रयोग की

---

१. एकप्रत्यवमर्षस्य य उक्ता हेतवः पुरा।
अभयादिसमा अर्थाः प्रकृत्यैवान्यभेदिनः॥
तानुपाश्रित्य यज्ज्ञाने भात्यर्थप्रतिबिम्बकम्।
कल्पकेऽर्थान्तराभावेऽप्यर्थो इत्येव निश्चितम्॥
× × ×
प्रतिभासान्तराद् भेदादन्यव्यावृत्तवस्तुनः।
\+ \+ \+
तत्रान्यापोह इत्येषा संज्ञोक्ता सनिबन्धना॥—तत्त्वसंग्रह, १, पृ० ३१७

२. स्वलक्षणेऽपि तद्धेतौ अन्यविश्लेषभावतः।—वही, वा० १००९

आवश्यकता होगी।"[1] यदि केवल प्रसज्य प्रतिषेध को अपोहवाद में स्वीकृति मिलती तो इस आक्षेप का कुछ अर्थ हो सकता था, पर उसमें यह माना गया है कि वस्तु का भावात्मक मानस बिम्ब ही शब्द का मुख्य अर्थ होता है, तद्भिन्न का निषेध, अर्थात् उस मानस बिम्ब से भिन्न का निषेध उसका व्युत्पन्न अर्थ होता है। इस प्रकार गाय शब्द से, मानस बिम्ब के रूप में गाय व्यक्ति का भी बोध अपोहवाद में स्वीकृत है। व्यक्ति-बोध के लिए अलग शब्द की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं।

अपोह-सिद्धान्त पर भामह ने एक आपत्ति यह भी की है कि अपोहवाद में एक ही शब्द को दो विरोधी अर्थों का बोधक मान लिया गया है। गाय शब्द से ही गाय-भिन्न अर्थों का बोध, फिर उनके निषेध का बोध और तब गाय-भिन्न से-भिन्न रूप में विध्यात्मक गाय का बोध अपोहवाद में स्वीकृत अर्थबोध की प्रक्रिया है। इस प्रकार अपोहवाद पर भामह का आक्षेप है कि उसमें एक ही शब्द से विधिरूप तथा निषेधरूप; दो परस्पर विरोधी अर्थों का बोध मान लिया गया है, जो उचित नहीं।[2] बौद्धों का उत्तर है कि ऐसा आक्षेप निर्मूल है, जो अपोहवाद के स्वरूप को ठीक से नहीं समझ पाने के कारण उसपर किया गया है। अपोहवाद में विधि और निषेधरूप दो अर्थों को शब्द का मुख्यार्थ नहीं माना जाता। एक को मुख्यार्थ और दूसरे को उससे लक्षित गौण अर्थ माना जाता है। विधिरूप मुख्य अर्थ से निषेध रूप गौण अर्थ के बोध में तथा निषेधरूप मुख्य अर्थ से विधिरूप गौण अर्थ के बोध में कोई अनुपपत्ति नहीं। अतः एक शब्द में अभिधा और लक्षणा; इन दो शक्तियों की कल्पना करने में कोई दोष नहीं। वस्तु का बुद्धिनिष्ठ बिम्ब एकरूप और अपरिवर्तनशील होता है जबकि वस्तु का बाह्य रूप अस्थायी, क्षणिक और परिवर्तनशील होता है। वस्तु के रूप की विभिन्नता के बीच एक सामान्य या जाति की कल्पना कर ली जाती है, जिसे वस्तुनिष्ठ तथा सभी व्यक्तियों में समान रूप से स्थित मान लिया जाता है। वह सामान्य या जाति है तो वस्तुतः भ्रममात्र, फिर भी उसकी वस्तुगत सत्ता मान ली जाती है।

यह विचारणीय है कि जब बौद्धमत के अनुसार जाति या सामान्य की सत्ता ही नहीं मानी गयी है, तब बुद्धिगत बिम्ब की वस्तुगत जाति के रूप में भ्रमात्मक

---

१. द्रष्टव्य—भामह, काव्यालंकार, ६,१७

२. वही, ६,१८-१९

प्रतीति का सिद्धान्त कैसे मान लिया गया है? भ्रमात्मक ज्ञान दो वस्तुओं में सादृश्य के कारण उत्पन्न होता है। सादृश्य के लिए यह आवश्यक है कि दो वस्तुओं की पृथक्-पृथक् सत्ता हो। यदि दो में से किसी एक की सत्ता ही स्वीकार न की जाय, तो उन दो में सादृश्य की तथा उससे उत्पन्न भ्रमात्मक बोध की कल्पना कैसे की जा सकेगी? बौद्ध विचारकों ने इस समस्या का समाधान इस रूप में किया है कि वस्तुगत जाति या सामान्य के रूप में बुद्धिगत बिम्ब की प्रतीति है तो वस्तुतः भ्रमात्मक प्रतीति ही, पर वह सादृश्य पर आधृत नहीं है। जैसे दृष्टिदोष के कारण दो चन्द्रमाओं का दिखाई पड़ना भ्रमात्मक प्रतीति है, वैसे ही शाब्दबोध में बुद्धिगत बिम्ब का अन्तःउपप्लव से वस्तुनिष्ठ जाति के रूप में प्रतीत होना भ्रमात्मक प्रतीति है, जिसके लिए बाह्य वस्तुनिष्ठ जाति की स्वतन्त्र सत्ता और मानस-बिम्ब के साथ उसके सादृश्य की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं।[1] विकल्परूप में बुद्धि में रहने वाला वह प्रतिबिम्ब केवल मनोगत तत्त्व है, फिर भी उसका बोध अर्थ क्रियाकारी वाह्य वस्तु के रूप में हो जाता है, जिससे लोक-व्यवहार चलता है। बुद्धिगत विकल्प प्रतिबिम्ब का बाह्य वस्तु के रूप में अवभासित होना वासना के ही रूपायित हो जाने का फल होता है।[2]

व्यक्ति-बोध की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए बौद्ध विचारकों ने जो यह मान्यता व्यक्त की है कि रूप, गुण आदि की दृष्टि से परस्पर भिन्न होने पर भी सभी व्यक्ति समान-कार्य के सम्बन्ध से एक वर्ग में आ जाते हैं और तब शब्द उस वर्ग के अन्य व्यक्तियों का निषेध कर उनके अपोह के रूप में किसी विशिष्ट व्यक्ति का बोध कराता है, उसपर यह प्रश्न उठाया गया है कि सभी व्यक्तियों के कार्य भी तो समान नहीं होते। व्यक्ति-भेद से क्रिया भी भिन्न-भिन्न होती है। फिर, उनमें जाति की कल्पना तो करनी ही पड़ेगी। बौद्ध विचारकों ने इसका उत्तर इस युक्ति से दिया है कि व्यक्ति-भेद से कार्य में भी अनेकरूपता अवश्य रहती है, पर मानस-बिम्ब के रूप में होनेवाले प्रत्यवमर्श प्रत्यय में एकरूपता ही रहती है और फलतः उससे होनेवाले बोध को भी एक ही माना जाता है। उन व्यक्तिनिष्ठ कार्यों की विविधता में समान रूप से रहनेवाली किसी जाति की कल्पना की आवश्यकता नहीं। शब्द प्रथमतः भावात्वक मानस

---

१. तत्त्व संग्रह, वा १०२०-२१

२ + + + + विकल्पप्रतिबिम्बकं ज्ञानाकारमात्रकम् एव तद् अबाह्यमपि विचित्रवासनाभेदोपहितरूपभेदेन बाह्यवदवभासमानां लोकयात्रां विभर्ति, व्यावृत्तिच्छायायोगाच्च तदपोह इति व्यवह्रियते। सेयमात्मख्यातिवादगर्भा सरणिः। —न्यायमंजरी, १ पृ० २८१

बिम्ब का बोध कराता है और तदनन्तर तद्भिन्न का निषेध व्यञ्जित करता है।

ध्यातव्य है कि अपोहवाद के प्रवर्तक दिङ्नाग ने शाब्दबोध के प्रसंग में प्रसज्य प्रतिषेध को ही शब्द का वाच्य अर्थ माना था। भावात्मक मानस बिम्ब की कल्पना उन्होंने शब्द के वाच्य अर्थ के रूप में नहीं की थी। परवर्ती बौद्ध विचारकों ने शब्द से वाच्य मानस-बिम्ब की कल्पना कर ली है। दिङ्नाग की मान्यता से परवर्ती बौद्ध विचारकों की मान्यता के इस भेद का कारण विचारणीय है। मानस-बिम्ब को शब्द का वाच्य अर्थ माननेवाले परवर्ती बौद्ध विचारकों की मान्यता है कि दिङ्नाग ने पारमार्थिक दृष्टि से पदार्थ की भावात्मक सत्ता का निषेध किया था। परमार्थतः पदार्थ या मानस-बिम्ब का कोई अस्तित्व नहीं, पर व्यावहारिक दृष्टि से विकल्प की भावात्मक सत्ता मानना आवश्यक है। इस विषय में दिङ्नाग मौन थे। अतः उनके मतानुयायी बौद्धों ने जब व्यावहारिक दृष्टि से मानस विकल्प की सत्ता की कल्पना की, तो दिङ्नाग के मत से उसका कोई विरोध नहीं। तात्त्विक दृष्टि से सब शून्य है, प्रसज्य अभावरूप है, पर व्यावहारिक दृष्टि से मानस विकल्प की भावात्मक सत्ता की कल्पना की जाती है, जो बाह्य वस्तु के रूप में रूपायित होकर लोक-व्यवहार का हेतु बनता है।[1]

विधि-निषेध रूप मानस विकल्प के अपोह को शब्द का मुख्य अर्थ माननेवाले इस सिद्धान्त में एक आपत्ति यह की जा सकती है कि शब्द का वाच्य मानस विकल्प है, तो शब्द के साथ लिंग, वचन आदि के बोधक प्रत्यय के प्रयोग का क्या औचित्य होगा? मानस बिकल्प लिंग और संख्या से परे होगा ओर इसलिए उसके बोधक शब्द में लिंग तथा वचन के प्रत्यय के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं होगी। शब्द के साथ लिंग-वचनबोधक प्रत्यय का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि लिंग-वचन से मुक्त मानस विकल्प शब्द का वाच्य नहीं। बौद्ध विचारक यह तर्क तो दे ही नहीं सकते कि शब्द के साथ लिंग-वचन-प्रत्यय के प्रयोग की सार्थकता बाह्य वस्तु में रूपायित मानस विकल्प की दृष्टि से है, जो बाह्य वस्तु लिंग-संख्या से युक्त होती है और जिसका बोध शब्द की गौणी शक्ति से होता है, क्योंकि वे बाह्य पदार्थ को अनिर्वचनीय मानते हैं, जिसके साथ लिंग-वचन के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती।[2]

---

१. असम्भवो विधेरुक्तः सामान्यादेरसम्भवात्।
शब्दानां च विकल्पानां वस्तुतोऽविषयत्वतः॥ —तत्त्वसंग्रह; वार्तिक १०९७

२. लिंगसंख्यादिसम्बन्धो न चापोहस्य विद्यते।
व्यक्तेश्चाव्यपदेशत्वात् तद्द्वारेणापि नास्त्यसौ॥
—कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक, अपोहवाद, वार्तिक १३५

बौद्ध विचारकों ने इस आपत्ति का उत्तर देने के लिए एक प्रश्न उठाया है। प्रश्न यह है कि क्या भाषा में प्रयुक्त होनेवाले लिंग और वचन की धारणा का कोई निश्चित आधार है ? वे क्या लोक-व्यवहार-मात्र की दृष्टि से मानव की इच्छा से आरोपित-भर नहीं ? बौद्ध न केवल वस्तु के यथार्थ अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं, वे उनके बोधक शब्दों के साथ प्रयुक्त होने वाले लिंग-वचन-भेद के तात्त्विक अस्तित्व को भी अस्वीकार करते हैं। उनकी युक्ति है कि किसी वस्तु के बोधक शब्दविशेष के साथ किसी लिंग आदि का नियत सम्बन्ध नहीं। उदाहरण के लिए, तट शब्द के साथ तीनों लिंगों का प्रयोग होता है और तटः, तटी, तटम् ये तीन रूप प्रयुक्त होते हैं। अतः वस्तु का लिंग-सम्बन्ध की दृष्टि से वर्णन सम्भव नहीं। लिंग, वचन आदि मानव की कल्पना से आरोपित असत्य तत्त्व हैं।[1] संख्या या वचनबोधक प्रत्यय का भी वस्तु के साथ यथार्थ सम्बन्ध नहीं। संस्कृत का 'दार' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है, जबकि उस शब्द से एक व्यक्ति का निर्देश होता है। इसके विपरीत जंगल जैसे शब्द के साथ एकवचन का प्रयोग होता है, जबकि उस शब्द के अर्थ-बोध में वस्तु की विविधता का बोध मिला रहता है।[2] एक वस्तु के बोधक शब्द के साथ बहुवचन प्रत्यय के प्रयोग तथा अनेक वस्तु के बोधक शब्द के साथ एकवचन प्रत्यय के प्रयोग के असंख्य उदाहरण विभिन्न भाषाओं में देखे जा सकते हैं। हिन्दी में प्राण शब्द तथा देखना क्रिया के बोधक दर्शन शब्द आदि का बहुवचनान्त प्रयोग इसके उदाहरण हैं। एक के लिए आदरार्थक बहुवचन का प्रयोग भी इसका उदाहरण है। अतः बौद्धों की यह मान्यता उचित ही है कि शब्द से बोध्य वस्तु के साथ लिंग-वचन का नित्य सम्बन्ध नहीं।

पकाता है, जैसे क्रिया-पद के अर्थबोध का उदाहरण देकर जो यह आक्षेप किया गया है कि अपोहवाद उसकी बोध-प्रक्रिया को स्पष्ट नहीं कर पाता, उसके उत्तर में बौद्ध विचारकों ने यह युक्ति दी है कि शब्द का प्रयोग विवक्षित अर्थ का बोध कराने के उद्देश्य से ही किया जाता है। फलतः अविवक्षित अर्थ का निषेध भी वह शब्द करा देता है। सभी शब्द; चाहे वे क्रिया-पद हों, संज्ञा-पद

---

१. लिंगसंख्यादियोगस्तु व्यक्तीनामपि नास्त्ययम्।
इच्छारचित सङ्केत-निमित्तो न तु वास्तवः॥
तटस्तटीतटं चेति त्रैरूप्यं न च वस्तुनः।
शबलाभासताप्राप्तेः सर्वेषां तत्र चेतसाम्॥
—तत्त्वसंग्रह, वार्तिक ११२२ २३। इन पर पंजिका द्रष्टव्य

२. संख्यापि सामयिक्येव कल्प्यते हि विवक्षया।
भेदाभेदविवेकेऽपि दारादिविपिनादिवत्॥ —वही, ११३४

हों या विशेषण-पद हों—एक ओर विवक्षित अर्थ का बोध कराते हैं और दूसरी ओर विवक्षित से भिन्न अर्थों का व्यावर्तन करते हैं। इस प्रकार 'पकाता है' पद पाक-भिन्न चुपचाप बैठा है, खाता है, खेलता है, आदि क्रियाओं का व्यावर्तन कर पकाने की क्रिया का बोध कराता है।[1]

सत्, ज्ञेय या प्रमेय शब्द के अर्थबोध में अपोह-सिद्धान्त की अव्याप्ति दिखाने के लिए जो यह तर्क दिया गया था कि सत्-भिन्न या ज्ञेय-भिन्न के व्यावर्तन का बुद्धि-व्यापार सम्भव नहीं, उसके उत्तर में बौद्धों का तर्क यह है कि सत् या प्रमेय पद का अपने-आप में कोई निश्चित अर्थ नहीं, वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही ये पद किसी अर्थ को व्यक्त करते हैं। यह आक्षेप यह मानकर किया गया है कि सत्-भिन्न असत् तथा प्रमेय-भिन्न अप्रमेय के निश्चित स्वरूप को स्वीकार कर अपोहवाद में उनका निषेध क्रमशः सत् तथा प्रमेय पद से माना गया है, पर अपोह-वादी ऐसा नहीं मानते। वे वाक्य में अन्य पदों के सन्दर्भ में ही किसी पद की अर्थवत्ता स्वीकार करते हैं।[2] वाक्य में प्रयुक्त सत्, प्रमेय आदि से भिन्न का निषेध कर उनसे भिन्न के बोध में शब्द का संकेत मानने में कोई बाधा नहीं। यदि किसी वाक्य में सत्, प्रमेय आदि के तद्भिन्न-भिन्न अर्थ-बोध के स्वरूप पर विचार किया जाय तो उन पदों की बोध-प्रक्रिया अपोहवाद के अनुसार स्पष्ट हो जायगी। 'ध्वनि की क्षणिकता प्रमेय है, इस वाक्य में मीमांसकों द्वारा मान्य ध्वनि की शाश्वत सत्ता के सिद्धान्त का निषेध और तद्भिन्न मत का बोध होता है। इस प्रकार पद को अर्थवत्ता प्रदान करनेवाले वाक्य के स्वरूप पर विचार करने से किसी शब्द के अर्थबोध की अपोहवादी व्याख्या की जा सकती है।

'सब' शब्द के सन्दर्भ में अपोह-सिद्धान्त की अव्याप्ति दिखाने के लिए यह कहा गया था कि सबसे भिन्न तो कुछ बच ही नही रहता कि उसका निषेध उस शब्द से माना जा सके। सब के अङ्गभूत कुछ का निषेध बौद्ध मान ही नहीं सकते, क्योंकि वे अङ्गों से पृथक् अङ्गी की कोई सत्ता नहीं मानते। इस समस्या का समाधान भी बौद्ध विचारक इसी युक्ति से करते हैं कि 'सब' शब्द अपने-आप में कोई अर्थ नहीं

---

१. अभिप्रेते निवेशार्थं बुद्धेः शब्दः प्रयुज्यते
अनभीष्टव्युदासोऽतः सामर्थ्येनैव सिद्ध्यति ॥
X X X X
तथाहि पचतीत्युक्ते नोदासीनोऽवतिष्ठते।
भुंक्ते दीव्यति वा नेति गम्यतेऽन्यनिवर्तनम् ॥
—तत्त्व-संग्रह वार्तिक ११४४-४६

२. प्रमेय ज्ञेय शब्दादौ कस्यापोह्यं न विद्यते।
नह्यसौ केवलोऽकाण्डे प्रेक्षावद्भिः प्रयुज्यते ॥ —वही, ११६६

रखता। अन्य पदों के साथ किसी वाक्य में प्रयुक्त होने पर ही उसमें सन्दर्भ-सापेक्ष अर्थवत्ता आती है। अतः उस पद के अपोहरूप अर्थ को समझने के लिए किसी वाक्य में प्रयुक्त 'सब' शब्द की अर्थ-बोध-प्रक्रिया पर ही विचार किया जाना चाहिए। 'सब धर्म अनात्म हैं' या 'सब प्राणी मरणशील हैं' ऐसे वाक्यों में 'सब' शब्द के अर्थ-बोध के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि सबसे भिन्न कुछ का स्वतः निषेध हो जाता है। उक्त वाक्य यह बताते हैं कि कुछ ही धर्म आत्मा-रहित हों या कुछ ही प्राणी मरणशील हों यह बात नहीं, सभी धर्म अनात्म और सभी प्राणी मरणशील हैं। इन वाक्यों में समष्टि के अंश का निषेध और समष्टि का बोध होता है। सबके अङ्गभूत पदार्थों का निषेध इसमें विवक्षित नहीं। अतः यह शंका नहीं होनी चाहिए कि अङ्ग का निषेध स्वयं अङ्गी का ही निषेध बन जाता है, क्योंकि अङ्गी की अङ्ग से स्वतन्त्र सत्ता नहीं, और परिणामतः अपोहवाद के अनुसार 'सब' शब्द अपने ही अर्थ का निषेध कर देता है।[1]

लोक में असिद्ध पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थ को दृष्टि में रखकर अपोहवाद के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि लोक-सिद्ध गाय, घड़ा आदि वस्तुओं के बोधक शब्द तद्भिन्न पदार्थों का निषेध कर सब से भिन्न एक पदार्थ का बोध कराता है, तब भी ऐसे अमूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थ-बोध की समस्या बच ही जाती है, जिनकी लोक-सिद्ध सत्ता नहीं, केवल लोकमानस के द्वारा कल्पित सत्ता है। उदाहरणार्थ बन्ध्या-पुत्र, आकाश-कुसुम, शशविषाण आदि शब्दों के अर्थ का अपोहवाद के अनुसार क्या स्वरूप माना जायगा?[2] बौद्ध विचारक यह मानते हैं कि ऐसे शब्द से किसी पदार्थ का मानस-बिम्ब नहीं बनता, उन शब्दों का ही मन में बिम्ब बनता है। यह बिम्ब ही शब्द का मुख्य अर्थ है। दिङ्नाग ने प्रसज्य प्रतिषेध को शब्द का मुख्यार्थ माना था, पर परवर्ती बौद्धों ने व्यावहारिक दृष्टि से मानस बिम्ब की सत्ता की कल्पना कर

---

१. व्यवहारोपनीते च सर्वशब्देऽपि विद्यते।
व्युदास्यं तस्य चार्थोऽयं अन्यापोहोभिधित्सतः॥
सर्वे धर्मा निरात्मानः सर्वे वा पुरुषा गताः।
सामष्ट्यं गम्यते तत्र कश्चिदंशस्त्वपोह्यते॥
X X X X X
सर्वाङ्गप्रतिषेधश्च नैव तस्मिन् विवक्षितः।
स्वार्थापोहप्रसङ्गोऽयं तस्मादज्ञतयोच्यते॥

—शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, ११२४-८८

२. यस्य तर्हि न बाह्योऽर्थोऽप्यन्यव्यावृत्त इष्यते।
वन्ध्यासुतादिशब्दस्य तेन क्वापोहउच्यते॥ —वही, १२०३

उसे ही शब्द का मुख्य अर्थ माना और तद्भिन्न के निषेध को शब्द का गौण अर्थ स्वीकार किया। प्रसज्य अभाव की तात्त्विक दृष्टि से बन्ध्यापुत्र आदि शब्दों के अर्थ में तद्भिन्न की धारणा और उसका निषेध निर्धारित करना अवश्य कठिन होता, पर शब्द के मानस-बिम्ब की, व्यावहारिक दृष्टि से, सत्ता मानकर तथा उसी को मुख्यार्थ स्वीकार कर परवर्ती बौद्ध विचारक उस कठिनाई से बच जाते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से बौद्धों ने भावाभाव-रूप अर्थ की धारणा व्यक्त की। अपोह शब्द का मुख्य अर्थ नहीं, गौण अर्थ मान लिया गया। भाव-रूप मानस-बिम्ब शाब्दबोध में प्रथम अर्थ के रूप में स्वीकृत हुआ और प्रसज्य प्रतिषेध को द्वितीय अर्थ के रूप में मान्यता मिली। इस प्रकार लोक में सिद्ध या असिद्ध वस्तुओं के वाचक शब्द से मानस बिम्ब ग्रहण होने पर अभिजल्प से—अर्थात् शब्द का अर्थ के साथ तादूप्य सम्बन्ध-बोध से—अपनी वासना से निर्मित अर्थ के ग्रहण होने का सिद्धान्त अपोहवाद में पीछे चलकर स्थापित हुआ।[1]

अब प्रश्न यह है कि मानस-विकल्प-बिम्ब को शब्द का मुख्य अर्थ मानने पर शब्द तथा विकल्प-बिम्ब का सम्बन्ध कैसे स्थापित होता है? वक्ता जिस मानस-विकल्प को व्यक्त करने के लिए शब्द का प्रयोग करता है, ठीक वैसा ही बिम्ब श्रोता के मन में हो, तभी भाषिक व्यवहार सम्भव होगा, अन्यथा नहीं। बौद्ध विचारकों की मान्यता है कि गाय आदि शब्द मुख्यतः वक्ता और श्रोता के मन में गाय पदार्थ का बिम्ब निर्मित करता है। वे मानस-बिम्ब को चेतना-रूप मानते हैं और सभी व्यक्तियों की चेतना को परस्पर भिन्न स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि हर व्यक्ति की चेतना में शब्द से अलग-अलग बिम्ब बनते हैं और फलतः भाषिक व्यवहार का कोई युक्तिसङ्गत समाधान नहीं मिल पायगा। इस समस्या का समाधान करने के लिए बौद्ध विद्वानों ने यह युक्ति दी है कि शब्द मानस-विकल्प-बिम्ब के कारण होते हैं, प्रकाशक नहीं। अर्थ-बोध में मानस-बिम्ब को पूर्वगामी स्थिति माना गया है, उसे शब्द का वास्तविक अर्थ नहीं माना गया है। शब्द से समुत्थित विकल्प-बिम्ब प्रति व्यक्ति के मानस में होता तो भिन्न-भिन्न ही है, और उसका कोई एक नियत बाह्य स्वरूप भी नहीं होता, फिर भी उनकी विभिन्नता में भ्रमात्मक ऐक्यबोध हो जाता है और इस प्रकार भाषिक प्रयोग से

---

१. अर्थशून्याभिजल्पोत्थ-वासनामात्रनिर्मितम्।
प्रतिबिम्बं यदाभाति तच्छब्दैः प्रतिपाद्यते॥
—शान्तरक्षित, तत्वसंग्रह, १२०४

तथा

सोऽयमित्यभिसम्बन्धात् रूपमेकीकृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते॥ —वही, ८९०

लोकव्यवहार सम्भव होता है।[1] सम्पूर्ण लोकव्यवहार और भाषिक व्यवहार को बौद्धों ने अज्ञान पर आधृत मान लिया है।

सम्पूर्ण भाषिक व्यवहार को भ्रममूलक या असत्य ज्ञान पर अवलम्बित मान लेने पर समस्या यह होगी कि सत्य कथन और असत्य कथन का जो भेद किया जाता है, उसका क्या आधार माना जायगा? जब शब्द केवल मानस बिम्ब उत्पन्न करते हैं और बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं होती, तो किसी कथन को यथार्थ और किसी को अयथार्थ कैसे मान लिया जाता है? बाह्य वस्तु की तुलना में ही तो उक्ति की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय होता है! बौद्ध विचारकों की मान्यता है कि सभी शाब्दबोध भ्रममूलक और अयथार्थ ही होते हैं, फिर भी कथन की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय किया जा सकता है। अलग-अलग शब्द के भ्रममूलक असत्य अर्थों के संघटन से जो कोई एक पूर्ण उक्ति बनती है, वह अर्थक्रियाकारित्व को जन्म देती है। किसी उद्देश्य से की जानेवाली क्रिया को सम्पादित करने की योग्यता ही कथन के यथार्थ होने का निर्णय करती है। यथार्थ कथन हो या अयथार्थ; दोनों के घटक अलग-अलग शब्दों के अर्थ असत्य ही होते हैं, पर जिस कथन में व्यवहारोपयोगिता रहती है और उससे हमारा लोक-व्यवहार चलता है, उसे यथार्थ और अन्य को अयथार्थ कहते हैं। मणि के प्रकाश को भ्रमवश मणि समझ लेने वाले को भी जैसे यथार्थ मणि की प्राप्ति हो जाती है, वैसे ही भ्रममूलक शब्दज्ञान से भी कथन के यथार्थ होने का निर्णय हो सकता है, उसके लिए शब्दार्थ को यथार्थ मानना आवश्यक नहीं।[2]

शाब्दबोध-विषयक अपोह सिद्धान्त के इस विवेचन से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं:—

△ अपोहवाद के आदि प्रवर्त्तक दिङ्नाग ने शून्यवादी तत्त्व-चिन्तन के अनुरूप प्रसज्य प्रतिषेध को शाब्दबोध का विषय माना था। उस सिद्धान्त पर मीमांसकों के प्रबल प्रहार के बाद अन्य बौद्ध विचारकों के चिन्तन में उस प्रस्थान से कुछ विचलन आया और उन्होंने पर्युदासलक्षणा प्रतिषेध को भी व्यावहारिक दृष्टि से शाब्दबोध का विषय स्वीकार किया और शब्द से ज्ञेय पदार्थ के रूप में मानस विकल्प प्रतिबिम्ब की कल्पना की।

---

१. स्वस्य स्वस्यावभासस्य वेदनेऽपि स वर्तते।
बाह्यार्थाध्यवसायोऽपि द्वयोरपि समो यतः॥

—शान्तरक्षित, तत्वसंग्रह, १२१०

२. यत्र हि पारम्पर्यात् वस्तुनि प्रतिबन्धोऽस्ति तस्य भ्रान्तस्यापि सतोविकल्पस्य मणिप्रभायां मणिबुद्धिवत् न बाह्यार्थानपेक्षत्वमस्ति।

—कमलशील, पंजिका, १, पृ. ३२३.

△ दिङ्नाग ने जहाँ प्रसज्य प्रतिषेध-रूप अपोह को शब्द का अर्थ माना था, जिसमें अपोह्यमान किसी भी पदार्थ की सत्ता की कल्पना आवश्यक नहीं मानी गयी थी, वहाँ पारमार्थिक दृष्टि से उस मत को सत्य मानने पर भी परवर्ती बौद्ध विचारकों ने व्यावहारिक दृष्टि से शब्द से मन में उत्पन्न होने वाले विकल्प बिम्ब को शाब्द- बोध का विषय माना।

△ अपोहवाद में शब्द की अर्थवत्ता, वाक्य में प्रयुक्त होने पर अन्य पदों के सन्दर्भ में ही, स्वीकार की गयी है। शब्द का अपने आप में कोई अर्थ नहीं माना गया है। यह मत वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों के मत से मिलता-जुलता है, जिसके औचित्य पर हम वाक्यार्थ-विवेचन के प्रसङ्ग में विचार करेंगे।

△ मानस विकल्प बिम्ब की भावात्मक सत्ता मान कर शब्द से विकल्प बिम्ब की उत्पत्ति मान लेने से बौद्ध मीमांसकों के अनेक आक्षेपों का उत्तर दे सकते हैं, पर कुछ नयी कठिनाइयाँ भी अपोहवाद में उठ खड़ी होती हैं। विकल्प की मानव-चेतना में परस्पर भिन्न सत्ता मानने के कारण ही उन्हें शब्द की निरपेक्ष अर्थवत्ता का खण्डन करना पड़ा है। शब्द के कोशार्थ को नकारना आसान नहीं, जो कठिनाई वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों तथा शब्द का सन्दर्भ-गत अर्थ मानने वाले कुछ आधुनिक भाषा-शास्त्र-विदों के सामने भी रही है।

△ जाति, द्रव्य आदि की सत्ता बौद्ध तत्त्व-चिन्तन में मान्य नहीं। इसीलिए शब्दार्थ-चिन्तन में बौद्धों के सामने अनेक कठिनाइयाँ स्वभावतः ही आ गयी हैं। कुछ शब्दों का अर्थ अवश्य ही केवल मानस विकल्परूप होता है, जिसका प्रतिरूप बाह्य जगत में नहीं पाया जा सकता। एक, दो आदि संख्यावाचक पद; नहीं, हाँ, तो, भी आदि पदों का अर्थ मानस विकल्प से भिन्न कुछ नहीं, पर गाय, घड़ा आदि लोकसिद्ध पदों के वाच्य अर्थ की बाह्य सत्ता को अस्वीकार करने से शब्द की प्रवृत्ति-निवृत्ति की व्याख्या कठिन हो जाती है।

△ जब विकल्प को शब्दार्थ मान लिया गया और अपोह को शब्द का मुख्यार्थ नहीं मानकर फलितार्थ मान लिया गया तब अपोहवाद दुर्बल पड़कर वाक्यस्फोटवादी भर्तृहरि की शब्दार्थ-विषयक मत का अनुसरण करने लगा। भेद केवल यह रह गया कि भर्तृहरि की जाति, द्रव्य आदि की धारणा को बौद्धों ने स्वीकार नहीं किया। उसे स्वीकार कर लेने से शब्दार्थ-चिन्तन और अधिक यथार्थवादी बन जाता। मानस विकल्प तथा उसके प्रतिरूप बाह्य पदार्थ की जाति की कल्पना से शाब्दबोध की समस्या का समाधान मिल जाता, पर वैसा मानने में बौद्ध तत्त्व-चिन्तन बाधक था।

△सभी शब्दों से मन में विकल्प-प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति मानना भी समीचीन नहीं। इस मान्यता के प्रति अतिशय आग्रह के कारण ही कुछ शब्दों से अर्थ की जगह शब्द-प्रतिबिम्ब की ही उत्पत्ति की दूराकृष्ट कल्पना करनी पड़ी है। शब्द से होनेवाला सम्बोध प्रतिबिम्ब का रूप ग्रहण करे ही, यह आवश्यक नहीं। जिस लोक-सिद्ध मूर्त पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें रहता है, उसके बोधक शब्द से हमारी पूर्वानुभूति बिम्ब के रूप में अवश्य ही, मन में जग पड़ती है, पर वन्ध्या-पुत्र आदि शब्दों से वैसा बिम्ब-ग्रहण नहीं हो पाता। इसीलिए बौद्धों को वैसे शब्दों से शब्द-बिम्ब के उत्पन्न होने की दूराकृष्ट कल्पना करनी पड़ी है। शब्द बिम्ब से वन्ध्या-पुत्र रूप अर्थ के बोध की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं हो पाती। वन्ध्यापुत्र जैसे पदार्थ असम्भाव्य सत्ता के रूप में मानव मन की एक परिकल्पना है, जिसका बोध वह शब्द कराता है। वैसे पदार्थ का मानस-बिम्ब, या वैसे शब्द का ही मानस-बिम्ब, सम्भव नहीं। वह निराकार सम्बोध-मात्र है। शब्द-बिम्ब शब्द के स्वरूपमात्र का बोध करा सकता है, उसके वाच्य अर्थ का नहीं।

शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में उपरिविवेचित व्याकरण, मीमांसा, न्याय तथा बौद्धमत की शक्ति-सीमा संक्षेप में इस प्रकार है—

वैयाकरणों ने तात्त्विक दृष्टि से शब्द-ब्रह्म के व्यापक स्वरूप की कल्पना कर उसके वाच्य पदार्थों को उसी की अर्थात्मा अभिव्यक्ति माना और इस प्रकार शब्द-अर्थ के अभेद का सिद्धान्त स्थापित करने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य को शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ माना। फलतः उन्होंने जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक तथा यदृच्छात्मक शब्दवर्गों की कल्पना की। इस मत में कठिनाई यह है कि जातिवाचक शब्द से द्रव्यादि निरपेक्ष शुद्ध जाति का ही बोध नहीं होता। निर्विकल्प जाति का बोध योगलक्षणसन्निकर्ष से ही सम्भव है, लौकिक भाषा-प्रयोग में वह सम्भव नहीं। दूसरी बात यह कि यदि गाय, घट आदि शब्दों का अर्थ गोत्व, घटत्व आदि जातियों को माना जाय तो 'गाय उजली है' का अर्थ होगा 'गोत्व' उजला है। घट फूट गया से घटत्व फूट गया का बोध होगा, जिसमें यौक्तिक संगति नहीं। तीसरी बात यह कि यदि गाय शब्द से ही गोत्व का बोध हो तो जाति के बोधक 'त्व' प्रत्यय के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं रह जाय। अतः गाय का अर्थ गोत्व से कुछ भिन्न माना ही जाना चाहिए। गुणबोधक से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द रूप गुण की जिस अव्यक्त सनातन सत्ता का बोध माना गया, उसमें भी अनुभव से यही सिद्ध होता है कि हम गुण के पदार्थ में व्यक्त रूप को ही ग्रहण कर सकते हैं। ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से एक इन्द्रिय के विषय का अन्य इन्द्रिय से ग्रहण होना भी गुण के द्रव्य में अभि-

व्यक्त रूप का बोध प्रमाणित करता है। क्रिया, द्रव्य आदि का बोध भी मिश्र या अन्य-सापेक्ष ही होता है। द्रव्य का तो गुण, क्रिया आदि से स्वतन्त्र बोध संभव ही नहीं। नामपद या यदृच्छात्मक शब्द का तो निर्दिष्ट पदार्थ के रूप, गुण आदि से कोई सम्बन्ध भी नहीं होता। अतः उसका कोई निश्चित अर्थ नहीं। पदार्थ-विशेष का निर्देश करना-भर उसका उद्देश्य रहता है। इसीलिए शब्दकोश में व्यक्तिवाचक नाम का कोई अर्थ नहीं बताया जाता। निष्कर्ष यह कि चार वर्गों में शब्द को बाँट कर जाति आदि चार उपाधियों में अलग-अलग शब्द का संकेत मानना व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से जो भी महत्त्व रखता हो, शाब्दबोध-विषयक तथ्य की पूर्ण व्याख्या नहीं कर पाता। जातिमात्र में शब्द का संकेत मानने वाले मीमांसकों के मत में भी वही आपत्ति होगी, जो वैयाकरणों के जाति-बोधक शब्द की अर्थबोध-विषयक मान्यता में की गयी है। स्पष्ट है कि भाषिक अर्थ-बोध के स्वरूप-निरूपण में इन विचारकों के भाषाशास्त्रीय चिन्तन पर दार्शनिक मतवाद का पुष्कल प्रभाव रहा है।

नैयायिकों ने शब्द के अर्थ-बोध की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर दृष्टि रखते हुए जाति, आकृति तथा व्यक्ति को शब्द का संकेतित अर्थ माना है। उन्होंने भाषिक प्रयोग से चलने वाले लोकव्यवहार को भी, शब्दार्थ-निरूपण में, ध्यान में रखा है। लोकसिद्ध पदार्थों के वाचक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया को यह मत अवश्य स्पष्ट करता है; उदाहरणार्थ, गाय शब्द को सुनकर जो बोध होता है, उसमें जाति के साथ एक आकृति तथा व्यक्ति का भी बोध मिश्रित रहता है, भले ही आकृति और व्यक्ति का विशिष्ट रूप गृहीत नहीं हो, पर यह मत मानव-चेतना मात्र से निर्मित रूप-हीन पदार्थ के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं कर पाता। एक, दो आदि संख्या, नहीं, अभाव, तो, भी, फिर, और आदि शब्दों के अर्थ-बोध में जात्याकृतिव्यक्ति का मिश्रित बोध नहीं माना जा सकता। वस्तुतः ऐसे शब्दों के अर्थ-बोध के स्वरूप पर किसी भारतीय विचारक ने विस्तार से विचार नहीं किया है। यह बात नहीं कि वैसे शब्दों की ओर उनका ध्यान नहीं गया हो। किसी मत की समीक्षा के क्रम में वैसे शब्दों का उदाहरण दिया गया है, पर शाब्दबोध-विषयक सिद्धान्त-निरूपण में उनकी दृष्टि गाय, घड़ा आदि मूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों पर ही मुख्य रूप से रही है। विभिन्न प्रकार के अर्थों को दृष्टि में रखकर ही उनके वाचक शब्दों के अर्थ पर विचार किया जा सकता है।

बौद्धों का अपोहवाद उनके दार्शनिक मतवाद से इतना प्रभावित है कि शाब्द-बोध की व्यावहारिक व्याख्या प्रस्तुत कर ही नहीं पाता। एक शिशु जब दूध की बोतल को प्रथम बार पहचानता है और उसका नाम सुनता है तब तद्भिन्न के

निषेध की धारणा उसके मन में नहीं आती। गाय दिखाकर बच्चे को इतना बताना ही पर्याप्त होता है कि यह गाय है, यह बताने की आवश्यकता नहीं कि यह गाय-भिन्न से भिन्न है। लौकिक बोध से शाब्दबोध को सर्वथा भिन्न नहीं माना जा सकता। बच्चे को दर्शन का ज्ञान भले न हो, वह शब्द-अर्थ का ज्ञान अर्जित करता जाता है, जिसे अपोहवाद स्पष्ट नहीं करता।

पाश्चात्य भाषा-दर्शन में शब्दार्थ-चिन्तन :—पाश्चात्य दर्शन, मनोविज्ञान तथा भाषाविज्ञान में शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक ऊहापोह हुए हैं। भारतीय विचारकों की एतद्विषयक मान्यता के सन्दर्भ में पाश्चात्य विचारकों के चिन्तन का मूल्याङ्कन शाब्दबोध के स्वरूप-निर्धारण में सहायक होगा। दर्शन, मनोविज्ञान तथा भाषाविज्ञान में शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के उद्देश्य में और शाब्दबोध के स्वरूप के अध्ययन की दृष्टि में जो किञ्चत् भेद रहा है, उसे ध्यान में रखकर ही शाब्दबोध-विषयक विभिन्न मतों को परखा जा सकता है। दर्शन में विवेच्य परम तत्त्व के स्वरूप-निरूपण के माध्यम के रूप में भाषा की अर्थबोधकता के स्वरूप पर विचार किया गया है। मनोविज्ञान में भाषिक प्रयोग को मनोगत भाव, विचार आदि के संप्रेषण के माध्यम के रूप में स्वीकार कर शब्द से होनेवाले बोध की प्रक्रिया का तथा शाब्द-बोध की मनोस्नायविक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन कर अर्थ के स्वरूप-निर्धारण का प्रयास किया जाता है। भाषाविज्ञान की एक शाखा अर्थविज्ञान में भाषिक व्यवहार को तथा भाषा से चलनेवाले समग्र लोकव्यवहार को दृष्टि में रख कर शब्दार्थ के स्वरूप का अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है।

दार्शनिक चिन्तन के आरम्भिक काल से ही शब्दार्थ के स्वरूप का विवेचन होता रहा है। प्लेटो ने यह मान्यता व्यक्त की थी कि शब्द से किसी वस्तु या विचार का वैशिष्ट्य व्यक्त होता है।[1] शब्द से तत्त्व का यथार्थ बोध सम्भव नहीं। वस्तु तथा उसे अभिहित करनेवाले शब्द या नाम-पद के सम्बन्ध में उनकी धारणा थी कि नाम सीमित और शब्द से निर्दिष्ट वस्तुएँ असीम हैं। एक नाम पद अनेक अर्थों का बोध करा सकता है।[2]

अरस्तू ने शब्दार्थ के स्वरूप पर विचार करते हुए प्रतीक-सिद्धान्त की स्थापना की, जो आधुनिक भाषाविज्ञान में भी चिन्तन की एक दिशा को प्रभावित कर रहा

१. प्लेटो, ऑन सोफिस्टिकल रिफ्यूटेशन;
२. वही।

है। अरस्तू की दृष्टि में वस्तु की शब्द-निरपेक्ष सत्ता है। शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का बोध, या यों कहें कि अर्थ-विशेष के लिए शब्द-विशेष का प्रयोग इसलिए सम्भव होता है कि लोग उसका प्रतीक के रूप में प्रयोग करने लगते हैं।[1]

स्पष्ट है कि प्लेटो और अरस्तू ने किसी लोक-सिद्ध वस्तु या विचार की ओर निर्देश करने वाले शब्दों के अर्थ-बोध की समस्या को ही दृष्टि में रखकर उसपर विचार किया था और शब्द से निर्दिष्ट वाह्य वस्तु को ही—भले ही वह वस्तु की विशेषता या, भारतीय विचारकों की शब्दावली का प्रयोग करें तो, उपाधि ही क्यों न हो—शब्दार्थ के रूप में स्वीकार कर लिया था। शब्दार्थ-विषयक प्रतीक सिद्धान्त इस मान्यता पर आधृत है कि शब्द से पृथक् अर्थ की, अर्थात् शब्द से निर्दिष्ट होने वाली वस्तु की, सत्ता है और जिस वस्तु के लिए किसी शब्द का प्रतीकात्मक प्रयोग होता है, उसे ही उस शब्द का अर्थ माना जाना चाहिए, किन्तु हम देखेंगे कि शाब्दबोध की समस्या इतनी सरल नहीं है।

स्टोइक दार्शनिकों ने शाब्दबोध के स्वरूप-निरूपण में शब्द और उससे निर्दिष्ट बाह्य वस्तु से आगे बढ़कर शब्द के आन्तरिक अर्थ पर भी विचार किया है। उनकी दृष्टि में शब्द का ध्वनि-चिह्न, उससे निर्दिष्ट बाह्य वस्तु तथा तात्पर्यार्थ के भेद को समझ कर ही शब्दार्थ के स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है। सेक्सटस इंपिरिकस ने यह मान्यता व्यक्त की है कि शब्द के सामान्य और विशिष्ट; दो अर्थ होते हैं। एक का सम्बन्ध शब्द से निर्दिष्ट वस्तु से और दूसरे का सम्बन्ध शब्द के वाच्य अर्थ से है। शब्द का वाच्यार्थ ही शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण में तार्किक अध्ययन का विषय है।[2]

शब्द से निर्दिष्ट वस्तु और शब्द के वाच्यार्थ में अभिन्नता की भ्रांति नहीं होनी चाहिए। सभी शब्द किसी लोकसिद्ध वस्तु का ही बोध करावें, यह आवश्यक नहीं।

मानवतावादी दार्शनिकों ने शाब्दबोध की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने कथ्य और कथन के प्रकार में भेद का निर्देश करते हुए अभिव्यक्ति के पूर्व भी विचार के रूप में अर्थ की मनोगत सत्ता स्वीकार की। मेलांक्थन ने उसी अर्थ को मनोगत शब्द कहा था जो उच्चरित ध्वनि-समूह रूप शब्द में अभिव्यक्ति पाता है।[3] टॉमस हॉब्स ने शब्दार्थ के निर्धारण का दायित्व

---

१. अरस्तू—ऑन ईन्टरप्रिटेशन्स, १६ (ए)
२. ब्रोडेस्की—हिस्ट्री ऑफ फॉर्मल लॉजिक, १०५
३. थ्योरी ऑफ लॉजिक एण्ड पोएटिक्स इन रिनासाँ, पृ० ९६

राजा पर माना है। किसी शब्द का कोई एक नियत अर्थ होना चाहिए और जहाँ शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद हो, वहाँ राजा को उचित निर्णय देना चाहिए स्पष्ट है कि वे शब्द में किसी अर्थ के बोध की शक्ति को आरोपित मानते थे। उनके मतानुसार शब्द-विशेष में अर्थ-विशेष के बोध की शक्ति ईश्वर ने दी है। अतः ईश्वर के प्रतिनिधिभूत राजा को उस दैवी शासन की रक्षा करनी चाहिए। आदम के सामने विभिन्न जीवों का निर्माण कर ईश्वर ने उनके नामकरण का निर्देश उन्हें दिया और जिस प्राणी को देखकर जो शब्द आदम के मुँह से निकला, वही शब्द उस वस्तु का वाचक बन गया।[1] इस प्रकार हॉब्स आदि मानवतावादी विचारकोंने शाब्दबोध की समस्या पर मुख्यतः नाम-पदों के सन्दर्भ में ही विचार किया है। भाषिक प्रयोग को मानसिक वार्तालाप का शाब्दिक वार्तालाप में रूपान्तरण मानकर उन्होंने भाषा के मनोवैज्ञानिक पक्ष की ओर संकेत किया है। हॉब्स की शब्दार्थ-विषयक मान्यता 'शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का बोध हो', इस प्रकार कीं ईश्वरेच्छा को शब्द का संकेत माननेवाले भारतीय विचारकों की मान्यता से मिलती-जुलती है।

लॉक ने शाब्दबोध के स्वरूप-निरूपण में मानस प्रत्यय के महत्त्व को दृष्टि में रखा है। उनकी मान्यता है कि शब्द से मन में उत्पन्न होने वाला प्रत्यय या मानस बिम्ब ही शब्द का अर्थ है। उदाहरणार्थ, त्रिकोण शब्द का अर्थ कोई विशिष्ट आकार वाला त्रिकोण नहीं, उस शब्द से मन में बनने वाला त्रिकोण का सामन्य रूप ही होगा। उस प्रत्यय में त्रिकोण की वे सभी विशिष्टताएँ सम्मिलित रहती हैं, जो सभी त्रिकोण में समान रूप से पायी जाती हैं।[2] इसीलिए उस मानस प्रत्यय से साम्य रखने वाले सभी बाह्य जगत के त्रिकोणों का बोध उस शब्द से सम्भव होता है। पशु के द्वारा उच्चरित ध्वनियों से मनुष्य की उच्चरित्त ध्वनियों का भेद लॉक ने इसी आधार पर किया है कि मनुष्य उन ध्वनियों का प्रयोग अपने मानस प्रत्यय के चिह्न के रूप में कर सकता है। उच्चरित ध्वनि-समूह से निर्मित शब्द मानस प्रत्यय का प्रतिनिधि होता है।[3] बाह्य वस्तुओं के बोधक शब्दों की अर्थबोध-प्रक्रिया लॉक के मतानुसार यह होती है कि शब्द प्रथमतः मानस प्रत्यय का बोध कराता है और तदनन्तर उससे बाह्य या प्राकृतिक वस्तु का बोध होता है।

---

१. हॉब्स—लेबियाथन, पृ० ८१
२. The idea of triangle must be "neither equilateral, equicrural non sealenon but all and none of these at onee". Locke. essacy.
३. वही।

लॉक शब्द के अर्थ को असीम मानते थे। जब व्यक्ति किसी अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग करता है तब उसे विशिष्ट क्षण का विशिष्ट प्रयोग भर माना जाना चाहिए।[1] तात्पर्य यह कि प्रयोग की विशिष्टता इस असीम का सीमाविधान करती है। दो व्यक्तियों का प्रत्यय एक समान नहीं हो सकता। एक व्यक्ति के मन में भी एक ही शब्द से उत्पन्न अनेक स्थितियों के प्रत्यय परस्पर भिन्न ही होते हैं। अतः शब्द का प्रत्येक प्रयोग अपनी विशिष्टता लिये रहता है।

जिस शब्द से सम्बद्ध प्रत्यय अस्पष्ट हो या जिसका किसी प्रत्यय से स्थिर सम्बन्ध नहीं हो, वैसे शब्द-प्रयोग को लॉक दुष्प्रयोग मानते हैं।[2] स्पष्ट है कि लॉक शब्द की सार्थकता स्पष्ट मानस प्रत्यय या ग्राहकता के विधान में ही स्वीकार करते हैं।

बर्कले ने लॉक की इस मान्यता को अमान्य बताया कि प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी मानस प्रत्यय का प्रतिनिधित्व करता है और जो शब्द वस्तु या वस्तु के प्रत्यय का प्रतिनिधि नहीं होता, वह भावात्मक विचार अर्थात् भावात्मक प्रत्यय का बोध कराता है। बर्कले की मान्यता है कि शाब्दबोध व्यक्तिगत अन्तर्बोधरूप अवश्य होता है और इस अंश में लॉक की मान्यता से कोई विरोध नहीं, पर शब्द को भावात्मक प्रत्यय का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। उनके मतानुसार भाषा-व्यवहार से परिचित हो जाने पर हम शब्द की संवेदनात्मक स्थिति में पहुँच जाते हैं और तब शब्द को प्रत्यय के प्रतीक के रूप में ग्रहण नहीं करते। उदाहरण के लिए प्राणी शब्द के अर्थ-बोध के स्वरूप पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उसमें किसी भी आकृति का—चाहे वह आकृति कितनी भी सामान्य क्यों न हो—ग्रहण नहीं होता। मनुष्य, गाय, हाथी, घोड़ा, तोता, कोयल आदि सभी पशु-पक्षियों का बोध उस शब्द से होता है, पर किसी व्यावर्तक स्वरूप का प्रत्यय उस शब्द से नहीं होता।[3] आकाशपुष्प, वन्ध्यापुत्र आदि शब्दों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। सौन्दर्य, राग, द्वेष आदि शब्दों को भी किसी प्रत्यय का प्रतिनिधि मानने में यही कठिनाई है। प्राणी जैसे शब्द से चेतना, क्रियाशीलता आदि सामान्य गुणों से पदार्थ

---

१. लॉक, एसे
२. वही।
३. I readily agree with this learned author (Locke), that the faculties of brutes can by no means attain to abstraction. But then if this be made the destinguishing property of that sort of animals, I fear that a great many of those that pass for men must be reckoned into their number.

—Berkcley, Principles of Human Knouledge.

के युक्त होने-भर का बोध माना जा सकता है। भावबोधक शब्द के अर्थ को एक सामान्य संवेदना के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है।

टॉमस रीड ने भी लॉक के अर्थ-सम्बन्धी सिद्धांन्त को इस अंश तक स्वीकार किया है कि अर्थ मनोगत बोध के रूप में रहता है, पर उनकी मान्यता है कि शब्दार्थ के स्वरूप की व्याख्या बाह्य वस्तु के सन्दर्भ में नहीं की जा सकती। हम भले ही कुछ शब्दों का अर्थ बाह्य वस्तु के सन्दर्भ में सीखते हों, पर अधिकांश शब्दों के अर्थ को जीवन के अनुभवों से ही सम्बद्ध माना जा सकता है। वैसे शब्दों के अर्थ के समानान्तर पदार्थ को बाह्य जगत में ढूँढ़ना व्यर्थ है। एक, दो आदि संख्या मानस-परिकल्पना-मात्र हैं, लोकसिद्ध वस्तु नहीं। गणित की सभी संज्ञाएँ मानस विकल्पभर होती हैं। उसी प्रकार असंख्य शब्दों का अर्थ भी मनोगत अनुभव-रूप होता है, जिसकी वस्तुगत व्याख्या सम्भव नहीं। व्यक्ति के जीवन की अनुभूति से सम्बद्ध यह अर्थबोध शब्द-प्रयोग से भी बढता है।[1] इस प्रकार रीड ने शब्द के साथ अविनाभाव रूप से जुड़े हुए अर्थ के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण किया है, जिसकी शब्द से पृथक् कोई सत्ता नहीं और जिसके समानान्तर किसी वस्तु की बाह्य सत्ता नहीं।

लाइब्नित्ज ने शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के क्रम में लॉक के मत से असहमति प्रकट करते हुए यह मान्यता व्यक्त की है कि वस्तु का स्वरूप अव्याख्येय होता है। अतः शब्द वस्तु के यथार्थ स्वरूप का समग्रतः बोध नहीं करा सकता। शब्द से वस्तु का अभिधान उसका आनुमानिक नामकरण-मात्र है। एक ही शब्द के अर्थ-बोध का विस्तार अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग होता है, क्योंकि व्यक्ति का वस्तु-ज्ञान उसके शाब्दबोध को प्रभावित करता है। सोना के गुण का जितना ज्ञान अभी हमें है, उससे और अधिक गुणों की खोज भविष्य में की जा सकती है। तब उसकी परिभाषा उसकी आज की परिभाषा से भिन्न हो जायगी। आज सोना के विषय में जितना ज्ञात है उतना ही उस शब्द से बोधगम्य है। भविष्य में उस बोध का रूप बदल सकता है या विस्तृत हो सकता है। अतः शब्दार्थ के स्वरूप का स्थिरीकरण या निर्धारण सम्भव नहीं। लाइब्नित्ज ज्ञान के विस्तार के साथ अर्थ के स्वरूप के विस्तार की सम्भावना को स्वीकार कर, अर्थ के स्वरूप का कोई निश्चित आदर्श नहीं मानते।

लाइब्नित्ज की दृष्टि में वस्तु की परिभाषा उसकी विशेषताओं का शाब्दिक विवेचन-मात्र है। शब्दों की परिभाषा में भी दूसरे शब्दों का ही सहारा लिया जाता है। शब्दार्थ के रूप में लाइब्नित्ज किसी मानस-बिम्ब के ग्रहण के सिद्धान्त को

---

१. टॉमस रीड, एसे ऑन द इन्टेलेक्चुअस पावर्स ऑफ द मैन ऑन कॉन्सेप्ट्स।

स्वीकार नहीं करते। शब्दार्थ के स्वरूप की अस्थिरता को मान लेने पर अर्थ के किसी रूप का बिम्ब-ग्रहण नहीं माना जा सकता। किसी भी शब्द से बोधगम्य अर्थ का रूप अलग-अलग व्यक्तियों के मानस में अलग-अलग होगा। एक व्यक्ति के मन में भी शब्दार्थ की जो धारणा एक समय होगी, उसमें दूसरे समय परिवर्तन या विस्तार की सम्भावना रहेगी ही। इस प्रकार लाइब्नित्ज ने शब्द-अर्थ के प्रतीक सिद्धान्त तथा शब्द से मानस बिम्ब-ग्रहण के सिद्धान्त से कुछ आगे बढ़कर शाब्दबोध के संवेदनात्मक स्वरूप का निरूपण किया। वस्तुतः शब्दार्थ को मानस बिम्ब रूप मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जिनपर हम आगे विचार करेंगे।

कांट ने शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के क्रम में मानस-प्रत्यय के विधान की प्रक्रिया पर विचार किया और शब्दार्थ को प्रत्ययरूप स्वीकार किया। उन्होंने लौकिक वस्तुओं से सम्बद्ध उक्ति तथा गणित में प्रयुक्त उक्तियों का भेद कर उनकी अर्थबोध-प्रक्रिया पर अलग-अलग विचार किया है। गणित की भाषा के अर्थ के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि उसकी प्रत्येक उक्ति एक संश्लिष्ट विनिर्णय (Judgment) होती है। ७+५=१२ जैसी प्रस्थापना एक संश्लिष्ट उक्ति है।[1] कांट ने अपनी मान्यता के स्पष्टीकरण के क्रम में यह स्पष्ट किया है कि हमें आरम्भ में ऐसा लग सकता है कि ७+५=१२ जैसी प्रस्थापना केवल विश्लिष्ट कथन है और योगफल के रूप में बारह की संख्या का बोध सात और पाँच की अलग-अलग धारणाओं के योग के रूप में गृहीत होता है, पर तथ्य यह है कि केवल सात और पाँच के योग के रूप में हमारे मन में बारह की धारणा नहीं रहती और हम जितने रूपों में चाहें, असंख्य संख्याओं के योगफल, गुणनफल आदि के रूप में बारह का विश्लेषण कर सकते हैं, फिर भी उनमें कहीं बारह की संख्या हमें नहीं मिलेगी।[2]

कांट की इस मान्यता का सार यह है कि गणित की प्रस्थापना एक मानस विकल्प या मानस परिकल्पना है। उसकी सार्थकता का निर्णय किसी वस्तु के सन्दर्भ में नहीं किया जा सकता। हम कह सकते हैं कि सात और पाँच का अर्थ बिना दोनों के योग-फल को जाने भी समझा जा सकता हैं। भर्तृहरि आदि भारतीय विचारकों ने भी अर्थहीन वर्ण-समुदाय से निर्मित सार्थक शब्द रूप की व्याख्या में ऐसे ही मानस विकल्प की कल्पना की है! कमल शब्द केवल 'क' 'म' और 'ल' ध्वनियों का योग मात्र नहीं। कमल शब्द एक यौक्तिक इकाई है, जिसका एक निश्चित अर्थ होता है जब कि क, म और ल अर्थहीन ध्वनियों का समूह मात्र है।

---

१. कांट, क्रिटिक ऑफ प्योर रिज़निंग
२. वही,

कांट की दृष्टि में गणित की उक्ति की सार्थकता मानस विकल्प या प्रत्यय के विधान में ही है।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण-क्रम में शब्दों के दो प्रमुख वर्ग मान कर उनकी अर्थ-बोध प्रक्रिया पर विचार किया है। एक वर्ग उन शब्दों का है जो नामवाची शब्द या संज्ञापद हैं। ऐसे शब्द किसी वस्तु की ओर निर्देश भर करते हैं। वस्तु के गुण आदि से वैसे शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं। तात्पर्य यह कि वैसे शब्द का कोई अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता, वस्तुविशेष का संकेत देने मात्र में उसकी सार्थकता होती है। एक ही नाम रूप-गुण में परस्पर भिन्न असंख्य लोगों का हो सकता है; यही नहीं, वह नाम किसी एक पशु का भी रखा जा सकता है। अतः नामार्थ का कोई रूप नहीं। **मिल** व्यक्तिवाचक नाम पदों से भिन्न शब्दों से वस्तु के गुण का बोध मानते हैं। शब्द से जब किसी वस्तु का बोध होता है, तो वह बोध उस वस्तु के गुणों का ही बोध माना जा सकता है। गुणों के अधारभूत द्रव्य का मानस ग्रहण नहीं हो पाता। भारतीय विचारकों ने भी द्रव्य को अनिर्वचनीय माना है। मिल की मान्यता है कि गुणवाची शब्द किसी वस्तु का निर्देश करता है और उसके विशिष्ट गुणों को व्यक्त करता है। वस्तुबोध को वे किसी वैशिष्ट्य-युक्त वस्तु का बोध मानते हैं। ऐसे गुणवाचक शब्दों का ही कोई व्यवस्थित अर्थ होता है। भारतीय वैयाकरणों के जात्यादिचतुष्टयवाद के सन्दर्भ में **मिल** की इस शब्दार्थ-धारणा की सीमा समझी जा सकती है। मिल ने जाति और क्रिया में शब्द का संकेत न मान कर केवल एक उपाधि, गुण को शब्द का संकेतिक अर्थ माना है।

मिल ने **बर्कले** की तरह ही प्रत्यय या शब्द से उत्पन्न मानस बिम्ब को विशिष्ट स्वीकार किया है और वस्तुबोध को किसी वैशिष्ट्य से युक्त वस्तु का बोध माना है। उनकी मान्यता है कि कोई विशिष्ट बिम्ब किसी श्रेणी की ओर निर्दिष्ट होकर उत्पादक मानस बिम्ब का रूप ग्रहण कर सकता है। बिम्ब और बिचार का सामञ्जस्य दिखा कर मिल शाब्दबोध की एक त्रिकोणात्मक स्थिति की कल्पना कर लेते हैं।

शब्दार्थ के स्वरूप निर्धारण में **मिल** की महत्त्वपूर्ण देन 'प्रयोगात्मक अनुसन्धान विधि' (Methods of experimental inquiry) है जिसने पीछे चल कर अनेक मनोवैज्ञानिक विचारकों को प्रभावित किया है। उन्होंने 'लॉजिक' नामक पुस्तक में अनुरूपता-विधि (Methods of agreement) के स्वरूप पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि यदि अनेक विचार्य वस्तुओं की समान स्थिति हो और उस एक स्थिति में वे सभी वस्तुएँ परस्पर अनुरूपता रखती हों, तो उसे उस वस्तु

का कारण (या कार्य) माना जाना चाहिए ।[1] ब्लूमफील्ड ने **मिल** की इस मान्यता को स्वीकार कर अर्थ का स्वरूप-निर्धारण करने का प्रयास किया । इस मान्यता के अनुरूप अर्थ का स्वरूप कुछ इस प्रकार का माना जायगा—किसी भी भाषिक संरचना अर्थात् शब्द का अर्थ "वह परिस्थिति है, जिसमें वक्ता उसका उच्चारण करता है और वह प्रतिक्रिया हैं, जिसे शब्द सुनने वाले में उत्पन्न करता है ।"[2] शब्द के उच्चारण की परिस्थिति और शब्द से उत्पन्न श्रोता की प्रतिक्रिया को शब्दार्थ का स्वरूप मानने वाले इस मत को परवर्ती **ब्लूमफील्ड, ब्लॉच, ट्रैगर** तथा **हैरिस** आदि विचारकों ने भी स्वीकार किया है ।

शब्दार्थ विषयक इस मान्यता में एक कठिनाई कारण की एकता-अनेकता के प्रश्न को लेकर है और दूसरी कठिनाई परिस्थिति की धारणा को लेकर । **मिल** अर्थ के रूप में ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर लेते हैं, जिसमें सभी उदाहरण समान हों, पर यदि वस्तु के ऐसे उदाहरण हों, जिनमें कोई समान परिस्थिति नहीं दीख पड़े, तो इस समस्या का क्या समाधान होगा ? ऐसी स्थिति में, किसी अभौतिक परिस्थिति की कल्पना कर, कारण की एकता कल्पित की जा सकती है । ब्लूमफील्ड ने यह तर्क दिया है कि सभी परिस्थितियों में समान रूप से रहने वाले तत्त्वों (features) के कारण ही भाषिक संरचना का प्रयोग सम्भव होता है ।[3]

लाक्षणिक प्रयोग में इस प्रकार की व्याख्या की कठिनाई का अनुभव करते हुए ब्लूमफील्ड ने इस कल्पना का सहारा लिया है कि सभी परिस्थितियों में समान तत्त्वों की सत्ता से शब्दप्रयोग की सार्थकता का प्रमाण 'अदृश्य आन्तरिक समुत्तेजना' (Obsecure internal stimuli) में पाया जा सकता है[4], पर ऐसी स्थिति में यह

---

१. If two or more instances of the phenomenon under investigation have only. one circumstance in common, the circumstance in which alone all the instances agree, is the cause (or effect) of the given phenomena.

—Mill, Logic, III, Viii

२. The meaning of a linguistic form is "the situation in which the speaker utters it and the response which it calls forth in the hearer. —Bloomfield. Language, P. 139,

3. ....Features....which are common to all the situations that call forth the utterance of the linguistic form.

वही P. 141

४. ब्लूमफील्ड, लैंग्वेज, पृ० १४१—४४

प्रश्न उठेगा कि सभी प्रकार के शब्दों का अर्थ-निर्धारण उस अव्यक्त आन्तरिक समुत्तेजना के आधार पर ही क्यों नहीं किया जाय? स्पष्ट है कि मिल और उनके अनुयायी ब्लूमफील्ड की उक्त युक्ति अर्थ के स्वरूप को ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं कर पाती।

दूसरी बात यह कि यदि कल्पित अभौतिक कारण को स्वीकार नहीं किया जाय तो 'सामान्य परिस्थिति' या 'सामान्य तत्त्व' की सत्ता सिद्ध नहीं होती।

मिल ने हॉब्स के मत से प्रभावित होकर, सभी शब्दों को नाम-पद मान लिया है। रीले ने मिल की अर्थ-विषयक धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि उनके मतानुसार "किसी शब्द का अर्थ सभी परिस्थितियों में निहित एक सामान्य व्यवस्था है और वह किसी वस्तु का नाम भी है।"[1] इस प्रकार मिल की दृष्टि में 'शब्दार्थ' शब्द से वस्तु का होने वाला निर्देश-मात्र है।

हमने इस तथ्य पर विचार किया है कि भाषा के सभी शब्दों को वस्तु का नाम मात्र नहीं माना जा सकता और न सभी शब्दों की सार्थकता किसी वस्तु की ओर निर्देश में ही मानी जा सकती है। 'तो' 'भी' 'और' 'एक' 'दो' आदि शब्दों से किसी वस्तु के निर्दिष्ट होने की कल्पना नहीं की जा सकती, फिर भी उन शब्दों का कुछ अर्थ होता है। उपसर्ग, परसर्ग, विशेषण आदि पदों को नाम के भीतर मानना युक्तिसंगत नहीं। अव्ययों को मिल ने स्वयं भी नाम नहीं माना है, यद्यपि उनकी अर्थवत्ता उन्होंने स्वीकार की है।

चार्ल्स सैंडर्स पर्स के अर्थ-सम्बन्धी विचार का आकलन करने से उनके मतानुसार अर्थ का स्वरूप कुछ इस प्रकार बनता है:—शब्द विषय और चिह्न के बीच मुद्रा की तरह सांकेतिक व्यवहार-विनिमय का साधन है। अर्थ-विषयक परिणामवाद के सिद्धान्त की कल्पना कर पर्स ने यह मान्यता व्यक्त की है कि किसी प्रत्यय से सम्बद्ध आवश्यकताओं से कल्पित व्यावहारिक परिणाम के आधार पर ही प्रत्यय का अर्थ-निर्धारण किया जा सकता है। परिणामों का योग ही किसी प्रत्यय के पूर्ण अर्थ का स्वरूप होता है।[2] पर्स ने स्वयं इस परिणामवाद या उपयोगितावाद को जटिल शब्दों और भावात्मक प्रत्ययों के अर्थ-निर्धारण की एक विधि-भर माना है। यह तत्त्ववादी सिद्धान्त नहीं और न वस्तु के सत्य के निरूपण का प्रयास ही

---

१. गिल्बर्ट रीले, द इम्पोर्टेंस ऑव लैंग्वेज स्पैक्ट्रम।
२. चार्ल्स पर्स, कलेक्टेड पेपर्स।

है।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ अनुभव के परिणामों से व्यक्त रूप या धारणा का परिणाम होता है। इसीलिए वाक्यार्थ-बोध के स्वरूप का विवेचन करते हुए विलियम जेम्स ने वाक्य को "अनुभव के परिणामों से व्यक्त रूप की दिशा में या किसी धारणा के परिणामों की ओर एक प्रकार का मार्ग-निर्देश" माना है।[2]

पर्स शब्दों के इतिहास को उनके अर्थों की कुंजी मानते हैं। उन्होंने सेमिओटिक के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण के लिए चिह्नों के स्वरूप-विश्लेषण की आवश्यकता पर बल दिया है। चिह्न में विषय और प्रतिपादन निहित रहते हैं। विषय के साथ सम्बद्ध चिह्न जिस रूप में प्रतिनिधित्व करता है वह रूप ही शब्द या चिह्न का प्रतिपादन माना जाता है।

चिह्न को पर्स ने विषय का प्रतिनिधि माना है। वह किसी विशेष स्थिति में किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। चिह्न वस्तु का सर्वात्मना प्रतिनिधित्व नहीं कर विशेष प्रकार के प्रेषण के रूप में ही उसका प्रतिनिधित्व करता है।[3]

चार्ल्स डब्ल्यू मॉरिस ने सेमिओटिक्स अर्थात् 'चिह्न विज्ञान' का विस्तृत विवेचन किया है।[4] उन्होंने ज्ञान की इस शाखा के व्यावहारिक, अर्थगत तथा वाचिक; ये तीन वर्ग माने हैं। व्यावहारिक अर्थ एक चिह्न का दूसरे चिह्नों के साथ सम्बन्ध-निरूपण है। चिह्न और उससे व्यक्त होने वाले तात्पर्यार्थ का सम्बन्ध अर्थगत अर्थ के अन्तर्गत माना गया है।

लेडी वेल्बे ने अर्थ को वक्ता के उद्देश्य के अनुरूप माना है। अतः उनकी दृष्टि में अर्थ सामान्य बोध से भी ऊपर है।[5] वे एडवर्ड जॉन्सन की इस मान्यता से सहमत हैं कि अर्थ को अर्थ के ऐसे तात्पर्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए कि उसे केन्द्रविन्दु मान कर स्मृति, प्रत्यय, ध्यान, निर्णय आदि से ग्राह्य माना जाय।[6]

ऑग्डेन की धारणा थी कि भाषा के कुछ शब्द मानसिक भावों या प्रत्ययों के विधायक होते हैं। उनकी दृष्टि में भाषा में असंख्य अनावश्यक प्रतीक भी होते हैं। प्रत्ययविधायी शब्दों के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को उन्होंने

---

१. चार्स पर्स, कलेक्टेड-पेपर्स।
२. विलियम जेम्स, प्राग्मेटिज्म।
३. चार्ल्स पर्स, कलेक्टेड पेपर्स, खण्ड २ पृ० १३५।
४. द्रस्टव्य—साइन, लैंग्वेज एण्ड बिहेवियर।
५. लेडी वेबले, सिग्निफिकेंस एण्ड लैंग्वेज, पृ० ९।
६. लेडी वेबले, सेंस मीनिंग एण्ड इन्टरप्रिटेशन, पृ० १८७।

ऐसा ही अनावश्यक प्रतीक स्वीकार किया है। इस प्रकार वे प्रत्यय या मानस भाव के विधायक शब्दों को ही तात्त्विक प्रतीक मानते हैं। उन्होंने भाषा के अर्थ-मूलक विश्लेषण के लिए इसी दृष्टि को अपना कर 'बेसिक इंगलिश' नामक पुस्तक में केवल आठ सौ पचास शब्दों का स्वरूप-विश्लेषण किया और यह दावा किया कि उससे मौलिक अंग्रेजी भाषा के स्वरूप-निर्धारण की समस्या का बहुत कुछ समाधान हो गया।

ऑग्डेन की इस मान्यता तथा अर्थ-विवेचन-पद्धति की कई सीमाएँ हैं। विवेचन की एक सीमा की ओर निर्देश करते हुए डिक्सन ने यह आक्षेप किया है कि ऑग्डेन यह स्पष्ट नहीं कर पाये कि मानस-प्रत्यय वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय बन कर किस प्रकार भाषा-प्रयोग से सम्बद्ध अर्थ का उद्घाटन करने में समर्थ होते हैं।[1] कुछ शब्दों को मानस प्रत्यय का विधायक मान कर यथार्थ प्रतीक मानने तथा अन्य पर्यायवाची शब्दों को असत्य या व्यर्थ प्रतीक मानने के सिद्धान्त में भी यह आपत्ति की जा सकती है कि ऐसा पूर्वग्रह शब्दार्थ के स्वरूप-विश्लेषण में सर्वत्र साधक नहीं, अपितु कहीं-कही बाधक ही सिद्ध होगा। भारतीय वैयाकरणों की उचित मान्यता है कि प्रत्येक शब्द का किसी-न-किसी प्रत्यय से सम्बन्ध रहता है। इसीमें शब्द की सार्थकता है। यदि पर्यायवाची शब्दों में से एक को किसी प्रत्यय से मूलतः सम्बद्ध माना जाय और शेष को उस प्रत्यय से प्रकारान्तर से जुड़ा हुआ अनावश्यक प्रतीक स्वीकार किया जाय तो एक कठिनाई तो यह होगी कि उन शब्दों में से किसी एक को मौलिक प्रतीक या प्रत्यय विधायक शब्द मानने का क्या आधार होगा? यदि कोई आधार हो, तो उसी आधार पर अन्य पर्याय-पदों को भी उस प्रत्यय का विधायक और उसका मौलिक प्रतीक क्यों नहीं माना जायगा? दूसरी बात यह कि प्रत्येक शब्द में अपने दूसरे पर्यायवाची शब्दों के अर्थ से जो कुछ विशिष्ट अर्थ-विच्छित्ति रहती है, उस पर भी ऑग्डेन का यह मत प्रकाश नहीं डालता। पर्याय वाची शब्दों में से प्रत्येक शब्द विशिष्ट प्रत्यय से सम्बद्ध होता है और उसका यथार्थ प्रतीक ही होता है।

फ्रेग ने शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के क्रम में संकेत, संप्रेषण, बोध, आदि का अर्थ के साथ साम्य-वैषम्य स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ध्यातव्य है कि अर्थ के लिए संकेत, संप्रेषण, बोध, प्रत्यय आदि शब्दों का प्रयोग होता रहा है और इससे अर्थ के स्वतन्त्र स्वरूप के निर्धारण में जटिलता बढ़ती गयी है। अर्थ के पर्याय के रूप में तत्तत् शब्दों का प्रयोग अर्थ-विषयक अलग-अलग धारणाओं के कारण भी

---

१. डिक्सन, ह्वाट इज लैंग्वेज? पृ० ११

हुआ है। फ्रेग ने अर्थविषयक अपनी धारणा को स्पष्ट करने के लिए अर्थ से कुछ साम्य रखने वाले निर्देश, प्रेषण, बोध आदि से शब्दार्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रतिपादन किया है। अर्थ में बोध, संप्रेषण, निर्देश आदि मिले रह सकते हैं, पर उनमें से किसी को अर्थ से अभिन्न नहीं माना जा सकता। भाषा के इन तत्त्वों के पारस्परिक भेदाभेद-निरूपण में फ्रेग की तार्किक प्रतिभा का परिचय मिलता है।

संज्ञा या नाम-पद के अर्थ पर विचार करते हुए फ्रेग ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि प्रत्येक व्यक्तिवाची नाम के दो पक्ष होते हैं। कुछ नाम का निर्दिष्ट वस्तु के गुण आदि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरे शब्दों में, उनका कोई अर्थ नहीं होता। फिर भी, वे अर्थहीन नाम किसी वस्तु या व्यक्ति का निर्देश करते हैं। अर्थ और निर्देश का भेद दिखाने के लिए इतना संकेत पर्याप्त है। नाम सार्थक भी होते हैं। रसेल ने प्रत्यय के द्वारा व्युत्पन्न नाम को, जिनके साथ 'द' (The) का प्रयोग किया जाता है, सार्थक माना है। फ्रेग की इस मान्यता की रसेल ने पुष्टि की है कि प्रत्यय व्यक्तिवाचक नाम से युक्त हो सकते हैं। स्पष्ट है कि फ्रेग शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण में संप्रेषण और निर्देश; दोनों पर विचार करना आवश्यक मानते हैं।

अर्थ और बोध में, फ्रेग के अनुसार, विस्तार का भेद है। बोध में वे सीमित ग्राहकता मानते हैं, जब कि अर्थ के रूप में वह ग्राहकता विस्तार पा लेती है। २४ और ४२ के उदाहरण से उन्होंने अर्थ और बोध का भेद स्पष्ट करना चाहा है। ये दोनों ही संख्या का बोध कराने वाले विशिष्ट नाम हैं, पर बोध की समानता होने पर भी दोनों का अर्थग्रहण भिन्न-भिन्न रूप में होता है।[1]

उक्त उदाहरणों पर विचार करने से फ्रेग के मत में एक अनुपपत्ति यह जान पड़ती है कि वे बोध के रूप में उनके संख्यावाचक-मात्र होने का बोध मान लेते हैं और २४ तथा ४२ के नियत संख्या का ग्रहण उनके अर्थ का स्वरूप मानते हैं, पर तथ्य यह है कि केवल संख्यावाचक नाम होने का बोध और विशिष्ट संख्या का वाचक होने का बोध अलग-अलग नहीं किया जा सकता। २४ और ४२ में जहाँ संख्या की बोधकता है, वहाँ दोनों में विशिष्ट अर्थों की बोधकता भी है। अतः अर्थ को बोध से भिन्न करना कठिन है। बोध (Sense या indication) से भिन्न अर्थ की सत्ता की कल्पना कठिन है।

शाब्दबोध में फ्रेग ने प्रत्यय, बोध एवं संप्रेषण; इन तीन स्तरों की कल्पना की

---

१. फ्रेग, ट्रान्सलेशन।

है। प्रत्यय में अनुभूतियाँ मिश्रित रहती हैं। अतः प्रत्यय का स्वरूप स्पष्ट और स्थिर नहीं होता। निष्कर्षतः फ्रेग ने शब्दार्थ के एक व्यापक स्वरूप की कल्पना की है जिसमें बोध, प्रत्यय, संप्रेषण तथा निर्देश, सब का समाहार हो जाता है। वे अर्थ के स्वरूप-मात्र का निर्धारण अपना लक्ष्य नहीं मानते, अर्थ-बोध की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर विचार करते हैं। शब्द-विशेष के अर्थ-निर्धारण की अपेक्षा वाक्यार्थ-ग्रहण की समस्या के समाधान में फ्रेग का यह मत अधिक उपादेय सिद्ध होगा।

प्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल ने शब्दबोध की समस्या पर मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, तार्किक तथा भाषावैज्ञानिक दृष्टियों से विचार किया है। एक मनोवैज्ञानिक चिन्तक की तरह वे इस समस्या पर विचार करते हैं कि भाषा-प्रयोग के समय प्रयोक्ता के मन में कैसी प्रक्रियाएँ घटित होती हैं। एक दार्शनिक की तरह वे यह समस्या उठाते हैं कि शब्द, वाक्य और विचार में सम्बन्ध कैसे घटित होता है और शब्द किस तत्त्व का प्रतिपादन कर सकता है। तर्कशास्त्रीय पद्धति पर वे यह प्रश्न उठाते हैं कि कोई तथ्य अन्य शब्द के साथ कैसा सम्बन्ध रखता है कि वह उसका प्रतीक बन सकता है? एक भाषावैज्ञानिक विचारक की तरह वे तथ्य का निरूपण करने वाले वाक्य-प्रयोग की समस्या पर विचार करते हैं।

भारतीय विचारकों की तरह रसेल शब्द और अर्थ के केवल सामान्य या जाति के ग्रहण का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता है कि शब्द जितनी बार उच्चरित होता है, उतने उसके रूप होते हैं। एक शब्द का हर रूप उसके दूसरे रूपों से भिन्न होता है, फिर भी उन असंख्य रूपों में से किसी शब्द के एक स्वरूप का बोध एक सामान्य के ग्रहण के कारण सम्भव होता है। वस्तु-रूप के सम्बन्ध में रसेल ने बौद्धों के क्षणभंगवाद से मिलती-जुलती यह धारणा व्यक्त की है कि किसी वस्तु का स्वरूप स्थिर नहीं। ऐसी स्थिति में शब्द वस्तु के सामान्य की ओर ही संकेत कर सकता है। रसेल नाम की तात्त्विक सत्ता नहीं मानते। उन्हें अपूर्ण प्रतीक-मात्र मानते हैं। अतः तात्पर्यार्थ को वे वस्तु का नामकरण नहीं मान कर उसका कथन मानते हैं।

रसेल शब्द को विचार का प्रतिनिधि मानते हैं। कोई शब्द जिस विचार का प्रतिनिधित्व करता है, वही उस शब्द का अर्थ माना जाता है। शब्द ऐसा प्रतीक है, जो किसी धारणा को व्यक्त करता है। यह धारणा तार्किक मानस विकल्प रूप होती है। मानस विकल्प के बोध में ही शब्द की सार्थकता मानी गयी है।[1]

---

१. बर्ट्रेण्ड रसेल, लॉजिक, खण्ड १, पृ० ५८-६०

पद (term) के जिस व्यापक स्वरूप की कल्पना रसेल ने की है वह भारतीय वैयाकरणों के शब्दाध्यासवाद या शब्दार्थाद्वैतवाद की कल्पना के निकट पहुँच जाती है। उनकी दृष्टि में शब्द अर्थहीन वर्णों की एक व्यवस्था-भर नहीं है, वह अर्थ से अनिवार्यतः सम्पृक्त एक अभिव्यक्ति है। इसीलिए उन्होंने पद (term) उसे माना है जिसमें कोई विषय या विचार यथार्थ या अयथार्थ रूप में व्यक्त होता हो—चाहे मनुष्य हो, कोई क्षण, संख्या, वर्ग, संगत या असंगत कल्पना हो, उसे व्यक्त करने वाला पद (term) कहा जाता है। पदों का संकेत रसेल ने वस्तु और प्रत्यय में माना है। ध्यातव्य है कि भारतीय नैयायिकों ने भी मानस-प्रत्यय के साथ वस्तु को भी शब्द के संकेत का विषय मान कर लोकव्यवहार में भाषिक प्रयोग की सार्थकता का स्पष्टीकरण किया था।

शब्दार्थ के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए रसेल ने उसे "एकात्मक बीज" कहा है। वह एक अर्थ सामान्य सम्प्रेषणों की उत्पत्ति का कारण होता है। अर्थ सत्य तथा असत्य दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। 'आकाशकुसुम' जैसे शब्दों के अर्थ असत्य-रूप तथा हाथी, घोड़ा आदि शब्दों के अर्थ सत्य-रूप हैं। अर्थ को रसेल ने मानस-बिम्ब से अधिक व्यापक माना है। इसीलिए वे अर्थ-विश्लेषण में बिम्बों के विचार की उपादेयता नहीं मानते।

भॉन न्यूरथ ने शब्द से निर्दिष्ट होने वाली वस्तु से शब्दार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मान कर अर्थ-विश्लेषण के लिए यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि किसी उक्ति की अर्थवत्ता के परीक्षण के लिए उसकी तुलना अन्य उक्तियों से ही की जानी चाहिए, अनुभूति, बाह्य वस्तु या किसी अन्य तथ्य से नहीं।[1] नामनिष्ठ प्रत्यक्षवादी (nominalistic positivist) दार्शनिकों के बीच यह सिद्धान्त बहुमान्य हुआ और वे वस्तु-निरपेक्ष शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण में प्रवृत्त हुए। न्यूरथ शब्द की मूल सत्ता मानते थे। शब्द से निर्दिष्ट होने वाली भौतिक वस्तुओं के द्योतन के लिए शब्द की उत्पत्ति का सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था।[2] भर्तृहरि आदि भारतीय वैयाकरणों के शब्द-ब्रह्मवाद से यह सिद्धान्त मिलता जुलता है।

---

1. Statements are to be compared with statements, not with experienee, not with the given, not with anything else—Von Neuroth का कथन Weenberg के Examination of Logical Positivism में उद्धृत पृ० 277
2. रसेल ने इसकी समीक्षा करते हुए कहा है—I hear them saying, in the beginning was the word, not what the word means. An enguilty into—Meaneng and truth, P. 149

पदविशेष के साथ अर्थविशेष का नियत सम्बन्ध मानने वाले रसेल ने शब्द-अर्थ के पौर्वापर्य के इस सिद्धान्त से असहमति प्रकट की। न्यूरथ के उक्त मत की संरक्षा में कारनप ने उक्ति की वस्तुगत वृत्ति (material mode) तथा रूपात्मक वृत्ति (formal mode) का भेद निरूपित किया और दार्शनिकों का सम्बन्ध भाषा के केवल रूपात्मक पक्ष से माना, जिसमें शब्द-प्रतीक से प्रतीकित अर्थ पर या कथन से व्यक्त बोध पर विचार नहीं किया जाता, केवल प्रतीकों के स्वरूप और क्रम पर विचार किया जाता है जिनसे उक्तियों का स्वरूप निर्मित होता है। शब्द से बोधगत होने वाली वस्तु की सर्वथा उपेक्षा कर केवल शब्द-संरचना के स्वरूप पर विचार करने की इस मान्यता से मॉरिश श्लिक Moritz Schlick) तथा आयर आदि विचारक सहमत नहीं हो पाये।

न्यूरथ ने अपने तत्त्व-चिन्तन में यह निष्कर्ष पाया था कि हर व्यक्ति हर क्षण अपने आप से उतना ही भिन्न होता है जितना वह दूसरों से भिन्न है। हर क्षण व्यक्ति का एक रूप नष्ट होता रहता है और वह नया-नया रूप ग्रहण करता रहता है। उसका प्रत्येक रूप उसके अन्य रूपों से भिन्न होता है। अतः एक ही व्यक्ति की दो उक्तियों में उतना ही सम्बन्ध या भेद होता है, जितना दो व्यक्तियों की दो उक्तियों में रहता है। यह तत्त्व-चिन्तन बौद्धों के क्षणभङ्गवादी चिन्तन से अभिन्न है।

न्यूरथ शाब्दबोध से स्वतन्त्र किसी वस्तु की तात्त्विक सत्ता नहीं मानते। इस लिए शब्द की सार्थकता या यथार्थता-अयथार्थता के निर्णय के लिए कथन की वस्तु के सन्दर्भ में परीक्षा की आवश्यकता नहीं समझते। उनके अनुसार, किसी नवीन उक्ति के अर्थवान् या निरर्थक होने का निर्णय भाषा में पूर्व-सिद्ध उक्तियों के समुदाय के साथ उसकी तुलना कर ही किया जा सकता है। उक्ति-समुदाय से अनुकूलता रखने वाली नवीन उक्ति यथार्थ और अन्य अयथार्थ मानी जाती है।

न्यूरथ के इस सिद्धान्त का औचित्य भर्तृहरि की मान्यता के सन्दर्भ में परखा जा सकता है। शब्द की व्यापकता का निरूपण करते हुए भर्तृहरि ने समग्र प्रत्ययों को शब्द-सापेक्ष माना था। न्यूरथ का मत इससे बहुत कुछ साम्य रखता है। तर्कशास्त्र और गणित की भाषा का उदाहरण लेकर न्यूरथ ने यह विचार व्यक्त किया है कि उसमें वस्तु-निरपेक्ष भाव से भाषिक प्रयोग होता है और उसके अर्थ-बोध के लिए किसी निर्दिष्ट वस्तु पर विचार नहीं किया जाता।

किसी वाक्य की अर्थवत्ता के लिए न्यूरथ उसमें कथित वस्तु की तत्त्वगत सत्ता आवश्यक नहीं समझते। उनकी दृष्टि में, तार्किक संगति में अर्थ निहित रहता

है। वे यह आवश्यक नहीं समझते कि वाक्य अपने से भिन्न किसी वस्तुगत सत्ता का बोध करावें। यदि वाक्य में अपने स्वरूप की बोधकता है और वह भाषा के वाक्य-संघ की पूर्णता के अनुरूप है, तो इसी में उसकी सार्थकता है। स्पष्ट है कि न्यूरथ का यह मत 'सत्य' को पदयोजनागत अवधारणा के रूप में स्वीकार करता है, अर्थवैज्ञानिक धारणा के रूप में नहीं। न्यूरथ शब्दों के स्वतन्त्र संसार से ही दार्शनिकों का सम्बन्ध मानते हैं, भौतिक संसार से नहीं।

अर्थवैज्ञानिक दृष्टि से इस मान्यता के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ की जा सकती हैं। पहली बात तो यह कि यह मत शब्द के स्थिर कोशार्थ के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त शब्दार्थ को सर्वथा वस्तु-निरपेक्ष मान लेने पर यह सिद्धान्त भाषा से चलने वाले लोक-व्यवहार के तथ्य का भी स्पष्टीकरण नहीं कर पाता। वाक्य की यथार्थता-अयथार्थता के निर्णय के लिए अन्य वाक्य से उसकी तुलना का मत भी सार्वभौम सत्य नहीं माना जा सकता। इन्द्रियग्राह्य वस्तु के बोधक वाक्य के सम्बन्ध में तो, कम-से-कम, यह बात युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती कि उसकी यथार्थता का निर्णय उस बोधगम्य वस्तु के साथ कथन की तुलना कर नहीं किया जाता, अन्य वाक्य के साथ तुलना कर किया जाता है। बादल से छाये अन्धेरे को देख कर कोई कहे कि 'रात हो गयी' तो उस कथन की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय हम अन्य वाक्य के साथ उस कथन के मेल के आधार पर नहीं कर सकेंगे, बाह्य परिस्थिति के साथ उसे मिला कर ही उसकी यथार्थता की परीक्षा कर सकेंगे। एक बात और, क्या किसी वाक्य की यथार्थता के निर्णय के लिए सर्वत्र अन्य वाक्य से उसकी तुलना आवश्यक है? यह बिल्ली है, जैसे वाक्य की यथार्थता के निर्णय के लिए क्या बिल्ली 'म्याऊँ-म्याऊँ बोलती है', आदि वाक्यों के साथ उस वाक्य की तुलना कर उसकी अन्य वाक्यों के साथ सङ्गति देखना आवश्यक है? न्यूरथ के मतानुसार तो उस वाक्य में अर्थ ढूँढने के लिए बिल्ली पद से अभिहित जीवविशेष को छोड़ दूसरे वाक्य-समूह से ही उस वाक्य की सङ्गति देखना आवश्यक होगा। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होगा कि 'बिल्ली भूँकती है' या 'बिल्ली हिनहिनाती है' जैसे वाक्यों को अयथार्थ मानने का क्या आधार होगा? भाषिक संरचना-मात्र में वाक्य की यथार्थता ढूँढने से 'बिल्ली के साथ किसी भी क्रिया के प्रयोग को अयथार्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता। जो क्रिया दूसरे प्राणियों के साथ प्रयुक्त होती है उसे वाक्य-रचना की दृष्टि से बिल्ली के साथ प्रयुक्त करने में भी कोई संरचनागत असङ्गति नहीं होगी। किन्तु तथ्य यह है कि पशुओं की विभिन्न प्रकार की बोलियों के आधार पर ही विभिन्न ध्वन्यनुकरणात्मक क्रिया-पदों का प्रयोग किया जाता है और वैसे प्रयोगों की यथार्थता-अयथार्थता का

निर्णय शब्दों से निर्दिष्ट वस्तुओं को दृष्टि में रख कर ही किया जा सकता है। गणित की भाषा अवश्य ही, वस्तु-निरपेक्ष मानस विकल्प के बोध मात्र के लिए सार्थक होती है, पर इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि समग्र भाषिक प्रयोग की अर्थवत्ता वस्तु-निरपेक्ष ही होती है। हाँ, यह तथ्य है कि लोक सिद्ध या असिद्ध वस्तु भाषिक अर्थ से अभिन्न नहीं। भाषिक अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता है।

इस कठिनाई से बचने के लिए पॉजिटिभिस्ट अर्थगत सङ्गति के सिद्धान्त के पक्ष में यह युक्ति देते हैं कि सामाजिक स्वीकृति के प्रमाण के आधार पर हम बिल्ली के 'म्याऊँ-म्याऊँ' को यथार्थ तथा उसके भूँकने आदि को अयथार्थ मान लेते हैं; पर प्रश्न है कि शब्द-मात्र के लोक में समाज की सत्ता कहाँ? यदि अर्थ-विवेचन में समाज के लोगों और अन्य वस्तुओं की सत्ता मान कर चलें, तो न्यूरथ आदि विचारकों का सम्पूर्ण भाषा-दर्शन ही समूल नष्ट हो जाय।

कार्नप ने अर्थ के अनुसन्धान में केवल संरचनात्मक विश्लेषण को अपर्याप्त मान कर शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण और भाषा की अर्थ-द्योतकता पर विचार किया है।[1] उन्होंने इस क्रम में 'सत्ता' (entities) के व्यक्ति, गुण, सम्बन्ध तथा उक्ति; ये चार अङ्ग स्वीकार किये।[2] इन सत्ताओं के सम्बन्ध में कार्नप की धारणा यह है कि ये लोक-सिद्ध सत्ताएँ नहीं हैं, वरन् भाषा से संकेतित वस्तुओं के लोक में रहने वाली सत्ताएँ हैं, जो शब्दार्थ का लोक न तो बाहर है न भीतर पर जिसका कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व अवश्य है। ये सत्ताएँ उसी शब्दार्थ-लोक के चरम न्यूनीकृत अवशेष हैं। कार्नप, शायद, यह मानते थे कि शब्दार्थ का वह लोक यौक्तिक संरचना अर्थात् विकल्प या मानस प्रत्यय का लोक है, जहाँ केवल शब्द से संकेतित पदार्थों की ही सत्ता है, लोकसिद्ध किसी वस्तु की सत्ता नहीं। यह धारणा भर्तृहरि की उस धारणा से मिलती-जुलती है, जिसमें प्रत्यय या विकल्प को ही शाब्दबोध का विषय माना गया है।

कार्नप उक्त चार सत्ताओं में से व्यक्ति, गुण तथा सम्बन्ध को बोध्य और शब्द-चिह्नों के समुदाय से निर्मित वाक्य को बोधक मानते हैं। शब्द-चिह्नों की सरलतम संघटना को कार्नप ने 'एटोमिक सेन्टेन्स' अर्थात् आणविक वाक्य कहा है। उस आणविक वाक्य से एक प्राथमिक कथन (प्राइमरी प्रोपोजीशन) जुड़ा रहता है। यह प्राथमिक कथन भी एक सत्ता है, जिसकी स्थिति कार्नप स्पष्ट नहीं कर पाये

---

१. कार्नप, इन्ट्रोडक्शन टू सिमांटिक्स, भूमिका, पृ० १२.
२. वही, पृ० ६.

हैं। यह भाषिक चिह्न तथा उससे संकेतित अर्थ के बीच के किसी तत्त्व के रूप में कल्पित है। आणविक वाक्य (atomic sentence) की यथार्थता के निर्धारण का आधार कार्नप ने यह माना है कि यदि उस वाक्य में प्रयुक्त शब्द-चिह्न और उससे बोधगत होने वाली सत्ताएँ अपने-अपने क्षेत्र में, एक दूसरे के समान रूप में घटित हों, तो उस वाक्य को यथार्थ माना जायगा और इस प्रकार की समता का अभाव होने पर उसे अयथार्थ माना जायगा। तात्पर्य यह कि 'गाय काली है' यह वाक्य तभी यथार्थ माना जायगा, जब कि पदार्थभूत गाय काली हो। यह ध्यातव्य है कि कार्नप 'गाय' पद से बोध्य अर्थ के रूप में लोक-सिद्ध किसी गाय प्राणी को स्वीकार नहीं करते और न वे मनोगत गाय की अवधारणा को ही गाय शब्द का वाच्य अर्थ मानते हैं। गाय शब्द का अर्थ उनके मतानुसार तर्क से निर्मित एक विलक्षण शब्दार्थ-लोक की सत्ता-भर है। प्रत्यक्षवादी दार्शनिक, इस प्रकार शाब्दबोध का विषय वेदना-सन्तान को मान लेते हैं। बौद्ध विचारकों ने वेदना-सन्तान के रूप में विश्व की सत्ता मानने पर भी यह माना है कि शब्द उस अस्थिर, गतिशील वेदना-सन्तति में से किसी भी स्वरूप का बोध नहीं करा सकता। इस लिए बौद्ध विकल्प को शाब्दबोध का विषय मानते हैं, किसी वेदना खंड को नहीं।

कार्नप की मान्यता है कि जब व्यक्ति कल्पना से सभी आणविक वाक्यों को विभिन्न वर्गों में, तार्किक सङ्गति के अनुरूप, संघटित कर लेता है तो प्रत्येक वर्ग व्यक्तियों के उस लोक की स्थिति का—उसके सभी गुणों और सम्बन्धों के षिषय में—पूरा विवरण प्रस्तुत कर सकता है। इसलिए आणविक वाक्यों से कल्पित विभिन्न वाक्य-वर्गों को कार्नप ने 'स्थिति विवरण' (State description) कहा है।

कार्नप केवल वेदना सन्तान को सत्य मान कर उसे ही शाब्दबोध का विषय मान लेते हैं। वे भौतिक जगत की सत्ता को असत्य तो नहीं मानते, पर उसे व्यर्थ मान कर अपने तत्त्व-चिन्तन में उसे स्थान नहीं देते। वेदना-सन्तान को छोड़, भूत-जगत के पदार्थों पर विचार करना वे अनावश्यक मानते हैं। भूत-जगत की उपेक्षा में उनकी पलायनवादी प्रवृत्ति का ही परिचय मिलता है, क्योंकि न तो वे भौतिक जगत की सत्ता को स्वीकार करते हैं, न अस्वीकार। उसे तत्त्वमीमांसा का प्रश्न मान कर उसकी उपेक्षा कर देते हैं।[1] इसका परिणाम, शाब्दबोध के स्वरूप-निरूपण

१. we riject the thesis of the reality of physical world: butd do not reiectit as false, but as having no sense anwiets

में, यह हुआ है कि वे भाषिक प्रयोग के लोक-व्यवहार-पक्ष का युक्तिसङ्गत समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। बौद्ध मत की समीक्षा के क्रम में हमने देखा है कि केवल विकल्प या वेदना-परम्परा को शाब्दबोध का विषय मानने पर भाषा से चलने वाले लोक-व्यवहार के तथ्य का स्पष्टीकरण नहीं हो पाता। यह सीमा कार्नप तथा अन्य प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के शब्दार्थ-चिन्तन में भी है।

यदि प्रत्येक वेदना-खण्ड के बोधक आणविक वाक्य की सत्ता मानी जाय तो ऐसे सभी सम्भव वाक्यों का योग स्थिति-विवरण होगा। यह वाक्य-संध अनुभव-सिद्ध तथ्यों का बोध करायगा, जो वस्तुगत लोक के बोध से अभिन्न होगा। कार्नप को अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के लिए वस्तु-जगत् की सत्ता—चाहे वह अनुभव या वेदना-परम्परा के रूप में ही क्यों न स्वीकृत हो—को शब्दार्थ-लोक से बहिष्कृत करने की आवश्यकता नहीं थी। भर्तृहरि ने 'विकल्प' को शब्दार्थ का स्वरूप मान कर शाब्दबोध के जिस तात्त्विक एवं व्यावहारिक रहस्य का उद्घाटन किया था, वहाँ तक कार्नप अपने चिन्तन को ले जा सकते थे, पर उनका चिन्तन दार्शनिक पूर्वग्रह के कारण एकाङ्गी रह गया। बौद्ध दार्शनिकों ने शाब्दबोध तक ही संसार की सत्ता मानी, क्योंकि उनकी दृष्टि में वेदना-सन्तान या विकल्प से पृथक् किसी वस्तु की सत्ता नहीं। जैसे स्वप्न में आन्तरिक अनुभूति ही बाहर रूपायित हो जाती है उसी प्रकार दृश्य जगत् को भी बौद्ध आन्तरिक अनुभूति का बहिर्गत रूपान्तरण मात्र मानते हैं। बोध अनुभूति या विकल्प, उनके अनुसार, शब्द के अधीन है। अतः शाब्दबोध या विकल्प ही दृश्य जगत की परा सीमा है। कार्नप के शब्दार्थ-चिन्तन में बौद्धमत से कुछ समता अवश्य है पर वे बौद्धों की तरह वेदना या अनुभूति के साथ बाह्य जगत के सम्बन्ध का कोई स्पष्ट निर्णय नहीं दे पाते। जगत की सत्ता-असत्ता के प्रश्न से सर्वथा उदासीन होकर वे शब्द तथा अर्थ के कल्पित लोक का स्वरूप-विश्लेषण करने लगते हैं, जो समस्या से पलायन-सा जान पड़ता है।

विट्गिंस्टाइन ने रसेल के शब्दार्थ-चिन्तन को आधार बना कर उसमें अनेक परिष्कार किये तथा एक नवीन शब्दार्थ-दर्शन का प्रतिपादन किया जिसने अनेक भाषाशास्त्रियों को प्रभावित किया है। सन् १९२१ ई० में उनकी पुस्तक 'ट्रैक्टेटस लॉजिकों फिलॉसफिक्स' के प्रकाशन के पूर्व ही उनका भाषा-दर्शन चर्चा का विषय बन गया था। रसेल ने अपनी पुस्तक में विट्गिंस्टाइन की अप्रकाशित पुस्तक में

---

idealist antithesis is subject to exactly. the Same reaction we niether assert nor deny these theses, we reject the whole question,—Philosophy and Logicalsyntax, P.20

व्यक्त विचार के महत्त्व का निर्देश किया था। विट्‌गिंस्टाइन के मत की चर्चा का लाभ यह हुआ कि उन्हें अपने मत में अपेक्षित सुधार करने का अवसर मिलता रहा और अन्ततः वह पुस्तक लेखक की सुचिन्तित दृष्टि लेकर प्रकाश में आयी। पुस्तक के प्रकाशन के बाद रायल ने उसके व्यापक दार्शनिक चिन्तन के महत्त्व का उल्लेख करते हुए विट्‌गिंस्टाइन के दर्शन को 'सामान्य दर्शन' की संज्ञा दी। उनकी दृष्टि में, विट्‌गिंस्टाइन की वह पुस्तक 'व्यावहारिक तर्क की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि' थी, फिर भी तर्क और दर्शन के साथ अन्य विषयों का गम्भीर विवेचन पूर्ववर्ती दार्शनिकों की कृतियों से उसके वैशिष्ट्य का प्रमाण है।

विट्‌गिंस्टाइन ने भाषा-गत बोध के स्वरूप की व्यापकता के सम्बन्ध में यह मान्यता प्रकट की है कि भाषा की सीमाएँ ही हमारे संसार की सीमाएँ हैं। तात्पर्य यह कि संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो भाषिक बोध का विषय नहीं हो और जो कुछ भाषा से बोधगम्य है, वह सत्य है, भले ही उसकी सत्ता स्थूल बाह्य जगत में नहीं हो। विट्‌गिंस्टाइन ने संसार की सीमाओं को भाषा की भी सीमा माना है।[1] भाषा और संसार को एक दूसरे की सीमा मानने वाले इस सिद्धान्त को 'भाषिक आत्मज्ञानवाद' (linguistic solipsism) का सिद्धान्त कहा गया है। स्पष्टतः यह धारणा भर्तृहरि की शब्द-ब्रह्म-धारणा से मिलती-जुलती है।

विट्‌गिंस्टाइन चेतना की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते, वे केवल वेदना-खण्डों का ही बोध स्वीकार करते हैं। इस तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में वे योगाचार बौद्ध विचारकों के निष्कर्ष के निकट पहुँच जाते हैं। निरात्मवादी होने के कारण वे 'स्व' को भी अन्य पदार्थों की तरह निर्वैयक्तिक मान कर इस प्रकार के प्रश्न को ही सर्वथा अनावश्यक मानते हैं कि 'अनुभूति किसकी ?' इस प्रश्न में 'किसकी' का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि अनुभूति या वेदना-परम्परा से भिन्न उसके आश्रय रूप में कोई सत्ता है ही नहीं। संसार को विट्‌गिंस्टाइन विकल्प से भिन्न नहीं मानते।

निर्वैयक्तिक अनुभूतिख-ण्डों को शाब्दबोध का विषय मानने में कठिनाई यह है कि इससे विचार के आदान-प्रदान या संप्रेषण की समस्या का कोई युक्तिसङ्गत समाधान नहीं हो पाता। 'स्व' 'पर' या अन्य की सत्ता को अस्वीकार कर संसार को महाशून्य

---

१. The Limits of my language means the limit of my world. Logic fills the world: the limits of the world are also its limit.—D. F. pears, Tractatus Logico philosophicus, Ludwig Wittgenstine, 5.61-62

में संचरणशील निर्वैयक्तिक तथा परस्पर असम्बद्ध अनुभूति-खण्डों का समाहार-मात्र मान लेने पर इस प्रश्न का संतोषप्रद उत्तर नहीं दिया जा सकता कि भाषा से दो या अनेक व्यक्तियों के बीच विचार का आदान-प्रदान कैसे होता है ? विट्गिंस्टाइन की दृष्टि में संसार केवल 'तत्' के अणुओं का समुदाय है, जो 'तत्' न तो भौतिक है, न मानसिक। मैं, वह, तुम, जैसे किसी तत्त्व की सत्ता नहीं। ऐसी स्थिति में भाषा की संप्रेषणीयता ही असिद्ध हो जाती है। विचार-विनिमय के लिए एकाधिक व्यक्तियों की आत्मानुभूति की सत्ता आवश्यक है। उसका निषेध कर देने पर भाषिक व्यवहार का मूल ही खण्डित हो जाता है। अस्तु ! यह आपत्ति मुख्यतः विट्गिंस्टाइन के तत्त्व-चिन्तन से सम्बन्ध रखती है। यहाँ शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में उनके विचार का परीक्षण अपेक्षित है।

विट्गिंस्टाइन ने शब्द के अर्थ और उसके प्रयोग के भेद को लक्ष्य कर शब्दार्थ के स्वरूप-विश्लेषण में शब्द-प्रयोग को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी इस मान्यता का बीज रसेल के शब्दार्थ-चिन्तन में ही निहित था, जिसका आगे चलकर और विकास हुआ। विट्गिंस्टाइन के शब्दार्थ-विषयक चिन्तन से प्रोत्साहित होकर विजडम ने यहाँ तक कह दिया कि 'शब्द का अर्थ विचारणीय नहीं. विचारणीय उसका प्रयोग है'।[1]

रसेल ने यह संकेत दिया है कि कुछ वर्णन का अर्थ नहीं होता, पर प्रयोग होता है, जो प्रयोग ही उसकी अर्थवत्ता में योगदान देता है। फिर हम किसी उक्ति की व्याख्या में उसका प्रयोग ही दिखाते है। अतः अर्थ-निर्धारण में शब्द के प्रयोग का ही महत्त्व है। विट्गिंस्टाइन ने रसेल की इसी मान्यता को विकसित किया। उनकी दृष्टि में अर्थ विशेष प्रकार का प्रयोग ही है। वेल्स ने कुछ विशषणों को अलग-अलग वर्गों में रख कर उनके उदाहरण से शब्द-प्रयोग के महत्त्व के सम्बन्ध में विट्गिंस्टाइन की मान्यता का स्पष्टीकरण किया है।

(१) सब, कुछ, नहीं; (२) एक, दस; (३) बड़ा, छोटा; (४) बहुसंख्यक, (५) भूरा (रंग), मधुर, उच्च (स्वर); (६) पूर्वकालिक, भविष्यत्; (७) स्पष्ट, यथार्थ; (८) विकृत, सड़ा हुआ; इन वर्गों में परिगणित शब्दों के प्रयोगगत अर्थ-वैशिष्ट्य पर वेल्स ने विस्तार से विचार किया है। विट्गिंस्टाइन व्याकरण और तर्क शब्द का अपेक्षाकृत विस्तृत अर्थ में प्रयोग कर यह मानते हैं कि दो या अधिक शब्दों में कहीं व्याकरणगत समता तथा तर्कगत विषमता हो सकती है और कहीं

---

2. T. Wisdom, philosophy and psycho-analysis.

इसके विपरीत तर्कगत समता तथा व्याकरणगत विषमता हो सकती है। समानार्थक शब्दों के अर्थ-विश्लेषण में इस तथ्य पर ध्यान रखना आवश्यक होता है। सब और प्रत्येक में, उदाहरणार्थ, भेद विशेषतः व्याकरणगत है, तर्कगत नहीं। पहला बहुवचन और दूसरा एकवचन है। दोनों के प्रयोग में व्याकरणिक भेद होने पर भी तार्किक समता के कारण अर्थ-साम्य है। एक की जगह दूसरे का प्रयोग हो सकता है। पर, एक और दस में ऐसी यौक्तिक समता नहीं। एक एकवचन है और दस बहुवचन; यह व्याकरणिक भेद ही दोनों में नहीं है, यौक्तिक दृष्टि से भी दोनों में भेद है। दस में एक की धारणा समाविष्ट अवश्य है, पर एक के अर्थ को दस के अर्थ से अभिन्न नहीं माना जा सकता। हमने अपोहवाद के परीक्षण-क्रम में इस तथ्य पर विचार किया है कि शाब्दबोध अवयवातिरिक्त अवयवी का ही हो सकता है, अवयवी के वाचक शब्द से अवयव का बोध नहीं हो सकता। दस के बोध में एक, दो आदि का बोध भी व्यवहार में अवश्य मिला रहता है (या कहें कि एक, दो आदि के बोध के बिना दस का बोध हो ही नहीं सकता) पर दस शब्द एक का अर्थबोध नहीं कराता और न एक शब्द दस का ही बोध कराता है। उपरिलिखित सभी विशेषणपदों में व्याकरण तथा तर्क की समता-विषमता का विस्तृत विवेचन वेल्स ने किया है और विट्गिस्टाइन के मतानुसार यह निष्कर्ष दिया है कि प्रयोग ही शब्द के अर्थ का नियामक है। इस क्रम में उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि शब्द के अर्थ-निरूपण में इस पर भी विचार किया जाना चाहिए कि वह किस प्रकार कहा गया है। झूठे कथन में, मजाक में तथा अतिशयोक्ति में एक ही शब्द के अलग-अलग अर्थ हो सकते हैं। इसके साथ वे उस सम्पूर्ण परिस्थिति पर विचार करना भी आवश्यक समझते हैं, जिसमें कोई बात कही गयी है। 'बहुसंख्यक' के अर्थ पर विचार करते हुए उन्होंने यह बिचार प्रकट किया है कि उस शब्द के अर्थ के रूप में किसी संख्या का निर्धारण नहीं किया जा सकता। एक छोटे से पृष्ठ में दस अशुद्धियाँ हों तो उन्हें अत्यधिक 'माना जायगा, पर एक विशाल देश के लिए शत्रुओं की दस संख्या को बहुसंख्यक नहीं माना जायगा। ऐसे शब्दों का अर्थ परिस्थिति-सापेक्ष रूप में ही समझा जा सकता है।

'विकृत' तथा 'सड़ा हुआ' के अर्थगत साम्य-वैषम्य तथा एक शब्द के माध्यम से दूसरे के अर्थ-प्रतिपादन की प्रक्रिया की सीमा का निर्देश करते हुए क्वीने ने यह मत व्यक्त किया है कि किसी शब्द के अर्थ-निर्धारण के प्रयास में हम अशक्त आंशिक पर्याय तथा निर्देश का सहारा लिया करते हैं। उदाहरण के लिए सड़ा हुआ (addled) का अर्थ बताया जाता है विकृत (spoiled) और कहा जाता है कि इसका प्रयोग अंडे के विशेषण के रूप में होता है। स्टेवेन्सन कोषार्थ-निरूपण की विधि को परिभाषा-विधि तथा विवरण-विधि के रूप में स्वीकार करते हैं।

इस विवेचन का सार यह है कि विट्गिंस्टाइन तथा उनके अनुयायी शब्द-विशेष का कोई स्थिर अर्थ स्वीकार नहीं करते, प्रयोग को ही अर्थ का नियामक मानते हैं। वाक्यस्फोटवादी भारतीय वैयाकरणों ने भी ऐसी ही युक्तियों से पद के नियत अर्थ की सत्ता का खण्डन किया था, जिसकी विस्तृत समीक्षा हम कर चुके हैं। वक्ता के वैशिष्ट्य तथा कथन की भङ्गी के वैशिष्ट्य से अर्थ-भेद की जो धारणा वेल्स ने व्यक्त की है वह भारतीय विचारकों की धारणा से किञ्चित् भिन्न है। मजाक आदि में कथित शब्द का अभिधेयार्थ तो, भारतीय विचारकों की दृष्टि में, वही होता है जो सामान्य स्थिति में उच्चरित होने पर उस शब्द का होता है। हाँ, लक्षणा या व्यञ्जना-वृत्ति से वह शब्द अपने वाच्य अर्थ से भिन्न किसी और अर्थ का भी बोध कराता है। अभिधा के साथ दो अन्य शब्द-शक्तियों की कल्पना कर भारतीय विचारकों ने शब्दार्थ-बोध की समस्या को बहुत हद तक सुलझा दिया है। विट्गिंस्टाइन तथा उनके अनुयायी वेल्स आदि ने वैसे प्रयोग को अभिधेयार्थ की ही समस्या मान कर कुछ उलझन पैदा कर दी है।

भर्तृहरि आदि भारतीय विचारकों की तरह ही विट्गिंस्टाइन ने भाषा के समग्र व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप पर विचार किया है। शब्दार्थ के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि शब्द को किसी वस्तु या पदार्थ का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता जैसा कि पूर्ववर्ती अनेक विचारक मानते आ रहे थे। 'नहीं', 'है', 'और' आदि शब्द किसी वस्तु के प्रतिनिधि नहीं, पर हैं वे सार्थक शब्द।[1]

प्रयोग के आधार पर शब्द का अर्थ-निर्धारण मानने वाले भाषाशास्त्रियों का एक सम्प्रदाय ही बन गया है, पर लुडविग विट्गिंस्टाइन सबसे आगे बढ़कर यह मान लेते हैं कि प्रयोग अर्थ का नियामक-मात्र नहीं, प्रयोग ही भाषा का अर्थ होता है।[2] उलमान ने इसकी समीक्षा में कहा है कि विट्गिंस्टाइन को स्वयं अपनी इस दूराकृष्ट मान्यता के औचित्य में कुछ सन्देह था। इसलिए उन्होंने इसके कुछ अपवाद मान लिये हैं।[3] वस्तुतः इन्द्रियग्राह्य बाह्य पदार्थों के बोधक शब्दों के स्थिर

---

१. Wittgenstein, philosophical Investigation.

२. The meaning of a word is not merely asertained by its use; the meaning of a word is its use in the language.---Wittgenstein, philosophical investigation.

३. Wittgenstein himself seems to have had some doubts alout it and allowed for certain exceptions. It is as if he felt that there was in the meaning of a word something more than its use, but that this extra something defied analysis. —ullmann, Language and style, Page, 24.

अर्थ का खण्डन कर प्रयोग-मात्र में उनकी अर्थवत्ता स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं। धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता, स्वर्ग-नरक, वन्ध्यापुत्र, आकाश-कुसुम जैसे धारणा-गत अर्थ के बोधक शब्दों के वाच्य का कोई स्थिर स्वरूप निर्धारित करना कठिन है, क्योंकि हर व्यक्ति अपने-अपने संस्कार के अनुरूप उनका अलग-अलग रूप ग्रहण करता है, पर इसके आधार पर गाय, घोड़ा, पुस्तक, कलम, कुत्ता, बिल्ली आदि शब्दों के अपने स्थिर अर्थ का निषेध नहीं किया जा सकता। 'नहीं', 'और' आदि के अर्थ के सम्बन्ध में यह सत्य है कि वे वस्तु के प्रतिनिधि नहीं, पर गाय आदि शब्द भी किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते, यह मान्यता किसी दार्शनिक पूर्वग्रह का ही परिणाम हो सकती है।

शब्दार्थ-बोध के सम्बन्ध में अपने प्रयोगवादी सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के लिए विट्गिंस्टाइन ने पचीसी जैसे एक खेल में गोटियों का उदाहरण दिया है। खेल में कोई गोटी किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करती। गुलाम, वजीर आदि का अपना कोई अर्थ नहीं है, फिर भी उसकी चाल का कुछ अर्थ होता है। उसी प्रकार भाषिक व्यवहार शब्दों के विशिष्ट प्रयोग में ही सार्थकता पाता है, कोई शब्द किसी अर्थ का प्रतिनिधि नहीं होता, दूसरे शब्दों में, शब्द का कोई नियत अर्थ नहीं होता।[1] हम देख चुके हैं कि अनेक भारतीय विचारकों ने शब्द में अन्तर्निहित अर्थबोधकता को सबल युक्तियों से सिद्ध किया है। भाषिक प्रयोग को अर्थहीन गोटियों की क्रीड़ा के समान मानने में विशेष युक्ति नहीं। अगर भाषा शब्दों की क्रीड़ा है, तो अन्य क्रीड़ाओं से उसका यही भेद है कि वह सार्थक शब्दों की क्रीड़ा है, जो विचार-विनिमय का माध्यम बनती है। शब्द के अर्थ को वस्तु से अभिन्न मानना भ्रान्ति है, पर शब्द को अर्थहीन और उसके प्रयोग को ही उसका अर्थ मान लेना भी युक्तिसंगत नहीं। अर्थ शब्द और उससे निर्दिष्ट वस्तु के बीच अपनी सत्ता रखता है। जहाँ शब्द से किसी बाह्य वस्तु का निर्देश नहीं होता हो, वहाँ भी शब्द में अर्थ रहता है, जो एक विशिष्ट बोध के रूप में गृहीत होता है। शब्द के अर्थवान् होने का तथ्य ही काव्य का चित्र, स्थापत्य, मूर्ति तथा संगीत-कलाओं से व्यावर्तन करता है। चित्र, आदि कलाएँ अर्थहीन माध्यम का सार्थक प्रयोग ही हैं। रेखा, पत्थर, मिट्टी, स्वर-लहरी आदि का कोई नियत अर्थ नहीं, पर उनके विशिष्ट प्रयोग से सार्थक कला की सृष्टि हो जाती है। उन कलाओं के माध्यम की अर्थहीनता के कारण उनमें वस्तुनिष्ठ नियतार्थ-बोधकता नहीं आ पाती। भावक अपनी-अपनी भावना के अनुरूप उनका अर्थ ग्रहण करता है। वस्तुजगत का चित्र भले ही उनमें, कुछ हद तक, वस्तुनिष्ठता ला दे, पर अमूर्त भाव की व्यञ्जना करने

---

१. Wittgenstein, Philosophical Investigation.

वाली कलाओं के अर्थ-बोध में भावक की अपनी कल्पना के आरोप का अवसर अधिक रहता है। इसके विपरीत, काव्यार्थ के भावन में पाठक या श्रोता उसमें प्रयुक्त शब्दों के अभिधेयार्थ की सीमा में बँधा रहता है। वह अपनी रुचि के अनुसार, काव्य पर, अपनी कल्पना से अर्थ आरोपित नहीं कर सकता। अतः काव्यार्थ की एक निश्चित परिधि होती है, उसमें एक नियत प्रेषणीयता होती है। शब्द चाहे अर्थ के सामान्य का ही ग्रहण करा पाता हो, पर वह अपनी अर्थ-सीमा का अतिक्रमण नहीं कर पाता। गाय शब्द कुत्ते का बोध नहीं करा सकता, चाहे वह किसी भी सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ हो, जबकि कुछ टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ गाय, कुत्ता या किसी जड़ वस्तु का बोध प्रयोगवैशिष्ट्य से करा देती हैं। तात्पर्य यह कि कला के अर्थहीन माध्यम तथा शब्द के प्रयोग में कुछ भिन्नता है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। गाय शब्द किसी रेखा या एक स्वर-लहरी से अभिन्न नहीं। शब्द स्वयं अर्थहीन वर्णों के विशिष्ट संघटन से निर्मित एक अर्थवान् कला की तरह है। केवल ध्वनि-तरंगों की एक नियत व्यवस्था ही नहीं, अर्थवत्ता भी शब्द के स्वरूप का घटक है।

चर्च ने शाब्दबोध के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में यह स्वीकार किया है कि लोक-व्यवहार की भाषा में अर्थ की अव्यवस्था पायी जाती है। किसी शब्द के अर्थ का कोई स्थिर स्वरूप भाषिक व्यवहार में, निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। उनका विश्वास है कि अर्थगत अव्यवस्थाओं को दूर कर एक औपचारिक भाषा का स्वरूप-निर्धारण किया जा सकता है।[1] लोक-व्यवहार में प्रचलित होने वाली भाषा के साथ चर्च ने मानस लोक में रहने वाली तार्किक भाषा की भी सत्ता स्वीकार की है और दोनों में कुछ स्वरूपगत एवं कार्यगत भेद माना है। लोक-व्यवहारगत भाषा को वे सामान्य भाषा तथा मानस लोक में रहने वाली भाषा को तार्किक भाषा कहते हैं। उनकी मान्यता है कि इन दोनों प्रकार की भाषाओं के स्वरूप पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए एक ऐसे भावात्मक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए जिससे भाषा के माध्यम से होने वाले विचार-विनिमय की सही-सही व्याख्या की जा सके। इस प्रकार चर्च भाषा के अर्थ-विश्लेषण में शब्द प्रयोग के इतिहास को विशेष महत्त्व नहीं देते, भाषिक अर्थ-विवेचन के ऐसे भावात्मक सिद्धान्त को महत्त्व देते हैं जो भाषा-व्यवहार में एक सम्भावना के रूप में मान्य हो। लोक-व्यवहार से निर्धारित होने वाले शब्द-विशेष के अर्थ-विशेष को चर्च अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार नहीं करते, वे भाषा के व्यवहार में स्वीकृत शब्दार्थ को तार्किक सिद्धान्त

१. A. Church, The Need for Abstract Entities in Semantic Analysis P. 100

की एक सम्भावना के रूप में ही अपनी मान्यता प्रदान करते हैं। उनकी युक्ति है कि जब शब्दार्थ के रूप में किसी तथ्य के प्रतिपादन का प्रयास किया जाता है, तब अनेक सिद्धान्त सामने आते हैं। उनकी परिणतियों के रूप में जो अर्थ उपलब्ध होते हैं, उन्हीं में से किसी एक को सामान्य भाषा के प्रयोग में स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार अर्थ-निरूपण में चर्च की दृष्टि बहुत उदार है। किसी शब्द के किसी एक अर्थ के ग्रहण से वे उसके अन्य अर्थों की सम्भावना का निषेध नहीं मानते।

शब्द के वाच्य-अर्थ के दो रूप चर्च ने स्वीकार किये हैं—एक रूप शब्द से संकेतित अर्थ का है और दूसरा उससे ज्ञापित अर्थ का। नाम हो अथवा गणित का अङ्क, वह प्रथमतः अपने संकेत से उस वस्तु या भाव का बोध कराता है, जिसका वह नाम है। इसके अतिरिक्त नाम में बोध का तत्त्व भी रहता है, जिसे उसका ज्ञापकार्थ कहा जा सकता है। शब्द में निहित इस बोधकता को ही चर्च उसका सच्चा अर्थ मानते हैं। उनके अनुसार, नाम अपने संकेत को अभिहित तथा बोध को व्यञ्जित करता है। बोध-रूप में कार्य करने वाले भावात्मक तत्त्व को ही चर्च प्रत्यय मानते हैं। चर्च ने यह माना है कि एक नाम से अनेक वस्तुओं या प्रत्ययों का बोध हो सकता है। नामबोध के रूप में कार्य करने वाले प्रत्यय को उन्होंने उद्देश्य के अनुरूप विभिन्न वर्गों में विभाज्य माना है। उन्होंने वाक्य से बोधगत होने वाले प्रत्यय को मूल्य-प्रत्यय की संज्ञा दी है और उसे परिस्थिति-सापेक्ष होने के कारण अनेक-रूपात्मक स्वीकार किया है। चर्च प्रत्यय को किसी एक ही वस्तु का प्रत्यय मानते हैं, साथ ही शब्द के बोध-विस्तार की सम्भावना को भी स्वीकार करते हैं।

क्वीने ने शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण में सर्वप्रथम शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु को अर्थ मान लेने की भ्रान्ति का निराकरण करना चाहा है।[1] शब्द के संकेत को उसके अर्थ से अभिन्न मान कर शब्दार्थ के स्थिर स्वरूप की कल्पना से क्वीने सहमत नहीं। उनकी दृष्टि में मनुष्य शब्द का अर्थ और हमारे आस-पास रहने वाला कोई मनुष्य एक नहीं। बहरहाल, क्वीने के विचार से शब्दार्थ एक विशिष्ट सत्ता है। शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है, वह कुछ भी हो सकता है। यह भी आवश्यक नहीं कि शब्द किसी मनोगत प्रत्यय का ही बोध कराते हों। इस सन्दर्भ में क्वीने ने आधुनिक भाषाविज्ञानियों की इस मान्यता का समर्थन किया है कि प्रत्येक भाषिक संरचना या शब्द का प्रतिरूप किसी मानस-प्रत्यय को मानना

---

१. Quine, From the Logical point of View.

भाषावैज्ञानिक चिन्तन में व्यर्थ ही नहीं, सदोष भी है। वे व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक विचारकों की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं कि मनोविज्ञान में भी प्रत्यय की चर्चा निरर्थक है।

शब्दार्थ का स्वरूप-निर्धारण करने वाले कोशकार के कार्य को उन्होंने अन्य भाषाविज्ञानियों के कार्य की तरह, भाषिक संरचना के ही अध्ययन का कार्य माना है। उनकी दृष्टि में, कोशकार भी अपनी विशिष्ट पद्धति से एक भाषिक संरचना का दूसरी भाषिक संरचना के साथ—पर्यायवाची शब्दों का अन्य पर्यायवाची शब्दों के साथ—सहसम्बन्ध ही तो स्थापित करता है! अतः कोशकार का अध्ययन—शब्दार्थ के स्वरूप का निरूपण—भी तत्त्वतः शब्द की संरचना का ही अध्ययन सिद्ध होता है। वैयाकरण और कोशकार के कार्य में, इस अंश तक समता मान कर क्वीने ने दोनों के उद्देश्य में यह भेद माना है कि जहाँ वैयाकरणों का उद्देश्य यह जानना होता है कि कौन-सी संरचना सार्थक है, वहाँ, कोशकार का उद्देश्य यह जानना है कि कौन-से शब्द-रूप पर्यायवाची, अर्थात् समानार्थक हैं।

क्वीने शब्द का कोई स्थिर अर्थ नहीं मान कर उसे शब्द-प्रयोग की परिस्थिति पर आश्रित मानते हैं। शब्द-प्रयोग की परिस्थिति के अनुरूप उसका अर्थ अलग-अलग रूपों में गृहीत होता है। यह बात केवल भावात्मक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में ही नहीं कही गयी है, इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं के बोधक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में भी क्वीने ने ऐसा ही मन्तव्य व्यक्त किया है। उनकी युक्ति है कि सामान्यतः लोग यह मान लेते हैं कि व्यक्ति 'अगूर' को एक पूर्ण इकाई के रूप में देखता है, पर तार्किक दृष्टि से यह सत्य नही है। परिस्थिति-भेद से वस्तु-बोध के स्वरूप में भी भेद होता ही रहता है। दो स्थितियाँ समान नहीं होतीं, भले ही उनमें कुछ तत्त्वों का सादृश्य हो। अतः क्वीने के अनुसार, परिस्थति के अनुरूप शब्दार्थ का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है, उनमें निहित सादृश्य के आधार पर ही कोशार्थ का निर्णय किया जाता है। क्वीने शब्दार्थ के स्वरूप के अन्वेषण के लिए शब्द का परिवेशगत अध्ययन आवश्यक समझते हैं, वे किसी शब्द का कोई निर्धारित अर्थ नहीं मानते।

वस्तु-बोध के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए क्वीने ने इस तथ्य का निरूपण किया है कि वस्तु कोई ठोस और स्थिर सत्ता नहीं, वह एक विषयगत या वस्तुगत सत्ता-मात्र है। अवयवी का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं। उसका चित्रण उसकी चित्रात्मक विस्तार-स्थितियों के आधार पर ही किया जा सकता है। अवस्था, गुण, संख्या-निर्धारण तथा वर्ग जैसी वस्तुओं की भावगत सत्ता होती है।

कोई भाषा अपने परिवेशगत वैशिष्ट्य के कारण जैसे प्रत्ययों का बोध कराती है, ठीक वैसे ही प्रत्यय किसी दूसरी भाषा में व्यक्त नहीं होते। यह अर्थ-बोध के परिवेश-सापेक्ष होने का एक प्रमाण है।

वस्तु और उसके नाम के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्द के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में क्वीने ने यह मान्यता व्यक्त की है कि किसी वस्तु के बोध के लिए उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त होकर शब्द धीरे-धीरे उस वस्तु का नाम बन जाता है। नाम से संकेतित वस्तु भी देश-काल-सापेक्ष रूप में ही बोधगत होती है। नाम-पद के स्थान पर सर्वनाम का प्रयोग कर भी वस्तु का बोध कराया जा सकता है।

वस्तु की विशेषताओं का बोध कराने वाले गुण-बोधक शब्द को भी क्वीने सामान्य अर्थ में नाम मान लेते हैं। ऐसे पदों के अर्थ-बोध के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि ये शब्द, प्रत्यय के साथ सम्बद्ध न होकर, हमारी मनःस्थिति से ही मुख्य रूप से सम्बद्ध रहते हैं और इसीलिए हम विभिन्न शब्दों को सजातीय तत्त्वों के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। नाम शब्द को विस्तृत अर्थ में ग्रहण कर क्वीने ने यह विचार व्यक्त किया है कि सम्पूर्ण स्थिति के बोध के लिए जो भाषिक प्रयोग किया जाता है, वह उस स्थिति का एक प्रकार का नाम ही होता है। ऐसे भाषिक प्रयोग को वे स्थिति का भावात्मक नाम मानते हैं।

क्वीने ने भारतीय वैयाकरणों के शब्दाध्यास-सिद्धान्त से मिलता-जुलता सिद्धान्त शाब्दबोध के सम्बन्ध में व्यक्त किया है, जब उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि मनुष्य के भाषा-व्यवहार में नाम और वस्तु या शब्दचिह्न और उसे निर्सष्टि वस्तु को एक रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। चिह्न के वस्तुरूप में ग्रहण को वे आभास या भ्रमात्मक बोध मानते हैं। ध्यातव्य है कि शब्दाध्यासवादी वैयाकरणों ने भी शब्द और अर्थ में तात्त्विक भेद मान कर उसकी बोध-प्रक्रिया में प्रातिभासिक ऐक्यबोध का सिद्धान्त निरूपित किया था।

विरोधाभासमूलक कथनों के स्वरूप पर विचार करते हुए क्वीने ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उक्ति का निर्माण आन्तर्भाषिक सम्बन्ध-सूत्रों से निर्मित सन्दर्भ के आधार पर होता है। कुछ शास्त्रीय या वैज्ञानिक सिद्धान्त-प्रतिपादन भी इसी प्रकार के भाषिक सम्बन्ध-सूत्रों पर आधृत रहते हैं। वस्तु-सत्ता से निरपेक्ष रूप में मनोगत भाषिक सम्बन्धों के आधार पर कल्पित परिवेश के लिए भावात्मक संज्ञा के रूप में भाषा-प्रयोग का यह तार्किक नामवाद का सिद्धान्त अनेक शास्त्रीय या आलंकारिक उक्तियों तथा अलोक-सिद्ध वस्तुओं के बोधक कथनों के अर्थबोध की समस्या का बहुत हद तक समाधान प्रस्तुत कर देता है।

शब्द-अर्थ के सम्बन्ध-भेद के विषय में क्वीने ने जो विचार प्रकट किये हैं उनके आधार पर अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में क्वीने की मान्यता समझी जा सकती है। क्वीने के अनुसार, अनुभूतिगत अर्थ उक्ति की समग्र उत्तेजना-मूलक स्थितियों के साथ व्यक्त होता है और उसे शब्द-प्रपञ्च के आवरण से खींच कर अलग किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि अर्थ अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्द पर आश्रित रहता है। शब्द के बिना वह अपने स्वरूप को प्रकाशित नहीं कर सकता, पर उसकी सत्ता शब्द से स्वतन्त्र रूप में भी रहती है। वह सत्ता अनुभूति के रूप में भी रह सकती है। शब्द-अर्थ में यह तात्त्विक भेद रहने पर भी, अर्थ की अभिव्यक्ति शब्द-सापेक्ष होने के कारण दोनों के ऐक्य का प्रातिभासिक बोध होने लगता है।

वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में क्वीने का कथन है कि वाक्य विध्यात्मक तथा निषेधात्मक अर्थात् भावात्मक तथा अभावात्मक ; दोनों प्रकार के अर्थों का बोध कराते हैं, पर निषेधात्मक या अभावात्मक अर्थ के बोध के लिए विध्यात्मक या भावात्मक अर्थ का बोध आवश्यक है। हम देख चुके हैं कि 'प्रसज्य प्रतिषेध' या सर्वथा भाव-निरपेक्ष अभाव की कल्पना करने वाले बौद्ध विचारकों को छोड़, प्रायः सभी भारतीय मनीषियों ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि अभाव भाव-सापेक्ष ही होता है। अतः अभावात्मक सत्ता के बोध के लिए भावात्मक सत्ता का ज्ञान आवश्यक है।

भाषा की वाक्यगत अन्विति के सम्बन्ध में भी क्वीने की मान्यता है कि वाक्य एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं। अतः एक वाक्य को निरपेक्ष रूप में, उसकी सम्पूर्णता में नहीं समझा जा सकता। उसके पूर्ण बोध के लिए भाषा के अन्य वाक्यों का बोध भी अपेक्षित होता है। व्युत्पन्न शब्दों का ज्ञान वाक्य-निरपेक्ष रूप में भी होता है। शैशव काल में लोग पहले शब्द का बोध ही अर्जित करते हैं और उसके बाद वाक्य-प्रयोग सीखते हैं, पर भाषा में ऐसे भी शब्द होते हैं, जिनकी सार्थकता वाक्य-रचना की प्रक्रिया में ही निहित रहती है। वाक्य से पृथक् उनका कोई अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता। ऐसे शब्द हर भाषा में कुछ ऐसी विशिष्टता के साथ प्रयुक्त होते हैं कि उनका अन्य भाषा में अनुवाद सम्भव नहीं होता। हम हिन्दी के 'तो' शब्द को इस मान्यता की पुष्टि में उदाहृत कर सकते हैं। उसकी अर्थविच्छित्ति भाषिक प्रयोग में ही समझी जा सकती है और, शायद, उसका ठीक समानार्थक शब्द किसी विदेशी भाषा में नहीं पाया जा सकता।

इस प्रकार भाषा के दो रूपों—लोक-व्यवहार में प्रचलित व्यावहारिक भाषा और चिन्तन या दार्शनिक सिद्धान्त-निरूपण में प्रयुक्त होने वाली मनोगत तार्किक

भाषा—को दृष्टि में रखते हुए क्वीने ने उनके अर्थ-बोध के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला है कि व्यावहारिक भाषा पर उसके सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश का प्रभाव रहता है और इसलिए उसके शाब्दबोध के लिए उसके परिवेश का ज्ञान आवश्यक होता है, जबकि तार्किक भाषा परिवेशगत प्रभाव से मुक्त होने के कारण सार्वभौम सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होती है। तार्किक भाषा का सम्बन्ध पारस्परिक सम्बन्ध-निर्धारण से ही मुख्यतः रहता है।

क्वीने का शब्दार्थ-चिन्तन भाषा के अर्थमूलक अध्ययन तथा अनुवाद आदि की समस्याओं को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने का महत्त्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है। शाब्दबोध के रहस्य के दार्शनिक विवेचन में उनके विचार कुछ अंश में भारतीय विचारकों के शब्दाध्यास-सिद्धान्त के निकट पहुँच जाते हैं। इसके साथ ही क्वीने ने किसी भाषा के अर्थमूलक अध्ययन में उपस्थित होने वाली व्यावहारिक समस्याओं पर भी विचार किया है। सम्पूर्ण सांस्कृतिक परिवेश के बीच भाषा के अर्थ के अध्ययन की दृष्टि भाषावैज्ञानिक अध्ययन में बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

पाश्चात्य दार्शनिकों के शब्दार्थ-चिन्तन के इस पर्यालोचन से शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में जो प्रमुख सिद्धान्त सामने आते हैं उन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—वस्तु-निर्देशात्मक, प्रत्यय-रूपात्मक और व्यवहारात्मक। इनमें से वस्तुनिर्देशात्मक सिद्धान्त का अब केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही महत्त्व रह गया है, वस्तुतः भाषिक अर्थ-तत्त्व के निरूपण में अब वस्तुगत या लोकसिद्ध अर्थ को महत्त्व नहीं दिया जाता। भाषिक अर्थ को बुद्धिगत प्रत्यय रूप मानने वाले विचार को ही पाश्चात्य दर्शन और भाषाविज्ञान में अधिक लोकप्रियता मिली है।

शब्द का कोई नियत अर्थ माना जाय या भाषिक व्यवहार को ही अर्थ का नियामक माना जाय, इस समस्या पर अनेक ऊहापोह हुए हैं।

शब्द के अर्थ के साथ सन्निहित भावना को भी अर्थ के भीतर समाविष्ट कर कुछ विचारकों ने अर्थ के अपरिमेय स्वरूप की कल्पना की है।

पाश्चात्य भाषा-चिन्तन का भारतीय भाषा-दर्शन से अद्भुत साम्य है, यह स्थान-स्थान पर दोनों के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट किया जा चुका है।

मनोविज्ञान में प्रतिपादित अर्थ का स्वरूप : मनोविज्ञान के क्षेत्र में शाब्दबोध के स्वरूप-निर्धारण के लिए अनेक प्रयोग-विधियाँ अपनायी गयी हैं और उनके आधार पर अनेक रूपों में अर्थ को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है।

मनोविज्ञानी पद के अर्थ को किसी वस्तुनिष्ठ सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं करते, उसे मनोगत विचार या भाव से सम्बद्ध एक अभौतिक बोधगत सत्ता के रूप में स्वीकार करते हैं। अर्थ-बोध के स्वरूप-निरूपण में उनका प्रयास उस बोध से घटित होने वाली मनोस्नायविक प्रक्रियाओं के निर्धारण की ओर भी रहा है।

अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों, नृतत्त्ववेत्ताओं, दार्शनिकों, भाषाविज्ञानियों तथा मनोविज्ञानियों के दृष्टि-भेद के कारण उन क्षेत्रों में अर्थ को अलग-अलग रूपों में परिभाषित किया गया है। ब्लूमफील्ड की शब्दार्थ-परिभाषा पर समाजशास्त्रीय दृष्टि का प्रभाव है, जिसमें शब्द-प्रयोग की परिस्थितियों के बीच निहित समान लक्षण (Common Feature) को तथा शब्द से उत्पादित क्रियाशीलता को अर्थ का स्वरूप माना गया है। भाषाविज्ञान में दूसरे शब्दों के साथ एक शब्द के सम्बन्ध के सन्दर्भ में उसके अर्थ का निर्धारण करने का प्रयास किया गया है। कुछ भाषाविज्ञानियों ने भाषिक संरचना में शब्द-विशेष की स्थिति और उसके कार्य को ही अर्थ के रूप में स्वीकार करने की युक्ति प्रस्तुत की है। इन मतों के औचित्य पर हम आगे विचार करेंगे।

अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में मनोविज्ञान में अनेक सम्प्रदाय बन गये हैं। उन सम्प्रदायों के विचारकों ने शब्दार्थ को अपनी-अपनी दृष्टि से परिभाषित किया है। इस प्रयास में उन्होंने विभिन्न प्रयोग-विधियों का सहारा लिया है। प्रसिद्ध मनोविज्ञानियों की अर्थ-मीमांसा की समीक्षा के पूर्व शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ प्रमुख सम्प्रदायों के दृष्टिकोण का संक्षिप्त परिचय तथा अर्थ के स्वरूप-निर्धारण के लिए प्रयुक्त विभिन्न विधियों की चर्चा अपेक्षित है।

मानसवादी दृष्टि (Mentalistic view) : मानसवादी मनोविज्ञानियों की दृष्टि में "तात्पर्य से भिन्न कोई वस्तु (शब्द आदि) उस तात्पर्य के प्रत्यय या विचार को उत्पन्न करने में समर्थ हो तो वह उसका चिह्न बन जाती है।"[1] इसी चिह्न (शब्द) और तात्पर्य के सम्बन्ध के रूप में अर्थ के स्वरूप का निरूपण किया जाता है। ऑग्डेन और रिचर्ड्स ने इस मानसवादी दृष्टि से शब्दार्थ के स्वरूप का विशद विवेचन किया है, जिसका पर्यालोचन हम उचित सन्दर्भ में करेंगे।

प्रतिस्थापन सिद्धान्त (Substitution View) : यह सिद्धान्त यह मानता है

---

१. Something which is not the Significate becomes a Sign of that Significate if it gives rise to the idea or thought of that Significate.—ओसगुड, द लॉजिक ऑफ सीमेंटिक डिफरेंसियेशन, सॉल सपोता के द्वारा सम्पादित, साइकोलिंग्विस्टिक्स, पृ० २८५

कि मूलतः तात्पर्य के प्रति जैसी प्रतिक्रिया सहज रूप में प्राणियों में उत्पन्न होती है वैसी ही प्रतिक्रिया में अवस्थापित (Conditioned) हो जाने पर ही चिह्न या शब्द को अर्थवत्ता प्राप्त होती है।[1] इस प्रकार शब्द किसी अर्थ का चिह्न बन सके इसके लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह मानव के शरीर में वैसी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सके जैसी प्रतिक्रिया तात्पर्य से उत्पन्न होती है। वाट्सन आदि मनोविज्ञानी इस चिन्तन-सम्प्रदाय में आते हैं।

प्रवत्ति सिद्धान्त (Dispositional view) :—इस मत के अनुसार तात्पर्य से भिन्न कोई भी उत्तेजना-प्रकार यदि प्राणी में पूर्वानुभूत तात्पर्य से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं में से किसी भी प्रतिक्रिया को व्यक्त करने की चित्तवृत्ति उत्पन्न करता है, तो वह उस तात्पर्य का चिह्न बन जाता है।[2] चार्ल्स मॉरिस (Charls Morris) आदि इस विचार-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध प्रतिष्ठाता हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक विचारकों ने अर्थ को प्रातिनिधिक मध्यस्थता-प्रक्रिया (representational process) के रूप में स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार तात्पर्य को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—"कोई भी समुत्तेजना जो किसी विशिष्ट परिस्थिति में नियमित और विश्वसनीय रूप में एक पूर्वानुमेय व्यवहार-प्रकार उत्पन्न करे उसे तात्पर्य (Significate) कहते हैं। जब उस तात्पर्यार्थ से भिन्न कोई अन्य समुत्तेजना उस तात्पर्यार्थ से संलग्न होती है तो वह तात्पर्यार्थ से उत्पादित सम्पूर्ण व्यवहार के किसी अंश से, प्रातिनिधिक मध्यस्थता-प्रक्रिया के रूप में, साहचर्य का लाभ प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार अर्थ-निरूपण का यह सिद्धान्त यह मानता है कि शब्द वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हैं ; क्योंकि वे इन वस्तुओं के प्रति मनुष्य के अवयव में मध्यस्थता-प्रक्रिया के रूप में यथार्थ व्यवहार की कुछ प्रतिकृति उत्पन्न करते हैं। निष्कर्ष-रूप में इस मत का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—समुत्तेजना का एक तात्पर्यार्थ से भिन्न स्वरूप यदि मनुष्य में किसी मध्यस्थता-प्रक्रिया को उत्पन्न करे तो वह

---

१. Whenever Something is not the Significate evokes in an organism the Same reactions evoked by the Significate, it is a Sign of that Significate —वही पृ० २८६

२. Any pattern of Stimulation which is not the Significate becomes a Sign of the Significate if it produces in the organism a "disposition"to make any of the responses previously elicited by the significafe.—वही, पृ० २८६

उसका चिह्न बन जाता है ।[1] यह प्रक्रिया तात्पर्यार्थ से उत्पादित समग्र व्यवहार का एक अंश होती है और वैसी ही प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर सकती है जो समुत्तेजना के तात्पर्येतर और तात्पर्य-रूपों की पूर्व-सन्निधि से घटित होती हैं ।

प्रातिनिधिक मध्यस्थ को विशुद्ध स्नायविक घटना-प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है । अतः परम्परा से प्रतिक्रिया का जो अर्थ वास्तविक मांसपेशीगत आकुंचन तथा ग्रन्थि-स्राव के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है, उससे इस प्रक्रिया को कुछ भिन्न रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए । 'मध्यस्थ प्रतिक्रिया' नहीं कह कर 'मध्यस्थ प्रक्रिया' कहने का यही अभिप्राय है कि उसे शुद्ध स्नायुगत व्यापार के रूप ही ग्रहण किया जाना चाहिए ।[2]

इस मत में यह माना गया है कि सामान्य व्यवहार में चलने वाले अधिकांश चिह्नों (शब्दों) को अन्य चिह्नों के साहचर्य के द्वारा अर्थ प्रदान किया जाता है । उन चिह्नों की अर्थवत्ता में संकेतित वस्तुओं के साथ उनके साक्षात् सम्बन्ध का उतना महत्त्व नहीं । अतः वैसे शब्दों या चिह्नों को अधिन्यासी (assign) कहा गया है ।[3] पढ़ना सीखने का एक उदाहरण देकर चिह्न के अधिन्यासी होने के तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है । जब बच्चे किसी पुस्तक पर छपे 'छोटा काला कीड़ा' जैसे वाक्य को पढ़ते हैं तो उस समय उन शब्दों से संकेतित वस्तुओं के साथ उन शब्द-रूपों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा करता, उनका सम्बन्ध सुने जाने वाले चिह्नों के साथ ही रहता है । इससे यह सिद्ध होता है कि शब्द-चिह्न पर अर्थ का अधिन्यास किया जाता है ।

---

१. A pattern of Stimulation which is not the significate is a sign of that singnifiate if it envokes in the organism a mediating process....ओसगुड सूसी और तन्नेनबाम, द लॉजिक ऑफ सीमेंटीक डिफरेन्सिएशन, सॉल सपोता द्वारा सम्पादित साइकोलिंग्विस्टिक्स, पृ० २८८

२. ....they (representational mediators) may well be purely neural events rather than actual muscular contractions or glandular secretion in the traditional sense of reaction.—वही पृ० ८८२

३. The vast majority of Signs used in ordinary communication are what we may term assigns' their meanings are literally assigned to them via association with other signs rather than via direct association with the object signified —वही पृ० २८८

ओसगुड, सूसी (Suci) तथा तान्नेनबॉम (Tannenbaum) ने **द लॉजिक आफ सीमेंटिक डिफरेंसियेशन** नामक निबन्ध में अर्थ के स्वरूप-निरूपण के अपने सम्मिलित प्रयास का निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। उन्होंने शब्दार्थ के मापक आधार का निर्धारण करने के प्रयास में अर्थ का मनोवैज्ञानिक अर्थ स्वीकार किया। उनकी दृष्टि में अर्थ एक सम्बन्धगत अवधारणा है। अपने मतानुसार उन्होंने अर्थ को इस प्रकार परिभाषित किया है—"चिह्न का प्रयोग करने वालों के व्यवहार में घटित होने वाली वह प्रक्रिया या स्थिति, जो चिह्न-समुत्तेजना के ग्रहण का आवश्यक परिणाम तथा चिह्न-प्रतिक्रिया की उत्पत्ति का आवश्यक पूर्वगामी मानी जाती है, अर्थ कहलाती है।[1] अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्य मतों के प्रति उदार दृष्टि रखते हुए ओसगुड आदि ने यह माना है कि अर्थ का यह मनोवैज्ञानिक अर्थ उसके अन्य अर्थों को गलत सिद्ध नहीं करता।[2]

अर्थ-विषयक इन मतों की शक्ति-सीमा का यहाँ संक्षिप्त निर्देश अपेक्षित है। इन दृष्टियों के प्रतिष्ठाता विचारकों की अर्थ-मीमांसा के विवेचन-क्रम में हम उनका विस्तृत मूल्यांकन करेंगे।

ब्लूमफील्ड आदि ने समाजशास्त्रीय दृष्टि से अर्थ की जो परिभाषा दी है वह वस्तुपरक है। उसकी शक्ति यह है कि लक्ष्यार्थ आदि को छोड़ कर केवल शब्द के वाच्य अर्थ के स्वरूप का ही उसमें वस्तुनिष्ठ निरूपण किया गया है। ओसगुड तथा उनके सहयोगियों ने इसे उस परिभाषा की सीमा माना है, पर मेरी दृष्टि में, यही उसकी उपलब्धि है। शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण में गौण शक्तियों से अर्थ के स्वरूप को मिला देने पर जो शब्दार्थ के अपरिमेय स्वरूप बन जाते हैं, उनका अध्ययन काव्यशास्त्र में विशेष उपादेय है, भाषाशास्त्र में नहीं। उस परिभाषा की सीमा--जिसकी ओर ओसगुड आदि ने भी निर्देश किया है—यह है कि उसमें शब्द-अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करने वाले मानव-व्यवहार के तथ्य पर विचार नहीं किया गया है।

---

१. ....that process or state in the behavior of sign-using organism which is assumed to be necessary consequence of the reception of sign-stimuli and a necessary antecedent for the production of sign—response....वही पृ० २८९.

२. This psychological aspect of meaning does not imply that other meanings of meaning is incorrect. वही पृ० २८९. ४

३. द्रष्टव्य, वही पृ० २८४.

मानसवादी मनोविज्ञानियों ने अर्थ का जो स्वरूप माना है उसमें शब्द के अर्थ का प्रतिनिधि होने के तथ्य को, सीखने या अनुभव प्राप्त करने के तत्त्व को तथा शब्द और अर्थ के बीच किसी भी प्रकार के साक्षात् सम्बन्ध की सत्ता न मानने वाले कुछ भाषाविज्ञानियों के विचार को महत्त्व न देकर शब्द और तात्पर्यार्थ के बीच सम्बन्ध की मध्यस्थता करने वाली प्रक्रिया को मनोगत माना है। इस मत के औचित्य पर हम ऑग्डेन तथा रिचर्ड्स के शब्दार्थ-विवेचन के क्रम में विस्तार से विचार करेंगे।

प्रतिस्थापन-सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उसमें चिह्न से वैसी ही प्रतिक्रिया की उत्पत्ति मानी गयी है, जैसी प्रतिक्रिया पदार्थ से उत्पन्न होती है। यह तथ्य नहीं है। मिठाई को देखने या खाने से उत्पन्न प्रतिक्रिया और 'मिठाई' शब्द को सुनने से अर्थ-बोध के रूप में होने वाली प्रतिक्रिया को समान नहीं माना जा सकता। इस मान्यता का महत्त्व केवल इस बात में है कि यह अर्थ के स्वरूप-विश्लेषण में एक वस्तुनिष्ठ दृष्टि प्रस्तुत करती है और शाब्दबोध के व्यवहारगत स्वरूप के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करती है।

प्रवृत्ति-सिद्धान्त में प्रतिस्थापन-सिद्धान्त के कुछ दोषों का मार्जन अवश्य किया गया है पर उसकी अपनी भी कई सीमाएँ हैं। प्रतिक्रिया-विशेष को व्यक्त करने की चित्तवृत्ति के उत्पादक चिह्न को पदार्थ-विशेष का बोधक चिह्न मानने पर वह 'चित्तवृत्ति' प्रत्यय या विचार के प्रच्छन्न प्रतिनिधि के ही समान बन जायगी, और इस मत को मानसवादी सिद्धान्त से किसी भी प्रकार विकसित नहीं माना जा सकेगा। इस सम्प्रदाय के विचारक अर्थ के स्वरूप-निरूपण में वक्ता और श्रोता के व्यवहार (behavior) का अध्ययन अपना प्रमुख लक्ष्य मानते हैं।

प्रातिनिधिक मध्यस्थता-प्रक्रिया के सिद्धान्त में अर्थ के किसी नियत स्वरूप के निर्धारण का प्रयास नहीं कर एक ही शब्द के अर्थ के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण किये जाने की मान्यता व्यक्त की गयी है। बोधगत वैभिन्न्य में भी जो समान तत्त्व रहकर शब्द को विचार-विनिमय के उपयुक्त बनाता है और विभिन्न प्रमाताओं को अर्थ-बोध के समान धरातल पर ला देता है, उस पर इस सम्प्रदाय के विचारकों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। वे शब्द-प्रयोग से होने वाली व्यवहार-प्रक्रिया पर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखते हैं, और फलतः, शब्द के कोशार्थ अर्थात् किसी प्रकार के नियत अर्थ की उपेक्षा कर देते हैं। इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं के बोधक शब्दों के अर्थग्रहण में ग्राहक अवयव की समता तथा प्राकृतिक नियमों की समता के आधार पर कुछ साम्य अवश्य माना गया है, पर अर्थ-बोध के

स्वरूप की अस्थिरता के सिद्धान्त के पोषण में ओसगुड आदि ने यह युक्ति दी है कि 'माता', 'पिता', 'मैं' आदि शब्द भी, जो लोक-सिद्ध वस्तु के बोधक हैं, समृद्ध निर्धन आदि पारिवारिक स्थितियों के अनुरूप व्यक्ति के लिए अलग-अलग अर्थ रखते हैं। यह धारणा शब्द के मुख्य अर्थ तथा गौण अर्थ के बीच भेद नहीं करने का परिणाम है। शब्द से जब किसी अर्थ का बोध होता है तो उसमें गौण रूप से कुछ अनुभूतियाँ भी मिली रहती हैं, जिन्हें शब्द का वाच्यार्थ मान लेना युक्तिसङ्गत नहीं। 'पिता' शब्द का अर्थ-बोध उनके प्रति व्यक्ति के मन में निहित आदर-भाव से युक्त होकर हो सकता है, पर उस आदर के भाव को 'पिता' शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। अतः मेरी धारणा है कि पिता (पिता-पद-वाच्य व्यक्ति) के प्रति अलग-अलग व्यक्तियों की जो भी भावना उस शब्द के अर्थ-बोध में मिश्रित हो जाती हो, उसे शब्द का गौण अनुभव-गम्य अर्थ ही माना जाना चाहिए और उससे अलग कर मुख्यार्थ के स्वरूप का विवेचन किया जाना चाहिए। तभी अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी स्वस्थ निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। हाँ, जो शब्द किसी बाह्य वस्तु का बोधक न होकर अनुभूति या भावगत सत्ता-मात्र का बोधक होता है उसके अर्थ के स्वरूप-बोध में व्यक्तिगत भाव-बोध की मात्रा अधिक अवश्य होती है, फिर भी समान बोध-तल पर आकर ही वह शब्द भाषा में व्यवहृत हो पाता है और एक वस्तुनिष्ठ अर्थ प्राप्त कर लेता है।

अर्थ के मनोवैज्ञानिक पक्ष को सम्बन्धमूलक अवधारणा के रूप में स्वीकार करने वाला मत अर्थ के स्वरूप को पूर्णता में निरूपित करने का प्रयास नहीं करता, यह उसकी एक सीमा है, पर शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्य मतों को भी सही मानने की उदारता उसकी शक्ति है। इस प्रकार यह मत इस सम्भावना को स्वीकार कर चलता है कि शब्दार्थ के स्वरूप का निरूपण विभिन्न दृष्टियों से किया जा सकता है और उससे प्राप्त निष्कर्ष अलग-अलग होने पर भी सही माने जा सकते हैं। अलग-अलग निष्कर्षों में से एक का सही होना दूसरे का गलत होना सिद्ध नहीं करता। सम्बन्धगत अवधारणा के रूप में मनोवैज्ञानिक अर्थ-पक्ष की स्वीकृति का उद्देश्य वस्तुतः शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी व्यापक और स्थिर सिद्धान्त की स्थापना करना नहीं है, उसका उद्देश्य एक ऐसी आधार भूमि तैयार करना है, जिस पर अर्थ के परिमापन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया जा सके। अर्थ को मापने के प्रयास का विवेचन तथा उससे प्राप्त निष्कर्षों का मूल्याङ्कन हम यथावसर करेंगे।

अर्थ-निरूपण की मनोवैज्ञानिक विधियाँ : शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण या शब्दार्थ की बोध-प्रक्रिया के परीक्षण के लिए मनोविज्ञानियों ने प्रायः उन सभी

विधियों का सहारा लिया है, जिनका उपयोग वे मनोवैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में किया करते हैं। इस प्रसङ्ग में शाब्दबोध की प्रक्रिया के विश्लेषण के लिए प्रयोग में लायी जाने वाली विधियों तथा उनसे प्राप्त निष्कर्षों का संक्षिप्त परिचय पर्याप्त होगा। शाब्दबोध के स्वरूप-निरूपण में उन विधियों की शक्ति और सीमा का मूल्यांकन भी अपेक्षित है।

मानसिक विधियाँ (Psychololgical Methods) : प्रातिनिधिक मध्यस्थता-प्रक्रिया को अपनी विशिष्ट आत्मसमुत्तेजना उत्पन्न करने वाली अव्यक्त प्रतिक्रिया के रूप में निरूपित करने के लिए इस समुत्तेजना-प्रतिक्रिया की विधि से मानसिक अन्तःसम्बन्ध ढूँढ़ने का प्रयास किया जाता है। ओसगुड की मान्यता है कि यदि हम चेतना या बोध के परिधीय सिद्धान्त को मान लें तो अर्थ के लिए आत्म-समुत्तेजना से युक्त मध्यस्थता-प्रतिक्रिया एक आवश्यक शर्त्त बन जाती है।[1] यही मान कर अर्थ की मनोगत सत्ता मानने वाले मनोविज्ञानियों ने अर्थ के स्वरूप-विश्लेषण में मनोगत अन्तःसम्बन्धों के निर्धारण के लिए इस विधि का उपयोग किया है। इस विधि के अन्तर्गत अर्थ-बोध के समय अवयवी में घटित होने वाली मनो-दैहिक प्रक्रियाओं के विभिन्न क्षेत्रों का अध्ययन किया गया है।

(क) चिह्नित मांसपेशी की कार्यक्षमता : अन्तर्निरीक्षण को अपने अध्ययन का क्षेत्र मानने वाले मनोविज्ञानियों की धारणा थी की यदि चेतना से 'सार्थक विचार' के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं को हटा दिया जाय तो अवशेष के रूप में दैहिक संवेदना की सत्ता रह जाती है। किन्तु अन्तर्निरीक्षण की विधि से वे यह निर्धारित नहीं कर पाये थे कि मांसपेशीगत तथा आंगिक संवेदनाएँ वस्तुतः अर्थ ही हैं या केवल शारीरिक तनाव की पृष्ठभूमि। शब्दार्थ का स्वरूप-निरूपण करने वाले मनोविज्ञानियों ने इसी समस्या के सामाधान के लिए समुत्तेजना-प्रतिक्रिया की विधि से परीक्षण किये हैं।

वाटसन ने विचार को अव्यक्त भाषा से अभिन्न माना था। कुछ मनोविज्ञानियों ने इस मत के परीक्षण के लिए विषय के मुँह में कुछ यन्त्र लगाकर अव्यक्त भाषा की गति की पदचाप का ध्वनि-चित्र अंकित करना चाहा, तो उन्होंने पाया कि विचार की गति और अस्फुट रूप से ध्वनि-यन्त्र में चलने वाली भाषा की गति में अभिन्नता या पूर्ण समता नहीं है। पीछे चलकर, विद्युत से ध्वनि को परिवर्धित करने तथा उसे विशिष्ट चिह्नों में अंकित करने की विधि के यान्त्रिक आविष्कार से इस

1. psycho-Linguistics, editor, sal sapota, P. 290-96, osgood, the semantic Deffrntial.

समस्या के समाधान में पर्याप्त सहायता मिली। जैकॉब्सन तथा मैक्स ने ऐसे यन्त्रों के सहारे व्यक्ति में किसी निर्दिष्ट विचार के क्षण में पेशीगत क्रियाशीलता के अनेक महत्त्वपूर्ण चित्र अंकित किये।

इस प्रकार की यान्त्रिक विधि से पेशीगत प्रतिक्रियाओं और मनोगत विचार के सम्बन्ध का निर्धारण और किसी भाषिक चिह्न के अर्थग्रहण की प्रक्रिया का अध्ययन बहुत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, कारण यह कि किसी शब्द से मन में उत्पन्न होने वाले बोध के सूक्ष्म स्वरूप को यन्त्र रेखांकित नहीं कर सकता। मनुष्य की शब्दजन्य शारीरिक प्रतिक्रियाओं का चित्र खींच कर भी उसका मनोगत विशिष्ट बोध के साथ सम्बन्ध निरूपित करना और इस प्रकार शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध निर्धारित करना कठिन है।

(ख) लारस्राव-प्रतिक्रिया (salivary reaction) : राजरन (Razran) ने अर्थ के अवयवगत अन्तःसम्बन्ध के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये। उन्होंने अपने-आपको विषय बना कर विभिन्न भाषाओं के लार-बोधक शब्दों की बोध-प्रक्रिया का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि वे अलग-अलग शब्द समुत्तेजना के अलग-अलग रूप सिद्ध हुए और उन शब्दों की प्रतिक्रियाएँ भी अलग-अलग मात्रा में हुईं। बाल्य-काल में अर्जित रूसी भाषा के शब्द से प्रतिक्रिया के रूप में लार-स्राव की मात्रा सबसे अधिक थी। जिस शब्द के साथ जितना घनिष्ठ सम्बन्ध था उसकी प्रतिक्रिया की मात्रा उतनी ही अधिक थी। ऐसे प्रयोग में कुछ शब्द-समूह की अर्थवत्ता तथा ग्रन्थि के स्राव के परिमाण का सम्बन्ध तो दिखाया जा सकता है, पर शब्द के सामान्य अर्थ के स्वरूप-निर्धारण में यह बहुत उपादेय नहीं है। लार शब्द से भी ग्रन्थिस्राव लार के रूप में हो सकता है और नीबू, इमली आदि शब्दों के सुनने से भी। ऐसी स्थिति में नीबू, इमली आदि का अर्थ-निर्धारण इस प्रयोग के आधार पर कैसे किया जा सकेगा ?

वैद्युतिक चर्म-प्रतिक्रिया (Galvanic skin response) : यह स्वायत्त क्रिया-कलाप का एक सूचकांक है और इसलिए अर्थ में निहित भावना के तत्त्व के उद्घाटन में ही इसकी उपयोगिता हो सकती है। गौण अर्थ के रूप में मुख्यार्थ से सम्पृक्त रहने वाले मनोभाव से स्वतन्त्र मुख्य अर्थ के निरूपण में यह विधि सहायक नहीं। इस विधि में प्रयोग के विषय के शरीर में वैद्युतिक आवेग उत्पन्न कर शब्द के प्रति उसकी प्रतिक्रिया के घनत्व को मापने का प्रयास किया जाता है। यह माप वस्तुतः शाब्दबोध की सांवेगिक प्रतिक्रियाओं की ही माप होती है, जो शब्द-समुत्तेजना से उत्पन्न अर्थ-बोध से संसक्त गौण बोध-प्रक्रिया ही मानी जा सकती है। इस प्रकार की माप-विधि में मध्यस्थता प्रक्रिया की माप-विधि के तत्त्व ही, ओसगुड के

मतानुसार, सम्मिलित हैं। उनकी युक्ति है कि अर्थ-बोध में निहित सांवेगिक धनत्व की यह माप-विधि तथा मध्यस्थ प्रक्रिया के निरूपण की विधि समान दृष्टि लेकर प्रयुक्त हुई है। फिर भी मेजन (Mason) तथा बिंघम (Bingham) अलग-अलग उद्देश्य के लिए इस विधि का प्रयोग करते रहे है।[1] मेजन का प्रयोग वैद्युतिक त्वचा-प्रतिक्रिया के प्रति किसी शब्द-चिह्न की सार्थकता के 'आविष्कार' और 'लोप' से सम्बद्ध था, तो बिंघम ने अपने प्रयोग को वैद्युतिक त्वक्-प्रतिक्रिया के प्रति शब्द-चिह्न की अर्थवत्ता, व्यञ्जकता तथा महत्ता की कोटियों से सम्बद्ध रखा।

उक्त मनोवैज्ञानिक विधियों के विषय में ओसगुड की मान्यता है कि उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।[2] उनके अनुसार यदि उन विधियों को प्रामाणिक बनाया भी जा सके तो उनका उपयोग मुख्यतः उस आधार के रूप में ही हो सकेगा जिस पर अपेक्षाकृत अधिक उपादेय अर्थ-विधियों का मूल्यांकन किया जा सके। हम देख चुके हैं कि इन प्रयोग-विधियों में मुख्य-अर्थ के स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयास नहीं किया जाकर संवेग के रूप में उस मुख्य अर्थ से सम्पृक्त गौण अर्थों की बोध-प्रक्रिया अथवा उनकी सघनता, कोटि आदि का ही अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। अतः अर्थ के स्वरूप के अध्ययन-परीक्षण की एकांगी दृष्टि ही उनमें मिल पाती है।

सीखने की विधियाँ (Learning Methods):—सार्थक वस्तुओं को लेकर सीखने की प्रक्रिया के कई प्रकार के अध्ययन किये गये हैं, पर उनमें स्वतः अर्थ को प्रायोगिक परिवर्तनीय पदार्थ के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सका है। जहाँ अर्थ को सायास परिवर्तनीय बनाया भी जाता है, वहाँ भी प्रयोगकर्ताओं का ध्यान सीखने पर पड़ने वाले उसके प्रभाव पर ही मुख्यतः टिका रहता है और फलतः वे सीखने की क्रिया को अर्थ के सूचक के रूप में अध्ययन का विषय नहीं बना पाते। इन प्रयोग-विधियों में अध्ययन के निम्नलिखित स्वरूप हैं :

(क) आर्थिक सामान्यीकरण (semantic generalization):—अर्थगत सामान्य स्थापन का सिद्धान्त यह प्रतिपादित करता है कि समुत्तेजनाओं के अर्थ में अनिवार्य समता रहती है। जब किसी एक समुत्तेजना के साथ प्रतिनिबद्ध (conditioned) प्रतिक्रिया दूसरी समुत्तेजना के साथ स्थानान्तरित हो जाती है, और स्थानान्तरण की मात्रा प्रत्यक्षतः उन दो समुत्तेजनाओं के बीच साम्य के साथ परिणमित होती है, तो उसे समुत्तेजना-सामान्यीकरण कहा जाता है। अनेक प्रयोगों में तात्पर्यगत

---

१. सी. ई. ओसगुड, सूसी और तन्नेनबॉम, द लॉजिक ऑफ सीमेंटिक डिफरेंसिएशन, साँल सपोर्टा सम्पादित साइकोलिंग्विस्टिक्स, पृ. २९१।

२. वही.पृ. २९१

वस्तु से चिह्न या शब्द में आर्थिक सामान्यीकरण दिखलाया गया है। इस प्रकार के प्रयोग में पहले प्रयोग-विषय के सामने कोई वस्तु लाकर उस वस्तु के प्रति उसकी कुछ प्रतिक्रियाओं को प्रतिनिबद्ध किया जाता है और तदनन्तर उस वस्तु के बोधक शब्द के प्रति, बोध्य वस्तु के अभाव में भी, उन नयी प्रतिक्रियाओं का उत्पन्न होना दिखाया जाता है। उस वस्तु के बोधक शब्द या चिह्न के प्रति वस्तु जैसी ही प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए बिषय को कुछ सिखाने की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार के प्रयोगकर्ताओं में ट्राउगोट (Traugott) तथा फेडेयेवा (Fadeyeva) प्रसिद्ध हैं। कुछ अन्य प्रयोगों में एक शब्द-चिह्न से दूसरे शब्द-चिह्न में भी आर्थिक सामान्यीकरण दिखलाया गया है। रीज (Riess) आदि ने ऐसे प्रयोगों से यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि अर्थगत साम्य रखने वाले शब्दों में ध्वनि-साम्य वाले शब्दों की अपेक्षा अधिक आर्थिक सामान्यीकरण हो पाता है।

(ख) **स्थानान्तरण और व्यतिकरण बिवेचन** (Transfer and Interference Studies):—अर्थ के सामान्यीकरण के सिद्धान्त के अनुसार सामान्यीकृत अर्थ वाले शब्दों में से एक के बोध से दूसरे के बोध में किस अंश तक सहायता मिलती है और अर्थ-बोध के बाधक तत्त्वों की वहाँ क्या स्थिति रहती है, यही इस अध्ययन का प्रमुख विषय है। इस सम्बन्ध में ओसगुड की मान्यता है कि किसी सूची के सम्बद्ध शब्दयुग्मों को सीखने में समान सार्थक प्रतिक्रियाओं में, असम्बद्ध सार्थक प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा कम व्यवधान रहता है।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि ऐसी सूची में अर्थ की दृष्टि से परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं में विशेष प्रकार की पारस्परिक अवरोधकता भी रहती है। किसी शब्द की प्रतिक्रिया का ज्ञान उसके विरोधी शब्दप्रतिक्रिया के साथ संवेदनशीलता में बाधा डालती है।[2]

सीखने की उपरिविवेचित विधियों के सम्बन्ध में ओसगुड की प्रतिक्रिया है कि वे विधियाँ न तो अर्थ के स्वरूप-परिमापन में समर्थ हैं और न अर्थ के सूचक के रूप में अर्थों के सादृश्य-निरूपण में ही सक्षम हैं। इन विधियों में जटिलता भी बहुत है। सीखने के सिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित अर्थविषयक कल्पनाओं के परीक्षण-मात्र में उन विधियों की कुछ उपादेयता मानी जा सकती है।[3]

प्रत्यक्षज्ञानात्मक विधियाँ (Perceptual Methods)—ये विधियाँ इस मान्यता पर आधृत हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय तथा सार्थक वस्तुओं में घनिष्ठ सम्बन्ध है। कॉफ्का (coffka) ने, इसी मान्यता के अनुरूप रूप की धारणाशक्ति पर

---

१. सी. ई. ओसगुड, सूसी और तन्नेनबॉम, 'द लॉजिक ऑफ सीमेंटिक डिफरेंसिएशन'—साइकोलिंग्विस्टिक्स, पृ. २९२

२. वही, पृ. २९२

३. वही, पृ. २९२

लिखित साहित्य को प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक गतिविज्ञान के रूप में तथा बर्टलेट (Bartlete) ने अर्थमूलक गतिविज्ञान के रूप में स्वीकार किया है। इन विधियों का प्रयोग कारमिकेल (Carmichael), होगन (Hogan) और वाल्टर (Walter) आदि ने किया है। इनमें विभिन्न प्रकार के सार्थक शब्दों को अव्यवस्थित रूप के साहचर्य के साथ प्रस्तुत कर पाया गया कि उन्हें उसी रूप में विषय पुनः प्रस्तुत कर सकता है।

ओसगुड ने इन विधियों के विरुद्ध यह युक्ति दी है कि सीखने की विधियों की त्रुटियाँ इन विधियों में भी हैं। इनमें भी न तो अर्थ को परिवर्तनीय के रूप में लाया गया है और न अर्थ के परिमापन की प्रविधि-जैसी कोई बात कही गयी है। इसके अतिरिक्त अस्पष्ट समुत्तेजनाओं के प्रत्यक्ष ज्ञान—जिसे इन विधियों के प्रयोक्ताओं के अनुसार अर्थ कह सकते है—पर अभिरुचि का प्रभाव भी इनमें दिखाया गया है। ब्रूनर (Bruner) और गुडमैन (Goodman) ने अपने प्रयोग में यह भी दिखलाया है कि व्यक्ति के अपने मूल्य या उनके जीवन-दर्शन का प्रभाव प्रत्यक्ष ज्ञान के स्वरूप को भी प्रभावित कर सकता है। वह पुस्तक में छपे हुए शब्दों की सुलभता को भी प्रभावित करता है।

स्किनर (Skinner) ने भाषिक व्यवहार के अध्ययन के लिए इन प्रत्यक्ष-ज्ञानात्मक विधियों से मिलती-जुलती एक प्रविधि का आविष्कार किया, जिसे भाषिक आकलक (Verbal Summator) की संज्ञा दी गयी हैं। इसमें प्रयोग के विषय के पास अर्थहीन ध्वनियों का बार-बार उच्चारण किया जाता है, जिसके फल-स्वरूप वह अन्ततः किसी सार्थक शब्दरूप का प्रत्यक्षीकरण कर लेता है। इसके सम्बन्ध में ओसगुड का यह कथन युक्तिसङ्गत है कि इस प्रकार के प्रयोग में सार्थक पदों की सुलभता के अन्वेषण पर ही प्रयोगकर्ता का ध्यान मुख्यतः रहता है; क्योंकि उनके उपलब्ध होने पर अर्थ-बोध निर्भर माना जाता है, पर यह प्रयोग उन शब्दों में अर्थगत भेद का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता।[1]

प्रत्यक्षीकरणात्मक विधियाँ केवल यह बता सकती हैं कि कोई सार्थक पद प्रत्यक्षीकरण का विषय बनने की कितनी क्षमता रखता है। उसके अर्थ के स्वरूप का निर्धारण इन विधियों से सम्भव नहीं।

संयोजन विधियाँ (Association Methods)—फ्रायड ने असामान्य मनो-विज्ञान में मानसरोगियों की शाब्दबोध-प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए यह तथ्य

१. साइकोलिंग्विस्टिक्स, सं. सॉल सपोता, पृ० २९३

पाया कि जब कोई मानस-रोगी एक विचार से दूसरा विचार ग्रहण करता है तो उसमें उत्पन्न साहचर्य, अर्थ की दृष्टि से निर्धारित रहा करता है, सर्वथा स्वतन्त्र नहीं। केन्ट (Kent) और रोसानॉफ (Rosanoff) ने एक हजार विषयों पर इस दिशा में प्रयोग कर जो प्राप्त निष्कर्षों की सूची तैयार की है उसमें इस बात का प्रमाण मिलता है कि उनकी अधिकांश प्रतिक्रियाएँ समुत्तेजना-रूप शब्द के अर्थ पर निर्भर थीं। किसी एक समुत्तेजना-शब्द के प्रति दो विषयों की अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ, अर्थात् किसी प्रदत्त शब्द-समुत्तेजना के साथ उनके अपने साहचर्य-स्थापन में भिन्नताएँ उस समुत्तेजना-शब्द के अर्थ-ग्रहण में उनकी तात्कालिक विभिन्नताओं की सूचना देती हैं। यह साहचर्य-विधि शब्द-समुत्तेजना की प्रकारगत विभिन्नताओं का उद्घाटन करने की चेष्टा करती है। डोरकस (Dorcus) ने अपने एक प्रयोग में यह निष्कर्ष निकाला कि वर्णों के बोधक शब्द के अर्थग्रहण में तथा किसी विशिष्ट वर्ण के कागज आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान में साहचर्य का भेद होता है। कारोवस्की (Carwoski), ग्रैमलिच (Gramlich) और अर्नॉट (Arnott) ने भी अपने प्रयोग में पाया कि वस्तु के बोधक शब्दों तथा उस वस्तु या उसके चित्र के इन्द्रियग्राह्य ज्ञान में साहचर्य-स्थापन की भिन्नता रहती है। कुछ अन्य प्रयोगकर्ताओं ने साहचर्य-स्थापन की इस विधि के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि यह विधि उस 'सन्दर्भ' के प्रति भी सजग रहती है, जिसमें कोई समुत्तेजनाभूत शब्द प्रस्तुत किया जाता है। फोली (Foley), मैकमिलन (Mac Millan) आदि प्रयोगकर्ताओं ने प्रयोग-विषय के बाह्य परिस्थितिगत परिवेश को, इस विधि से किये जाने वाले परीक्षणों में, ध्यान में रखा है। होज (Howes) तथा ओसगुड ने ऐसे प्रयोग में शब्द-चिह्न के भाषिक सन्दर्भ को ही विशेष महत्त्वपूर्ण माना है।

इस विधि की त्रुटियों की ओर निर्देश करते हुए ओसगुड तथा उनके सहयोगियों ने कहा है कि यह विधि एक शब्द-समुत्तेजना के प्रति विभिन्न विषयों में होने वाली अलग-अलग प्रतिक्रियाओं तथा एक ही विषय में दो शब्द-समुत्तेजनाओं से होने वाली दो भिन्न प्रतिक्रियाओं की परस्पर तुलना नहीं कर पाती। दूसरी बात यह कि शब्दगत साहचर्य प्रतिस्थापन शब्द के अर्थ पर उतना निर्भर नहीं करता, जितना अनुभूतिगत आनुषगिकताओं पर आधृत संचरणशील प्रवृत्तियों की शक्ति पर निर्भर करता है।[1] ओसगुड की मान्यता है कि किसी शब्द के अर्थ और उसके सहचारियों में मौलिक भेद निरूपित किया जाना चाहिए।[2] साहचर्य-विधि में

१. साइकोलिंग्विस्टिक्स, सं.-सॉल सपोता, पृ० २९३-९४
२. वही, पृ० २९४

इसका अभाव है।

साहचर्य विधि के पोषक नोबुल (Noble) ने शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में यह धारणा प्रकट की है कि किसी शब्द-चिह्न का अर्थ और कुछ नहीं, समुत्तेजनाभूत उस शब्द तथा उसके प्रतिक्रियाभूत अन्य शब्दों के बीच विभिन्न सहचारियों का योग-मात्र होता है। ओसगुड ने इस मान्यता को तथ्यहीन माना है। उनकी युक्ति है कि यदि इस सिद्धान्त को मान लिया जाय तो काला शब्द का अर्थ, उजला के साथ साहचर्य के कारण, उजला, पुरुष का अर्थ स्त्री के साथ साहचर्य के कारण स्त्री आदि मान लिया जायगा और परिणामतः किसी शब्द से उसके अर्थ का नहीं, अनर्थ का ही बोध होने लगेगा। अतः ओसगुड ने माना है कि नोबुल जिसे अर्थ कहते हैं, उसे केवल अर्थवत्ता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है या उसे केवल समुत्तेजना का साहचर्यगत मूल्य कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि नोबुल ने इसी को मापने का प्रयास किया है।[1]

परिमापन विधियाँ (Scaling Methods)—परिमापन विधियों से अर्थ को मापने के प्रयोग अधिक नहीं हुए हैं, यद्यपि मनोविज्ञानियों ने स्वभावगत वैशिष्ट्य, क्षमता, विचार-पद्धति आदि को इन विधियों से मापने के प्रचुर प्रयास किये हैं। शब्दार्थ के परिमापन के क्षेत्र में ऐसे प्रयास उसके स्वरूपगत वैविध्य के कुछ आयामों के सम्बन्ध में प्रयोग के लिए कुछ आदर्शीकृत सामग्री जुटाने तक ही सीमित रहे हैं। ग्लेज (Glaze) तथा हुल (Hull) आदि ने अर्थहीन सामग्रियों के उस सहचारी मूल्य (Associative Value) को मापने का प्रयास किया, जिससे वे सार्थक शब्दों का बोध जगा पाती हैं। इस परिमापन-क्रम में प्रयोगकर्ताओं का ध्यान मुख्य रूप से उस सापेक्ष वारंवारता (relative freqency) के परिमापन पर केन्द्रित रहा है, जिस वारंवारता से अर्थहीन सामग्री सार्थक पद का बोध करा पाती है। हॉगेन ने चार सौ सामान्य विशेषणों के युग्मों को उनकी समानार्थकता, स्पष्टता, परिचिति तथा साहचर्य के मूल्य के आधार पर, मापने का प्रयास किया है।

ओसगुड की मान्यता है कि ऐसे परिमाप प्रयोग सीखने में उपादेय भले ही हों, पर अर्थ का परिमाप प्रस्तुत नहीं कर पाते। प्रयोग का विषय जो निर्णय ऐसे प्रयोगों में दे पाता है, वह कुछ मानक शब्दों पर आश्रित रहता है, जो प्रयोग की किसी एक शब्द-सूची और दूसरी शब्द-सूची में भिन्न-भिन्न रूप में आता है। तात्पर्य यह कि अर्थ-बोधगत वैविध्य में तुलना करने की शक्ति उक्त परिमाप-

---

३. साइकोलिंग्विस्टिक्स सं.-सॉल सपोता, पृ० २९४

विधि में नहीं है।[1] परिमापन-विधि के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग मोजियर (Mosier) ने किया है, जिसमें प्रयोग के विषयों को स्वेच्छा से अपनी रुचि की अनुकूलता-प्रतिकूलता के आधार पर ग्यारह कोटियों वाले परिमाप-बिन्दुओं पर कुछ विशेषण-पदों को मापने के लिए कहा गया। मोजियर ने अपने प्रयोग के निष्कर्ष के रूप में मूल्य-निर्धारण करने वाले उन शब्दों को, उनके मध्यमान की स्थिति से सापेक्ष भाव से, एक क्रम में सजाया है। उदाहरणार्थ, यह क्रम श्रेष्ठ (excellent), उत्तम (Good), सामान्य (Common), अच्छा (fair), तुच्छ (poor) आदि के रूप में रखा गया है। वैयाकरणों की इस धारणा के प्रतिकूल, कि तर और तम प्रत्ययों से युक्त पदों में क्रमशः अधिकाधिक स्वीकारात्मकता रहती है, मोजियर ने यह मान्यता व्यक्त की है कि लाक्षणिक दृष्टि से सुन्दर से सुन्दरतर में कम मनोनुकूलता रहती है।

ओसगुड ने मोजियर के इस प्रयोग और उससे प्राप्त निष्कर्ष को कुछ अंश में महत्त्वपूर्ण मानकर भी उसकी इस सीमा का निर्देश किया है कि उसमें अर्थ के एक ही आयाम को परखने या मापने का प्रयास किया गया है। अर्थ का मोजियर द्वारा परीक्षित वह आयाम है—मूल्यनिर्धारणपरक आयाम। ओसगुड की मान्यता है कि अर्थ के और भी अनेक आयाम हैं, जिन तक इस परिमापन-विधि का विस्तार किया जाना चाहिए।[2]

अपनी अर्थ-विषयक इस दृष्टि से प्रेरित होकर ओसगुड ने विभिन्न आयामों में स्वरूप वैविध्य को प्रकट करने वाले अर्थ के स्वरूप-परिमापन का प्रयास 'अर्थगत भेदीकरण' (Semantic differentiation) के सिद्धान्त के अन्तर्गत किया है, जिसका पर्यालोचन हम यथावसर करेंगे।

शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न प्रस्थान के मनोवैज्ञानिक चिन्तकों की धारणाओं के इस सर्वेक्षण से शब्दार्थ-सम्बन्धी जो विचार सामने आते हैं उनमें से मानसवादी तथा प्रवृत्तिवादी विचारकों के अर्थ-विषयक विचार का औचित्य विचारणीय है। रोजर ब्राउन ने इन मतों को अमान्य बताया है।

सामान्य भाषिक व्यवहार में यह देखा जाता है कि कोई व्यक्ति जब 'गाय' आदि शब्द को सुनता है तो उससे एक विशिष्ट प्रकार के प्राणी का बोध उसे हो जाता है और वह कुत्ता, हाथी जैसे प्राणियों से तथा अन्य जड़ चेतन पदार्थों से

१. साइकोलिंग्विस्टिक्स, सं.-सॉल सपोता, पृ० २९४
२. वही, पृ० २९४

उसका भेद कर लेता है। इसका कारण, प्राचीन मानसवादी मनोविज्ञानी यह मानते थे कि लोग 'गाय' शब्द से उसके अर्थ का एक मानस बिम्ब ग्रहण कर लेते हैं और उस जाति के किसी व्यक्ति से उस मनोगत बिम्ब का सादृश्य देख कर उसे गाय पद का वाच्य अर्थ समझ लेते हैं। गाय से भिन्न किसी दूसरी वस्तु का उस मनोगत बिम्ब से साम्य नहीं होने के कारण ही, उस शब्द से अन्य वस्तुओं का बोध नहीं होता। सामान्य या जाति-मात्र के बोधक शब्दों से व्यक्ति के भी बोध का यही रहस्य है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय के बोधक शब्दों के सम्बन्ध में यह बात अंशतः—समग्रतः नहीं—सही हो सकती है, पर अमूर्त या भावगत पदार्थ के वाचक शब्दों के सम्बन्ध में मानस-बिम्ब-ग्रहण की युक्ति उपयुक्त नहीं। अलोक-सिद्ध या अभाव-रूप पदार्थ का बिम्बग्रहण सम्भव नहीं। 'नहीं' शब्द का ही उदाहरण लें। क्या उस शब्द से बोध्य अर्थ का कोई बिम्ब मन में गृहीत हो सकता है? किसी संख्या के वाचक शब्द के अर्थ-बोध में विम्ब की कल्पना कैसे की जा सकेगी? वन्ध्यापुत्र, आकाश-कुसुम आदि शब्द सार्थक होने पर भी कोई मानस-बिम्ब उत्पन्न नहीं कर सकते। प्रेम, घृणा, सौन्दर्य आदि के मानस-बिम्ब की कल्पना सर्वथा निर्मूल ही मानी जायगी। इसी प्रकार, उपसर्ग प्रत्यय आदि भी सार्थक हैं, पर उनके अर्थ के बिम्बात्मक बोध की कल्पना नहीं की जा सकती। तथ्य यह है कि शब्द का अर्थ किसी विशिष्ट व्यक्ति को नहीं, सामान्य को माना जाता है, और बिम्बग्रहण किसी विशिष्ट व्यक्ति का ही हो सकता है। यह कहा जा सकता है कि जाति या सामान्य का ग्रहण भी कुछ आकृति के साथ ही हो पाता है। उदाहरणार्थ, 'गाय' का अर्थ भले ही कोई विशिष्ट गाय व्यक्ति न हो, पर जब उस शब्द का अर्थ-ग्रहण हमें होता है, तब एक विशेष प्रकार के प्राणी का आकार-बोध भी उसमें सम्मिलित रहता है। पर, भाषा के असंख्य शब्दों के अर्थ पर विचार करने से यह युक्ति खण्डित हो जाती है। गाय, कुत्ता घड़ा आदि के अर्थ-बोध की प्रक्रिया पर विचार करने से उनकी आकृति का बोध उनके अर्थ का अभिन्न अंग प्रतीत हो सकता है, पर यदि हम प्राणी, फूल, आदि शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया पर विचार करें तो इन्द्रिय ग्राह्य मूर्त पदार्थों के वाचक शब्दों के बिम्बग्रहण के सिद्धान्त की सीमा स्पष्ट हो जायगी। ये शब्द लोक-सिद्ध मूर्त पदार्थों के वाचक हैं, फिर भी उनका कोई नियत मानस-बिम्ब नहीं। हो सकता है कि किसी श्रोता के मन में 'प्राणी' शब्द से कुत्ते का, किसी के मन में गाय का बिम्ब उभरे, इसी तरह फूल शब्द से गुलाब, जूही, चमेली, कमल आदि में से किसी एक फूल का बिम्ब-ग्रहण हो जाय, पर उसे तो उस शब्द का वाच्य अर्थ नहीं माना जा सकता। प्राणी की अर्थव्याप्ति

गाय या कुत्ता तक ही नहीं, फूल के अर्थ की सीमा गुलाब, जूही, चमेली और कमल तक ही नहीं।

प्रत्यक्ष वस्तु के बोधक शब्दों के अर्थ के रूप में भी मानस बिम्ब की कल्पना को हमने दो कारणों से आंशिक ही सत्य कहा है। एक तो यह कि कुछ शब्दों से संकेतित बाह्य वस्तु का कोई नियत आकार नहीं, जिसका बिम्बग्रहण उस शब्द से माना जा सके। प्राणी, फूल आदि शब्दों के वाच्य अर्थ की यही स्थिति है। प्रत्यक्ष ज्ञान और शब्दबोध का स्वरूप समान नहीं होता। किसी घर का प्रत्यक्ष ज्ञान एक विशिष्ट आकार की मानस प्रतिच्छाया के रूप में होगा, पर 'घर' शब्द का अर्थ-बोध एक सामान्य स्वरूप का ही हो सकता है, जिसके किसी विशिष्ट रूप का मानस बिम्बग्रहण नहीं माना जा सकता। सम्भव है कि कहीं-कहीं घर शब्द का प्रयोग करने में वक्ता के मन में किसी विशिष्ट घर का आकार बिम्ब के रूप में रहता हो और श्रोता भी किसी ऐसे घर का बिम्ब ग्रहण कर लेता हो, जिससे उसका कुछ रागात्मक सम्बन्ध रहा है, पर घर शब्द के अर्थ की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती और सभी भूत, वर्तमान तथा भावी घरों के बिम्ब-ग्रहण की कल्पना नहीं की जा सकती। अब प्रश्न है कि क्या शब्दबोध में आकृति के बोध की या बिम्ब-ग्रहण की धारणा सर्वथा भ्रान्तिमूलक है? हमारी धारणा है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयभूत लोकसिद्ध पदार्थों के बोधक कुछ शब्दों में, अंशतः किसी आकृति का बोध, अस्पष्ट रूप में ही सही, रहता है। घर शब्द से भले ही हम किसी विशिष्ट आकार वाले घर पदार्थ का बिम्ब-ग्रहण नहीं कर पाते हों, पर पेड़ आदि शब्द के वाच्य पदार्थ की आकृति से अवश्य ही किसी भिन्न आकृति वाले पदार्थ का बोध उस शब्द के अर्थ-बोध में रहता है। माता, पिता, पुत्र आदि शब्द व्यक्ति के मन में किसी विशिष्ट आकृति का भी बोध जगा सकते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि उन शब्दों का अर्थ उनसे निर्दिष्ट किये जाने वाले अपने या किसी पड़ोसी के माता, पिता, पुत्र आदि तक ही सीमित नहीं है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयभूत लोक-सिद्ध मूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थ-बोध में भी बिम्ब-ग्रहण के सिद्धान्त को अपूर्ण सत्य मानने का दूसरा कारण यह है कि बाल्यकाल में किसी शब्द के अर्थ का आरम्भिक बोध कराने के लिए भले ही कुछ यथार्थ वस्तुओं या उनके चित्रों का सहारा लेकर उनके अर्थ का मानस बिम्ब उत्पन्न कराया जाता हो और बालक वैसे शब्दों का अर्थ विशिष्ट मानस बिम्ब के रूप में ही ग्रहण करता हो, पर भाषिक व्यवहार से पूर्ण परिचित हो जाने पर लोग सहज क्रिया के रूप में ही शब्द का प्रयोग करने लगते हैं। न तो वक्ता के लिए इस

बात की आवश्यकता रह जाती है कि वह पहले अपने मन में कोई वस्तु-चित्र बना कर उसके लिए किसी वाचक शब्द का प्रयोग करे और न श्रोता के लिए ही इसकी आवश्यकता होती है कि वह वक्ता के द्वारा उच्चरित शब्दप्रवाह में प्रत्येक शब्द का मानस-चित्र निर्धारित करता चले। भाषा-व्यवहार में अर्थ-बोध की प्रक्रिया सहज रूप में ही घटित होती चलती है।

भाषिक व्यवहार में होने वाले शब्दबोध के साथ मानव में उस शाब्दबोध के प्रति कुछ प्रतिक्रियाएँ भी हुआ करती हैं, जिनको आधार बना कर मनोविज्ञान के एक सम्प्रदाय के आचार्यों ने अर्थ के स्वरूप का निर्धारण इस रूप में करना चाहा है कि वस्तु विशेष के प्रत्यक्ष ज्ञान में उस वस्तु के प्रति जैसी प्रतिक्रिया व्यक्ति में होती है, वैसी ही प्रतिक्रिया उस वस्तु के बोधक शब्द के प्रति भी उसमें होती है। वह उस शब्द को उसके वाच्य अर्थ के रूप में ग्रहण करता है। इस मत का औचित्य भी विवादास्पद है।

रोजर ब्राउन ने मानस-बिम्ब और वस्तु के नामकरण के सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करने के लिए त्रिकोण का उदाहरण प्रस्तुत किया है। लोग त्रिकोण की विशिष्ट आकृति को प्रत्यक्ष देखते हैं और उसके सन्दर्भ में प्रयुक्त शब्द का भी बोध प्राप्त करते है। इस प्रकार उनके मन में उस त्रिकोण के वर्ग के पदार्थों में, जिनमें विभिन्न आकृतियों में छोटे-बड़े का भेद होने पर भी सबको एक वर्ग में बाँधने वाला साम्य रहता है, तथा उनका बोध कराने वाले शब्दों में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और फलतः लोग उस प्रकार के पदार्थ के लिए त्रिकोण शब्द का प्रयोग करना सीख लेते हैं।[1] इस प्रकार मानस-बिम्बवादी उस मनोगत बिम्ब को ही शब्द का अर्थ मान लेते हैं।[2]

एक त्रिकोण का प्रत्यक्ष ज्ञान तथा उसके बोध से सम्बद्ध त्रिकोण शब्द का ज्ञान हो जाने पर उस वर्ग के सभी त्रिकोणों को—जो आकार-प्रकार में उस प्रथम ज्ञात त्रिकोण से कुछ भिन्न भी होते हैं—उसी त्रिकोण पद के वाच्य अर्थ के रूप में ग्रहण करने का, अर्थात् एक वस्तु के साथ एक शब्द के सम्बन्ध-बोध का, उस वर्ग की अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्ध-बोध के रूप में विस्तार का रहस्य यह है कि व्यक्ति उस शाब्दबोध में उस आधारभूत सामान्य धर्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जो त्रिकोण का विधायक या व्यावर्तक होता है। तात्पर्य यह कि वह विशिष्ट आकार के त्रिकोण का ही ज्ञान प्राप्त नहीं करता और केवल उस एक विशिष्ट त्रिकोण

---

१. Roger Brown, Words and Things, P. 83

२. वही।

रूप के साथ ही उसके वाचक शब्द के सम्बन्ध का बोध प्राप्त नहीं करता, बल्कि त्रिकोणत्व के धर्म का भी ज्ञान प्राप्त करता है, जिसकी सत्ता से ही त्रिकोण का स्वरूप बनता है। भारतीय विचारकों के द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय और शब्द-विशेष का उसके साथ सम्बन्ध सीखने में ज्ञान के विषयभूत पदार्थ की जाति या उसके सामान्य का भी बोध हो जाता है और उसी के आधार पर उस वर्ग या जाति के सभी व्यक्तियों का बोध उस एक शब्द से ही सम्भव होता है। एक वर्ग या जाति के एक व्यक्ति या विशिष्ट पदार्थ के ज्ञान के आधार पर उस जाति के अन्य व्यक्तियों या विशिष्ट पदार्थों के बोध के तथ्य को ब्राउन ने प्रत्यक्षनिष्ठ आनुरूप्य-प्रतिस्थापन की प्रक्रिया के समान माना है। किसी व्यक्ति के चित्र को देख कर जब हम उसे पहचान लेते हैं, तो उसका कारण यही होता है कि हमारे मन में उस चित्र का एक बिम्ब बना रहता है और उस चित्राङ्कित व्यक्ति को देखते ही—जिसे हमने पहले कभी देखा नहीं है—मानस में चित्र से बने बिम्ब के साथ उस व्यक्ति की अनुरूपता के कारण हम उसे पहचान लेते हैं। यदि किसी के चित्र का बिम्ब मन में पहले से है, या इसके विपरीत यदि उस व्यक्ति का ही बिम्ब मन में स्थायी रूप से है, तो पहली स्थिति में हम व्यक्ति को प्रत्यक्ष देख कर जो बिम्ब ग्रहण करेंगे उस क्षणिक बिम्ब की, पहले से मन में चित्र के द्वारा उत्पादित बिम्ब के साथ आनुरूप्य स्थापन की प्रक्रिया घटित होगी और दूसरी स्थिति में परिचित व्यक्ति का चित्र देख कर उत्पन्न क्षणिक बिम्ब का पहले से मन में स्थित उस व्यक्ति के बिम्ब के साथ आनुरूप्य घटित होगा। इस प्रकार मानस-वादी मनोविज्ञानियों की दृष्टि में एक त्रिकोण को त्रिकोण शब्द का वाच्य अर्थ समझने का अर्थ यह है कि हम उस एक त्रिकोण का मानस-बिम्ब ग्रहण कर लेते हैं और उस मानस बिम्ब को त्रिकोण शब्द का अर्थ समझते हैं। जब उससे आकार प्रकार में कुछ भिन्न उससे बड़ा या छोटा त्रिकोण हमारे सामने आता है तब उसका भी एक बिम्ब उस क्षण हमारे मानस में उभरता है और चूँकि पहले से मन में स्थित त्रिकोण के बिम्ब में और उस क्षण उभरने वाले बिम्ब में कुछ समान तत्त्व—जाति या सामान्य—रहते हैं, इसलिए मन में उस तात्कालिक के स्थायी बिम्ब के साथ आनुरूप्य स्थापन की प्रक्रिया घटित हो जाती है और हम स्थायी त्रिकोण-बिम्ब के साथ साम्य रखने वाले उस नये त्रिकोण को भी त्रिकोण के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। चूँकि त्रिकोण के पूर्व स्थित बिम्ब के साथ वाचक के रूप में त्रिकोण शब्द का सम्बन्ध हम जानते हैं, इसलिए उसी त्रिकोण शब्द को उस नये बिम्ब का भी वाचक समझ लेते हैं। यदि शब्द को सुन कर उसके अर्थ के रूप में बिम्ब-ग्रहण की प्रक्रिया पर विचार करें तो मानस-बिम्बवादी विचारकों की युक्ति यह होगी, कि हम त्रिकोण जैसे शब्द को सुन कर त्रिकोण के एक निर्विशिष्ट स्वरूप

का बिम्ब ग्रहण करते है, जो लॉक के शब्दों में—"न तो समभुजीय होता है, न समजंघीय और न विषम भुजीय ही, बल्कि वह एक ही साथ सब होता है और उनमें से कोई एक नहीं होता।[1] शब्द से वस्तु का बिम्ब-ग्रहण प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा पूर्वगृहीत बिम्ब से सादृश्य के कारण ही हो पाता है। इसीलिए कभी-कभी हम किसी अनजान वस्तु के बोधक शब्द का अर्थग्रहण ज्ञात वस्तु के साथ उसे मिला कर ही किया करते हैं। दूसरी भाषा में किसी ऐसे फूल के वाचक शब्द को जब हम सुनते हैं, जिसके रूप का हमें ज्ञान नहीं, तब उसका कुछ विवरण जान कर अपने ज्ञात फूलों में से किसी एक से मिलते-जुलते आकार वाले फूल की कल्पना कर लेते हैं। वह कल्पित बिम्ब ही हमारे लिए उस शब्द का अर्थ होता है।

मानस-बिम्बवादी शब्द के स्वरूप-बोध का आधार भी मनोगत बिम्ब को ही मानते हैं। बिम्ब प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पादित होते हैं और शब्द से उद्बुद्ध होते हैं। जब कभी शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसके वाच्य अर्थ का मनोगत बिम्ब उद्बुद्ध हो जाता है। इस प्रकार मानस-बिम्बवादियों की दृष्टि में बिम्ब ही बोध का नियामक है।

भारतीय वैयाकरणों ने शाब्दबोध के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए अर्थ की बुद्धिगत सत्ता मानी थी, पर उस बुद्धिगत अर्थ को स्फोट रूप मान कर इस समस्या का बिम्बवादी मनोविज्ञानियों से अधिक युक्तिसंगत समाधान प्रस्तुत किया था। वह स्फोट ही, उनकी दृष्टि में, शब्द और अर्थ; दोनों के स्वरूप का नियमन करता है। उसका स्वरूप इन्द्रियगोचर पदार्थों से निर्मित होने वाले मानस बिम्ब से अधिक व्यापक है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय-विस्तार के लिए मानस-बिम्ब के साथ सादृश्य के आधार पर आनुरूप्य-स्थापन की प्रक्रिया तथा ज्ञात से अज्ञात के ज्ञान की जो युक्ति दी गयी है, वह प्रत्यक्षात्मक बोध के सन्दर्भ में यथार्थ है। भारतीय दर्शन के भी अनेक सम्प्रदाय में उपमान को एक प्रमा मान कर सादृश्य के आधार पर एक पदार्थ के ज्ञान से अन्य पदार्थ के ज्ञान के तथ्य का निरूपण किया गया है, पर शाब्दबोध में ऐन्द्रिय बोध की यह प्रक्रिया सार्वत्रिक रूप से घटित नहीं होती। प्रत्यक्ष बोध से शाब्दबोध का स्वरूप भिन्न होता है। प्रत्यक्ष बोध विशिष्ट का और शाब्दबोध

---

१. × × the idea of triangle must be neither equilateral, equicrural, nor Scalenon but all and none of these at once. Locke, esaays

निर्विशिष्ट या सामान्य का होता है। अतः जब शब्दबोध में सर्वत्र बिम्बग्रहण का ही सिद्धान्त घटित नहीं होता, तो उसके साथ आनुरूप्य-स्थापन की प्रक्रिया से अन्य बिम्ब की प्रत्यभिज्ञा का क्या महत्त्व होगा ?

मानस-बिम्ब को शब्दार्थ का स्वरूप मानने में कई कठिनाइयों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। ब्राउन ने बिम्बवादी सिद्धान्त के खण्डन में कई युक्तियाँ दी हैं, जिनमें से कुछ युक्तियाँ अर्थ-बोध की प्रक्रिया में मानस बिम्ब के स्थान की परीक्षा के लिए मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओं में विषयों पर किये गये अनेक प्रयोगों के प्राप्त निष्कर्षों पर भी आधृत हैं।

ब्राउन के अनुसार शब्दार्थ को मानस-बिम्ब रूप मानने में एक कठिनाई तो यह है कि कोई भी भाषिक रूप वर्ग का निर्देश करता है, देश-कालगत किसी विशिष्ट अर्थ-बिन्दु का नहीं। चित्र किसी नियत देश काल अथात् विशिष्ट परिस्थिति में किसी विशिष्ट वस्तु का हुआ करता है। किसी वर्ग का मानस चित्र किस प्रकार का होगा ?

यहाँ यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि शब्द से मानस बिम्ब-ग्रहण का सार्वत्रिक अभाव सिद्ध करने की यह युक्ति शब्दार्थ विषयक कुछ पूर्व-मान्यता से प्रेरित है। मूर्त वस्तु के बोधक गाय, कुत्ता आदि शब्दों के अर्थ-बोध में आकृति-बोध का सर्वथा अभाव नहीं रहता, भले ही वह आकृति-बोध निर्विशिष्ट आकृति का ही होता है। सामान्य व्यवहार में उसी आकृति-बोध के आधार पर एक वर्ग के व्यक्तियों का ग्रहण तथा अन्य वर्ग के व्यक्तियों का व्यावर्तन सम्भव होता है। वर्ग, जाति या सामान्य शब्दबोध का विषय अवश्य है, पर वह सर्वथा व्यक्ति-निरपेक्ष भाव से बोधगत नहीं होता। किसी आकृति से युक्त व्यक्ति में ही वर्ग या जाति की अभिव्यक्ति होती है। व्यक्ति-निरपेक्ष वर्ग या सामान्य योगलक्षण-सन्निकर्ष का विषय हो सकता है। सामान्य भाषिक व्यवहार में वस्तु का निर्विकल्पक प्रत्यक्षीकरण कठिन है। हम अलोकसिद्ध या अमूर्त पदार्थों के बोधक शब्द से बिम्बग्रहण की दूराकृष्ट कल्पना में विश्वास नहीं करते, पर सर्वत्र बिम्ब का अभाव सिद्ध करने का आग्रह भी नहीं रखते। विशिष्ट परिस्थिति में विशिष्ट वस्तु के चित्र का उदाहरण शब्दबोध में सामान्य के मानस-चित्र की सत्ता का खण्डन नहीं कर देता। वर्ग या सामान्य को अभिव्यक्त करने वाले व्यक्ति की आकृति उस चित्र का हेतु बन सकती है। लौकिक उदाहरण से शब्दबोध की विलक्षणता शब्द की विशिष्ट कला का ही बोधक है। शब्द अपनी शक्ति से काव्य में कितने ही मनोरम चित्र अङ्कित कर सकते हैं, प्रमाता के मन में कितने ही स्फुट बिम्बों की रचना कर सकते हैं ! निष्कर्ष यह कि मूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों में से अधिकांश के अर्थ-बोध में सामान्य का व्यक्ति-आकृति-सापेक्ष ग्रहण होता है और उसे लौकिक

वस्तुओं के चित्र से कुछ विलक्षण मानस-चित्र माना जा सकता है और इस प्रकार मानस-बिम्बवादी विचारकों के मत को सर्वथा भ्रान्तिमूलक नहीं मान कर अंशतः सत्य माना जा सकता है।

शब्द से बिम्बग्रहण की धारणा के औचित्य की परीक्षा के लिए विषयों पर किये गये कुछ परीक्षणों में यह पाया गया कि कुछ विषय किसी भी प्रकार के बिम्ब की सूचना नहीं देते और जो बिम्ब-ग्रहण की बात बताते भी हैं, उनमें से भी अधिकांश यह नहीं बता पाते कि उस बिम्ब का स्वरूप कैसा है। उल्लेख्य है कि मानस-बिम्ब के उद्बोधन के लिए ऐसे ही शब्दों का प्रयोग किया गया जिनके अर्थ से तथा प्रयोग से विषय सुपरिचित थे। उन प्रयोगों के विषयों ने यह स्वीकार किया कि प्रयोग में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ वे भली-भाँति समझते थे और उनका सही अर्थ में सटीक प्रयोग भी वे जानते थे। शब्द-विशेष से निर्दिष्ट होने वाली बाह्य वस्तु का ज्ञान तथा उसके बोधक शब्द का ज्ञान रहने पर भी कुछ विषय या तो शब्द से मानस-बिम्ब ग्रहण नहीं करते या जो करते भी हैं, वे इतना अस्पष्ट बिम्ब ग्रहण करते हैं कि उसका स्वरूप बता नहीं सकते। यह तथ्य शाब्दबोध के रूप में मानस-बिम्ब की कल्पना करने वाले मानसवादी मनोविज्ञानियों के सिद्धान्त में सबसे बड़ी बाधा है।

ब्राउन ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि शब्द से विशिष्ट बिम्ब का ग्रहण नहीं हो पाता—जैसा कि प्रयोगों से सिद्ध है—तो मानसवादी अपने मत की पुष्टि में निर्विशेष बिम्ब के ग्रहण की कल्पना कर सकते हैं, पर निर्विशेष या सामान्य का बिम्ब कैसे सम्भव होगा? बिम्ब या मानस-चित्र विशिष्ट ही होना चाहिए, निर्विशेष नहीं। ब्राउन की धारणा है कि शब्दार्थ का मनोगत बिम्ब मानने वाले मानस-बिम्बवादी वर्ग के बोधक त्रिकोण, पशु आदि शब्दों के अर्थ-बोध के स्वरूप-निरूपण में स्वभावतः ही कठिनाई का अनुभव करते रहे हैं, क्योंकि वैसे शब्दों से मन में उद्बुद्ध होने वाले सामान्य बिम्ब की कल्पना करना कठिन है। इस सम्बन्ध में ब्राउन ने अनेक दार्शनिकों तथा मनोविज्ञानियों के मत की समीक्षा की है।[1] हम देख चुके हैं कि लॉक ने त्रिकोण के निर्विशेष मानस-बिम्ब के ग्रहण की बात कही थी। बर्कले ने यह तो माना कि शाब्दबोध में लोकसिद्ध पशु आदि मूर्त पदार्थों के गुणों का सर्वथा अमूर्तीकरण नहीं होता, पर अमूर्त रूप के बोध में भी उसके गुणों का बोध मिला रहता है, पर इसे उस प्रकार के पशुओं का व्यावर्तक धर्म

---

१. Roger Brown, words and things, meaning and the mental Image.

स्वीकार नहीं किया क्योंकि ऐसा मानने पर शाब्दबोध के विषयभूत पदार्थों की संख्या आदि की सीमा का निर्धारण किया जा सकता है, जब कि तथ्य यह है कि शब्द का अर्थ असीम है। पशु की अमूर्त धारणा के घटक अंग हैं—शरीर, प्राण, बुद्धि और गतिशीलता। उस धारणागत पशु के शरीर का तात्पर्य है—बिना किसी विशिष्ट आकृति और शारीरिक गठन के केवल सामान्य शरीर-मात्र। गति आदि का भी कोई विशिष्ट रूप नहीं, केवल एक सामान्य गति-मात्र। निश्चय ही इस सामान्य गति आदि का स्वरूप दुर्बोध है। ब्राउन का तर्क है कि यदि पशु शब्द से उद्‌बुद्ध होने वाला मानस बिम्ब—वह बिम्ब एक निर्विशेष बिम्ब ही क्यों न माना जाय और उसमें निहित आकार तथा अवयव-संरचना को भी कितना ही सामान्य क्यों न माना जाय—यदि चौपाया पशु का ही हो तो दो पाँव वाले मनुष्य आदि का उस बिम्ब के साथ आनुरूप्य-स्थापन कैसे हो सकेगा, और परिणामतः मनुष्य को (विवेक युक्त) पशु कैसे कहा जा सकेगा? इसी प्रकार यदि बिम्बगत पशु छोटी गर्दन वाला हो, तो जिराफ आदि को पशु पद का वाच्य कैसे समझा जा सकेगा?[1] अतः ब्राउन की मान्यता है कि अर्थ का यह बिम्ब-सिद्धान्त व्यक्तिवाचक संज्ञा के लिए अधिक उपयुक्त माना जा सकता है, वर्ग-बोधक त्रिकोण, पशु आदि शब्दों के लिए नहीं।[2]

ब्राउन की इस मान्यता में भी कुछ परिष्कार अपेक्षित है। व्यक्तिवाचक संज्ञा से उद्‌बुद्ध मानस-बिम्ब को भी सर्वथा विशिष्ट नहीं माना जा सकता। हम देख चुके हैं कि वस्तुतः संज्ञा-पद का कोई नियत अर्थ नहीं होता। इसीलिए उसे यदृच्छात्मक माना जाता है। गंगा, कमला आदि नदी के नाम, कमल, गुलाब, शेफालिका आदि फूल के नाम मनुष्य के भी नाम होते हैं, यद्यपि उनके अर्थ में भिन्नता रहती है। फलतः उन शब्दों के साथ किसी एक बिम्ब का नियत सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार उषा, विभा, प्रभाकर, भास्कर, विमल, उत्पल, परिमल, सुधांशु आदि असंख्य प्राकृतिक वस्तुओं और स्थितियों के बोधक शब्द व्यक्ति की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होते हैं। भावनागत सत्ता रखने वाले अनेक देवी-देवताओं के

---

१. If the generic image is four footed how is it that we can identify man as an animal, if it is short-necked how can we identify the giraffe —Brown, Words and Things, P. 85

२. The image theory of meaning ought, therefore, to be more acceptable for proper names than for general terms like triangle and animal. वही, पृ. ८५,

नाम तथा विशिष्ट भाव आदि के बोधक शब्द भी व्यक्ति के नाम बन जाते हैं। महामाया, अनन्त, काशीनाथ, कृष्ण आदि देवी-देवताओं के नाम के साथ ऋचा, मनीषा, अर्चना, कल्पना प्रेम आदि शब्द भी व्यक्ति के नाम के रूप में व्यवहृत होते हैं। पौराणिक युग्मों के नाम मिल कर एक व्यक्ति का नाम बन जाते हैं; राधाकृष्ण सीताराम आदि नाम इसके उदाहरण हैं। इतिहास-पुराण में अपने उज्ज्वल चरित्र के लिए विख्यात नाम तथा शास्त्रीय परम्परा में किसी गरिमायुक्त अर्थ के बोधक शब्द मनुष्य के नामकरण के लिए बहुत उपयुक्त समझे जाते हैं। सावित्री, राधा, शकुन्तला, सीता, उर्मिला, गायत्री, प्रणव, ऊँकार, अर्जुन आदि असंख्य व्यक्तियों के नाम के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इन नामों का निर्दिष्ट व्यक्ति के रूप-गुण से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः इनके अर्थ के रूप में किसी मानस-बिम्ब के स्थिर स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि हम एक नाम वाले चार व्यक्तियों को जानते हैं, तो उस नाम को सुनकर किसका बिम्ब मन में जगेगा? हाँ, निर्दिष्ट होने वाले किसी एक व्यक्ति की उपस्थिति में निश्चयात्मक रूप से यदि उसके नाम का प्रयोग हो, तो उसका मानस चित्र स्पष्ट और नियत माना जा सकता है। व्यक्ति की अनुपस्थिति में भी प्रसङ्ग आदि से निश्चयात्मकता आ सकती है, किन्तु वैसे नियत बिम्ब को प्रत्यक्ष-ज्ञान-जन्य ही माना जा सकता है। वह प्रत्यक्ष-जनित मानस बिम्ब जब शब्द से उद्‌बुद्ध होता है, तो कुछ सामान्य-सा ही रूप ग्रहण कर लेता है। उसकी किसी विशिष्ट वेश-भूषा तथा किसी निश्चित क्रिया आदि का स्पष्ट और स्थिर चित्र उसमें नहीं रहता। उदाहरणार्थ, जब हम किसी विशिष्ट व्यक्ति को किसी विशेष परिस्थिति में कुछ खास रंग के कपड़े पहन कर स्थान-विशेष में विशिष्ट मुद्रा में बैठे या खड़े देखते हैं तब उसके बिम्ब में जो स्पष्टता रहती है, वह शाब्दबोध से मन में निर्मित होने वाले बिम्ब में नहीं आ पाती। हम किसी का नाम सुन कर, पहले तो उससे निर्दिष्ट होने वाले अनेक व्यक्तियों में से, प्रसङ्ग आदि के आधार पर, किसी एक व्यक्ति का निर्धारण करते हैं, फिर उसका जो मनोगत बिम्ब उस नाम से जगता है, उसमें वह व्यक्ति बैठा हुआ, खड़ा, चलता हुआ; कुछ भी हो सकता है या उनमें से किसी भी विशिष्ट क्रिया से मुक्त हो सकता है। उसके वस्त्र किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। तात्पर्य यह कि वह व्यक्ति शब्द से संकेतित होने पर एक सामान्य रूप-क्रिया के साथ ही मन के बिम्ब में आ सकता है। अतः, हमारी धारणा है कि शब्दार्थ को मानस-बिम्ब के रूप में स्वीकार करने वालों को बिम्ब के निर्विशेष स्वरूप की कल्पना करनी ही होगी, अन्यथा उन्हें शाब्दबोध के स्वरूप की समस्या को सुलझाने में पग-पग पर कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

ब्राउन ने स्वयं व्यक्तिवाचक नाम की अनिश्चयात्मकता का उल्लेख किया है।

एक नाम के असंख्य व्यक्ति संसार में हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में उस नाम से किस व्यक्ति का निश्चयात्मक निर्देश माना जायगा ?[1]

व्यक्तिवाचक नाम से भिन्न मनुष्य आदि शब्दों का भी, सन्दर्भ आदि से, विशिष्ट व्यक्ति रूप अर्थ गृहीत हो सकता है, यद्यपि सामान्यतः ऐसे शब्द उस वर्ग के समग्र व्यक्तियों का सामान्य-रूप में ही बोध कराते हैं। इस प्रकार ब्राउन ने यह निष्कर्ष निकाला है कि व्यक्तिवाचक संज्ञा हो या जाति आदि का वाचक कोई शब्द; सभी शब्दों में विशिष्ट और सामान्य; दोनों का ही बोध कराने की क्षमता रहती है, पर मनुष्य आदि शब्द के अर्थ-बोध में सामान्य-बोध की प्रधानता रहती है, व्यक्ति-बोध गौण रूप में होता है। व्यक्तिवाचक नाम का प्रयोग, उस नाम से निर्दिष्ट अनेक व्यक्तियों के लिए एक साथ सामान्य रूप में नहीं किया जाता।[2] विभिन्न परिस्थितियों में एक नाम का प्रयोग अलग-अलग व्यक्तियों में से किसी भी एक के लिए किया जा सकता है। एक समय एक नाम का प्रयोग किसी एक विशिष्ट व्यक्ति के लिए ही किया जाता है, पर समूहबोधक शब्द का प्रयोग एक के लिए भी किया जाता है और अनेक के लिए भी।

कभी-कभी व्यक्तिवाचक नाम कुछ विशिष्ट गुणों के बोधक बन कर उन गुणों से युक्त व्यक्तियों के वर्ग का भी बोध कराने लगते हैं। ऐसी स्थिति में वे नाम यदृच्छात्मक नहीं रह जाते, कुछ विशिष्ट गुणों के बोधक बन जाते हैं। उनमें एक विशिष्ट अर्थवत्ता आ जाती है। ऐसे शब्द किसी व्यक्ति के नाम के रूप में प्रयुक्त नहीं होते, उसके व्यक्तित्व की कुछ विशेषताओं का बोध कराने के लिए विशेषण आदि के रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं। नारद, विभीषण आदि नाम विशिष्ट प्रकृति के अनेक व्यक्तियों के लिए समान रूप से प्रयुक्त होते हैं। ध्यातव्य है कि ऐसे शब्द कभी किसी विशिष्ट व्यक्ति के नाम थे, पर अब सामान्यीकृत होकर कुछ विशेष गुणों से युक्त व्यक्तियों के वर्ग का बोध कराने लगे हैं। अब वे नाम-पद नहीं रह गये जातिबोधक शब्द बन गये हैं। इसीलिए एक समय एक वर्ग के अनेक व्यक्तियों का बोध वे करा सकते हैं। उन्हें देख कर यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि किसी एक नाम का एक ही समय अनेक व्यक्तियों के लिए भी प्रयोग होता है।

ब्राउन का तर्क है कि एक व्यक्ति की ओर निर्देश करने वाले व्यक्तिवाचक नाम के अर्थ का भी हम कोई स्थिर बिम्ब ग्रहण नहीं कर सकते। यदि उस नाम

---

१. Roger Brown, words and Things. Page 85
२. वही. पृ. ८६
३. वही, पृ. ८७

के किसी व्यक्ति को हमने वर्षों पहले देखा है, तो उसका रूप बहुत बदल गया होगा। यदि हम आज उसका नाम सुन कर वर्षों पूर्व देखे हुए उसके रूप का बिम्ब मन में ग्रहण करते हैं तो वह बिम्ब अयथार्थ ही होगा। इस लिए ब्राउन यह मानते हैं कि व्यक्तिवाचक नाम भी किसी व्यक्ति के आकार के एक ऐसे वर्ग का ही संकेत कर सकते हैं, जिसकी सत्ता से व्यक्ति की आकृति में परिवर्तन होते रहने पर भी हम उसे एक ही व्यक्ति के रूप में पहचान सकते हैं। बौद्ध विचारकों की तरह ब्राउन ने भी मनुष्य की प्रत्यक्षज्ञानात्मक अनुभूति को क्षण-चित्रों का एक विशाल संग्रह माना है। अतः व्यक्ति का नाम सुन कर उन निरन्तर गतिशील क्षणिक चित्रों में से कौन-सा चित्र उस व्यक्ति का माना जायगा और किसका मानस-बिम्ब ग्रहण किया जायगा, यह निर्णय करना असम्भव है। इस युक्ति से ब्राउन ने यह माना है कि जिस प्रकार सामान्य, जाति या वर्ग के बोधक शब्दों के अर्थबोध की प्रक्रिया में बिम्ब-सिद्धान्त का औचित्य सिद्ध नहीं होता, उसी प्रकार किसी मूर्त पदार्थ के व्यक्तिवाची नाम की अर्थबोध-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण में वह सिद्धान्त घटित नहीं होता। व्यक्ति के रूप, उसकी वेश-भूषा आदि के परिवर्तन का उसके नाम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह स्वाभाविक है कि किसी व्यक्ति या वस्तु को हम जिस रूप, वेश-भूषा आदि में अक्सर देखते रहे हैं उसी का मानस-बिम्ब हम ग्रहण करेंगे। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न हो सकता है कि यदि किसी व्यक्ति का, किसी विशिष्ट वेश-भूषा के साथ, बिम्ब हमारे मन में है तो दूसरे वेश में उस व्यक्ति को हम कैसे पहचान सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह होगा कि हम जानते हैं कि वस्त्र आदि व्यक्ति के व्यक्तित्व का आवश्यक या अविभाज्य अङ्ग नहीं है और उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। इसलिए जिस वेश-भूषा को हम अपनी कल्पना-दृष्टि से हटा कर उसे नयी वेश-भूषा के आवरण में भी परख सकते हैं और इस प्रकार वेश-भूषा में परिवर्तन होने पर भी उस व्यक्ति को पहचान सकते हैं।[1] ध्यातव्य है कि कम परिचय वाले व्यक्ति की वेश-भूषा में बहुत परिवर्तन हो जाने पर उसे पहचानना कठिन भी हो जाता है। इसका कारण यह है कि वेश-भूषा से स्वतन्त्र उस व्यक्ति के रूप का स्पष्ट बिम्ब हमारे मन में बना नहीं रहता है। अतः मानस बिम्ब में कौन-सा तत्त्व आवश्यक है, और कौन-सा अनावश्यक, इस ज्ञान से बिम्ब की सम्पूर्ति करना आवश्यक है।

इस मान्यता के स्पष्टीकरण के लिए ब्राउन ने बिम्ब या विचार के सम्बन्ध में

१. It is necessary to supplement the image with Knwoledge of what is essential and what is not.—Roger Brown, words and things, Page 88.

बर्कले और मिल की इस धारणा को उद्धृत किया है कि बिम्ब या विचार को विशिष्ट ही होना चाहिए, पर उसमें यह क्षमता होनी चाहिए कि यदि उसके आवश्यक धर्मों पर ध्यान दिया जाय और उन्हें उसके सामयिक धर्मों से अलग कर दिया जाय तो वह किसी अमूर्त या संश्लिष्ट विचार का प्रतिनिधित्व कर सके।[1]

ब्राउन ने अमूर्त-बिम्ब के बोध के सम्बन्ध में अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा है कि वैसे निर्विशेष बिम्ब के सम्बन्ध में सोचने पर मुझे अन्तर्दर्शन की शून्यता ही मिली है।[2] उनकी युक्ति है कि बच्चों की अक्षरमाला पुस्तक में 'A' सारभूत (Apple) (सेब) का ही प्रतिनिधित्व करता है, किसी विशिष्ट सेब का नहीं। बर्कले और मिल ने निर्विशेष बिम्ब की जो परिभाषा दी उसके अनुसार वह एक ऐसा विशिष्ट बिम्ब होता है, जिसमें वर्ग या सामान्य से सम्बद्ध धर्मों की ओर ध्यान निर्दिष्ट रहता है। उस बिम्ब की पूर्णता के लिए जो अन्य धर्म आवश्यक होते हैं उन्हें आगमापायी माना जाता है। ब्राउन ने बड़ी विनम्रता के साथ यह कहा है कि 'मैं ऐसे निर्विशेष बिम्ब का ग्रहण अपने मन में नहीं कर पाता, पर यदि दूसरे लोग कहें कि उन्हें ऐसे बिम्ब का ग्रहण होता है, तो मैं मान लेने के लिए प्रस्तुत हूँ।[3] यह कथन उनका यह विश्वास व्यक्त करता है कि निर्विशेष बिम्ब का ग्रहण किसी के लिए सम्भव नहीं।

अर्थ-बोध के स्वरूप के निर्धारण के लिए व्यक्ति की अनुभूति पर प्रयोगशालाओं में जो अनेक परीक्षण किये गये हैं, उनमें प्रयोगकर्ताओं का ध्यान इस समस्या पर भी रहा है कि किस अंश में अर्थ का ग्रहण मानस बिम्ब के रूप में हो पाता है। उडवर्थ ने अर्थ-बोध में मानस-बिम्ब-विधान के स्थान के परीक्षण के लिए प्रयोग के विषय के सामने कुछ प्रश्न रखे और उन्हें यह बताने के लिए कहा कि उन प्रश्नों

---

१. Berkeley and john Stuart Mill both thought that an image (or idea) must be particular but that it eould represent an abstract or complex idea if attention was Somehow attracted to the essential attributes and withheld from those that are accidental.—वही p. 88

२. In thinking about abstract images I have been descouraged by a personal introspection blank—In childrens' alphabet books 'A' is for. the essential not the Particular 'apple'.—वही. पृ० 88

३. I do not say I have such images but I am Prepared to believe if others tell me they have them.—वहीं पृ० 89

को सुन कर वे उनके अर्थ के रूप में कोई मानस-बिम्ब ग्रहण करते हैं या नहीं और यदि बिम्ब ग्रहण करते हैं तो बिम्ब किस प्रकार का बनता है ? विषय से उनका एक प्रश्न था—"क्या किसी व्यक्ति को अपनी विधवा पत्नी की बहन से विवाह करने की अनुमति मिलनी चाहिए ?" 'अपनी विधवा पत्नी' का तथा उसकी बहन का कोई मानस-बिम्ब प्रयोग का कोई भी विषय ग्रहण नहीं कर पाया। वस्तुतः स्वयं उडवर्थ के मन में भी 'अपनी विधवा' का कोई बिम्ब नहीं आ पाया। जीवित व्यक्ति की विधवा का स्वरूप कल्पित किया भी कैसे जा सकता है ? उसके बिम्ब-ग्रहण की तो बात ही दूर की है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रश्न निरर्थक होने के कारण बिम्ब को उद्‌बुद्ध करने में असमर्थ था। भाषिक व्यवहार में ऐसे आपाततः अर्थहीन जान पड़ने वाले अनेक शब्दों का सार्थक प्रयोग हुआ करता है। क्या 'वन्ध्या पुत्र', अर्थहीन शब्द है ? यदि नहीं तो क्या वह कोई मानस-बिम्ब जगा सकता है ? एक उदाहरण लेकर विचार करें—'वन्ध्या के पुत्र बिना अँखिया ससि पूरन देख अमावसिया—'इस में देखने वाला वन्ध्या पुत्र, देखने वाली इन्द्रिय का अभाव और अमावस्या का पूर्ण चन्द्रमा, कोई भी किसी प्रकार का मानस-बिम्ब नहीं जगा सकता, फिर भी इनमें से प्रत्येक अंश का अपना अर्थ है। स्पष्ट है कि उन शब्दों के अर्थबोध का मन के बिम्ब से कोई सम्बन्ध नहीं। अर्थग्रहण बिम्बग्रहण के अभाव में भी हो सकता है। अतः मनोगत बिम्ब को अर्थ का स्वरूप मानना उचित नहीं। आकाश कुसुम, शशविषाण आदि शब्दों का भी अर्थग्रहण तो होता ही है, पर उसका कोई मानस-बिम्ब नहीं बन पाता।

एडवर्ड ब्रैडफोर्ड टिचनर (Tichner) ने चेतना को दमकते रंगों से युक्त, बहुधा श्रुतिगोचर तथा यदा-कदा सुरभित मानस चित्रावली का प्रवाह माना था। उनकी धारणा थी कि प्रत्येक शब्द—चाहे वह कितने भी अमूर्त पदार्थ का वाचक क्यों न हो—एक मानस बिम्ब अवश्य जगाता है। उदाहरणार्थ उनकी दृष्टि में अर्थ एक प्रकार के फावड़े की नील-धूम्र अणि के समान है जिसमें कुछ सुनहलापन मिला रहता है और जो प्लास्टिक धातु जैसी जान पड़ने वाली किसी वस्तु के कृष्ण पुंज को खोदती रहती है।[1] टिचनर ने और भी अनेक शब्दों के अर्थ के रूप में

१. "Meaniny" for instance, was "the blue-gray tip of a kind of Scoop which has a bit of yellow about it and which is Just digging into a dark mass of what appears to be plastic material.—Tichner, An Introduction to experimental psychology.
George Humphrey, Thnking: an introduction to its experimental psychology भी द्रष्टव्य।

कल्पित मानस बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। घोड़ा तथा गाय शब्दों के अर्थ-बिम्ब के सम्बन्ध में उनका कथन है कि घोड़ा शब्द से मेरे मन में जो बिम्ब जगता है, उसमें दो गोलाइयाँ और शटा युक्त एक प्रचण्ड अवयव-संस्थान रहता है। गाय शब्द से जगने वाला बिम्ब एक लम्बा-सा आयत (चतुष्कोण) होता है जिसमें चेहरे की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति मिली रहती है—एक प्रकार के अतिशय क्रोधावेश की अभिव्यक्ति।[1]

शाब्दबोध को अनिवार्यतः मानस बिम्ब रूप मानने वाले टिचनर के इस सिद्धान्त पर विचार करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इसमें वैज्ञानिक चिन्तन की तथ्य-निरूपिणी यौक्तिकता की अपेक्षा कल्पना-विलास ही अधिक है। 'अर्थ' शब्द के अर्थबोधगत बिम्ब के स्वरूप-निरूपण में उनकी काव्यात्मक कल्पना-शक्ति का परिचय मिल सकता है, बौद्धिक चिन्तन शक्ति का नहीं। फिर घोड़ा और गाय शब्दों के बिम्ब में क्रमशः दो गोलाइयों और कुछ लम्बे से चतुष्कोणात्मक आयत के बोध का कोई तर्कसंगत कारण नहीं जान पड़ता। घोड़े में दुर्दान्त पराक्रम का बोध शायद उसमें कल्पित-शक्ति के कारण हो जिसे स्वीकार कर पश्चिम के लोग शक्ति को अश्वों की शक्ति (horse Power) में मापने के आदी हो गये हैं, पर गाय के आकार में क्रोधावेश के बोध का क्या कारण हो सकता है? शायद अपने पड़ोस की कुछ गायों के प्रति टिचनर के मन में निहित भय की वैयक्तिक अनुभूति उसका कारण हो। इस प्रकार यदि वस्तु के प्रति मन में निहित वैयक्तिक अनुभूति पर मानस-बिम्ब के स्वरूप को आश्रित मान लिया जाय तो यह मानना होगा कि एक ही वस्तु के वाचक शब्द से प्रत्येक व्यक्ति का अर्थ-बोध—बिम्ब-बोध कह लें—सर्वथा भिन्न-भिन्न रूप में होता है। ऐसी स्थिति में भाषा से होने वाले विचार-विनिमय की, उसके माध्यम से चलने वाले लोक-व्यवहार की, कोई युक्ति-संगत व्याख्या नहीं की जा सकेगी।

टिचनर की शिष्य-परम्परा में आने वाले अनेक व्यक्तियों ने अर्थ-बोध-विषयक बिम्ब-सिद्धान्त का समर्थन किया है। क्लार्क (Clarke), कॉम्सटॉक (Comstock) क्रॉसलैंड (Crosland), ग्लीसन (Gleeson) तथा ओकाबे (Okabe) ने अपने अनुसन्धानों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि चेतना में कोई ऐसा तत्त्व

१. ++"Horse is to me a double curve and a rampant posture with a touch of mane about it, cow is a longish rectangle with a certain facial expression. a sort of exaggerated pout—Tichner, An Introduction to Experimental Psychology.

नहीं पाया जाता, जिसे संवेदना (sensation), बिम्ब (Image) या भाव (affection) के रूप में विश्लेषित नहीं किया जा सके। इसके विपरीत बिने (Binet), वाट (watt), उडवर्थ (woodworth) बूलर (Buhler) आदि ने अपने-अपने प्रयोगों के निष्कर्ष के रूप में यह मान्यता व्यक्त की है कि उन्हें शब्द-बोध की प्रक्रिया में बिम्बग्रहण का प्रमाण नहीं मिला। ब्राउन ने बिने आदि बिम्ब-अभाववादी विचारकों की मान्यता का समर्थन करते हुए यह अनुमान लगाया है कि सम्भव है, बोध के आभास को ही कुछ लोगों ने बिम्ब मान लिया हो, जबकि अन्य विचारक उसकी बिम्ब से स्वतन्त्र सत्ता मानते हों।[1]

ब्राउन ने टिनचर के बिम्ब-सिद्धान्त की समीक्षा के क्रम में कहा है कि चूँकि टिचनर अस्तित्ववादी मनोविज्ञान के प्रतिपादक हैं, इसलिए वे केवल उन्हीं तथ्यों का वर्णन करते हैं, जिनका मानस-प्रत्यक्षीकरण करते हैं। तार्किक दृष्टि से शब्द क्या अर्थबोध कराता है, उससे उनका सम्बन्ध नहीं। ब्राउन का आक्षेप है कि भाषिक अर्थ के अपेक्षित धर्मों का उन बिम्बों में अभाव है।[2] आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक चिन्तन में सामान्यतः यह माना जाता है कि भाषिक प्रतीक (शब्द) उससे निर्दिष्ट होने वाली वस्तु के साथ निरन्त रसाहचर्य से अर्थवत्ता प्राप्त करता है। अतः शब्द-प्रतीक से जगने वाला मनोगत अर्थ उस निर्दिष्ट वस्तु के उन धर्मों पर ही केन्द्रित रहना चाहिए, जिन धर्मों का उस निर्दिष्ट वस्तु के साथ नियत सम्बन्ध अनुभव-सिद्ध है। इस तथ्य पर ध्यान नहीं कर, अपने अस्तित्ववादी मनोविज्ञान की पूर्व-मान्यता के अनुरूप, सभी शब्दों के अर्थ का बिम्बात्मक बोध सिद्ध करने के लिए टिचनर ने जो प्रयोग किये हैं उनमें कहीं-कहीं हास्यास्पद परिणाम ही सामने आये हैं। उदाहरणार्थ, जब उन्होंने 'But' (परन्तु) शब्द के अर्थ-बोध में मानस-बिम्ब के स्वरूप के परीक्षण के लिए एक प्रयोग किया तो उन्होंने पाया कि वह शब्द बार-बार उनके मन में एक व्यक्ति के सिर के पिछले भाग का बिम्ब जगाता है। 'But' शब्द और मनुष्य के सिर के पश्च-भाग में क्या सम्बन्ध? उनके प्रयोग की परिस्थिति पर विचार करें तो उस शब्द से वैसे असम्बद्ध बिम्ब के जगने का कारण स्पष्ट होगा। उन्होंने एक व्यक्ति को अपने आगे इस तरह बैठाया कि उस

---

१. I believe in the Sincerity of these careful Scientists but I must also believe Binet, watt, woodworth, Buhler and the others who report no images. Can it be that the click of, comprehension is an image for Some and not for others.—R. Brown, words and Things. P. P. 90-91.

२, But have these images the properties we require of linguistic meanings ?—वही पृ० 91.

व्यक्ति की पीठ उनके सामने पड़ती थी। उस व्यक्ति को उन्होंने शब्द का उच्चारण करने के लिए कहा। वह व्यक्ति जो टिचनर की ओर पीठ घुमाये बैठा था, 'but' शब्द का बार-बार उच्चारण करता था और टिचनर अपने मन के भीतर यह ढूँढ़ रहे थे कि उस शब्द के उच्चरित होने के साथ उनके मन में कैसा बिम्ब जगता है। चूँकि उस व्यक्ति के सिर का पिछला भाग टिचनर की आँखों के सामने था, इसलिए उस शब्द को सुनने पर बोलने वाले के सिर के उस भाग का चित्र उनके मन में जग जाता था। किन्तु उस असम्बद्ध बिम्ब के जगने का एकमात्र कारण मन पर परिस्थितिजन्य प्रभाव को ही नहीं माना जा सकता। उस प्रभाव से भी बड़ा कारण उस शब्द में बिम्ब को उद्बुद्ध करने की शक्ति के अभाव को ही माना जाना चाहिए। चूँकि but शब्द से टिचनर के मन में कोई भी बिम्ब नहीं जग पाया, इसीलिए मन के शून्य में परिवेशगत प्रभाव के रूप में व्यक्ति के सिर का, उस शब्द से सर्वथा असम्बद्ध बिम्ब जग गया। ऐसे असम्बद्ध बिम्ब को कोई बिम्बार्थवादी भी शब्द का अर्थ नहीं मानेगा।

प्रश्न यह है कि किसी मानस-बिम्ब को किसी शब्द के अर्थ के रूप में स्वीकार या अस्वीकार करने का अधार क्या होगा? सिर के पिछले भाग का बिम्ब भी किसी ऐसे शब्द से जगे, जो उसका वाचक है, तो उस बिम्ब-ग्रहण को भ्रामक नहीं माना जायगा। बिम्बवादी उसे ही उस शब्द का अर्थ मानेंगे। अतः समस्या यह है कि किस प्रकार शब्द और बिम्ब के सम्बन्ध-असम्बन्ध का निर्धारण कर किसी बिम्ब को किसी शब्द का अर्थ और किसी को उस शब्द से उद्बुद्ध अनर्थ समझ लिया जाता है? ब्राउन ने अर्थ-बिम्ब के स्वरूप के सम्बन्ध में इस सर्वसम्मत मान्यता का उल्लेख किया है कि "अर्थ-बिम्ब को निर्दिष्ट वस्तु के उस वर्ग का प्रतिनिधि होना चाहिए जिसके लिए किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिससे वह अपेक्षित कार्य का सम्पादन कर सके।[1] यद्यपि सामयिक बिम्ब प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग रूप का होता है, फिर भी वे सभी व्यक्ति वस्तु-विशेष के लिए शब्द-विशेष के प्रयोग में—भाषिक व्यवहार में—पूर्णतः समान मानसिक धरातल पर आ सकते हैं। भाषा वह सांस्कृतिक सम्पदा है, जिनमें किसी समाज के सभी सदस्य सहभागी होते हैं। परिवर्त्तनशील सामयिक बिम्बों के आधार

---

१. The meaning image must be representative of the class of referents to which a word is applied in order to fill the function for which it is required.—R. Brown, Words and things, pp 91-95

पर शब्द से वस्तु-बोध तथा विचार-विनिमय के तथ्य की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं की जा सकती।

अर्थ-बोध के मानस-बिम्ब-सिद्धान्त के विपक्ष में इतनी युक्तियाँ दी गयीं कि मनोभाषाशास्त्र के क्षेत्र में उस सिद्धान्त का महत्त्व धीरे-धीरे समाप्त हो गया। परवर्ती मनोवैज्ञानिक चिन्तन में चेतना, बिम्ब आदि की कल्पना को असत्य मान कर प्राणी के व्यवहार का अध्ययन स्नायविक प्रतिक्रियाओं के समाहार-मात्र के रूप में किया जाने लगा। आरम्भ में, बिम्बवादियों ने ही बिम्ब-सिद्धान्त को सबल तर्क पर आधृत करने में असमर्थता का अनुभव करते हुए स्नायु-प्रतिक्रिया की युक्ति का सहारा लिया था।

पिल्सबरी (Pillsbary) और मीडर (Meader) ने अर्थ-बोध में बिम्बग्रहण को उपेक्षणीय मान कर शाब्दबोध को शब्द के प्रति विशिष्ट प्रकार की स्नायविक प्रतिक्रिया से अभिन्न माना है। उन्होंने शब्द के प्रति इस स्नायविक प्रतिक्रिया को शब्द के मूल में निहित आदर्श धारणा (type) के रूप में ही स्वीकार किया है, चेतना में प्रतिनिहित तत्त्व के रूप में नहीं।[1]

ब्राउन की मान्यता है कि स्नायु-प्रतिक्रिया की युक्ति का सहारा लेना अर्थ-विषयक बिम्ब-सिद्धान्त की पराजय का द्योतक है।[2]

अर्थ का प्रतिक्रिया-सिद्धान्तः—कुछ मनोविज्ञानियों ने पावलव के द्वारा स्थापित सम्बन्ध अवस्थापन (conditioning) के सिद्धान्त के आधार पर शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण के सन्दर्भ में यह सिद्धान्त निरूपित किया कि शब्द इस सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रक्रिया से ही अर्थ विशेष का संकेत अर्जित करता है। शब्दार्थ के क्षेत्र में सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रक्रिया में शब्द समुत्तेजना के रूप में प्रयुक्त माना जाता है। इस मत के अनुसार अर्थ-विधान की प्रक्रिया का उद्देश्य दूसरों को यह सिखाना होता है कि वह किसी भाषिक रूप का वस्तु के बोध के लिए उसके नाम के रूप में प्रयोग कर सके।

भाषा का ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया पर दृष्टि रखकर इस सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। भाषाज्ञान से शून्य शिशु जब किसी वस्तु

---

१. वही पृ० ९२

२. The resort to neurology is a defeat for the image theory of meaning.—वही पृ० ९२

का प्रत्यक्षीकरण करता है, जिसके वाचक शब्द को वह नहीं जानता, तब उसे यह बताया जाता है कि इस वस्तु को अमुक शब्द से अभिहित किया जाता है या इस वस्तु का यह नाम है। इस प्रकार शब्द-विशेष के साथ अर्थ-विशेष का सम्बन्ध वह शिशु सीख लेता है। अब यदि यह मान लिया जाय कि किसी अबोध शिशु को गाय-पद-वाच्य वस्तु को आरम्भ से ही सभी लोग 'घोड़ा' शब्द से अभिहित करने की शिक्षा दें तो वह उसके लिए घोड़ा शब्द का ही प्रयोग करने लगेगा। इस प्रकार अर्थ-बोध को एक प्रकार का सम्बन्ध-अवस्थापन (Conditioning) कहा जा सकता है। वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् लोकसिद्ध वस्तु के प्रति होने वाली विशिष्ट प्रतिक्रिया इस सम्बन्ध-अवस्थापन की पद्धति से किसी शब्द-समुत्तेजना में स्थानान्तरित हो जाती है। प्रत्यक्ष वस्तु को दिखा कर उसके वाचक शब्द का ज्ञान कराने की पद्धति पर अनेक भारतीय विचारकों ने भी विचार किया है। इससे आगे की प्रक्रिया आवापोद्धार या अन्वय व्यतिरेक की प्रक्रिया मानी गयी है, जिसमें व्यक्ति स्वयं अनेक प्रयोगों पर ध्यान देकर विशिष्ट वस्तु के लिए विशेष शब्द के प्रयोग का निष्कर्ष निकाल लेता है।

शाब्दबोध-विषयक इस सम्बन्ध-अवस्थापन के सिद्धान्त के अनुसार भाषिक अर्थ से व्यवहार (behavior) में कुछ वैसा ही परिवर्तन उत्पन्न किया जा सकता है, जैसा सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रसिद्ध पद्धति से किया जाता है। वस्तु से उसके बोधक शब्द में वैसे ही व्यवहार का स्थानान्तरण इस सिद्धान्त की मूल धारणा है। वर्षा के स्वरूप से परिचित तथा उसके प्रति सहज रूप में कुछ प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने वाला व्यक्ति उसके वाचक 'वर्षा' शब्द के प्रति भी वैसी ही स्नायविक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करने लगता है। इस प्रकार इस मत में न केवल वस्तु-बोध का उसके वाचक किसी शब्द के साथ सम्बन्ध-अवस्थापन की धारणा व्यक्त की गयी है, बल्कि वस्तु के प्रति व्यक्ति के व्यवहार का भी उसके वाचक शब्द में स्थानान्तरण की मान्यता प्रकट की गयी है। विषयों के ऊपर वस्तु-बोध-जन्य व्यवहार के शाब्दबोध में स्थानान्तरण के कुछ प्रयोग कर यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है कि जब किसी शब्द का उच्चारण व्यक्ति के समीप किया जाता है तो उसमें उसके प्रति वैसी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती हैं, जैसी उस शब्द से बोध्य वस्तु के प्रति उसमें स्वभावतः हुआ करती हैं। उदाहरणार्थ, जब वर्षा पदार्थ और उसके वाचक शब्द का सम्बन्ध जानने वाले व्यक्ति को बन्द कमरे में कहा जाता है कि 'बाहर वर्षा हो रही है' तब उसका प्रत्यक्ष अनुभव शब्दानुभव में स्थानान्तरित हो जाता है, अर्थात् उसमें वस्तु के प्रति व्यक्त होने वाली प्रतिक्रिया उस शब्द के प्रति भी उत्पन्न होने लगती है। ध्यातव्य है कि शब्द में स्थानान्तरित व्यवहार

या प्रतिक्रिया से तात्पर्य स्नायविक व्यवहार या स्नायुगत प्रतिक्रिया-मात्र का है। साँप को देख कर व्यक्ति भाग खड़ा होता है, साँप शब्द को भाषिक प्रयोग में सुन कर कोई भागने की मूर्खता नहीं करता। अतः वस्तु के प्रति उत्पन्न प्रतिक्रिया के शब्द-समुत्तेजना के साथ सम्बन्ध-अवस्थापन का अर्थ यह है कि वस्तु के प्रति उत्पन्न होने वाली स्नायविक प्रतिक्रिया शब्द से उत्पन्न होने लगती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो प्रत्यक्ष ज्ञान में भी वस्तु के प्रति कोई सहज प्रतिक्रिया पहले स्नायुओं में ही उत्पन्न होती है। यही मूल प्रतिक्रिया सम्बन्ध-स्थापन की प्रक्रिया से शब्द से उद्‌बुद्ध मानी गयी है।

शाब्दबोध के रूप में प्रत्यक्ष अनुभूति के रूपान्तरण का यह सिद्धान्त पाँवलव के सम्बन्ध-अवस्थापन के सिद्धान्त पर अवलम्बित तो है, पर यहाँ इस बात का निर्देश आवश्यक है कि प्रत्यक्ष बोध और शाब्दबोध के स्वरूप में कुछ तात्त्विक भेद होने के कारण पाँवलव के द्वारा प्रतिपादित सम्बन्ध-अवस्थापन के सिद्धान्त से, वस्तु के प्रति व्यक्त स्नायविक व्यवहार एवं शब्द के द्वारा उत्पादित स्नायुगत व्यवहार को अभिन्न मानने वाले इस शब्दार्थ-सिद्धान्त में कुछ मूलभूत भेद भी है।

वर्षा के शाब्दबोध के स्वरूप का ही उदाहरण लें, तो सम्बन्ध-अवस्थापन की पद्धति से शाब्दबोध की पद्धति की विलक्षणता स्पष्ट हो जायगी। पहली बात यह कि वर्षा एक स्थिर स्वरूप वाली सरल समुत्तेजना नहीं, वरन् अनेक धर्मों से युक्त एक सामान्य वर्ग है। उसके बोध में परिस्थिति की अनेक विशेषताओं का बोध मिला रहता है। जिस स्नायुगत व्यवहार का शब्द में स्थानान्तरण होता है वह वस्तु के बोध में निहित अनेक परिवर्तनशील व्यापारों से युक्त होने के कारण एक विश्वसनीय निरपेक्ष प्रतिक्रिया नही होती। वर्षा को देख कर होने वाली प्रतिक्रिया वर्षा में भींगने की अनुभूति की प्रतिक्रिया से अभिन्न नहीं होती। वर्षा को देखने से उत्पन्न प्रतिक्रिया भी भिन्न-भिन्न देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। वर्षा शब्द को सुनने पर वर्षा के प्रति जिस प्रतिक्रिया का स्थानान्तरण माना जायगा वह प्रतिक्रिया एक नियत स्वरूप की नहीं होगी, वह उस सम्पूर्ण सन्दर्भ से, जिसमें वर्षा शब्द निहित है, मूल वस्तु के प्रभाव ग्रहण के समान ही प्रभावित होने की व्यापक व्यवहारगत प्रवृत्ति के रूप में ही होगी।

शब्द के साथ वस्तु-बोध जैसी व्यवहार-प्रवृत्ति का सम्बन्ध-अवस्थापन मानने वाले सिद्धान्त के सन्दर्भ में ब्राउन की सबल युक्ति है कि लोग वस्तु का जिस रूप में प्रभाव ग्रहण करते हैं, उसी रूप में सार्वत्रिक रूप से उसके बोधक शब्द का प्रभाव ग्रहण नहीं करते। वस्तु और उसके बोधक शब्द के प्रति भिन्न रूपों में

प्रतिक्रिया व्यक्त होती है। वस्तुतः साँप को देखने तथा पुस्तक में उस शब्द को पढ़ने या व्याख्यान में उस शब्द को सुनने की प्रतिक्रिया एक-सी ही नहीं होती। वर्ग के अध्यापक का व्याख्यान सुनने के समय छात्र एक-एक उच्चरित शब्द के प्रति कोई व्यक्त प्रतिक्रिया नहीं दिखाता। अतः यह माना जाना चाहिए कि वह जो कुछ सुनता या पढ़ता है, उसी का बोध प्राप्त करता है। स्पष्ट है कि सामान्य व्यक्त प्रतिक्रिया को शब्द की अर्थवत्ता का हेतु नहीं माना जा सकता, एक प्रकार की अव्यक्त, सूक्ष्म प्रतिक्रिया को ही शब्द की सार्थकता का कारण समझा जा सकता है।[1]

अव्यक्त प्रतिक्रियारूप अर्थ का सिद्धान्त—वाट्सन ने शब्दार्थ के बिम्ब-सिद्धान्त की जगह अव्यक्त प्रतिक्रिया या अन्तर्निहित व्यवहार को अर्थ मानने वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्राणी के शरीर में उद्‌बुद्ध होने वाली ऐसी प्रतिक्रियाओं का स्वरूप इतना सूक्ष्म और अव्यक्त होता है कि उसे आसानी से परखा नहीं जा सकता। उसमें ध्वनि-यन्त्र का कम्पन तथा उँगली, हाथ और सम्पूर्ण शरीर का स्पन्दन समाहित रहता है। इस प्रकार इस मत के अनुसार अर्थ वह अव्यक्त प्रतिक्रिया है, जो मूलतः शब्द से निर्दिष्ट होने वाली वस्तु से उद्‌बुद्ध होती है और फिर साहचर्य के द्वारा शब्द से जगायी जाती है।[2]

इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए ब्राउन ने यह प्रश्न उठाया है कि 'सेब लाल है' ऐसे कथन में सेब और लाल शब्द मूलतः सेब को देखने पर उत्पन्न हुई किस प्रकार की प्रतिक्रिया को जगाते हैं? यह निर्णय कर पाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है कि किसी शब्द से मांसपेशी के किस अंश में स्पन्दन उत्पन्न होता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक यह दिखा नहीं पाये हैं कि अलग-अलग शब्दों के लिए कुछ खास-खास क्रिया-रूप होते हैं। प्राणी तथा त्रिकोण जैसे वर्गबोधक शब्दों के अर्थ-बोध में—जो शब्द किसी नियत आकार वाली वस्तु का बोध नहीं कराते—नेत्र-संकोच आदि की कल्पना कर लेना निराधार ही होगा।[3] इसके अतिरिक्त ब्राउन की सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि अर्थ को विशिष्ट पेशीगत कार्य से अभिन्न

---

१. In many situations e. g. lecture hearing and book-reading he makes no *overt response* and yet we must suppose that he understands what he hears or reads…obviously this (click) cannot be an ordinary overt response. It words.—R. *B*rown, words and Things, page 96

२. वही पृ० ९६-९७

३. वही पृ० ९७

मानने वाले मत को स्वीकार करने पर यह मानना पड़ेगा कि यदि कोई पेशी निष्क्रिय बना दी जाय तो उसकी प्रतिक्रिया से सम्बद्ध शब्द का कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा। इस प्रकार की मान्यता सर्वथा निर्मूल ही होगी।[1]

मध्यस्थ प्रतिक्रिया-रूप अर्थ का सिद्धान्तः—हम देख चुके हैं कि चार्ल्स ओसगुड ने अर्थ को एक विशेष प्रकार की मध्यस्थ प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। कोई वस्तु समुत्तेजना के रूप में मूलतः जो प्रतिक्रिया जगाती है, वैसी ही सहज प्रतिक्रिया उस वस्तु के बोधक शब्द की भी होती है। इस प्रकार की मध्यस्थ प्रतिक्रिया ही ओसगुड आदि की दृष्टि में शब्द का अर्थ है। उनके अनुसार (spider) शब्द का अर्थ है एक विशिष्ट प्रकार के भय की प्रतिक्रिया, जैसी प्रतिक्रिया उस शब्द से निर्दिष्ट जीव को देखने पर सहज रूप में उत्पन्न होती है।

इस मान्यता के औचित्य के मूल्यांकन के क्रम में ब्राउन ने यह माना है कि शब्दार्थ के रूप में मध्यस्थ प्रतिक्रिया के अध्ययन में यह नहीं दिखाया जा सका है कि शाब्दबोध के समय होने वाली जिन अव्यक्त प्रतिक्रियाओं का पता लगाया गया है, वे उस शब्द से निर्दिष्ट वस्तु-समुत्तेजना से उत्पादित प्रतिक्रियाओं के खण्ड-भूत विधायक अंश हैं। यदि निर्दिष्ट वस्तु से उत्पादित प्रतिक्रियाओं के शब्द से उद्बुद्ध अंश को शब्द का अर्थ मानें तो इसका तात्पर्य यह मानना होगा कि सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रक्रिया से शब्द में निर्दिष्ट वस्तु के बोध से मिलते-जुलते अर्थ के बोध की शक्ति आ जाती है, और इस प्रकार की मान्यता युक्तिसंगत नहीं होगी।[2] ब्राउन की धारणा है कि बिम्ब-सिद्धान्त की तरह अर्थ का सम्बन्ध-अवस्थापन-सिद्धान्त भी सबल युक्तियों के आधार पर की गई आलोचनाओं से खण्डित हो गया और उसे मानने वाले विचारकों को भी पीछे चलकर बिम्बवादियों की तरह ही अपने मत का परिष्कार करने के लिए केन्द्रीय स्नायुमण्डल का सहारा लेना पड़ा। इस प्रकार शब्दार्थ-विषयक सम्बन्ध-अवस्थापन के मूल सिद्धान्त में किञ्चित् संशोधन कर यह मत प्रकट किया गया कि शब्द का स्नायुमण्डल पर तत्क्षण प्रभाव तो उत्पन्न होता ही है, भले ही कोई व्यक्त प्रतिक्रिया बाहर दिखायी नहीं पड़े। इस प्रकार आरम्भ में सम्बन्ध-अवस्थापन का सिद्धान्त लेकर चलने वाले विचारकों ने जो वस्तु के प्रति उत्पन्न व्यक्त प्रतिक्रिया के समान ही शब्द के प्रति जगने वाली व्यक्त प्रतिक्रिया को शब्दार्थ मानने वाला मत प्रतिष्ठित किया था, उसी का कुछ संशोधित रूप अव्यक्त स्नायविक प्रतिक्रिया को अर्थ मानने वाले

---

१. ब्राउन, वर्ड्स एंड थिंग्स, पृ० ९८
२. वही पृ० १०१

सिद्धान्त के रूप में तथा अन्ततः मध्यस्थ प्रतिक्रिया को अर्थ मानने वाले विचार के रूप में सामने आया। इस प्रकार के चिन्तन की अन्तिम परिणति व्यवहाररूप अर्थ के स्वरूप-निरूपण में हुई है, जिसका मूल्यांकन अपेक्षित है।

व्यवहार-प्रवृत्ति रूप शब्दार्थ का सिद्धान्त—चार्ल्स स्टीवेंशन ने शब्दार्थ के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे शब्द में निहित एक ऐसा प्रवृत्तिमूलक धर्म माना जो सुनने वाले में परिस्थिति के अनुरूप मनोगत प्रक्रिया के रूप में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। उनकी दृष्टि में शब्द का सुनना समुत्तेजना है और उसे सुनने पर उत्पन्न होने वाली मनोगत प्रक्रिया उसकी प्रतिक्रिया।[1]

इस मत के स्पष्टीकरण में ब्राउन ने यह माना है कि जब व्यक्ति किसी शब्द के स्वरूप को समझता है, तब उसके स्नायुमण्डल में एक विशेष प्रकार का पुनर्ग्रंथन घटित हो जाता है, जिससे उसमें उस शब्द के अनुकूल विशिष्ट व्यवहार व्यक्त करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस सम्प्रदाय के मनोविज्ञानियों की दृष्टि में अर्थ कोई विशिष्ट प्रतिक्रिया नहीं, किसी शब्द के प्रति विभिन्न स्थितियों में भिन्न-भिन्न रूपों में व्यवहार प्रकट करने की प्रवृत्ति है। ब्राउन ने अर्थ-सम्बन्धी इस व्यवहार-प्रवृत्ति के सिद्धान्त के विषय में यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि यह सिद्धान्त विशिष्ट प्रतिक्रिया को शब्दार्थ मानने वाले किसी भी मत से भाषिक अर्थ का अधिक युक्तिसंगत विवरण प्रस्तुत करता है।[2]

इस सिद्धान्त को मानने में अनेक कठिनाइयाँ भी हैं। इस मत के अनुसार एक शब्द के, परिस्थितियों के अनुरूप, इतने प्रकार के व्यवहाररूप अर्थ होंगे कि पूरे जीवन में भी कोई उस अर्थ के विविध रूपों का निर्धारण नहीं कर सकेगा।

सामाजिक मनोविज्ञान में अभिवृत्ति (Attitude) को प्रवृत्तिगत धारणा माना जाता है और यह माना जाता है कि समाज के सांस्कृतिक परिवेश के अनुसार लोगों की अभिवृत्ति में भेद हुआ करता है तथा वस्तुविशेष के प्रति लोगों की प्रतिक्रियाएँ

---

१. The meaning of a sing, in the psychological Sense required is not some Specific psychological process that attaches the Sign at any one time. It is rather a dispositional property of the sign, where the response varying with varying attendant circumstances consits of Psychological processes jn a hearer, and where the stimulus is his hearing of the sign.—charles stevens.

२. R. Brouen, words and things, page 103

भी भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं। शब्दार्थ-विषयक प्रवृत्ति-सिद्धान्त के अनुसार अभिवृत्तियाँ स्वयं भी खण्डात्मक अर्थ हैं। वे व्यापक प्रवृत्तियों के अन्तर्गत प्रवृतियाँ हैं। एक ही प्रकार के व्यवहार का अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग अर्थ समझा जाता है। किन्तु अभिवृत्तिगत इन सभी अनुकूल प्रतिकूल माने जानेवाले व्यवहारों को भाषिक अर्थ का केवल एक खण्ड माना जाता है।

भाषा दूसरों से सीखी जाती है। इसलिए यह मानना युक्तिसंगत नहीं होगा कि कोई व्यक्ति अन्य उपयुक्त व्यवहारों को सीखे बिना ही इन प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न कर सकता है। भाषिक प्रयोग ब्रिज के उस खेत के समान है, जिसकी पूर्णता को सभझे बिना उसकी किसी एक बोल (bid) को नहीं समझा जा सकता। अतः भाषा के किसी शब्द का निरपेक्ष अर्थ-निर्धारण सम्भब नहीं एक शब्द का अर्थ तथा उसका पूर्ण परम्परागत प्रयोग ब्रिज के खेल की तरह ही, पूर्ण सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है। शब्द के नियत कोशार्थ की उपेक्षा कर शब्दार्थ को प्रयोग या सन्दर्भ पर निर्भर मानने वाले मत के औचित्य की परीक्षा हम कर चुके हैं।

ध्यातव्य हैं कि व्यक्ति में नवीन-नवीन वस्तुओं के नामकरण की तथा उन नामों को निर्दिष्ट वस्तुओं के चिह्न के रूप में मान कर उनके प्रति व्यवहार व्यक्त करने की क्षमता रहा करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शाब्दबोध की 'प्रवृत्ति' बहुत ही सामान्य अर्थात् अविशेष रूप की हुआ करती है। वस्तु के नामकरण तथा उन्हें वस्तु के चिह्न के रूप में ग्रहणकर उनके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने की यह क्षमता, वस्तु के साथ शब्द के साहचर्य की अनुभूति से उत्पन्न होती है। शब्दार्थ-विषयक इस मान्यता को लेकर ब्राउन ने शब्दार्थ के स्वरूप को कुछ नवीन रूप में परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनकी दृष्टि में अर्थ किसी भाषिक रूप या शब्द का प्रयोग करने तथा उसके प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने की सम्पूर्ण प्रवृत्ति (disposition) है। इसका तात्पर्य यह होता है कि शब्द-भेद के सम्बन्ध में परम्परागत धारणा के अनुरूप उसके प्रयोग की जो प्रवृति पायी जाती है, वह अर्थ का भाग है। बहरहाल यह एक ऐसा भाग है जिसका तात्पर्यार्थ से भेद-निरूपण किया जा सकता है।[1]

ब्राउन की धारणा है कि वस्तु के प्रति अभिवृत्ति (attitude) व्यक्त करने वाले

---

१. Since I define meaning as the total disposition to make use of or react to a linguistic form, it follows that a readiness to use words in accordanec with conventions about the parts of speech is a part of meaning, However it is a part that ean be distinguished from reference. R. Brown, words and thing.—P. 108

वाक्यों में शब्द का प्रयोग भी अर्थ का एक भाग ही होता है, पर वह ऐसा भाग होता है, जो उस भाषिक सम्प्रदाय में एक रूप में नहीं रहा करता।[1] अर्थ तथा व्याकरण के मानक रूप के प्रति पारस्परिक मतैक्य से भाषिक-सम्प्रदाय निर्मित होता है। इन मानक रूपों के भीतर व्यक्ति एक ही वस्तु तथा शब्द के प्रति विभिन्न अभिवृत्तियों को व्यक्त करने वाले वाक्यों की रचना कर सकते हैं। उनमें अर्थगत भेद होने पर भी वह भिन्नता एक व्यापक अन्विति के भीतर ही रहती है। व्यक्ति की शाब्दबोध की प्रवृत्ति का कुछ अंश ही संस्कार के अनुरूप भिन्न-भिन्न होता है, कुछ अंश सर्वसामान्य होता है। इसीलिए शाब्दबोध की कुछ व्यक्तिगत भिन्नता के रहने पर भी एक समाज के सदस्यों के बीच भाषा के माध्यम से विचार-विनिमय सम्भव होता है।[2]

शब्दार्थ को शब्द-प्रयोग तथा शब्द के प्रति व्यवहार प्रकट करने की सम्पूर्ण प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करने वाले ब्राउन के इस सिद्धान्त पर विचार करने से उसकी कई शक्तियाँ और सीमाएँ सामने आती हैं। यह सिद्धान्त भी लोक-सिद्ध वस्तुओं के नाम के रूप में प्रयुक्त होने वाले शब्दों की अर्थबोध-प्रक्रिया का ही स्पष्टीकरण, कुछ हद तक, कर सकता है। शब्द-प्रयोग की पूर्ण प्रवृत्ति तथा शब्द के प्रति प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति का स्वरूप-निर्धारण सम्भव नहीं। अतः सम्पूर्ण भाषिक प्रयोग में व्यक्ति की प्रवृत्ति को तो कुछ अंश में समझा जा सकता है, पर शब्द-विशेष के अर्थ-बोध के स्वरूप का निर्धारण, इस सिद्धान्त के अनुसार, नहीं किया जा सकता। शब्द के अर्थ का ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया पर विचार करने के समय प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयभूत पदार्थ का अनुभव प्राप्त कर उसके वाचक शब्द को सीखने तथा शब्द का ज्ञान प्राप्त कर उसके अर्थ को जानने की पद्धतियों पर विचार किया जाना चाहिए। बालक ऐसे शब्द भी सीखते हैं, जिनके अर्थ का उन्हें पहले से स्पष्ट बोध नहीं रहता। हम देख चुके हैं कि अनेक शब्दों से निर्दिष्ट वस्तु की बाह्य सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। 'नहीं' शब्द सार्थक है, पर उससे निर्दिष्ट होने वाली किसी वस्तु की सत्ता नहीं। संख्यावाचक शब्दों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। अतः वस्तु के साथ शब्द के साहचर्य तक शब्द के अर्थ की सीमा निर्धारित करना उचित नहीं। उपसर्ग, प्रत्यय योजक पद आदि का अर्थ वस्तुगत नहीं होता, शब्द के स्वरूप में ही अन्तर्निहित

---

१. The use of a word in sentences expressing an attitude toward the referent is another part of meaning but not a part that is uniform within a linguistic community.—R. Brown Words and Things पृ० 108

२. वही, पृ० 108

होता है। ऐसे शब्दों का अर्थ मानव-मन से निर्मित विकल्प रूप ही माना जा सकता है। गणित की भाषा मानव मन के बोध का ही द्योतन करती है। यही कारण है कि, विट्गिंस्टाइन आदि दार्शनिकों को इस लोक-सत्ता से पृथक् शब्द-अर्थ के स्वतन्त्र लोक की कल्पना करनी पड़ी।

शब्दबोध के स्वरूप-निरूपण में मानव चेतना के कार्यों की उपेक्षा कर केवल स्नायविक प्रतिक्रियाओं के रूप में अर्थ के स्वरूप का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं। मनुष्य का शब्द-बोध शब्द का प्रयोग करने तथा सीखे हुए शब्द के प्रति सहज रूप में कुछ स्नायुगत प्रतिक्रिया व्यक्त करने की प्रवृत्ति तक ही सीमित नहीं, उसमें वह क्षमता भी होती है कि वह नवीन शब्द और नये अर्थ-बोध का सृजन कर सके। यह केवल स्नायुगत प्रतिक्रिया व्यक्त करने की प्रवृत्ति (desposition) से ही सम्भव नहीं।

लोक-सिद्ध मूर्त पदार्थ के बोधक शब्दों के अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया तथा केवल बोधगत सत्ता वाले अमूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थग्रहण की प्रक्रिया अभिन्न नहीं। दोनों की व्याख्या स्नायविक प्रभाव-ग्रहण या पेशीगत प्रक्रिया व्यक्त करने की प्रवृत्ति के रूप में समान रूप से कर पाना कठिन है।

अर्थ-बोध में वैयक्तिक प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति की विभिन्नता मानने पर भी ब्राउन ने भाषिक समुदाय में भाषा के विचार-विनिमय का माध्यम होने के तथ्य की व्याख्या के लिए जो अर्थ-बोध की एक सामान्य अन्विति की धारणा व्यक्त की है उसे उनके चिन्तन की एक शक्ति माना जा सकता है। इस मान्यता में किञ्चित् संवर्धन कर यह प्रतिपादित किया जा सकता था कि शब्द के स्वरूप तथा उसके अर्थ के सम्बन्ध में भाषिक सम्प्रदाय के व्यक्तियों की मान्यता की एकान्विति से शब्दार्थ के जिस स्वरूप का निर्धारण होता है वह शब्द का मुख्य अर्थ माना जाता है और उस अर्थ-बोध में व्यक्ति के संस्कार, परिवेशगत प्रभाव आदि के कारण जो रागात्मक विभेद रहता है, उसे शब्द का गौण अर्थ माना जा सकता है। उदाहरणार्थ माता शब्द का एक सर्वस्वीकृत अर्थ है—जन्म देने वाली नारी। इस अर्थ में भाषिक समुदाय की मान्यता की एकान्विति है। अब अलग-अलग संस्कार और पारिवारिक स्थितियों के कारण अपनी-अपनी माता के प्रति अलग-अलग व्यक्तियों की जो भावनाएँ होती हैं, वे भी माता शब्द के अर्थ-बोध में गौण रूप से मिली रहती हैं। ऐसी स्थिति में भावना-रूप गौण अर्थों की विविधता के बीच भी शब्द का एक केन्द्रीय मुख्य अर्थ निर्धारित किया जा सकता है, जिसे समाज के प्रायः सभी लोग एक रूप में स्वीकार करते हैं और इसी से भाषा विचार-निविमय का माध्यम बन सकती है।

मनोविज्ञानियों के शब्दार्थ-विषयक चिन्तन पर समग्रता से विचार करने पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मानसवादी सम्प्रदाय के विचारकों ने जो मानस-बिम्ब को शब्दार्थ का स्वरूप माना उसे लोकसिद्ध मूर्त पदार्थों के वाचक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया के सन्दर्भ में ही, अंशतः सही माना जा सकता है। गाय, घर, माता, पिता आदि शब्दों के अर्थ-बोध में एक आकृति-सामान्य का बोध भी मिश्रित अवश्य रहता है। वह बिम्ब निश्चय ही निर्विशेष होता है और इसलिए प्रत्यक्ष बोध के बिम्ब से उसकी तुलना कर उसके स्वरूप को नहीं समझा जा सकता। उसके स्वरूप की अस्पष्टता तथा दुर्बोधता उसकी सत्ता का खण्डन नहीं कर सकती। उसे शाब्दबोध की अपनी विशेषता के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु यह सिद्धान्त अमूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थ के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं कर पाता। संख्यावाचक शब्द के अर्थ-बिम्ब की कल्पना नहीं की जा सकती। नहीं, है, और, तो, भी आदि शब्द मन में किसी ब्रिम्ब की सृष्टि नहीं कर सकते। बिम्ववादी कुछ भारतीय विचारकों ने ऐसे शब्दों के अर्थ-बोध में शब्द-बिम्ब के ही ग्रहण की युक्ति दी थी, पर इसे बिम्बवाद के पक्ष में किया गया दुराग्रह ही माना जा सकता है।

बिम्बवाद के असंख्य अपवादों को देखते हुए उसे अस्वीकार कर, मनोविज्ञानियों ने सम्बन्ध-अवस्थापन की समुत्तेजना-प्रतिक्रिया के रूप में शब्द-अर्थ के स्वरूप-निरूपण के जो प्रयास किये उनमें उनका ध्यान शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण की अपेक्षा बोध-प्रक्रिया में व्यक्ति के स्नायुमण्डल या मांसपेशी पर पड़ने वाले प्रभाव के विश्लेषण पर ही अधिक रहा। परिणामतः, शब्द का स्थिर कोशार्थ उपेक्षित हो गया और शब्द से जगने वाली स्नायविक या पेशीगत प्रतिक्रियाओं को ही अर्थ का स्वरूप मान लिया गया। जब शब्द से व्यक्त प्रतिक्रिया के जगने का मत खण्डित हो गया तो नाड़ी-मण्डल में अव्यक्त रूप में उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओं के रूप में अर्थ के उससे स्वरूप निरूपण का प्रयास किया गया। वस्तु की प्रत्यक्ष अनुभूति की तुलना में मिलती-जुलती प्रतिक्रिया जगाने की शक्ति शब्द में ढूँढ़ी जाने लगी। अतः इन मतों में भी शब्द और उससे निर्दिष्ट वस्तु के द्वैत की धारणा निहित थी, जो लोकसिद्ध वस्तुओं की शब्द-निरपेक्ष अनुभूति जगने तथा उसके बोध के लिए शब्द का प्रयोग किये जाने के सन्दर्भ में ही कुछ उपयुक्त मानी जा सकती है। प्राणी के स्नायविक या पेशीगत प्रभाव के रूप में अर्थ के स्वरूप-निरूपण में मानव चेतना की उत्पादक क्षमता की उपेक्षा की गयी है, जो शब्द के व्यापक स्वरूप को परखने में बाधक है। शब्द-बोध-विषयक मनोवैज्ञानिक चिन्तन के विभिन्न निष्कर्षों का मूल्यांकन कर ब्राउन ने जो किञ्चित् नवीन रूप में अर्थ को परिभाषित किया उसकी शक्ति सीमा पर हम विचार कर चुके हैं।

शब्दार्थ-विषयक भाषावैज्ञानिक दृष्टि :—आधुनिक भाषाविज्ञान में शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक ऊहापोह हो रहे हैं। इस समस्या से सम्बद्ध 'अर्थविज्ञान' (Semantics) भाषाविज्ञान की एक प्रमुख शाखा के रूप में विकसित हुआ। ध्यातव्य है कि दार्शनिकों तथा मनोविज्ञानियों या मनोभाषाशास्त्रियों के शब्दार्थ-विषयक चिन्तन का भी उपयोग भाषावैज्ञानिक विचारकों ने किया है। कई दार्शनिकों तथा मनोविज्ञानियों का अर्थवैज्ञानिक चिन्तन में उतना ही महत्त्व है, जितना किसी भाषावैज्ञानिक का। ऑग्डेन, रिचर्ड्स, ब्लूमफील्ड आदि का मनोवैज्ञानिक चिन्तन के क्षेत्र में जितना योगदान है, उतना ही अर्थवैज्ञानिक चिन्तन के क्षेत्र में भी है। रसेल, विट्गिंस्टाइन आदि विचारकों की दार्शनिक एवं अर्थवैज्ञानिक दृष्टि का समान महत्त्व है। वस्तुतः दर्शन, मनोविज्ञान तथा भाषाविज्ञान के क्षेत्रों में किये जाने वाले शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती, फिर भी अध्ययन की सुविधा के लिए हमने इनका व्यावहारिक विभाजन कर लिया है। हम भाषावैज्ञानिक चिन्तन पर दर्शन और मनोविज्ञान के चिन्तन के प्रभाव का भी उल्लेख करेंगे, साथ ही उन क्षेत्रों में अपना महत्त्व रखनेवाले कुछ विचारकों के अर्थ-विषयक विचार का इस सन्दर्भ में भी मूल्यांकन करेंगे। शब्दार्थ-विषयक भाषावैज्ञानिक चिन्तन को दर्शन, व्याकरण, तर्कशास्त्र तथा मनोविज्ञान आदि के क्षेत्र में किये जाने वाले शब्दार्थ-निरूपण का ही विकास माना जा सकता है। ब्लूमफील्ड ने अर्थविज्ञान के स्वतन्त्र क्षेत्र (Autonomy) के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया था, पर इस प्रयास में उनकी विशेष सफलता का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अर्थ-बोध के स्वरूप-निरूपण में दार्शनिक तत्त्वचिन्तन का प्रभाव पड़ना अस्वाभाविक नहीं। अर्थ के बोधरूप होने के कारण, किसी अर्थ के बोध के लिए किसी शब्द का प्रयोग करने और श्रोता के पक्ष में, शब्द-विशेष को सुनकर अर्थ-विशेष का बोध प्राप्त करने में एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया निहित रहती है, जिसे मनोविज्ञान के क्षेत्र से असम्पृक्त नहीं माना जा सकता। असंख्य शब्द किसी लोक-सिद्ध पदार्थ का बोधक न होकर तार्किक परिकल्पना (logical construction) या मानस विकल्प-मात्र के बोधक होते हैं। गणित की भाषा के, संख्यावाचक आदि पदों के अर्थ मानस-बिम्ब-रूप ही हुआ करते हैं। अतः अर्थवैज्ञानिक चिन्तन का सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में तर्कशास्त्र से भी स्थापित हो जाता है। व्याकरण का सम्बन्ध मुख्य रूप से शब्द की संरचना से अवश्य होता है, फिर भी उपसर्ग, प्रत्यय, योजक-पद आदि के अर्थ का स्वरूप-निर्धारण करने में व्याकरण-सिद्धान्त की उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। निष्कर्ष यह कि शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण के क्षेत्र में भाषाविज्ञानियों द्वारा किये गये चिन्तन में दर्शन, मनोविज्ञान आदि के क्षेत्रों में किये

गये इस प्रकार के चिन्तन का भी समाहार हो जाना स्वाभाविक ही है।

शब्द की उत्पत्ति तथा उसके स्वरूप की समस्या को लेकर प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों के दो सम्प्रदाय बन गये थे। एक सम्प्रदाय के विचारक शब्द को अर्थ का प्रतीक-मात्र मानते थे। उनकी दृष्टि में लोक-व्यवहार से कोई शब्द किसी अर्थ का प्रतीक बनने की शक्ति अर्जित कर लेता है। शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सनातन नहीं, लोक-परम्परा से शब्द के स्वरूप तथा उसकी अर्थबोधकता का निर्धारण हुआ करता है। इसके दूसरे सम्प्रदाय के आचार्यों की धारणा थी कि शब्द और उसके अर्थ के बीच एक सहज सनातन सम्बन्ध रहता है। शब्द में अर्थ-बोध की स्वभाव-सिद्ध शक्ति रहती है। अर्थ और शब्द एक-दूसरे से भिन्न नहीं। कालक्रम से भले ही किसी शब्द का अर्थ-चित्र धुंधला पड़ गया हो, पर आरम्भ में मूल भाषा के सभी शब्द अपने अर्थ को स्पष्टतया व्यक्त करने में समर्थ थे। भारतीय दार्शनिकों की शब्दार्थ-धारणा के मूल्यांकन के क्रम में हम यह देख चुके हैं कि शब्द-अर्थ में नित्य तथा अनित्य सम्बन्ध मानने वाले विचारकों के अलग-अलग सम्प्रदाय भारतीय चिन्ताधारा में भी रहे हैं। आधुनिक भाषाविज्ञानी इन मान्यताओं के प्रति एक समन्वयात्मक दृष्टि अपनाकर भाषा में दो प्रकार के शब्दों की सत्ता मानते हैं—

(क) ऐसे शब्द जिनके अर्थ-चित्र स्पष्ट हैं तथा (ख) ऐसे शब्द जिनके अर्थ-चित्र अस्पष्ट हैं। पहले प्रकार के शब्दों को वे transparent तथा दूसरे प्रकार के शब्दों को opaque मानते हैं।

भाषाविज्ञानियों का विचार है कि किसी व्युत्पन्न शब्द के अर्थ के स्वरूप पर विचार करने के समय उससे सम्बद्ध अन्य शब्दों के स्वरूप तथा उनके अर्थ पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। ऐसे सम्बद्ध शब्द, मोटे तौर पर तीन प्रकार के हो सकते हैं—१. एक ही मूल से (एक अर्थ के बोधक धातु या प्रातिपदिक से) व्युत्पन्न अनेक शब्द-रूप, २. समानार्थक तथा परस्पर सम्बद्ध अर्थ वाले शब्द तथा ३. श्रुतिसम भिन्नार्थक शब्द। एक मूल से व्युत्पन्न अनेक शब्दों में अर्थ की मूलभूत एकता के रहने पर भी व्युत्पन्न रूपों की अपनी-अपनी अर्थगत विशिष्टता भी रहा करती है। उदाहरणार्थ, यदि √ कृ धातु से व्युत्पन्न करना, कार्य, कर्त्तव्य कारक, करण, कर्त्ता आदि शब्दों के स्वरूप और अर्थ पर विचार करें तो इन सभी शब्दों में अर्थ की मूलभूत एकता तथा स्वरूपगत वैशिष्ट्य के अनुरूप अपनी-अपनी अर्थगत विशिष्टता भी मिलेगी। एकता धात्वर्थ की अभिन्नता के कारण तथा विशिष्टता विभिन्न प्रत्ययों के अर्थगत भेद के कारण है। उक्त शब्द-रूपों में जो पारस्परिक सम्बन्ध दिखाई पड़ता है और जिसके आधार पर उन्हें एक

मूल से व्युत्पन्न माना जाता है, उसका कारण उनमें ध्वनि तथा अर्थ; दोनों का साम्य है। वर्णन, विवेचन, निरूपण तथा सारांश, भावार्थ आदि समानार्थक शब्दों में और पढ़ना, लिखना, पुस्तक, कागज, कलम, पेंसिल, खल्ली आदि परस्पर सम्बद्ध शब्दों में ध्वनि में विभिन्नता होने पर भी अर्थगत सम्बन्ध है। सब, शव; सकल, शकल आदि शब्दों में अर्थगत किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहने पर भी केवल ध्वनिगत कुछ अनुरूपता से एक सम्बन्ध घटित हो जाता है। इस प्रकार अनेक शब्दों में कहीं ध्वनि तथा अर्थ; दोनों की समता के कारण, कहीं केवल अर्थ की समता के कारण और कहीं केवल ध्वनि की समता के कारण एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और वे शब्द एक क्षेत्र में आ जाते हैं। ऐसे अलग-अलग शब्द-क्षेत्रों में आनेवाले, परस्पर सम्बद्ध शब्द-रूपों में से किसी एक का अन्य-निरपेक्ष भाव से अर्थमूलक अध्ययन, भाषाविज्ञानियों की दृष्टि में, पूर्ण नहीं माना जाता।

ट्रियर (Trier) ने शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में यह धारणा व्यक्त की है कि शब्दार्थ के स्वरूप पर उस शब्द-क्षेत्र के पूर्ण सन्दर्भ में ही विचार किया जाना चाहिए, जिस क्षेत्र में कोई शब्द आता है। उस क्षेत्र के अन्य शब्दरूपों से स्वतन्त्र रूप में उसके किसी एक शब्द का अर्थमूलक अध्ययन करना उचित नहीं।[1]

भाषाविज्ञान में सामान्यतः भाषा को अलग-अलग खण्ड-तत्त्वों का योग-मात्र नहीं माना जाता, उसे एक सुसंघटित पूर्णता के रूप में स्वीकार कर उसका अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है। इस दृष्टि से आज के भाषाविज्ञानियों की मान्यता उन वाक्यस्फोटवादी भारतीय वैयाकरणों की मान्यता के निकट है जो शब्द-ब्रह्म को एक, अखण्ड और व्यापक सत्ता के रूप में स्वीकार कर, वाक्यस्फोट में उसकी अभिव्यक्ति मानते थे और पद, वर्ण आदि की उस अवयवी वाक्य से भिन्न तात्त्विक सत्ता नहीं मानते थे। यदि शब्द-ब्रह्मवाद के दार्शनिक विश्वास के अंश को वाक्य-स्फोटवाद से हटा दें तो उन वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की भाषा-दृष्टि और आधुनिक भाषाविज्ञानियों की भाषा-दृष्टि में कोई भेद नहीं रह जाता। हम देख चुके हैं कि शब्दार्थ-चिन्तन में भाषा को एक स्वतः पूर्ण इकाई मानने वाले मत के

---

१. (....Convinced Trier that) it was wrong to consider words in isolation : they must be viewed within the context of the lexical field to which they belong. — Stephen ullmann, Language and style, Page 12

विपरीत पदस्फोटवादी तथा अभिहितान्वयवादी विचारकों का वह मत भी है जो शब्द या पद की अपने-आप में पूर्ण सत्ता मानता है और वाक्यार्थ को पदों के अलग-अलग अर्थों का योग-भर मानता है।

कुछ आधुनिक भाषाविज्ञानी इन दोनों मतों के बीच यह धारणा रखते हैं कि भाषा न तो पूर्णतः सुव्यवस्थित इकाई है और न पूर्णतः अव्यवस्थित ही। उसमें व्यवस्था भी रहती है और परिवर्तन या विकास की सम्भावना भी। प्रोफेसर एन्टविस्ले (Entwistle) ने भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसी ही तटस्थ तथा पूर्वग्रहमुक्त धारणा व्यक्त करते हुए कहा है कि मैं भाषा को न तो पूर्णतः व्यवस्थित पाता हूँ और न सर्वथा अव्यवस्थित ही। वह विभिन्न रचना-पद्धतियों का सृजन करने वाले हमारे मन से, सामान्यतः अपूर्ण रूप में ही गृहीत होती है और रचना-पद्धति ही उसका लक्षण है।[1] स्पष्ट है कि इस मान्यता में भाषा को एक गतिशील, जीवन्त सत्ता के रूप में स्वीकार कर उसके स्वरूप-विकास की सम्भावनाओं में विश्वास प्रकट किया गया है। इसीलिए भाषा के नियत स्वरूप के निर्धारण की चेष्टा नहीं की गयी है। भाषा अपनी स्वरूपगत तथा अर्थगत व्यवस्था के कारण ही विचार-विनिमय का माध्यम बनती है, पर वह व्यवस्था उसके विकास को अवरुद्ध नहीं कर पाती।

शब्द को भाषाविज्ञानी केवल वस्तु का बोधक ही नहीं मानते, कुछ अर्थों की सत्ता का अवलम्ब भी उनके वाचक शब्दों को ही मानते हैं। मनुष्य के अमूर्त भाव और विचार शब्द में ही अभिव्यक्ति पा सकते हैं। शब्दों के सहारे ही उनका आदान-प्रदान हो पाता है और वे शब्दों का आश्रय लेकर ही जीवित रह पाते हैं। शब्द नहीं होते तो चिन्तन सम्भव नहीं होता, भाव-विचार मन में क्षणभर के लिए जग कर लुप्त हो जाते।

भाषा के स्वरूप-विश्लेषण में शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण का महत्त्व असंदिग्ध है। भाषा केवल ध्वनि-तरङ्गों की नियत व्यवस्था नहीं, एक सार्थक ध्वनि-प्रयोग है, जिसकी सार्थकता विचार-विनिमय का माध्यम बनने में ही है। भाषाशास्त्र के

---

१. I do not find language either systematic or wholly unsystematic, but impressed with Patterns, generally incomplete, by our pattern-making minds.

—Aspects of Language, P. VIII

एक सम्प्रदाय में भाषा की संरचना के अर्थनिरपेक्ष अध्ययन-विश्लेषण को काम्य माना गया है, किन्तु तथ्य यह है कि अर्थ की उपेक्षा कर केवल शब्द के स्वरूप का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता। शब्द के स्वरूप-निर्धारण में अर्थबोधकता भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है—अर्थ शब्द के स्वरूप का एक घटक तत्त्व भी होता है। भारतीय वैयाकरणों ने भी शब्द के व्याकरणिक विश्लेषण में मुख्यतः शब्द के स्वरूप पर ही विचार किया है, किन्तु भाषा या शब्द के जिस तात्त्विक रूप की धारणा उनके मन में थी, उसमें शब्द-अर्थ की एक अविभाज्य, अखण्ड सत्ता की स्वीकृति निहित थी। उस अखण्ड सत्ता का व्याकरणिक विश्लेषण करने के क्रम में वे शब्द-अर्थ का विभाग तथा ध्वनि, वर्ण, पद एवं वाक्य में भाषा के स्वरूप का विभाग व्यावहारिक दृष्टि से ही उपयोगी मानते थे। आधुनिक भाषाविज्ञान में भी संरचना मात्र के अर्थ-निरपेक्ष विश्लेषण को भाषाशास्त्रियों का कर्त्तव्य मानने वाले मत के विरुद्ध कई युक्तियाँ दी गयी हैं। संरचनावादी मान्यता के विरुद्ध टी० बी० डब्ल्यू रीड (T. B. W. Reid) ने यह युक्ति दी है कि इसमें सन्देह नहीं कि अर्थ के नाम पर कई अनर्थ किये गये हैं, पर अर्थ को अनर्थ की जड़ मान कर उसे हटा देने से अनर्थ समाप्त नहीं हो जाता। कारण यह है कि अर्थ के विना न तो भाषा की सत्ता की कल्पना की जा सकती है और न भाषाविज्ञान की सत्ता की ही।[1]

भाषाविज्ञान में अर्थ के स्वरूप को परिभाषित करने के कई प्रयास हुए हैं। 'अर्थ' शब्द के-अर्थ-निर्धारण में जो अलग-अलग दृष्टियाँ अपनायी गयी हैं उनके अनुरूप अर्थ की अलग-अलग परिभाषाएँ सामने आयी हैं। इस सन्दर्भ में अर्थविषयक उन विभिन्न मान्यताओं का मूल्यांकन अपेक्षित है।

शब्दार्थ के स्वरूप की आधुनिक परिभाषाओं में विश्लेषणात्मक (Analytical) और व्यवहारात्मक (Operational) परिभाषाएँ प्रसिद्ध हैं। शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में ये दो दृष्टियाँ दर्शन एवं मनोभाषाविज्ञान के क्षेत्रों में अपनायी गयी हैं। भाषावैज्ञानिक अर्थ-चिन्तन में उन्हीं दृष्टियों का भाषाशास्त्रीय निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

---

२. It is true that many crimes have been committed in the name of meaning by professed linguists as well as linguistic philosophers, but this is not a situation in which sin can be prevented by abolishing the occasion for sin, for without meaning there can be no language and no linguistics.
—T. B. W. Reid, Historic Philosophy and Linguistic science, Page 18

विश्लेषणात्मक परिभाषाएँ :—शब्दार्थ की विश्लेषणात्मक परिभाषाओं में शब्दों या किन्हीं अन्य प्रतीकों को उनके विधायक तत्त्वों में विभाजित कर उनके अर्थ के स्वरूप का निरूपण किया जाता है। शब्दार्थ के विश्लेषणात्मक स्वरूप-निर्धारण का जो प्रयास शब्द, बोध और निर्दिष्ट वस्तु के त्रिकोण के द्वारा, ऑग्डेन और रिचर्ड्स की पुस्तक 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' में किया गया था, उसने प्रायः सभी आधुनिक भाषाविज्ञानियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। मनोवैज्ञानिक चिन्तन के क्षेत्र में ऑग्डेन और रिचर्ड्स मानसवाद के प्रतिष्ठाता थे। उनकी उस मनोवैज्ञानिक मान्यता की अनिवार्य परिणति शब्द-अर्थ-वस्तु के त्रिक की कल्पना में हुई है। मानसवाद की शक्ति सीमा पर हम शाब्दबोध-विषयक मनोवैज्ञानिक चिन्तन के मूल्यांकन के क्रम में विचार कर चुके हैं। यहाँ ऑग्डेन और रिचर्ड्स के शब्दार्थ निरूपण के भाषावैज्ञानिक महत्त्व को देखते हुए हम उनकी शाब्दबोध-विषयक मान्यता का मूल्यांकन अपेक्षित समझते हैं।

'मीनिंग ऑफ मीनिंग' में अपने मतानुसार शब्दार्थ का स्वरूप-निरूपण करने के क्रम में ऑग्डेन और रिचर्ड्स ने शब्दार्थ के सम्बन्ध में उस समय तक प्रचलित अनेक मतों का उल्लेख किया है। शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में उल्लिखित वे मत अर्थ के स्वरूप के पूर्ण स्पष्टीकरण में भले ही समर्थ न हों, पर अर्थ-विषयक चिन्तन की दिशा के नवीन-नवीन आयामों के उद्‌घाटन की दृष्टि से उनका कुछ महत्त्व अवश्य है। उन मतों का सार-संक्षेप इस प्रकार है :—

(१) शब्दार्थ-विषयक एक मत के अनुसार कथन का तात्त्विक अंश उसका अर्थ माना गया है।

(२) दूसरे मत के अनुसार शब्द और उससे निर्दिष्ट होने वाली वस्तु के बीच रहने वाला सम्बन्ध ही अर्थ माना गया है। यह सम्बन्ध कुछ ऐसा होता है, जिसका निर्धारण सहज नहीं। इस प्रकार यह मत शब्दार्थ के स्वरूप को अव्याख्येय मानता है। लौकिक वस्तुओं के सम्बन्ध के आधार पर शब्दार्थ के सम्बन्ध का, लौकिक वस्तु के रूप में अर्थ के स्वरूप का विश्लेषण करना सम्भव नहीं।

शब्द और तद्भिन्न वस्तु के बीच सम्बन्ध को अर्थ मानने में दोनों के द्वैत की धारणा अन्तर्निहित है। हम देख चुके हैं कि इस प्रकार का द्वैतवादी विचार लोक-सिद्ध पदार्थों की ओर निर्देश करने वाले नामों या ध्वनि-प्रतीकों के अर्थ के स्वरूप को तो अंशतः स्पष्ट कर सकता है, पर वैसे शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं कर पाता जिनका अर्थ अपृथक्‌सिद्ध होता है; जो शब्द अपने से पृथक् किसी बाह्य सत्ता

का बोध नहीं कराते बल्कि उन शब्दों का स्वरूप ही अर्थ-बोध की परिसीमा होता है। या, तो, भी आदि शब्दों के अर्थ-बोध में अन्य वस्तु और उसके साथ शब्द के सम्बन्ध की द्वैध-कल्पना नहीं की जा सकती। उन शब्दों के स्वरूप का बोध तथा उनके बोध्य अर्थ का ग्रहण अभिन्नतया ही हुआ करता है।

(३) तीसरा मत यह मानता है कि शब्द का अर्थ और कुछ नहीं, अन्य शब्दों के द्वारा उसका व्याख्यान ही होता है। शब्दकोश में किसी शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए उस शब्द से सम्बद्ध अन्य शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार उस शब्द से जुड़ने वाले अन्य शब्द को ही उसका अर्थ मान लिया गया है।

शब्द से जोड़े जाने वाले अन्य शब्दों को उसका अर्थ मानने वाला यह मत इस मूल समस्या पर विचार नहीं करता कि एक शब्द के साथ अन्य शब्द को जोड़ने का आधार क्या होता है? निश्चय ही शब्द का स्वरूप वह आधार नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति-सम भिन्नार्थक शब्द का प्रयोग कोशार्थ के निर्धारण में नहीं किया जाता। अर्थ की समता के आधार पर ही एक शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए उसके समानार्थक अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि यह कहें कि 'पुष्प का अर्थ फूल होता है' तो इसका तात्पर्य यह नहीं माना जा सकता कि फूल शब्द पुष्प शब्द का अर्थ होता है, चूँकि पुष्प शब्द के कोशार्थ-निरूपण में फूल शब्द को पुष्प शब्द के साथ जोड़ा जाता है। कोशार्थ-निरूपण की दृष्टि से उक्त कथन असंगत तो नहीं है, पर उसका तात्पर्य यह होता है कि 'पुष्प पद का वाच्य-अर्थ वही होता है, जो फूल पद का वाच्य है।' इस पद्धति से कोशार्थ-निरूपण ज्ञात के माध्यम से अज्ञात को बताने का माध्यम-भर बनता है। कोशकार जानता है कि फूल शब्द का अर्थ अधिकांश लोग जानते हैं, अतः उसके द्वारा वह पुष्प का अर्थ बताने का प्रयास करता है। जो पुष्प और फूल; दोनों का अर्थ नहीं जानते, वे उक्त कथन का कोई अर्थ नहीं समझ सकते। यदि फूल शब्द ही पुष्प शब्द का अर्थ होता तो दोनों शब्दों का ज्ञान होते ही शब्द और अर्थ का बोध हो जाता—एक का वाचक शब्द के रूप में तथा उससे जुड़े दूसरे का वाच्य-अर्थ के रूप में—पर ऐसे कल्पना-विलास का कोई यौक्तिक आधार नहीं।

(४) चौथे मत में शब्द-प्रयोग में निहित उद्देश्य को, अर्थात् शब्द के लक्ष्य को उसका अर्थ माना गया है। यह मत भी शब्दार्थ के स्वरूप की पूर्ण और निर्भ्रान्त व्याख्या नहीं कर पाता। शब्द के वाच्य-अर्थ का निर्धारण तथा उसके लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थों से मुख्य अर्थ के सम्बन्ध-असम्बन्ध का निरूपण इस मान्यता

के अनुसार नहीं हो पाता। यह मत उन भारतीय विचारकों के मत से मिलता-जुलता है, जो शब्द-प्रयोगों में वक्ता के सम्पूर्ण उद्दिष्ट अर्थों को अभिधा व्यापार से ही बोधगम्य मानकर शब्द से व्यक्त होने वाले समग्र तात्पर्य को शब्द का मुख्य अर्थ ही स्वीकार करता है। किन्तु अधिकांश भारतीय विचारकों ने प्रबल प्रमाण से यह सिद्ध किया है कि शब्द अपनी मुख्य शक्ति से एक अर्थ का बोध कराता है और तब उसकी गौणी वृत्ति से उस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध या असम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध होता है।

(५) पाँचवें मत के अनुसार शब्द का सारांश उसका अर्थ है। इस परिभाषा में अर्थ के समानार्थक सारांश शब्द का प्रयोग कर कोशकार की पद्धति से अर्थ शब्द का अर्थ बताने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः सारांश शब्द का अर्थनिर्धारण भी उतना ही कठिन है, जितना अर्थ शब्द का अर्थनिर्धारण। अतः शब्दार्थ की यह परिभाषा उसके स्वरूप-निरूपण में बहुत उपादेय नहीं।

(६) छठे मत में शब्द की वस्तु-रूप में निरूपित क्रियात्मकता को उसका अर्थ माना गया है। शब्द-ध्वनियों की ऐसी व्यवस्था है जो अपने स्वरूप से भिन्न किसी वस्तु का बोध कराने में क्रियाशील होती है। इस क्रियाशीलता को ही भारतीय विचारकों ने शब्द की शक्ति माना है। उक्त मत के अनुसार वस्तु-निरूपण की क्रियाशीलता को ही शब्द का अर्थ माना गया है। तथ्य यह है कि सभी शब्दों से वस्तु-निरूपण का सिद्धान्त अनुभवसिद्ध नहीं है। यह मत केवल वस्तु-बोधक शब्दों के अर्थ का—वस्तु के नाम का—स्पष्टीकरण कर सकता है, शब्द से अपृथक्-सिद्ध अर्थ-बोध के स्वरूप का नहीं।

(७) सातवें मत में शब्द-प्रयोग में निहित वक्ता के अभिमत तथ्य या संकल्प को शब्द का अर्थ माना गया है। इस मत में भी चौथे मत की तरह शब्द के वाच्य अर्थ के स्वरूप के पृथक् स्पष्टीकरण का प्रयास नहीं हुआ है। शब्द के समग्र लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों को भी मुख्यार्थ की सीमा में समाविष्ट कर लेने का प्रयास हुआ है, जो शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण की वैज्ञानिक पद्धति नहीं।

(८) कुछ विचारकों की दृष्टि में शास्त्रीय प्रक्रिया में निर्दिष्ट भाव शब्द का अर्थ है। यह मत अर्थ के स्वरूप की आंशिक व्याख्या ही कर पाता है। शब्द से लोक-सिद्ध वस्तु की बोध-प्रक्रिया पर इसमें विचार नहीं किया गया है। शास्त्रीय प्रक्रिया में भी निर्दिष्ट 'भाव' को अर्थ कहना 'अर्थ' के एक पर्यायवाची शब्द के चयन का ही एक प्रयास माना जा सकता है।

(९) कुछ अन्य विचारकों ने यह धारणा व्यक्त की है कि हमारे अनुभवों से सिद्ध वस्तु के क्रियात्मक परिणाम को अर्थ माना जाना चाहिए। अर्थ की यह धारणा कुछ अधिक व्यापक है। इसमें न केवल लोकसिद्ध बाह्य पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थ-बोध के स्वरूप पर विचार किया गया है, वरन् मानव के भाव, विचार आदि में सत्ता रखने वाले अर्थों के बोधक शब्दों की बोध-प्रक्रिया पर भी ध्यान रखा गया है। शब्द में अनुभवगत अर्थ की ही अभिव्यक्ति होती है। किन्तु, ध्यातव्य है कि अनुभवसिद्ध वस्तु शब्द की परा सीमा नहीं। शब्द अनुभव को विस्तार भी देता है। इसीलिए अनेक विचारकों ने शब्द-ज्ञान को मानव-ज्ञान और अनुभूति का नियामक माना है। मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से भी शाब्दबोध की सीमा को मानव मन के विकास की सीमा सिद्ध किया गया है। भारतीय वैयाकरणों ने भी इसीलिए शब्द को ब्रह्म मान कर अर्थ या मानव के बोध से उसकी अधिक व्यापक सत्ता स्वीकार की थी। अनुभव-सिद्ध वस्तु के क्रियात्मक परिणाम को अर्थ मानने वाले इस मत में एक त्रुटि यह भी है कि अर्थ-बोध में शब्द के स्वरूप-बोध की स्थिति का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। हम भारतीय वैयाकरणों के शब्दाध्यासवाद पर विचार करने के क्रम में यह देख चुके हैं कि शाब्दबोध में अनुभवगत अर्थ का बोध तथा शब्द के स्वरूप का बोध इस प्रकार मिश्रित होकर गृहीत होता है कि दोनों को अलग-अलग नहीं परखा जा सकता।

(१०) अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में एक मत यह है कि उक्ति में वाच्य या लक्ष्य के रूप में निहित विचारात्मक परिणाम अर्थ है। विचारात्मक परिणाम को शब्द का अर्थ मानने पर शब्द से लोक-सिद्ध वस्तु या व्यक्ति के बोध की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण अपेक्षित होगा। शब्द केवल विचारगत परिणाम का ही बोधक नहीं, उसके द्वारा बाह्य वस्तु का भी बोधक होता है, जिससे भाषा के द्वारा लोक-व्यवहार सम्भव होता है। अतः इसका यह तात्पर्य माना जाना चाहिए कि लोकसिद्ध बाह्य वस्तुएँ भी विचारगत होकर ही शब्द का वाच्य-अर्थ बनती हैं। कुछ भारतीय विचारकों ने भी मानस अवधारणा अथवा भाव या विचार को शब्दार्थ का स्वरूप माना था। उस विचार के मूल्यांकन के क्रम में हम देख चुके हैं कि शब्द से होने वाले मानस बोध, भाव, विचार आदि की उपेक्षा तो नहीं की जा सकती, पर वहीं तक शब्द-व्यापार को सीमित भी नहीं किया जा सकता।

(११) एक सम्प्रदाय के विचारकों की मान्यता है कि वस्तु से मानव-मन में जो भाव उद्बुद्ध होते हैं, उन्हें अर्थ माना जाना चाहिए। इस मत के अनुसार शब्द वस्तु से प्राप्त भाव को जगाते हैं। अतः वस्तु से उद्बुद्ध मनोभाव ही शब्द का

अर्थ होता है। यह धारणा मानसवादी मनोविज्ञानियों की धारणा से मिलती-जुलती है, जिसका मूल्यांकन हम कर चुके हैं। हमारी धारणा है कि लोक-जीवन में प्राप्त मनोभाव को शब्द अवश्य प्रकाशित करते हैं, पर वस्तु से उद्बुद्ध मनोभाव शब्द-क्षेत्र की परा सीमा नहीं। ऐसे भी शब्द हैं, जिनके अर्थ का वस्तु से उद्बुद्ध मनोभाव से कोई सम्बन्ध नहीं। संख्यावाचक शब्द का वस्तु से उद्बुद्ध भाव के रूप में अर्थ-निरूपण सम्भव नहीं। 'नहीं', 'अभाव' आदि शब्दों के अर्थ का निर्धारण भी वस्तु या वस्तु से उद्बुद्ध मनोभाव के सन्दर्भ में नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि यह मत भी अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में आंशिक सत्य का ही उद्घाटन कर पाता है।

(१२) अर्थ के सम्बन्ध में कुछ विचारकों की मान्यता है कि किसी (संकेत) चिह्न के साथ नियत सम्बन्ध के द्वारा सम्बद्ध पदार्थ अर्थ माना जाता है। शब्द और उससे बोधगम्य होने वाली वस्तु के बीच लोक-व्यवहार से सम्बन्ध घटित हो जाता है। इस प्रकार शब्द-विशेष के साथ सम्बद्ध पदार्थ उस शब्द का अर्थ माना जाता है। शब्द और उससे वाच्य वस्तु के द्वैत तथा दोनों के बीच घटित एक सम्बन्ध की धारणा के औचित्य पर हम विचार कर चुके हैं। वस्तुबोधक शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में यह मत ठीक हो सकता है, पर शब्द से अपृथक्-भूत अर्थ के स्वरूप का निर्धारण इससे नहीं हो पाता।

(१३) समुत्तेजना-प्रतिक्रिया के रूप में शब्द-अर्थ के स्वरूप का निर्धारण करने वाले मनोवैज्ञानिक विचारकों का एक वर्ग शब्दार्थ के सम्बन्ध में यह धारणा रखता है कि किसी समुत्तेजना से पूर्वानुभूति की स्मृति का उद्बोधक परिणाम अर्थ होता है। लोक जीवन के इन्द्रियानुभव से प्राप्त संस्कार को शब्द-चिह्न या कोई अन्य चिह्न समुत्तेजना के रूप में प्रयुक्त होकर जगाता है। यह स्मृति का उद्बोधक परिणाम ही उस शब्द या चिह्न का अर्थ माना गया है।

इससे मिलती-जुलती दूसरी धारणा यह व्यक्त की गयी है कि कोई भी एक घटना, जिससे अन्य घटना के स्मरणोद्बोधक परिणाम सम्बद्ध होते हैं, अर्थ के रूप में मान्य है। शाब्दबोध-विषयक मध्यस्थता-प्रक्रिया के सिद्धान्त का मूल्यांकन करने के क्रम में हम शब्दार्थ-सम्बन्धी इस प्रकार की मान्यता के औचित्य की परीक्षा कर चुके हैं।

इसी धारणा को लेकर अर्थ को कई रूपों में परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। अर्थ को शब्द-चिह्न का अभिमत पदार्थ कहा गया है तो कहीं कथन से अभिव्यक्त होने वाले पदार्थ को अर्थ का स्वरूप माना गया है। कहीं अर्थ को उस

वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसे शब्द-चिह्न का प्रयोक्ता संकेतित करना चाहता है। इन सभी परिभाषाओं में अर्थ-विषयक मूल दृष्टि एक-सी ही है।

(१४) एक मत के अनुसार शब्द-चिह्न का प्रयोग करने वाले को जिस वस्तु का निर्देश करना चाहिए, वह उस शब्द-चिह्न का अर्थ होता है। इस मत में शब्द से निर्दिष्ट होने योग्य वस्तु को अर्थ माना गया है, जो उचित नहीं। हम देख चुके हैं कि शब्द से निर्दिष्ट वस्तु और शब्द का अर्थ एक हो, यह आवश्यक नहीं। फिर, सभी शब्द वस्तु का निर्देश करें, यह भी आवश्यक नहीं। इसके अतिरिक्त यह परिभाषा पूर्व उल्लिखित इस परिभाषा से, कि "जिसे शब्द-चिह्न का प्रयोक्ता वस्तुतः संकेतित करता है, वह अर्थ है", कुछ भी नया तथ्य प्रस्तुत नहीं कर पाती।

(१५) एक परिभाषा में शब्द-चिह्न के प्रयोक्ता के अभिमत भाव को अर्थ माना गया है। तेरहवें सिद्धान्त में चिह्न के अभिमत पदार्थ को अर्थ का स्वरूप माना गया है। इस परिभाषा में व्यक्त अर्थ-सम्बन्धी विचार उससे मिलता-जुलता ही है।

(१६) पन्द्रहवें मत में शब्द-चिह्न के प्रयोक्ता के उद्दिष्ट भाव को दृष्टि में रखकर अर्थ के स्वरूप को परिभाषित किया गया था। सोलहवें मत में श्रोता के अर्थ-बोध के स्वरूप को दृष्टि में रखकर यह परिभाषा दी गयी है कि शब्द-चिह्न से व्यक्ति जो अर्थ समझता है, वही शब्द या किसी अन्य चिह्न का अर्थ होता है अथवा शब्द-चिह्न से व्यक्ति हृदय में जिस अर्थ का भावन करता है, वह उस शब्द या चिह्न का अर्थ होता है। इसी बात को शब्द-भेद से इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि शब्दचिह्न से व्यक्ति जिस भाव को वक्ता का अभिप्रेत समझता है, वही अर्थ होता है।[1]

श्रोता और वक्ता की दृष्टि से अर्थग्रहण और अर्थ की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया पर अलग-अलग विचार अर्थ के स्वरूप की धारणा में किसी तात्त्विक भेद का सूचक नहीं। तथ्य यह है कि शब्द-व्यवहार में श्रोता और वक्ता अर्थ-बोध के समान धरातल पर पहुँच कर ही विचार के आदान-प्रदान में समर्थ होते हैं। वक्ता के अभिप्रेत भाव के रूप में श्रोता जिस अर्थ को ग्रहण करता है उसे अर्थ का लक्षण कह देने से शब्दार्थ के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं हो जाता। मूल समस्या तो यह है कि जिस अर्थ को श्रोता ग्रहण करता है उसका स्वरूप कैसा होता है—

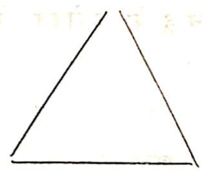
---

1. Ogden and Richards, Meaning of Meaning, pp. 185-208

सामान्य, विशिष्ट, साकार, निराकार, सविकल्पक, निर्विकल्पक या और कुछ ? उक्त परिभाषा में इस मूल समस्या को ही छोड़कर अर्थ की परिभाषा दे दी गयी है, जिसकी अर्थ के स्वरूप-निर्धारण में विशेष उपादेयता नहीं।

ऑग्डेन और रिचर्ड्स ने शब्द, उससे उद्बुद्ध बोध तथा निर्दिष्ट वस्तु के जिस त्रिक की त्रिकोणात्मक स्थिति की कल्पना की है, उसमें यह मान्यता व्यक्त की गयी है कि शब्द से मन में कोई बोध जगता है और उस बोध के स्वरूप से साम्य के कारण बाह्य वस्तु का भी शब्द से निर्देश होता है। शब्द के लिए इस त्रिक-सिद्धान्त में Name (नाम), symbol (प्रतीक) sign (चिह्न), word (शब्द) या sound (ध्वनि) आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। बोध के लिए Sense thought, reference आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। निर्दिष्ट बाह्य वस्तु वह अभाषिक वस्तु-जगत का तत्त्व है, जिसकी ओर शब्द निर्देश करता है। उस निर्दिष्ट बाह्य वस्तु के लिए thing, referent आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार शब्दबोध की जो त्रिकोणात्मक स्थिति प्रस्तुत की गयी है वह निम्न-लिखित है —

बोध या विचार
(Reference or thought)



शब्द (Symbol) निर्दिष्ट वस्तु (Referent)

इस त्रिकोण से अर्थ के सम्बन्ध में यह धारणा व्यक्त की गयी है कि शब्द और बोध के बीच शब्दार्थ की स्थिति रहती है। श्रोता जब शब्द को सुनता है तब उसके मन में एक बोध जगता है। वक्ता के शब्द-प्रयोग की स्थिति इसके विपरीत यह होती है कि पहले उसके मन में कोई बोध उद्बुद्ध होता है और तब वह उसके बोधक शब्द का प्रयोग करता है। शब्द और बोध के बीच इस पारस्परिक और प्रत्यावर्तनीय सम्बन्ध को ही अर्थ माना गया है।[1]

१....the relation between name and sense is reciprocal and reversible. For the speaker, the sense precedes the name........At the hearer's end the sequence is reversed....... It is this receprocal and reversible relationship which we might call the 'meaning' of the word. S. Ullmann, Language & style, P. 18

ध्यातव्य है कि शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु, बोध से स्वरूपगत साम्य के कारण शब्द से बोधगम्य होती तो है, पर उसे शब्द के अर्थ से अभिन्न मानने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, गंगा शब्द किसी की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होकर एक विशिष्ट व्यक्ति की ओर निर्देश कर सकता है, पर वह व्यक्ति गंगा शब्द का अर्थ नहीं। दूसरी बात यह कि एक शब्द अनेक व्यक्तियों का निर्देश कर सकता है और इसके विपरीत अनेक शब्द—परस्पर अर्थगत कुछ भिन्नता रखने पर भी—एक ही वस्तु या व्यक्ति का निर्देश कर सकते हैं। अध्यापक वकील, डाक्टर, छात्र आदि शब्द अनेक व्यक्तियों का निर्देश करते हैं जबकि उनमें से प्रत्येक शब्द का एक नियत अर्थ होता है। इसके विपरीत अनेक पर्यायवाची शब्द तथा वस्तु-निर्देश की विभिन्न उक्तिभंगियाँ एक ही व्यक्ति या वस्तु की ओर निर्देश कर सकती हैं। व्यक्ति का नाम, उसके पद का नाम (विशेषतः जब वह पद एक होने के कारण, एक समय एक ही व्यक्ति का निर्देश करने में समर्थ हो), अमुक व्यक्ति का पुत्र या पुत्री, अमुक व्यक्ति का पिता आदि कथन एक ही व्यक्ति का निर्देश कर सकते हैं, यद्यपि ये उक्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं और उनके अनुरूप उनकी अर्थच्छटा भी भिन्न-भिन्न है। प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति आदि शब्द एक समय के किसी एक नियत व्यक्ति का निर्देश कर सकते हैं, पर वह निर्दिष्ट व्यक्ति उस शब्द का अर्थ नहीं होता। एक शब्द अनेक अर्थों का वाचक भी हो सकता है पर अनेकार्थ-वाचकता और अनेक वस्तुओं की निर्देश-क्षमता में भेद है।

भाषिक अर्थ के स्वरूप-विश्लेषण में, इसीलिए, लोकसिद्ध बाह्य वस्तु के स्वरूप के विचार को अनपेक्षित मान कर शब्द-अर्थ के युग्म की सत्ता का निरूपण ही अपेक्षित माना गया है।[1] शब्दार्थ के स्वरूप-निरूपण में शब्द तथा बोध के युग्म मात्र को विवेच्य मानने के विरुद्ध यह शंका की जा सकती है कि वैसी स्थिति में लोक-सिद्ध वस्तु के बोध के लिए किये जाने वाले शब्द-प्रयोग के रहस्य का स्पष्टीकरण कैसे किया जा सकेगा? यह अनुभव-सिद्ध है कि शब्द-प्रयोग से लोक-व्यवहार चलता है। जब कोई व्यक्ति दूसरे से पानी माँगता है तो केवल पानी शब्द के मानसबोध से व्यवहार नहीं चलता, उस शब्द से निर्दिष्ट लोकसिद्ध वस्तु के लिए ही उस शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस शंका का समाधान कठिन नहीं। वस्तुतः भाषिक अर्थ वस्तुस्वरूप नहीं। बोधरूप में गृहीत होकर ही

१....he (linguist) is not concerned with the non-linguistic world Thus the tripartite relationship is reduced to a binary one between name and sense—Ullmann, Language and style,

वह बाह्य वस्तु का भी बोधक बनता है। इस प्रकार शब्द तथा बोध के युग्म को ही शाब्दबोध का क्षेत्र मानने पर भी शब्द से निर्दिष्ट होने वाली वस्तुएँ बोधरूप में शब्दार्थ की सीमा में आ जाती हैं। ऑग्डेन-रिचर्ड्स ने इस तथ्य को दृष्टि में रख-कर बोध या विचार को शब्द से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध और शब्द को निर्दिष्ट वस्तु से परम्परया सम्बद्ध माना है।

शब्द और बोध के बीच जिस पारस्परिक तथा प्रत्यावर्तनीय सम्बन्ध को अर्थ के रूप में स्वीकार किया गया है उसका स्वरूप मस्तिष्क के एक प्रकार के स्पन्दन के समान होगा। शब्द का एक विशिष्ट मानस-प्रभाव-ग्रहण इस सिद्धान्त के अनुसार शब्दार्थ का स्वरूप होगा।

शब्दार्थ-विषयक इस मान्यता में कई आपत्तियाँ की गयी हैं। ब्लूमफील्ड ने निर्दिष्ट वस्तु तथा शब्दार्थ के भेदक तत्त्व की ओर संकेत करते हुए यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि वस्तु-जगत के विशिष्ट देश-कालगत पदार्थ तथा शब्दार्थ के मूलगत भेद पर ध्यान दिये बिना अर्थवैज्ञानिक अध्ययन पूर्ण और निर्दोष नहीं हो सकता। उनके मतानुसार सेब का प्रत्यक्ष ज्ञान और उसका शाब्दबोध अभिन्न नहीं। एक में आकार-प्रकार, रूप-रंग आदि विशेषाधायक गुणों का बोध होता है, जबकि दूसरे में सामान्य आकार आदि का ही ग्रहण हो पाता है। निर्दिष्ट वस्तु के एक होने पर भी उसकी अवधारणा में परिवर्तन होता रहता है। उदाहरणार्थ, परमाणु अभी भी वही है जो पहले था, पर आज के वैज्ञानिक अनुसन्धानों ने परमाणु की धारणा में बहुत परिवर्तन ला दिया है। स्पष्ट है कि निर्दिष्ट बाह्य वस्तु और उसका बोध भिन्न-भिन्न है। शाब्दबोध का सम्बन्ध वस्तु की अवधारणा से ही होता है।

शाब्दबोध-विषयक ऑग्डेन-रिचर्ड्स के इस त्रिक-सिद्धान्त के विरुद्ध डब्ल्यू हैस (W. Hass) ने यह युक्ति दी है कि शब्द और बोध के बीच द्वन्द्व-विभाग सम्भव नहीं। दोनों के अलग-अलग विभाजित अस्तित्व की कल्पना सम्भवतः शरीर और आत्मा के द्वैत की दार्शनिक धारणा के आधार पर की गयी है। जिस प्रकार आत्मवादी दर्शन में यह माना जाता है कि चेतना की शरीर से स्वतन्त्र सनातन सत्ता है और शरीर में अभिव्यक्त होकर वही चेतना शरीर के बाह्य व्यवहार का नियमन-शासन करती है, उसी प्रकार शब्दार्थ-विषयक इस धारणा में यह माना गया है कि अर्थ किसी भाषिक रूप या चिह्न से स्वतन्त्र सत्ता रखता हुआ उसमें अभिव्यक्ति पाता है। इस मान्यता के अनुसार शब्द और अर्थ के बीच एक प्रकार के मनोदैहिक समान्तरण की तरह की संवादिता से भाषिक चिह्न का निर्माण होता है।

शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में ऑग्ड्न-रिचर्ड्स तथा अन्य मानसवादी मनोविज्ञानियों की इस धारणा के विरुद्ध हैस आदि भाषाविज्ञानियों की उक्त आपत्ति का आधार मनोदैहिक बोध-प्रक्रिया में अर्थ और शब्द पर आत्मा और शरीर की सत्ता-विषयक दार्शनिक धारणा का रूपक है। मानसवाद के विरुद्ध दी गयी इस प्रकार की युक्ति का भाषा-विज्ञान के आदि प्रतिष्ठाता सोस्युर ने खण्डन कर दिया था। सोस्युर का तर्क है कि शब्दार्थ की सभी विश्लेषणात्मक परिभाषाओं के मूल में शब्द-अर्थ के द्वैत की धारणा अवश्य है, पर उसका शरीर और आत्मा के द्वैत की दार्शनिक धारणा से कोई सम्बन्ध नहीं। यह ऐसा द्वैत है जो किसी भी चिह्न या प्रतीक में अन्तर्निहित रहता है—चाहे वह गाड़ियों को संकेत देने वाला प्रकाश-स्तम्भ का चिह्न हो या काव्य में प्रयुक्त प्रतीक हो। सभी चिह्नों में समान रूप से यह बात रहती है कि वे अपने से भिन्न किसी अन्य तथ्य का संकेत देते हैं। चिह्न या प्रतीक के बोध में उनके स्वरूप का बोध तो होता ही है, साथ ही उससे संकेतित किसी अन्य तथ्य का भी—जिसकी सत्ता उस चिह्न या प्रतीक से भिन्न होती है—बोध होता है। सोस्युर की मान्यता है कि भाषिक अर्थ-बोध में शब्द-चिह्न की भी यही स्थिति है। शब्द अर्थ का प्रतीक होने के कारण अपने स्वरूप का भी बोध कराता है और अपने से भिन्न सत्ता वाले अर्थ का भी संकेत देता है। अतः शब्द और अर्थ के द्वैत की कल्पना में कोई अनुपपत्ति नहीं।

यह एक अद्भुत संयोग है कि ऑग्डेन और रिचर्ड्स आदि मानसवादी विचारकों की शब्दार्थ-धारणा की संरक्षा में सोस्युर ने शब्द-प्रतीक से अर्थ-बोध की प्रक्रिया का जो स्वरूप स्पष्ट किया है वह शब्दाध्यासवादी भारतीय वैयाकरणों के शब्दार्थ-स्वरूप-विषयक सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। ध्यातव्य है कि भारतीय विचारकों ने शब्द के लिए चिह्न या प्रतीक शब्द का प्रयोग नहीं किया था, फिर भी उनकी शाब्दबोध-धारणा पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में उनकी मान्यता आधुनिक भाषाविज्ञानियों की शब्द-प्रतीक-विषयक मान्यता से मिलती-जुलती ही थी। शब्दाध्यासवादी विचारकों की दृष्टि में शब्द, अर्थ तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध तत्त्वतः भिन्न-भिन्न सत्ता रखते हैं, पर शाब्दबोध में तीनों की एकात्मतया प्रतीति होती है। शब्द अपने स्वरूप का भी बोध कराते हैं और अपने साक्षात् संकेतित अर्थ का भी। सोस्युर ने शब्द-चिह्न या प्रतीक से उसके स्वरूप के बोध के साथ ही उससे भिन्न संकेतित अर्थ के बोध के सिद्धान्त को स्वीकार कर अनजाने ही भारतीय वैयाकरणों के शब्दाध्यास-वादी मत की पुनः प्रतिष्ठा कर दी है।

शाब्दबोध-विषयक मानसवादी धारणा का खण्डन करने का सर्वाधिक प्रयास

उन मनोवैज्ञानिक विचारकों के द्वारा किया गया है जो शाब्दबोध को मांसपेशीगत प्रतिक्रिया के रूप में ही विश्लेषित करना चाहते हैं और भौतिक शरीर से भिन्न मन की तथा मनोगत विचार, अवधारणा, बिम्ब, अनुभूति, इच्छाशक्ति आदि की सत्ता में विश्वास नहीं करते। उन्हें यह सिद्धान्त मान्य नहीं कि शब्द-प्रयोग के पूर्व वक्ता के मन में कोई विचार या अनुभव उत्पन्न होता है, जिसे व्यक्त करने के लिए वह उसके वाचक शब्द का प्रयोग करता है और उस शब्द को सुनकर श्रोता के मन में कोई विचार, भाव, बिम्ब या और कुछ जगता है।[1] इस प्रकार के किसी भी मनोगत तत्त्व को आत्मनिष्ठ मानकर ये विचारक उसे वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए अनुपादेय समझते हैं। हैस ने आत्मनिष्ठ मनोभाव के अध्ययन की सीमा के सम्बन्ध में यह मान्यता व्यक्त की है कि प्रत्येक व्यक्ति का मनोगत भाव अलग-अलग होता है और इसलिए व्यक्ति के मन के तत्त्व के अध्ययन को आधार बनाकर प्रयोगात्मक विज्ञान अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। इस प्रकार के अध्ययन में हर व्यक्ति अपने ही मन के भाव को देख-परख सकता है। दूसरे के मनोभाव के अध्ययन-परीक्षण का कोई उपाय नहीं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने मनोभाव के अध्ययन-परीक्षण को वैज्ञानिक निरूपण नहीं माना जा सकेगा।

हम देख चुके हैं कि शब्दार्थ-विषयक मानसवादी धारणा पर सबसे कठोर प्रहार 'अर्थ-परिमापन' के सिद्धान्त के प्रतिष्ठाता सी० ई० ओसगुड ने किया था। उनकी दृष्टि में अर्थ की विश्लेषणात्मक परिभाषा अर्थ के परिमापन में सहायक नहीं। अतः उससे अर्थ के नियत स्वरूप का निर्धारण नहीं हो पाता। मानसवाद के विरुद्ध उनकी युक्तियों पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। मानसवाद के खण्डन के लिए अनेक युक्तियाँ देकर ओसगुड ने जिस 'अर्थ परिमाप' के सिद्धान्त की स्थापना की है उसके औचित्य पर हम आगे विचार करेंगे।

स्टेफेन उलमान (Stephen ullmann) ने अर्थ-विषयक विश्लेषणात्मक सिद्धान्त की दो और त्रुटियों का उल्लेख किया है। उनकी दृष्टि में विश्लेषणात्मक अर्थ-परिभाषा की एक त्रुटि तो यह है कि वह केवल ऐसे ही शब्दों के अर्थ के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर सकती है जिसमें एक शब्द के एक ही अर्थ के बोध की आदर्श स्थिति हो। संश्लिष्ट संरचना वाले अनेकार्थ-बोधक तथा पर्यायवाची शब्दों के अर्थ के स्वरूप-निर्धारण में इस परिभाषा की विशेष उपादेयता नहीं। उलमान की मान्यता है कि अर्थ-विज्ञानियों को शब्द के सरल अर्थ तथा उसके संश्लिष्ट जटिल अर्थ का भेद दृष्टि में रखकर ही शब्दार्थ का स्वरूप-निरूपण करना चाहिए।

---

१. ब्लूमफील्ड, लैंग्वेज, पृ० १४२

अर्थ या संश्लिष्ट संरचना वाले शब्द से उलमान का तात्पर्य एक अर्थ के बोध के लिए प्रयुक्त होने वाले अनेक पर्यायवाची शब्दों तथा अनेक अर्थों के बोध के लिए प्रयुक्त होने वाले एक अनेकार्थक शब्द का है। अर्थविज्ञानी शब्द के अर्थ का निरूपण करने के लिए अनेकार्थवाची एक शब्द तथा समान संरचना वाले अनेक शब्दों का—बह्वर्थक तथा श्रुतिसमभिन्नार्थक शब्दों का—पारस्परिक भेद स्पष्ट कर लेता है। इस प्रकार के शब्दार्थ के अध्ययन में शब्द-अर्थ की विश्लेषणात्मक दृष्टि सहायक नहीं हो सकती।[1]

विश्लेषणात्मक अर्थ-परिभाषा की दूसरी त्रुटि, उलमान की दृष्टि में, यह है कि इसमें किसी शब्द की अन्य शब्दों से निरपेक्ष सत्ता मान कर उसके अर्थ के निर्धारण का प्रयास किया जाता है, जो उचित नहीं। उनकी मान्यता है कि शब्द-भाण्डार में शब्द परस्पर-निरपेक्ष रूप में नहीं रहा करते। अनेक शब्द पारस्परिक अन्तः-सम्बन्ध के कारण एक शब्द-क्षेत्र में आते हैं। अतः किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण करने के लिए केवल उस शब्द और उससे सम्बद्ध बोध का ही सम्बन्ध-निरूपण करना पर्याप्त नहीं, उस शब्द के अपने शब्द-क्षेत्र के अन्य शब्दों के साथ सम्बन्ध का विवेचन करना भी आवश्यक होता है। प्रत्येक शब्द का अपना-अपना क्षेत्र होता है, जिस क्षेत्र के सभी शब्द एक-दूसरे के साथ विशिष्ट सम्बन्ध से जुड़े रहते हैं। इस प्रकार समग्र शब्द-भाण्डार शब्द और शब्द तथा बोध और बोध के बीच रहने वाले सम्बन्धों से संग्रथित रहता है। उलमान की दृष्टि में अर्थ की विश्लेषणात्मक परिभाषा एक शब्द के अन्य शब्दों के साथ सम्बन्ध का तथा एक बोध के अन्य बोध के साथ सम्बन्ध का स्पष्टीकरण नही कर पाती।[2] वह एक शब्द से सम्बद्ध एक बोध के स्वरूप का निर्धारण करना चाहती है, जो अर्थवैज्ञानिक दृष्टि से अपूर्ण प्रयास है।

उलमान ने शब्दार्थ की विश्लेषणात्मक परिभाषा के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष दिया है कि उक्त दो संशोधनों के साथ यह परिभाषा विवरणात्मक तथा विकासात्मक अर्थविज्ञान की व्यापक प्रणाली के आधार के रूप में उपादेय सिद्ध हो सकती है।[3]

उलमान ने विश्लेषणात्मक अर्थ-परिभाषा में दो संशोधनों का जो सुझाव दिया है उसका औचित्य विचारणीय है। उक्त परिभाषा में उलमान की एक आपत्ति यह है कि एक शब्द और एक बोध के सम्बन्ध का ही यह परिभाषा स्पष्टीकरण कर

---

१. Stephen ullmann, Language and style,
२. वही।
३. वही।

पाती है। अनेकार्थक शब्द में एक शब्द के अनेक अर्थों के साथ सम्बन्ध का निरूपण, समान श्रुति वाले शब्दों के अलग-अलग अर्थों के साथ सम्बन्ध का विवेचन तथा एक बोध के लिए प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्दों के उस एक अर्थ के साथ सम्बन्ध का निर्धारण करने में विश्लेषणात्मक परिभाषा असमर्थ है। शब्द-विशेष का अर्थ-विशेष के साथ सम्बन्ध-निरूपण करने के क्रम में भारतीय विचारकों ने इस प्रकार की शंका की सम्भावना कर उसका समाधान इस युक्ति से किया है कि अनेकार्थक शब्द वस्तुतः एक होते नहीं, उनके एक होने की अतात्त्विक प्रतीति ही होती है। एक दीख पड़ने वाले शब्द के जितने अर्थ होते हैं, उतने ही प्रकार उस शब्द के होते हैं। एक होने की भ्रान्ति इसलिए होती है कि उन शब्दों में समान उच्चारण-स्थान, प्रयत्न आदि से उच्चरित ध्वनियों की एक-सी व्यवस्था रहती है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में पानी का बोधक 'जीवन' शब्द प्राण के बोधक 'जीवन' शब्द से तत्त्वतः भिन्न है, भले ही ध्वनि-साम्य के कारण उन शब्दों के एक होने की प्रतीति होती हो। श्रुतिसमभिन्नार्थक शब्द तो अर्थ और शब्द-संरचना; दोनों ही दृष्टियों से परस्पर भिन्न होते हैं। अतः अर्थवैज्ञानिक अध्ययन में ऐसे शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं। पर्यायवाची अनेक शब्दों की स्वरूपगत भिन्नता के कारण समान बोध के साथ प्रत्येक के सम्बन्ध-निरूपण में भी कोई कठिनाई नहीं।

दूसरा सुझाव, उलमान ने, शब्द-क्षेत्र के परस्पर सम्बद्ध सभी शब्द-रूपों के पारस्परिक सम्बन्ध को दृष्टि में रख कर किसी एक शब्द के अर्थ-निर्धारण का दिया है। इस प्रक्रिया से संश्लेषणात्मक अर्थ-बोध के सिद्धान्त की सीमाओं पर हम पहले भी विचार कर चुके हैं।

अर्थ की व्यवहारात्मक परिभाषाएँ—शब्दार्थ के स्वरूप को भाषिक व्यवहार में शब्द की क्रियाशीलता, अन्य शब्दों के साथ उसके सम्बन्ध तथा उसके विशिष्ट प्रयोग के आधार पर निर्धारित करने वाले विचारकों ने शब्दार्थ के व्यवहारात्मक लक्षण दिये हैं। ब्रिजमैन (Bridgman) ने लॉजिक ऑफ माडर्न फिजिक्स में यह मान्यता व्यक्त की है कि सामान्यतः कोई भी अवधारणा व्यवहार-समूह से भिन्न नहीं होती। कहा जा सकता है कि अवधारणा अपने संवादी व्यवहार-समूह का पर्याय होती है। यदि कोई अवधारणा भौतिक हो तो उसका व्यवहार भी भौतिक ही होगा और इसी प्रकार यदि अवधारणा मानसिक हो तो उसका व्यवहार भी मानसिक ही होगा। उदाहरणार्थ, लम्बाई आदि की भौतिक अवधारणा का व्यवहार उस लम्बाई को नापने वाला वास्तविक भौतिक व्यवहार ही होता है, जबकि गणितीय सम्बन्ध-सूत्र आदि की मानसिक अवधारणा का व्यवहार भी

मानसिक ही होता है, जिससे हम यह निर्णय करते हैं कि मान का कोई योग अबाधित या सूत्रबद्ध है या नहीं।[1] अवधारणा के सम्बन्ध में अपनी इस मान्यता के अनुरूप ब्रिजमैन ने शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि किसी शब्द का सच्चा अर्थ इस बात में पाया जा सकता है कि मनुष्य उससे क्या करता है, इस बात में नहीं कि वह उसके विषय में क्या कहता है।[2]

विट्गिंस्टाइन ने इससे भी आगे बढ़कर शब्दार्थ के सम्बन्ध में यह धारणा व्यक्त की है कि किसी शब्द का अर्थ न केवल उसके प्रयोग से निर्धारित होता है, बल्कि उस शब्द का भाषा में प्रयोग ही उसका अर्थ होता है।[3] हम शब्दार्थविषयक इस मान्यता के औचित्य की परीक्षा कर चुके हैं। विट्गिंस्टाइन को स्वयं अपनी इस मान्यता में कुछ सन्देह था और वे यह मानते थे कि शब्दार्थ में शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त भी कुछ तत्त्व रहता है, पर उनकी दृष्टि में वह शब्द-प्रयोगातिरिक्त तत्त्व अव्याख्येय होता है। इसीलिए वे अव्याख्येय अर्थ-तत्त्व को छोड़ केवल शब्द-प्रयोग को ही शब्दार्थ का स्वरूप मान कर सन्तुष्ट थे।

उलमान ने अर्थ की व्यवहारात्मक परिभाषा की संरक्षा में यह युक्ति दी है कि यदि शब्दार्थ को शब्द-प्रयोग से अभिन्न न भी माना जाय, तो भी अर्थ का व्यवहारवादी सिद्धान्त खण्डित नहीं हो जाता।[4] उलमान ने अर्थ की विश्लेषणात्मक तथा व्यवहारात्मक परिभाषाओं के प्रति समन्वयात्मक दृष्टि अपना कर यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि उनमें अर्थ के स्वरूप-विश्लेषण की अलग-अलग दृष्टियों के होने पर भी अर्थ-विषयक धारणा में तात्त्विक विरोध नहीं है, अपितु वे दोनों परिभाषाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। दोनों में से कोई भी एक अर्थ-दृष्टि अपने-आप में पूर्ण नहीं। दोनों को मिलाकर जो शब्दार्थ-सम्बन्धी धारणा बनती है, उसे ही पूर्ण माना जा सकता है।[5] उनकी युक्ति है कि कोशकार किसी शब्द के नियत कोशार्थ का निर्धारण करने के लिए पहले भाषा में उस शब्द के विभिन्न

---

१. Bridgeman, the Logic of Modern Physics,

२. The true meaning of a term is to be found by observing what a man does with it, not by what he says about it.—वही Page-7

३. Ludwig wittginstein, Philosophical Investigations,

४. But even if one hesitates to equate 'meaning' with 'use', this will not affect the substance of the operational doctrine,—ullmann, Language and style, Page—24,

५, वही पृ० 24,

प्रयोगों को परखता है। विभिन्न सन्दर्भों में अलग-अलग छटा के साथ प्रयुक्त उस शब्द में निहित उच्चतम सामान्य तत्त्व का सार निकालकर वह उसे उस शब्द का अर्थ मानता है। इस प्रकार विभिन्न सन्दर्भों में शब्द के प्रयोग का अध्ययन करने में वह व्यवहारात्मक विधि का तथा सार-रूप में एक स्थिर अर्थ के निर्धारण में विश्लेषणात्मक विधि का सहारा लेता है।[1]

रसेल ने शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के इसी तथ्य की ओर निर्देश करते हुए अपनी पुस्तक 'लॉजिक एण्ड नॉलेज' में लिखा है कि "किसी शब्द में उसका अर्थ कुछ अस्पष्ट रूप में रहा करता है, और उस शब्द के प्रयोग को देखकर ही उसके अर्थ को स्पष्ट किया जा सकता है। शब्द का प्रयोग पहले आता है और उस प्रयोग से अर्थ निचोड़ा जाता है।"[2]

उलमान ने इस मान्यता का समर्थन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि किसी शब्द के पूर्ण तात्पर्य को उस सन्दर्भ के प्रकाश में ही समझा जा सकता है, जिसमें वह शब्द प्रयुक्त होता है। जिस परिस्थिति में शब्द उच्चरित होता है उसके अनुरूप ही उस शब्द का तात्पर्य समझा जा सकता है और अन्ततः उस सम्पूर्ण संस्कृति के ढाँचे के भीतर उसके अर्थ को समझा जा सकता है, जिस संस्कृति का वह शब्द अंग होता है। उलमान की मान्यता है कि प्रत्यक्षवादी विचारकों को शाब्दबोध का प्रकरण-सम्बन्धी सिद्धान्त ही उपयुक्त जँचता है और चूँकि अधिकांश भाषाविज्ञानी प्रत्यक्षवाद में विश्वास करने वाले होते हैं, अतः उन्हें सन्दर्भगत अर्थ-बोध का सिद्धान्त ही मनोनुकूल जान पड़ता है।[3]

इस मान्यता का औचित्य विचारणीय है। बाल्यकाल में भाषा सीखने की प्रक्रिया पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कुछ शब्दों के अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर तथा बड़े लोगों से सुनकर—भारतीय पारिभाषिक शब्द का प्रयोग करें, तो वृद्ध-व्यवहार या आप्तोपदेश के आधार पर—अर्जित किया जाता है। लोक-सिद्ध मूर्त पदार्थों के बोधक शब्द के अर्थ का स्वरूप प्रायः स्थिर और सन्दर्भ-निरपेक्ष होता है। उदाहरणार्थ, बैल या गदहा शब्द का एक विशिष्ट

---

१. Ullmann, Language and Style, P. 15

२. A word has a meaning, more or less vague; but the meaning is only to be discovered by observing its use; the use comes first, and the meaning is destilled out of it.—B. Russell, Logic and knowledge

३. Stephen ullmann, Language And style, p. 24.

प्राणीरूप नियत अर्थ है। विशेष सन्दर्भ में मनुष्य के लिए भी उस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है, पर इस सन्दर्भगत अर्थ का उस शब्द के अर्थ-निर्धारण में कोई उपयोग नहीं होता। उस शब्द का मुख्य अर्थ वस्तुतः एक विशिष्ट चतुष्पद जन्तु ही होता है। लोक व्यवहार में जब कोई व्यक्ति एक वस्तु को दिखाकर उसका वाचक शब्द बच्चे को सिखाता है, तो बच्चा विश्लेषणात्मक विधि से ही उस शब्द का अर्थ सीखता है। वह शब्द और उससे उद्बुद्ध बोध के भेद से परिचित रहता है। लोगों के भाषिक व्यवहार में विभिन्न वाक्यों में आये हुए एक शब्द के अर्थ का आवाप-उद्वाप के द्वारा जो अर्थ-निर्धारण कर लिया जाता है, उसमें भी मूर्त वस्तु के बोधक शब्द का अर्थ विश्लेषणात्मक विधि से ही निर्णीत होता है। इसके विपरीत कुछ शब्दों की अर्थवत्ता प्रयोग-सापेक्ष ही होती है। विश्लेषणात्मक विधि से शब्द तथा बोध की पृथक्-पृथक् सत्ता का निर्धारण वहाँ सम्भव नहीं। वैसे शब्दों के अर्थ अपृथक्-सिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, बच्चे को 'या' 'तो' 'भी' 'परन्तु' आदि शब्दों का अर्थ बताने की आवश्यकता नहीं होती। इन शब्दों के विविध प्रसंगों में प्रयोग से ही वह इनके अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और नये सन्दर्भों में इनके प्रयोग की क्षमता भी अर्जित कर लेता है। स्पष्टतः ऐसे शब्दों के अर्थ का स्वरूप-निर्धारण व्यवहारात्मक विधि से ही होता है, विश्लेषात्मक विधि से नहीं। हमारी मान्यता है कि प्रत्येक शब्द के कोशार्थ-निर्धारण में सन्दर्भगत तथा विश्लेषणात्मक अर्थ के अध्ययन की कल्पना करना उचित नहीं। लोकसिद्ध मूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थ का स्वरूप-निरूपण करने में विश्लेषणात्मक अर्थ-परिभाषाएँ उपादेय हैं तो शब्द से अपृथक्-सिद्ध अर्थ के स्वरूप के स्पष्टीकरण में व्यवहारात्मक परिभाषाएँ उपयोगी हैं। दोनों में से कोई भी एक अर्थ-परिभाषा समग्र शब्दार्थ के स्वरूप की व्याख्या नहीं कर पाती, पर आंशिक तथ्य दोनों में है।

शब्दार्थ का व्यवहारात्मक स्वरूप मानने वाला सिद्धान्त शब्द को यन्त्र की तरह मानता है। विट्गिंस्टाइन का कथन है कि भाषा एक यन्त्र है, उसकी अवधारणाएँ यन्त्र हैं।[1] जिस प्रकार यन्त्र के प्रयोग में बारंबारता और अनेकरूपता के बीच एक साक्षात् सम्बन्ध रहता है, उसी प्रकार शब्द-प्रयोग की बारंबारता तथा उसके अर्थों की अनेकरूपता के बीच इस सिद्धान्त के अनुयायी साक्षात् सम्बन्ध पाते

---

1. Language is an instrument. Its concepts are instruments···· statistical investigations have revealed that in some ways our words behave exactly like tools.—wittginstein, Philosophical Investigations.

हैं।[1] उन्होंने कुछ आँकड़ों के आधार पर किये गये अनुसन्धानों से इस मान्यता की पुष्टि करने का प्रयास किया है।

हम देख चुके हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयभूत लोक-सिद्ध मूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों के सम्बन्ध में इस प्रकार की मान्यता दुराग्रहपूर्ण ही मानी जायगी। 'गाय' शब्द का जितनी बार प्रयोग होगा, उतने उसके अलग-अलग अर्थ होंगे, यह मानना युक्तिसंगत नहीं। यदि इस दार्शनिक पूर्वग्रह को, कि एक ही गाय व्यक्ति के लिए जब दो बार गाय शब्द का प्रयोग किया जाता है तो दो समय देश-काल के भेद से उसके दो अलग-अलग रूप रहते हैं, छोड़कर उन विभिन्न रूपों में निहित एक सामान्य को शाब्दबोध का विषय मानें तो शब्द की बारंबारता और अर्थ की विविधता के बीच साक्षात् सम्बन्ध की कल्पना उस शब्द के अर्थ-बोध के सन्दर्भ में, निर्मूल सिद्ध हो जायगी। व्यक्ति को शाब्दबोध का विषय तो माना भी नहीं जाता।

आधुनिक भाषाविज्ञान में किसी शब्द के अर्थ के स्वरूप-निर्धारण के लिए प्रतिस्थापन (Substitution) की विधि अपनायी जाती है। एक शब्द यदि अनेक सन्दर्भों या अनेक वाक्यों में प्रयुक्त है, तो उन वाक्यों में उस शब्द के अर्थ की विभिन्नता-अभिन्नता की परीक्षा के लिए प्रतिस्थापन-विधि से यह देखा जाता है कि उस शब्द के स्थान पर कोई दूसरा एक शब्द रखा जा सकता है या नहीं। यदि अनेक वाक्यों में प्रयुक्त एक शब्द को किसी दूसरे एक ही शब्द से स्थानापन्न किया जा सके तो उसका अर्थ एक माना जायगा, अन्यथा अनेक। उदाहरणार्थ, 'होता है' क्रिया के विविध प्रयोगों पर विचार करें। गुड़ मीठा होता है तथा दो और दो का योग चार होता है; इन वाक्यों में से द्वितीय वाक्य में 'होता है' की जगह एक दूसरे चिह्न का प्रयोग किया जा सकता है। २+२=४ इस रूप में यदि उस कथन को प्रस्तुत किया जाय तो बराबर (=) का चिह्न 'होता है' क्रियापद का प्रतिनिधि या स्थानापन्न होगा, पर पहले वाक्य में उस क्रिया के स्थान पर बराबर के चिह्न का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त दो वाक्यों में एक ही क्रियापद भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। शब्दार्थ का व्यवहारात्मक सिद्धान्त इस प्रतिस्थापन (substitution) विधि के अनुकूल पड़ता है। अतः आज के

---

१. Just as there is a direct relationship between the frequency and the diversity of a tool's usage, there seems to be a direct relationship between the frequency of a word and the diversity of its meanings.—Philosophical Invesgation

अधिकांश भाषाविज्ञानी शब्दार्थ के व्यवहारात्मक सिद्धान्त को ही मानते हैं।

उलमान की यह मान्यता सही है कि शब्दार्थ के सम्बन्ध में व्यवहारात्मक धारणा की अनिवार्य परिणति उस संरचनामूलक दृष्टि में होती है जो भाषा को परस्पर सापेक्ष तत्त्वों से निर्मित एक सुग्रथित समष्टि के रूप में देखती है।[1] भाषा के संरचनात्मक अध्ययन-विश्लेषण में शब्दार्थ-विषयक व्यवहारात्मक सिद्धान्त विश्लेषणात्मक सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक अनुकूल पड़ता है।

शब्दार्थ के व्यवहारवादी मत की कई त्रुटियों की ओर समीक्षकों ने निर्देश किया है। **जिफ** की मान्यता है कि किसी शब्द का व्यवहार अनेक ऐसे तत्त्वों पर निर्भर रहता है, जिनमें से कुछ का उसके अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, जब व्यक्ति किसी क्रियापद या अन्य किसी शब्द का प्रयोग करना सीखता है तो वह यह भी अवश्य सीखता है कि उसके साथ किस कारक आदि के चिह्न का प्रयोग किया जाना चाहिए। शब्द के साथ लगने वाली कारक, लिङ्ग, वचन आदि की विभक्ति का उसके अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, जबकि उसके प्रयोग के लिए वे चिह्न अपरिहार्य हैं। भारतीय वैयाकरणों ने भी प्रातिपदिक तथा धातु की अर्थवत्ता स्वीकार की है, जबकि अव्युत्पन्न प्रातिपदिक और धातु का भाषा में प्रयोग सम्भव नहीं माना जाता। स्पष्ट है कि शब्दार्थ का शब्द के प्रयोग से नियत सम्बन्ध नहीं।

शब्दव्यवहारवाद में दूसरी आपत्ति यह की गयी है कि शब्द के सभी प्रयोग उसके अर्थ के निर्धारण में निर्भ्रान्त रूप से मार्ग-दर्शक नहीं बन सकते। किसी शब्द के अर्थ-निरूपण में उसकी यथार्थ व्याप्ति की परीक्षा आवश्यक होती है, उसकी आशयगत व्याप्ति की परीक्षा नहीं। **जिफ** ने एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया है। यदि **कप** शब्द के अर्थ-निर्धारण के प्रयास में कोई भूल से उस शब्द में पॉट तथा **डिब्बे** के अर्थ-बोध की भी व्याप्ति समझ ले, तो वह उस शब्द की सही बोधक्षमता को नहीं समझ पायगा। शब्द का भाषा-व्यवहार में दुरुपयोग भी हुआ करता है। अतः जब तक शब्द के दुरुपयोग को तथा उसके विचलित प्रयोग को नहीं समझा जाय तब तक केवल उसके प्रयोगों के आधार पर उसका अर्थ-निर्धारण नहीं किया जा सकता।[2]

उपलक्षण के रूप में शब्द के किये जाने वाले प्रयोगों तथा उसके लाक्षणिक या आलंकारिक प्रयोगों पर विचार करने से अर्थ के व्यवहारात्मक लक्षण की उक्त

---

१. Ullmann, Language and style, p. 26.

२. One cannot find out what a word means by examining its actual usage unless one can recognize misuses and deviant uses."

समीक्षा का औचित्य स्पष्ट हो जाता है। एक शब्द जब उपलक्षण के रूप में अनेक शब्दों के वाच्य-अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है, तो उस प्रयोग के आधार पर सभी अर्थों को उस शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। चाय शब्द एक विशेष वस्तु का बोधक है, पर पाश्चात्य देशों में तथा वहाँ की संस्कृति से प्रभावित प्राच्य देशों के परिवेश में भी, चाय या tea शब्द का प्रयोग एक विशेष समय में चाय के साथ खायी जाने वाली अनेक अन्य वस्तुओं—बिस्कुट, टोस्ट, मक्खन, फल आदि—के लिए भी उपलक्षण के रूप में होता है। उस चाय शब्द में उसके वाच्य-अर्थ के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी गतार्थ होते हैं, पर उन्हें चाय शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। लाक्षणिक प्रयोग में मनुष्य को बैल, साँप, गदहा आदि कहा जा सकता है, पर इस प्रकार के प्रयोग से मनुष्य उन शब्दों का अर्थ नहीं बन जाता। अतिशयोक्ति आदि अलंकार की उक्ति में मुख के लिए चन्द्रमा, आँख के लिए नील-कमल आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, पर मुख को चन्द्रमा शब्द का तथा आँख को नीलकमल शब्द का वाच्य-अर्थ नहीं माना जाता। इसी प्रकार प्रतीक-योजना में किसी विवक्षित वस्तु के बोध के लिए अन्य वस्तु का शब्दतः कथन होता है। वह कथित शब्द अपने वाच्य का बोध कराता हुआ अन्य वस्तु का भी बोध कराता है, पर उस अन्य वस्तु को उस शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि शब्द का प्रयोग सार्वत्रिक रूप से उसके अर्थ का निर्णायक नहीं होता।

शब्द को यन्त्र की तरह या शतरंज के मोहरे की तरह कल्पित कर उसके प्रयोग में उसकी अर्थवत्ता मानने वाले विट्गिंस्टाइन के मत की समीक्षा करते हुए कोहेन (L. J. Cohen) ने ठीक ही कहा है कि यन्त्र के प्रयोक्ता की तरह शब्द का प्रयोक्ता उसके प्रयोग में स्वतन्त्र नहीं रहता।[1] वस्तुतः शब्द का कुछ निर्धारित अर्थ होता है और उसका प्रयोग एक निश्चित सीमा में ही किया जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि शब्द-प्रयोग को अर्थ का नियामक मानना एकांगी दृष्टि-कोण है; शब्द का स्वीकृत अर्थ भी उसके प्रयोग का नियमन करता है।

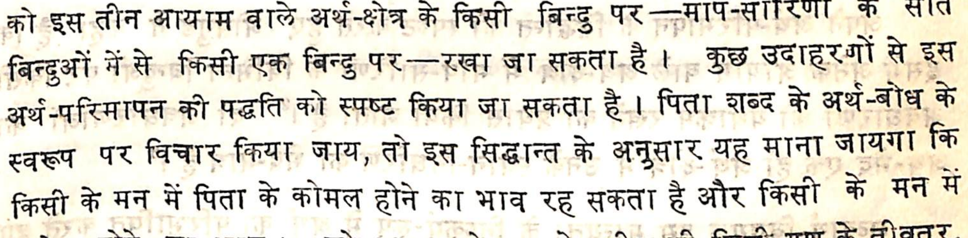
अर्थ-परिमापन का सिद्धान्त :—मनोभाषिकी के क्षेत्र में मोजियर, ओसगुड आदि के द्वारा प्रतिपादित तथा आधुनिक भाषाविज्ञान में बहुचर्चित अर्थपरिमापन के सिद्धान्त का मूल्यांकन अपेक्षित है। मोजियर की अर्थ-परिमापन-विधि की समीक्षा हम कर चुके हैं। ओसगुड ने अर्थ के कुछ नये आयामों को दृष्टि में रख कर अर्थ-परिमापन के लिए कुछ परीक्षण किये। उन्होंने सात कोटियों की माप-सारिणी (scale) पर शाब्दबोध के स्वरूप का परीक्षण कर यह निष्कर्ष निकाला कि

---

2. L. J. Cohen, The Diversity of meaning P. 7-8

किसी शब्द को सुन कर जो बोध जगता है, उसका कोई एक नियत स्वरूप नहीं होता; उस बोध में तारतम्य रहा करता है, जिसे अलग-अलग सात कोटियों में विभाजित किया जा सकता है। शब्दबोध की सात कोटियाँ दिखाने के लिए ओसगुड ने ध्रुवीय शब्दों को चुना है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में सुन्दर तथा कुरूप; बोध की सात कोटियाँ होंगी :—(१) अत्यन्त सुन्दर, (२) बहुत सुन्दर, (३) थोड़ा सुन्दर, (४) न सुन्दर न कुरूप, (५) थोड़ा कुरूप, (६) बहुत कुरूप, (७) अत्यन्त कुरूप। ओसगुड की मान्यता है कि किसी वस्तु के बोधक शब्द से जो बोध उत्पन्न होता है उसे उक्त सात माप-सारिणी के विभिन्न बिन्दुओं पर बाँटने के अलावा तीन मोटे भागों में भी विभाजित किया जा सकता है। वे विभाग हैं—मूल्यांकन (evaluation), समर्थता (Potency) तथा क्रियाशीलता (activity)। जब हमें किसी वस्तु का बोध होता है, तो उसके अच्छे या बुरे आदि होने के मूल्य का, कोमल-कठोर आदि होने की अन्तःक्षमता का तथा सक्रिय या निष्क्रिय आदि होने की क्रियाशीलता का बोध भी अन्तर्निहित रहता है। इस प्रकार ओसगुड ने अर्थ-क्षेत्र के तीन आयाम स्वीकार किये और यह माना कि किसी भी अवधारणा को इस तीन आयाम वाले अर्थ-क्षेत्र के किसी बिन्दु पर—माप-सारिणी के सात बिन्दुओं में से किसी एक बिन्दु पर—रखा जा सकता है। कुछ उदाहरणों से इस अर्थ-परिमापन की पद्धति को स्पष्ट किया जा सकता है। पिता शब्द के अर्थ-बोध के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना जायगा कि किसी के मन में पिता के कोमल होने का भाव रह सकता है और किसी के मन में कठोर होने का भाव। कोमलता-कठोरता के बीच भी किसी गुण के तीव्रतर, तीव्रतम आदि होने का भाव रह सकता है। इसी प्रकार अच्छे-बुरे तथा सक्रिय-निष्क्रिय आदि होने का भाव भी अलग-अलग व्यक्तियों के मन में अलग-अलग रूप में रहा करता है। अतः पिता शब्द के अर्थ-बोध को तीन आयाम वाले अर्थक्षेत्र की सप्तबिन्दु माप-सारिणी में इस प्रकार रखा जा सकता है—

पिता



इसी प्रकार महिला शब्द के अर्थ-बोध में उसके मूल्य-निर्धारण के साथ उसकी क्षमता तथा क्रियाशीलता के आयाम देखे जा सकते हैं और उस अर्थ-क्षेत्र के सात

बिन्दुओं में से किसी एक पर उसकी अवधारणा को निर्दिष्ट किया जा सकता है....

महिला

रुक्ष	१	२	३	४	५	६	७	मृदु
सुन्दर								असुन्दर
सक्रिय								निष्क्रिय

इस प्रकार ओसगुड आदि विचारकों के मतानुसार किसी भी शब्द के अर्थ में (किसी अवधारणा को विशिष्ट माप-सारिणी में दो ध्रुवीय अवधारणाओं के युग्म रूप में परखने में) एक ध्रुवीय अवधारणा से उसके विपरीत दूसरी अवधारणा तक निम्नाङ्कित सात स्थितियाँ आती हैं :—

ध्रुवीय पद अ १ २ ३ ४ ५ ६ ७

—+—+—+—+—+—+—ध्रुवीय पद ब

(१) अत्यन्त अ, (२) बहुत अ, (३) थोड़ा अ, (४) न अ न ब या समान रूपेण अ और ब, (५) थोड़ा ब, (६) बहुत ब और (७) अत्यन्त ब ।[1]

अपने अर्थ-परिमापन के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए ओसगुड ने कहा है कि इसमें अनेक आयाम वाले अर्थ-क्षेत्र में माप-सारिणी के विभिन्न बिन्दुओं पर किसी अवधारणा को यथाक्रम रखने का प्रयास किया जाता है ।[2] दो अवधारणाओं का अर्थ-भेद एक ही अर्थ-क्षेत्र में उनके स्थान-निर्धारण का भेद-मात्र है ।[3]

शब्दार्थ-विषयक इस मान्यता के निष्कर्ष-रूप में अर्थ को परिभाषित करते हुए ओसगुड ने कहा है कि सीखने के सिद्धान्त के अनुसार किसी चिह्न या शब्द का किसी विशिष्ट सन्दर्भ में किसी विशिष्ट व्यक्ति के लिए अर्थ है वह प्रातिनिधिक मध्यस्थता प्रक्रिया, जिसे वह शब्द या चिह्न उद्‌बुद्ध करता है ; इस अर्थ-परिमापन विधि के अनुसार शब्द या चिह्न का अर्थ है समान अर्थ-क्षेत्र का वह बिन्दु जिसे विभेदक प्रज्ञा अनुक्रम से निर्दिष्ट करती है ।[4]

---

१. Osgood, Suci and Tannenbaun, the Logic of semantic Deffe-rentiation. Psycholinguistics (Edited—'Sol Sapota) P.299

२. वही, पृ० 297

३. वही, पृ० 297

४. we now have two definitions of meaning. In learning theory terms, the meaning of a sign in a particular context and to a Particular person has been defined as the representational mediation process which it elicits; in terms of our

अर्थ-क्षेत्र के बिन्दु के दो आवश्यक धर्म माने गये हैं :—मूल से उसकी विशिष्ट दिशा तथा उससे उसकी दूरी। इनमें से पहले को अर्थ के गुण से तथा दूसरे को उसकी सघनता से अभिन्न माना जा सकता है।

इस प्रकार अर्थ-परिमापन का सिद्धान्त शब्द के किसी स्थिर अर्थ का स्वरूप निर्धारित नहीं कर अर्थ-क्षेत्र के भीतर यथानुक्रम निर्दिष्ट किसी बिन्दु का निर्धारण करता है।

अर्थ-परिमापन के इस सिद्धान्त की परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें शब्द के वास्तविक अर्थ के स्वरूप का निर्धारण नहीं कर अर्थ के उन उपादानों का अन्वेषण करने का प्रयास किया गया है, जिन्हें शब्द का भावात्मक अर्थ अथवा प्रभाव-रूप अर्थ कहा जा सकता है। अतः इसे अर्थ का परिमापन नहीं मान कर अर्थ के प्रभाव का परिमापन कहना अधिक युक्तिसंगत होगा। उदाहरणार्थ, पिता शब्द का एक नियत अर्थ तो माना ही जाना चाहिए। उसका एक सर्वमान्य अर्थ है—जन्म देने वाला पुरुष। अब, पिता के सम्बन्ध में अलग-अलग व्यक्तियों के मन में अलग-अलग भावनाएँ रह सकती हैं, जिनका बोध कभी-कभी पिता शब्द के प्रयोग के समय जाग्रत हो सकता है। कोई पिता के स्नेहपूर्ण व्यक्तित्व से अभिभूत हो, तो पिता शब्द के प्रयोग से उसका वह अन्तर्निहित प्रभाव भी जग सकता है। इसके विपरीत कोई पिता के कर्कश स्वभाव और कठोर व्यवहार से आतंकित हो, तो उसका वह प्रभाव भी जग सकता है, पर ऐसे प्रभाव को शब्द का मुख्य अर्थ नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह कि पिता के साथ संलग्न भाव का सार्वत्रिक रूप से जाग्रत होना आवश्यक नहीं। किसी कहानी में पिता शब्द पढ़ कर या वर्ग में अध्यापक के व्याख्यान में पिता शब्द सुन कर अपने पिता के साथ संलग्न अपनी निजी भावना का बोध प्रायः नहीं हुआ करता। अतः कुछ खास स्थितियों में शब्द विशेष के अर्थ-बोध में ही इस परिमापन-सिद्धान्त की आंशिक उपादेयता मानी जा सकती है।

इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी सीमा यह है कि ध्रुवीय अर्थों के बीच ही अर्थ-क्षेत्र में किसी नियत बिन्दु का निर्धारण हो सकता है। ऐसे असंख्य शब्द हैं जिनके ध्रुवीय

---

measurement operations the meaning of a sign has been defined as that point in the semantic space specified by a series of differentiating Judgments.—Osgood, Suci and Tannenbaun, the Logic of semantic Differentiation, Psycholinguistics, edited by Sol Sapota, P 297.

अर्थों तथा उनके बीच विभाजक प्रज्ञा से यथानुक्रम अर्थ-बिन्दुओं के निर्देश की कल्पना नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ एक, दो आदि संख्यावाचक शब्दों के अर्थ-बोध में अर्थ-क्षेत्र की ध्रुवीय स्थिति नहीं मानी जा सकती। या, तो, भी फिर, और आदि शब्दों के अर्थ-बोध की भी यही स्थिति है। अभावबोधक आकाश-कुसुम, शशविषाण आदि शब्दों का अर्थ-बोध भी अर्थ-क्षेत्र में दो ध्रुवीय स्थितियों के बीच विभाजक बुद्धि से निर्धारित यथानुक्रम अर्थ-बिन्दु के रूप में नहीं होता। जिन अर्थों के विपरीत दूसरे ध्रुवीय अर्थों की सत्ता होती भी है उनके वाचक शब्दों के अर्थ-बोध में भी सार्वत्रिक रूप से दोनों ध्रुवान्तों के बीच किसी बिन्दु के बोध की स्थिति की कल्पना भी पूर्वग्रहपूर्ण ही जान पड़ती है। प्रेम शब्द के अर्थ-बोध में घृणा के बोध तथा प्रेम और घृणा की तीव्र, तीव्रतर तथा दोनों की सामान्य स्थितियों के बीच किसी अर्थ-बोध की स्थिति की कल्पना दूराकृष्ट कल्पना मात्र होगी। भाषिक व्यवहार में प्रेम शब्द से प्रेम के भाव के एक सामान्य स्वरूप का ही बोध होता है, उसके विपरीत भाव का बोध उस शब्द से होना आवश्यक नहीं। यदि प्रेम शब्द में एक विशिष्ट भाव के बोध की भावात्मक शक्ति के साथ अन्य अर्थों के व्यावर्तन की शक्ति भी मानी जाय तो वह शक्ति प्रेम-भाव से भिन्न सभी पदार्थों के व्यावर्तन की होगी, केवल घृणा जैसे विपरीत भाव के व्यावर्तन की ही नहीं। स्पष्ट है कि अर्थ-परिमापन का उक्त सिद्धान्त अपनी सीमा में कुछ शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया का ही स्पष्टीकरण कर पाता है।

ब्लूमफील्ड ने अर्थ को संस्थिति के एक रूप में स्वीकार कर यह मान्यता व्यक्त की कि अर्थ-निरपेक्ष भाव से भाषिक ध्वनियों का अध्ययन करना व्यर्थ है। उनकी मान्यता है कि प्रत्येक भाषिक रूप का एक नियत अर्थ होता है जो उस भाषा के किसी भी दूसरे भाषिक रूप के अर्थ से भिन्न होता है। अर्थ को वक्ता की संस्थिति तथा श्रोता की प्रतिक्रिया से सम्बद्ध कर ब्लूमफील्ड ने उसे स्नायविक प्रणाली की तात्कालिक अवस्था पर निर्भर मान लिया है, जो विचार व्यवहारवादी मनोभाषा-शास्त्रियों के अर्थ-विषयक विचार से मिलता-जुलता है, पर मानसवादी मनो-विज्ञानियों की तरह वे चिन्तन, प्रत्यय, अनुभव, इच्छाशक्ति आदि के रूप में अर्थ-बोध को अशरीरी प्रतिक्रियाओं के रूप में भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने अर्थ-ग्रहण में वक्ता और श्रोता के सामाजिक परिवेश से निर्मित संस्कार का भी महत्त्व स्वीकार किया है। परिस्थिति की भिन्नता, वक्ता तथा श्रोता की संस्थिति की विविधता, उनकी शारीरिक अवस्था तथा संस्कारगत वैविध्य के अनुरूप किसी शब्द-प्रयोग के अर्थ-बोध में ब्लूमफील्ड अनेकरूपता मानते हैं।

व्यवहारवादी तथा मानसवादी मनोविज्ञानियों के अर्थ-बोध-विषयक चिन्तन से

अंशतः सहमत होकर भी ब्लूमफील्ड ने अर्थ-विज्ञान की स्वायत्तता प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया और शब्दार्थ-चिन्तन को मनोवैज्ञानिक चिन्तन की यान्त्रिकता से मुक्त करना चाहा। कुछ आलोचकों ने ब्लूमफील्ड की शाब्दबोध-विषयक मान्यता में अन्तर्विरोध होने का आक्षेप किया है। वस्तुतः ब्लूमफील्ड ने शब्द से अर्थ-बोध के रूप में होने वाले प्रभाव को मानसिक तथा स्नायविक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विरोधाभास के रूप में ही स्वीकार किया है। शाब्दबोध के स्वरूप पर तटस्थ भाव से विचार करते हुए उसके सम्बन्ध में मानसिक, स्नायविक, सामाजिक, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टियों से किये जाने वाले चिन्तनों से प्राप्त निष्कर्ष के विरोधात्मक स्वरूप को समन्वयात्मक दृष्टि से स्वीकार कर चलने पर ही अर्थ के जटिल स्वरूप का निर्धारण सम्भव है।

ब्लूमफील्ड ने अमूर्त भाव या विचार के बोधक शब्दों के अर्थ के स्वरूप को मूर्त वस्तुओं के बोधक शब्दों के अर्थ के प्रक्षेप या विस्तरण के रूप में स्वीकार किया है। आधुनिक भाषाशास्त्रियों का एक वर्ग यह मानता है कि आदिम युग में कुछ मूर्त वस्तुओं के बोध के लिए उनके नाम के रूप में कुछ शब्दों का प्रयोग किया गया होगा और उन्हीं मूर्त वस्तुओं के बोधक शब्दों के आधार पर विस्तरण की पद्धति से सूक्ष्म अर्थ के लिए भी शब्दों का व्यवहार होने लगा होगा। मूर्त से अमूर्त की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ने के फलस्वरूप शब्द-भाण्डार की अभिवृद्धि हुई और शब्द-भाण्डार के विस्तार ने मानव-ज्ञान की सीमा का भी प्रसार किया। इस प्रकार की मान्यता रखने वाले विचारकों में लॉक, म्यूलर, ह्विटनी आदि प्रमुख हैं। प्रमाण के अभाव में ऐसी मान्यता के सम्बन्ध में कुछ कहना कठिन है। अस्तु, ब्लूमफील्ड ने अर्थ को तात्त्विक गुण या वैशिष्ट्य के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में अर्थ शब्द पर आरोपित एक बाह्य सत्ता है।

हैरिस ने अर्थ को भाषा का विशिष्ट धर्म नहीं मान कर मानव-व्यवहार का सामान्य गुण स्वीकार किया है। वे अर्थ को श्रोता-वक्ता के संकेत के रूप में प्रयुक्त मानते हैं।[1]

नोम चॉम्स्की ने शाब्दबोध के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए भाषिक अर्थ का सम्बन्ध मानव की चित्तवृत्ति से जोड़ा। वे व्यवहारवादी मनोविज्ञानियों की इस धारणा से सहमत नहीं थे कि शब्द से उत्पन्न मांसपेशीगत प्रतिक्रियाएँ शब्द के अर्थ हैं। चॉम्स्की का मत है कि चेतनागत बोध को ही शब्दार्थ के रूप में स्वीकार

१. J. S. Harris, Methods in Structural Linguistics P. 365

किया जाना चाहिए। शब्द के प्रति व्यक्त या अव्यक्त शारीरिक प्रतिक्रिया को शब्दार्थ मानने वाले व्यवहारवादी या प्रवृत्तिवादी मनोवैज्ञानिक विचारकों ने मानव की भाषिक क्षमता पर विचार नहीं किया था। चॉम्स्की की मान्यता है कि हम भाषा के प्रति कुछ सहज दैहिक प्रतिक्रिया ही प्रकट नहीं करते, हम भाषा के अनेक प्रयोगों का सृजन भी करते हैं। हम उतने ही वाक्यों का प्रयोग नहीं करते, जितने हमें सिखाये गये हैं। हम अपने भाषा-ज्ञान के आधार पर नये-नये प्रयोग भी करते हैं। अपने अर्थवैज्ञानिक चिन्तन के क्रम में चॉम्स्की ने मनुष्य में सहज भाषिक क्षमता (Linguistic potentiality) की सत्ता स्वीकार की और उसी को भाषा की उत्पादकता का रहस्य माना। मनुष्य एक ओर जहाँ परम्परा या लोकव्यवहार से भाषा का ज्ञान अर्जित करता है, वहाँ दूसरी ओर भाषा के नव-नव रूपों का सृजन भी करता है।

वाक्य को भाषा की मूल इकाई मान कर उसके अर्थ-बोध के स्वरूप पर विचार करते हुए चॉम्स्की ने वाक्य के घटक शब्दों के संकेत या अर्थ के ज्ञान को भी आवश्यक माना है।[1] उस अर्थ के ज्ञान में व्याकरण से विशेष सहायता नहीं मिल सकती।

विभक्ति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि की अर्थवत्ता की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शब्द के साथ प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय आदि भी वाक्य में किसी शब्द की स्थिति का निर्देश करते हुए उसे विशिष्ट अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। अतः प्रत्ययों का स्थान बदल देने से सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ बदल जाता है। मूल प्रकृति के साथ प्रयुक्त होने वाले प्रत्यय आदि को भाषा-शास्त्र में सम्बन्ध तत्त्व की संज्ञा देकर वाक्य में शब्दों के विशिष्ट सम्बन्धों का बोधक माना गया है। इस प्रकार के सम्बन्ध-बोधक शब्दों के अर्थ को संरचनागत अर्थ (structural meaning) के रूप में स्वीकार किया गया है। ने, को, से, का, में आदि हिन्दी के प्रत्ययों का, 'ing', 'ly' आदि अँगरेजी के सम्बन्धबोधक शब्दों के कुछ नियत अर्थ तो हैं ही, पर उनके बोध का स्वरूप गाय, घड़ा आदि मूर्त वस्तुबोधक शब्दों, प्रेम, घृणा आदि अमूर्त वस्तु-बोधक शब्दों तथा गुण, क्रिया आदि के वाचक शब्दों के अर्थ-बोध के स्वरूप से किंचित् भिन्न है। इन प्रत्ययों की सार्थकता वाक्य में शब्द की विशिष्ट स्थिति बताने तथा अन्य शब्दों के साथ उस शब्द के सम्बन्ध

---

१. To understand a sentence........we must also know the reference and meaning of the morphemes or words of which it is composed...........Nom Chomsky, Syntax and Semantics, Psycholinguistics P. 268

का बोध कराने में ही है। वे प्रत्यय जब किसी सार्थक शब्द के साथ प्रयुक्त होते हैं, तब उस मूल शब्द के अपने अर्थ का बोध तथा प्रत्यय से उत्पन्न सम्बन्ध का बोध एक साथ मिल कर गृहीत होता है। चॉम्स्की की मान्यता है कि इन सम्बन्धबोधक शब्दों के अर्थ का स्वरूप-निरूपण उत्पादकता (productivity), संयोजन की स्वतन्त्रता (freedom of combination) तथा पूरक वर्ग के आकार (size of substitution class) की व्याकरणिक धारणा के रूप में ही किया जा सकता है, अर्थ-बोध की सामान्य धारणा के रूप में नहीं।[1] चॉम्स्की ने गठनात्मक व्याकरण के घटक तत्त्वों में अर्थ को भी एक तत्त्व माना है।

शाब्दबोध के स्वरूप का निर्धारण करने के क्रम में चॉम्स्की ने यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति का निजी सांसारिक अनुभव शब्द के अर्थ-बोध को प्रभावित करता है। स्वभावतः ही किसी उक्ति के अर्थ का निरूपण करने के समय हम अपनी आत्मनिष्ठ अनुभूति से प्रभावित होते हैं। पर, ऐन्द्रिय-बोध को एक ऐसा अभाषिक अवस्थापन माना गया है, जिससे वाक्यार्थ का स्वरूप भिन्न होता है। भाषा-विज्ञानियों का सम्बन्ध वाक्य के भाषिक अर्थ के विवेचन से ही रहता है। वह वक्ता एवं श्रोता की वैयक्तिक ऐन्द्रिय अनुभूति के साथ तुलना कर उक्ति के अर्थ का निर्धारण नहीं कर सकता। वैयक्तिक अनुभूतियों के स्वरूप को समझना सम्भव नहीं। फिर, भाषिक प्रयोग में प्रत्येक शब्द के अर्थ को बाह्य अर्थ के समानान्तर रखकर ही शब्द-व्यवहार नहीं किया जाता। अतः शब्द के अभिधेयार्थ का निरूपण ही वे भाषाशास्त्री का कर्तव्य समझते हैं।

वाक्य को भाषा की मूल इकाई मानने में चॉम्स्की वाक्यस्फोटवादी भारतीय वैयाकरणों के विचार के निकट हैं पर वे वाक्य में पद और पदार्थ का अपना अस्तित्व, स्वीकार कर पदस्फोटवाद से मिलता-जुलता विचार भी व्यक्त करते हैं। भाषिक क्षमता की सत्ता मानने में वे मानसवादी मनोविज्ञानियों के विचार से सहमत हैं। अर्थ-ग्रहण में व्यक्तिगत संस्कार आदि के अनुरूप बोधगत विविधता स्वीकार करने पर भी वे शब्द के एक मानक अर्थ-रूप की सत्ता स्वीकार करते हैं। इसी से शब्द के कोशार्थ का निर्धारण सम्भव होता है। कोशार्थ की उपेक्षा कर कुछ विचारकों ने प्रत्येक शब्द के अर्थ-ग्रहण में व्यक्तिगत भिन्नता के अनुरूप विविधता मानकर जो

---

1. Whatever differences there are among morphemes with respect to this property, are apparently better explained in terms of such grammatical notions as productivity, freedom of combination and size of substitution class than in terms of any presumed feature of meaning. Chomsky, Syntax and Semantics, P. 269

अर्थ के स्वरूप को अस्थिर मान लिया था, वह मत भाषा के सामाजिक व्यवहार की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर पाता। विचार के आदान-प्रदान के माध्यम के रूप में भाषा के अर्थ का विश्लेषण करने के लिए यह आवश्यक है कि शब्द से होनेवाले अर्थ-बोध के एक सामान्य धरातल को स्वीकार किया जाय। चॉम्स्की के विचार इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। चॉम्स्की ने अर्थ-निरूपण के क्रम में अर्थ के स्वरूप का स्वतन्त्र रूप से निर्धारण करने का प्रयास नहीं कर, भाषिक विश्लेषण के एक अंग के रूप में उसके स्वरूप पर विचार किया है।

काट्ज और फोडर ने अर्थ-निरूपण की इस पद्धति को दोषपूर्ण बताया है। उनकी मान्यता है कि अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त का निर्धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक या भौतिक स्थिति के वैशिष्ट्यों पर भी विचार किया जाय। इस सन्दर्भ में देश-कालगत वातावरण के वैशिष्ट्यों पर भी विचार किया जा सकता है। उनकी दृष्टि में अर्थ का सिद्धान्त भाषा-विशेष का कोश होता है, साथ ही वह भाषा के उन विधायक तत्त्वों का भी उद्‌घाटन करता है जिनसे एक भाषा का दूसरी भाषा के साथ तथा एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध दिखाया जा सकता है। शब्द के निर्धारित कोशार्थ को ग्रहण कर ही वक्ता वाक्य में उसका प्रयोग करता है। वह शब्दार्थ का एक ऐसा आदर्श और सर्वग्राह्य रूप होता है, जो विभिन्न व्यक्तियों के बीच भाषा के माध्यम से विचार-विनिमय को सम्भव बनाता है।

शब्द के कोशार्थ-निर्धारण की प्रक्रिया पर विचार करते हुए काट्ज और फोडर ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है कि इसमें परम्परित व्याकरण के नियम के अनुसार वाक्य में शब्द के स्थान का निर्धारण तथा शब्द के सन्दर्भगत वैशिष्ट्य का निर्धारण किया जाता है। प्रथम का सम्बन्ध संरचना के अध्ययन से तथा दूसरे का सम्बन्ध अर्थगत अध्ययन या मूल्य-निर्धारण से है। अर्थमूलक अध्ययन में बोधगत वैशिष्ट्य तथा समवायगत अन्विति पर विचार किया जाता है। बोध का स्वरूप व्यष्टि चेतना एवं समष्टि चेतना के अनुरूप निर्धारित होता है।

शब्दार्थ के स्वरूप का मानव की संस्कृति के साथ अनिवार्य सम्बन्ध बताते हुए नृतत्त्ववेत्ता मैलिनोवस्की ने यह मान्यता व्यक्त की है कि शब्द या अर्थ का स्वतन्त्र रूप में कोई अस्तित्व नहीं होता। भाषिक वर्णन तथा सांस्कृतिक विश्लेषण परस्पर सम्पृक्त हैं और इसलिए शब्द के स्वरूप पर उससे प्रतीकित सम्बद्धता की दृष्टि से ही विचार किया जाना चाहिए। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने आदिम और असभ्य जातियों की भाषाओं का अध्ययन किया है।

ध्यातव्य है कि भाषा मानव के भाव एवं विचार की अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण उसके बाह्य परिवेश एवं उसकी सांस्कृतिक चेतना से प्रभावित अवश्य होती है, पर यह आवश्यक नहीं कि बाह्य परिस्थिति एवं संस्कृति के स्वरूप में परिवर्तन होने पर उसी अनुपात में शाब्दबोध के स्वरूप में भी परिवर्तन हो जाय। भाषा संस्कृति के निर्माण में सहायक होती है। वह हमारी सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम भी है और संस्कृति का एक अंग भी। संस्कृति मानव के भाव, विचार, संस्कार तथा संवेदनाओं का समाहार है। मनुष्य के भाषिक अर्थ-बोध का आधार भूतजगत् की देश-काल-सापेक्ष चेतना है। आधुनिक भौतिकवादी विचारकों की मान्यता है कि संस्कृति सामाजिक व्यवस्था का मानसिक प्रतिबिम्ब है। सामाजिक व्यवस्था का आधार अर्थतन्त्र है। अतः अर्थव्यस्था में परिवर्तन होने पर उस पर आधृत समाजव्यवस्था या भौतिक संस्कृति में भी परिवर्तन हो जाता है, पर अर्थव्यवस्था तथा उस पर आधृत संस्कृति में परिवर्तन होने पर भी भाषा के स्वरूप में परिवर्तन होना आवश्यक नहीं। फ्रांस की औद्योगिक क्रान्ति के बाद पश्चिम के देशों में और विश्वयुद्ध के बाद रूस, चीन आदि देशों में सामाजिक अर्थ-व्यवस्था तथा सांस्कृतिक चेतना में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है, फिर भी उन देशों की प्राचीन भाषाएँ ही नवीन बोध को वहन कर रही हैं। इस सन्दर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा का कथन है कि "भाषा को ऐसी प्रक्रिया मानना चाहिए जो न आधार हो, न संस्कृति हो वरन् दोनों के बीच की वस्तु हो।"[1] इसी क्रम में डॉ० शर्मा ने यह भी मान लिया है कि "जिस तरह रेल, तार और अणु-बम संस्कृति के भौतिक उपकरण हैं, उसी तरह भाषा भी मानव संस्कृति का एक उपकरण है।"[2]

हमारी धारणा है कि भाषा मानव के बोध की अभिव्यक्ति भी है और बोध-विस्तार का आधार भी। शब्द वस्तु का नाम भी होता है। शाब्दबोध का वैशिष्ट्य यह है कि शब्द से वस्तु की जाति या उसके सामान्य का ही ग्रहण मुख्यतः होता है। परम्परया शब्द जाति से अविनाभाव रूप से सम्बद्ध विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति का भी बोध कराता है। अतः किसी विशिष्ट वस्तु के विनष्ट हो जाने पर भी शब्द के अर्थ का विनाश नहीं होता। अवधारणा के रूप में मानव-मन में निहित शब्दार्थ अपनी सत्ता के लिए बाह्य वस्तु की सत्ता पर निर्भर नहीं रहता। ऐसे भी शब्द हैं जिनके अर्थ की भूतजगत् में सत्ता नहीं होती, वे मानव-मन की यौक्तिक संरचना के रूप में बोधगत सत्ता मात्र रखते हैं। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर भाषा और

---

१. डॉ० रामविलास शर्मा, भाषा और समाज, पृ० ४७०

२. वहीं, पृ० ४७०.

संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध पर तथा सांस्कृतिक परिवर्तन के भाषा पर पड़ने वाले प्रभाव के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है।

मानव की संस्कृति तथा सांस्कृतिक चेतना पदार्थ के प्रति उसकी दृष्टि या भावना को प्रभावित करती है। पदार्थ का स्वरूप उससे प्रभावित नहीं होता। शब्द से पदार्थ के एक सामान्य स्वरूप का ही बोध होता है। वही शब्द का मुख्य या संकेतित अर्थ माना जाता है। उस अर्थ-बोध में सन्निहित मानव का आत्म-निष्ठ भाव शब्द का वाच्य अर्थ नहीं, केवल गौण अर्थ माना जा सकता है। माँ शब्द के अर्थ के साथ निहित वात्सल्य, स्नेह आदि का भाव उस शब्द का अर्थ नहीं, उससे सम्पृक्त गौण अर्थ-मात्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। चूँकि संस्कृति पदार्थ के स्वरूप को प्रभावित नहीं कर वस्तु के प्रति हमारी दृष्टि मात्र को प्रभावित करती है, इसलिए सांस्कृतिक परिवर्तन का भाषा पर, विशेषतः शब्दार्थ के स्वरूप पर, बहुत कम प्रभाव पड़ता है। होता यह है कि लोक-व्यवहार से जब कोई शब्द किसी अर्थ के बोध का संकेत प्राप्त कर लेता है तब वही शब्द विभिन्न सांस्कृतिक परिवेशों में उस अर्थ का बोध करा सकता है। ईश्वर शब्द के अर्थ का उदाहरण लें, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वह शब्द एक ऐसे अर्थ का बोध कराता है जिसकी सत्ता-असत्ता के सम्बन्ध में अलग-अलग संस्कार के व्यक्तियों की अलग-अलग मान्यताएँ हैं। कोई उसे निर्गुण, निराकार, अनादि, अनन्त, व्यापक सत्ता के रूप में मानता है। वह चेतना-समष्टि तथा ज्ञान और आनन्द-रूप माना जाता है। सगुण ईश्वर के उपासक उसे समस्त सद्गुणों का आगार मानते हैं। इसके विपरीत भौतिकवादी तथा अनीश्वरवादी उसकी सत्ता में विश्वास नहीं कर उसे मानव-मन की व्यर्थ कल्पना भर समझते हैं। ईश्वर की सत्ता तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में इस प्रकार के मतवैभिन्न्य के बीच भी उस शब्द का एक सामान्य अर्थ लोक मानस ग्रहण करता ही है। उसके सम्बन्ध में संस्कृति के अनुरूप चाहे धारणागत कितना भी परिवर्तन क्यों न हो जाय, उसके वाचक शब्द के मुख्य अर्थ में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। शब्द के एक अर्थवृत्त की कल्पना की जाय तो उसके केन्द्रीय अर्थ में ही शब्द का संकेत मानना होगा। उस केन्द्र के चतुर्दिक श्रोता-वक्ता की अर्थ से सम्बद्ध स्वगत भावना का अर्थ पर आरोप माना जा सकता है। सांस्कृतिक परिवर्तन अर्थ पर आरोपित होने वाली व्यक्तिनिष्ठ भावना में तो परिवर्तन ला देता है, पर केन्द्रीय अर्थ पर उसका उतनी शीघ्रता से प्रभाव नहीं पड़ता।

इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ शब्दों के अर्थ में सांस्कृतिक कारण से भी परिवर्तन होता है। वैदिक भाषा के देवतावाची 'असुर' शब्द के अर्थ में जो आमूल परिवर्तन हो गया है, जैन मतावलम्बियों के बीच कभी

सम्मानसूचक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने वाले 'नग्न-लुञ्चक' शब्दों से विकसित हिन्दी के लंगा-लुच्चा शब्दों में जो अर्थापकर्ष हुआ है, उसका कारण मुख्यत: सांस्कृतिक है। पर, ऐसे परिवर्तन इतने क्रमिक रूप में तथा शब्द के इतने सीमित क्षेत्र में होते हैं कि वे भाषा के स्वरूप को नष्ट नहीं कर पाते। जनमानस परम्परागत भाषा के स्वरूप के भीतर ही वैसे परिवर्तन को धीरे-धीरे आत्मसात् कर लेता है।

भाषा में असंख्य शब्द वस्तु के नाम के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। नाम वस्तु के स्वरूप के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होते। अतः संस्कृति के स्वरूप में होने वाला परिवर्तन वस्तु को निर्दिष्ट करने वाले नाम-पदों को प्रभावित नहीं कर पाता।

निष्कर्ष यह कि संस्कृति भाषा के विकास में सहायक होती है और भाषा संस्कृति के विकास में सहायता करती है। दोनों एक दूसरे का योग-क्षेम वहन करती हैं। अत: भाषा के अर्थ-बोध के स्वरूप के अध्ययन में उसके सांस्कृतिक परिवेश का अध्ययन भी उपादेय होता है। पर, सांस्कृतिक चेतना में होने वाला परिवर्तन, उसी मात्रा में, भाषिक बोध के स्वरूप में परिवर्तन नहीं ला सकता। सांस्कृतिक चेतना में सहसा आमूल परिवर्तन हो सकता है, पर भाषा और भाषिक बोध में परिवर्तन धीरे-धीरे होता है।

स्तालिन ने वर्ग-संघर्ष से समाज-व्यवस्था में होनेवाले परिवर्तन और भाषा के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि भाषा किसी वर्ग-विशेष की निधि नहीं है और इसीलिए वर्ग-संघर्ष में एक वर्ग के स्थान पर दूसरे वर्ग का प्रभुत्व हो जाने पर भाषा में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती।[1] भाषा चूँकि सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति है, इसलिए वर्ग-प्रभुता में चाहे जितना परिवर्तन हो जाय, सामाजिक व्यवस्था में चाहे आमूल परिवर्तन हो जाय, वही भाषा मानव की अनुभूति को अभिव्यक्ति दे सकती है। ध्यातव्य है कि वर्ग-भेद से भाषा के अर्थ-बोध में थोड़ा भेद रह सकता है, पर भाषा का व्यापक स्वरूप सम्पूर्ण समाज की संवेदना, बोध-प्रक्रिया तथा अभिव्यक्ति-पद्धति में एक अन्विति बनाये रखता है। अतः सामाजिक व्यवस्था तथा सांस्कृतिक चेतना में परिवर्तन के साथ भाषिक अर्थ-बोध के स्वरूप में तथा भाषा के रूप में परिवर्तन का सिद्धान्त मान्य नहीं।

मैलिनोव्स्की ने शाब्दबोध के स्वरूप पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करते हुए साहित्यिक उक्ति, मुक्त विचार-विनिमय में प्रयुक्त उक्ति तथा व्यावहारिक जीवन के वार्तालाप की उक्ति की अर्थ-बोध-प्रक्रिया में थोड़ा भेद माना है। उनके अनुसार साहित्यिक उक्ति का अर्थ बौद्धिक, सामाजिक तथा सांवेगिक तत्त्वों के

---

१. स्तालिन, मार्क्सिज्म ऐण्ड द नेशनल ऐण्ड कोलोनियल क्वेश्चन।

अनुरूप घटित होकर गृहीत होता है। मुक्त विचार-विनिमय में भाषिक अर्थ विचार-सापेक्ष होता है और लोक-व्यवहार की उक्ति में तत्कालीन परिस्थितियों तथा घटनाओं के अनुरूप अर्थग्रहण होता है।[1]

उक्त मान्यता पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मैलिनोव्स्की ने शब्द के मुख्य अर्थ तथा उससे जुड़े भाव-रूप गौण अर्थ के बीच भेद नहीं किया है। फलतः उन्हें शाब्दबोध के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अतीत की घटनाओं से सम्बद्ध कथात्मक साहित्यिक उक्तियों, मुक्त चिन्तन को अभिव्यक्त करने वाली उक्तियों तथा सामाजिक व्यवहार की उक्तियों के अर्थ-बोध के स्वरूप में भेद करना पड़ा है। तथ्य यह है कि शब्द अतीत, वर्तमान और अनागत कालों की वस्तुओं या घटनाओं को अपने परम्परा-प्राप्त संकेत से समान रूप में ही बोधगम्य बनाते हैं। उस साक्षात् संकेतित अर्थ से भिन्न अर्थ के बोध के रहस्य का स्पष्टीकरण भारतीय विचारकों ने शब्द की गौणी वृत्ति की कल्पना कर किया है, जो अधिक युक्तिसंगत है। माता, पिता, गाय आदि शब्द लोक-व्यवहार में प्रयुक्त हों या साहित्य में; उनका संकेतित अर्थ समान ही होता है, उन शब्दों से लक्षित या व्यञ्जित अर्थ भले ही अलग-अलग सन्दर्भों में भिन्न-भिन्न हों।

फर्थ ने शब्दार्थ-विषयक मानसवादी सिद्धान्त का खण्डन किया है।[2] उन्होंने लोक-व्यवहार की उक्ति तथा लिखित भाषा की उक्ति की बोध-प्रक्रिया पर अलग-अलग विचार करने की आवश्यकता पर बल दिया।[3] तकनीक के क्षेत्र में प्रयुक्त शब्दों तथा दैनंदिन के व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ-बोध के स्वरूप पर भी अलग-अलग विचार करना वे आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में शब्द का अर्थ परिभाषा के माध्यम से नहीं सीखा जाता। अर्थ एक व्यावहारिक और परिस्थितिगत सत्ता है। तकनीक में वह निर्मित होता है और व्यवहार में स्थिति-सापेक्ष-रूप में बोधगत होता है।

फर्थ के अर्थसम्बन्धी इस विचार की वे ही सीमाएँ हैं, जिनका निर्देश हमने मैलिनोव्स्की के विचार में किया है। अर्थविषयक मानसवादी सिद्धान्त में पूर्णता के न होने पर भी उसे भ्रमात्मक कह कर उपेक्षित कर देने में फर्थ के दुराग्रह का ही परिचय मिलता है। फर्थ की यह मान्यता उचित है कि अर्थ परिभाषा के

---

१. मैलिनोव्स्की, कोरेल गार्डेन्स, खण्ड २।

२. जे० आर० फर्थ, जेनरल लिंग्विस्टिक्स ऐण्ड डिस्क्रिप्टिव ग्रामर, ट्रांजैक्शन ऑफ द फिलॉसोफिकल सोसाइटी, १९५०

३. जे० आर० फर्थ, प्रिलिमिनरी रेफेरेन्स ऑन लिंग्विस्टिक्स एण्ड द प्रोब्लेम ऑफ मीनिंग, लिंग्विस्टिक, काँग्रेस, लन्दन, १९५२

माध्यम से नहीं सीखा जाता, पर अर्थ को सार्वत्रिक रूप में स्थिति-सापेक्ष मानना उचित नहीं। शब्द अपने संकेतित अर्थ का बोध विभिन्न स्थितियों में भी समान रूप में करा सकते हैं।

बोआस ने शब्दार्थ के अध्ययन में यह पाया कि सांस्कृतिक और शैक्षणिक दृष्टि से अविकसित जातियों की भाषा में जातीय विशेषताओं को व्यक्त करने वाले शब्दों का अभाव होता है। इस प्रकार उन्होंने भाषिक बोध का संस्कृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। उनकी दृष्टि में आरम्भिक अवस्था में विचार और भाषा का अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं रहता। भाषा विचार-विनिमय के लिए निर्मित होती है और उसका विचार को व्यक्त करने के लिए प्रयोग किया जाता है। विचार सूक्ष्म और दुर्बोध होते हैं। शब्दों के साथ जुड़ कर वे अभिव्यक्त होते हैं। अतः शाब्दबोध में हम वस्तु को शब्द के साथ जोड़ कर ही ग्रहण कर पाते हैं।[1]

शब्द और अर्थ के तात्त्विक भेद तथा शाब्दबोध में शब्दसापेक्ष अर्थग्रहण का यह सिद्धान्त भारतीय वैयाकरणों के शब्दाध्यासवादी मत के निकट पहुँच गया है, यद्यपि बोआस ने भारतीय वैयाकरणों की दार्शनिक दृष्टि की जगह भाषिक विश्लेषण में नृतात्त्विक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि अपनायी है।

विलियम पी० आल्स्टन ने शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में पाश्चात्य दर्शन, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान तथा भाषाविज्ञान के क्षेत्र में स्थापित सिद्धान्तों का सर्वेक्षण करते हुए उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है और प्रत्येक वर्ग के सिद्धान्त की शक्ति-सीमा का निर्देश किया है। उनके अनुसार शाब्दबोधविषयक सिद्धान्त के एक वर्ग को 'वस्तुनिर्देशवादी' (Referential) सिद्धान्त वर्ग, दूसरे को अवधारणा-वादी (Ideational) सिद्धान्त वर्ग तथा तीसरे को व्यवहारवादी (Behavioral) सिद्धान्त वर्ग कहा जा सकता है।[2]

शाब्दबोध का वस्तु निर्देश-सिद्धान्त उस वस्तु को शब्द का अर्थ मानता है, जिसकी ओर शब्द निर्देश करता है। इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि प्रत्येक सार्थक शब्द किसी-न-किसी वस्तु के नाम के रूप में प्रयुक्त होता है या कम-से-कम किसी वस्तु के साथ उसका एक प्रकार का सम्बन्ध रहता है, जो सम्बन्ध नामकरण (Naming), अभिधान (designating), नामांकन (labelling) तथा निर्देश आदि (referring to etc) के रूप में रहा करता है। यह आवश्यक नहीं कि शब्द से निर्दिष्ट पदार्थ विशिष्ट मूर्त और इन्द्रियगोचर वस्तु ही हो; वह वस्तु का एक

१. एफ० बोआस, द माइन्ड ऑफ प्रिमिटिव मैन,
२. विलियम पी० आल्स्टन, फिलॉसोफी ऑफ लैंग्वेजः पृ० ११

प्रकार जैसे गाय, फूल आदि हो सकता है। वह एक गुण या प्रवृत्ति का रूप भी हो सकता है, वह वस्तुस्थिति तथा सम्बन्ध आदि का रूप भी हो सकता है। इस प्रकार 'विद्वत्ता', 'व्यसन', 'क्रान्ति', 'मेरा' आदि शब्द क्रमशः गुण, वृत्ति, वस्तु-स्थिति तथा सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व करते हैं। रसेल ने गणितीय शब्द के अर्थ के स्वरूप पर विचार करते हुए जो मन्तव्य व्यक्त किया था वह शब्दार्थ के वस्तु-निर्देश-सिद्धान्त का पोषण करता है। उनकी मान्यता थी कि शब्द की सार्थकता इस बात में है कि शब्द ऐसे प्रतीक हैं जो अपने से भिन्न किसी पदार्थ को प्रतीकित करते हैं।[1] ध्यातव्य है कि गणित के शब्द लोकसिद्ध वस्तु के प्रतिनिधि नहीं होते, वे भाषिक जगत (world of discourse) की सत्ता का ही बोध कराते हैं। एक, दो आदि भाषिक जगत की वस्तु के ही प्रतिनिधि हैं, जिसकी सत्ता मानव-मन के बोध, प्रत्यय, तार्किक संरचना या विकल्प के रूप में रहती है। रसेल ने ऐसी ही अर्थ-सत्ता को शाब्दबोध का विषय माना है।

शब्दार्थविषयक वस्तु-निर्देश-सिद्धान्त का एक सरल रूप वह है, जिसमें यह माना जाता है कि किसी कथन का अर्थ वह होता है, जिसकी ओर वह कथन निर्देश करता है। उस सिद्धान्त का कुछ परिष्कृत दूसरा रूप वह है जिसमें यह माना जाता है कि कथन का अर्थ होता है वह सम्बन्ध जो उस कथन तथा उससे निर्दिष्ट वस्तु के बीच रहा करता है।

वस्तु-निर्देश-शिद्धान्त के प्रथम सरल रूप की मान्यता के खण्डन में आलस्टन ने यह युक्ति दी है कि दो शब्दों से निर्दिष्ट वस्तु (referent) एक हो सकती है, पर दोनों के अर्थ अलग-अलग हो सकते हैं। इसके विपरीत, एक ही कथन के अलग-अलग उच्चारणों में समान अर्थ लेकिन अलग-अलग निर्दिष्ट वस्तुओं के उदाहरण पाये जा सकते हैं। भारत के राष्ट्रपिता, महात्मा गाँधी, मोहनदास करमचन्द गाँधी आदि शब्द एक ही व्यक्ति का निर्देश करते हैं, पर वे पर्यायवाची नहीं है। उनके अर्थ अलग-अलग हैं। इस प्रकार निर्दिष्ट वस्तु की अभिन्नता अर्थ की अभिन्नता सिद्ध नहीं कर पाती। अर्थ की अभिन्नता भी निर्दिष्ट वस्तु की अभिन्नता प्रमाणित नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ 'मैं' 'तुम' 'वह' 'हमलोग' आदि शब्द का निर्देश उन शब्दों के प्रयोक्ता के आधार पर अलग-अलग व्यक्तियों की ओर होता

---

१. words all have meaning, in the simple sense that they are symbols that stand for. something other than themselves,—Russell, Principles of Mathematics, P' 47

है, पर उक्त शब्दों में से प्रत्येक का अर्थ एक-एक ही है। 'मैं' शब्द का प्रयोग जो भी व्यक्ति करेगा, उसी व्यक्ति का निर्देशक वह शब्द बन जायगा, पर निर्दिष्ट व्यक्तियों की अनन्तता होने पर भी उस शब्द का एक ही अर्थ होता है—बोलने वाला व्यक्ति। स्पष्ट है कि शब्द का अर्थ और शब्द से निर्दिष्ट वस्तु अभिन्न नहीं।[1]

इस कठिनाई से बचने के लिए ही वस्तु-निर्देशवादियों ने निर्दिष्ट वस्तु और उस ओर निर्देश करने वाले शब्द के बीच के विशिष्ट सम्बन्ध को शब्द का अर्थ माना। रसेल ने जहाँ एक जगह यह मान्यता व्यक्त की कि शब्द का अर्थ वह है जिसका प्रतिनिधित्व वह शब्द करता है, वहाँ दूसरी जगह उन्होंने यह मन्तव्य व्यक्त किया कि जब हम यह प्रश्न करते हैं कि शब्द का अर्थ क्या है, तो हम यह नहीं पूछना चाहते कि कौन-से विशिष्ट व्यक्ति का बोध वह शब्द कराता है, बल्कि हम यह जानना चाहते हैं कि शब्दविशेष का उस व्यक्ति-विशेष से क्या सम्बन्ध है, जिससे एक, दूसरे का बोध करा पाता है।[2]

आल्स्टन ने वस्तुनिर्देशवाद की इस परिष्कृत मान्यता का भी खण्डन किया है। उनकी युक्ति यह है कि शाब्दबोध के सम्बन्ध में वस्तु-निर्देश का सिद्धान्त तभी मान्य होता जब यह प्रमाणित किया जा सकता कि सभी सार्थक पद किसी-न-किसी वस्तु की ओर अवश्य निर्देश करते हैं, पर तथ्य यह है कि भाषा में असंख्य ऐसे भी पद होते हैं, जिनसे निर्दिष्ट होने वाली किसी वस्तु का निर्धारण नहीं किया जा सकता। 'और', 'यदि', 'है', 'नही', 'या', 'कोई', 'कुछ', 'तो', 'भी', 'फिर' आदि शब्दों का अर्थ निर्दिष्ट वस्तुरूप नहीं होता; फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे पद सार्थक नहीं। और, यदि, किन्तु आदि पदों को व्याकरण में योजक पद मान कर उनकी सार्थकता वाक्यगत संगति के बोध-मात्र में मानी गयी है। यह युक्ति दी गयी है कि ऐसे सहपदार्थबोधक पदों (Syncategorematic terms) का अपना कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता। जिस प्रकार संज्ञा, विशेषण, तथा क्रिया पदों का अपना-अपना संकेतित अर्थ होता है और वे पद स्वतन्त्र रूप से अपने संकेतित अर्थ का बोध करा सकते हैं, उस प्रकार स्वतन्त्र रूप में 'और' आदि पर अर्थ-बोध नहीं कराते। इसीलिए कुछ वैयाकरण अर्थतत्त्व से पृथक् उन पदों को सम्बन्ध-तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

---

१. विलियम पी० आल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज, पृ० १३

2. When we ask what constitutes meaning....we are asking, not who is the individual meant, but what is the relation of the word to the individual which makes the one mean another.
—Russell, Analysis of mind, P. 191

इस सन्दर्भ में आल्स्टन ने यह तर्क दिया है कि 'और' आदि योजक पदों या अर्थवान पदों के साथ प्रयुक्त होकर वाक्यार्थ को पूर्णता प्रदान करने वाले या, तो, भी आदि पदों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया भले ही संज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि के बोधक पदों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया से भिन्न हों, पर हैं वे पद सार्थक ही। शब्दार्थ-विषयक वस्तु-निर्देशवाद उन पदों के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता।[1] 'है', 'नहीं', 'आकाश कुसुम' संख्यावाचक पद आदि के अर्थबोध के स्पष्टीकरण में भी वस्तु-निर्देश-सिद्धान्त में कठिनाई उपस्थित होती है।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि गाय, वृक्ष आदि मूर्त वस्तुओं के बोधक शब्द, विशेषण-पद और क्रिया-पद का अर्थ भी किसी विशिष्ट व्यक्ति को नहीं माना जा सकता। हम देख चुके हैं कि भारतीय वैयाकरणों ने व्यक्ति में शब्द के संकेत के सिद्धान्त का सबल युक्तियों से खण्डन कर व्यक्ति की जाति आदि चार उपाधियों में शब्द का संकेत माना था। मीमांसकों ने केवल जाति या सामान्य को शब्द का संकेतित अर्थ माना। वस्तुनिर्देशवाद के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति को तो शब्द से निर्दिष्ट अर्थ माना ही नहीं जा सकता, यदि व्यक्ति की जाति या सामान्य को शब्द से निर्दिष्ट अर्थ मानें तो प्रत्येक शब्द के अर्थ के रूप में एक जाति के अमूर्त रूप की ही कल्पना करनी होगी। अतः वस्तु-निर्देश-सिद्धान्त का यह तात्पर्य नहीं समझा जाना चाहिए कि शब्द का अर्थ मूर्त इन्द्रियगोचर पदार्थ होता है। इस मत के अनुसार शब्द से निर्दिष्ट पदार्थ अमूर्त जाति को माना जा सकता है।

वस्तु की जाति या सामान्यमात्र को शब्द से निर्दिष्ट अर्थ मानने में आल्स्टन ने यह आपत्ति उठायी है कि यदि शब्द से जाति का बोध होता तो जाति के बोध के लिए किसी शब्द के साथ जातिबोधक प्रत्यय लगाने की आवश्यकता क्यों होती?[2] तथ्य यह है कि जाति के बोध के लिए शब्द के साथ विशिष्ट प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, गाय की जाति के बोध के लिए 'गो' शब्द के साथ 'त्व' प्रत्यय लगाकर गोत्व शब्द का प्रयोग करते हैं। लड़कपन, बुढापा आदि में 'पन' और 'पा' जाति या सामान्य धर्म का बोध कराते हैं। अँगरेजी में शब्द के अन्त में ness, hood आदि का प्रयोग सामान्य के बोध के लिए किया जाता है। समस्या यह है कि शब्द का निर्दिष्ट अर्थ जाति, सामान्य या वर्ग को मान लेने पर गाय का अर्थ गोत्व को मानना होगा। ऐसी स्थिति में 'त्व' के प्रयोग की व्यर्थता माननी पड़ेगी, साथ ही गाय और गोत्व को समानार्थक मानना पड़ेगा, पर तथ्य

१. विलियम पी० आल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज, पृ० १४
२. वही पृ० १४

यह है कि हम गाय के अर्थ में गोत्व शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। 'गाय काली है' की जगह 'गोत्व काला है', 'लड़का चञ्चल है' की जगह 'लड़कपन चञ्चल है' 'पेंसिल की जाति अमूर्त है' की जगह 'पेंसिल अमूर्त है' का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतः शब्द से जाति मात्र का निर्देश अर्थ के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस समस्या का कुछ हद तक समाधान भारतीय चिन्तन धारा में न्याय-दर्शन की शाब्दबोध-विषयक मान्यता में मिलता है। जाति, आकृति तथा व्यक्ति को सम्मिलित रूप में शब्द का संकेतित अर्थ मान कर नैयायिकों ने यह धारणा व्यक्त की थी कि गाय शब्द न केवल गोत्व जाति का बोध कराता है, वरन् उस जाति के साथ एक आकृतियुक्त व्यक्ति का भी बोध कराता है। जहाँ आकृति-व्यक्ति की विवक्षा न हो, केवल जाति का बोध अभिप्रेत हो वहाँ 'त्व' आदि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार जाति में शब्द का संकेत मानने पर भी जातिबोधक प्रत्यय के प्रयोग की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती। जातिवादी मीमांसकों ने इस समस्या पर गम्भीरता से विचार कर जाति में शब्द का संकेत मानने पर भी जातिबोधक प्रत्यय के प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया है।

शब्द से अर्थ के निर्देश का सिद्धान्त आल्स्टन की दृष्टि में अंशतः ही मान्य है। उनकी मान्यता है कि शब्द से पृथक्-सिद्ध अर्थ की ओर निर्देश करना शब्द के अनेक व्यापारों में से केवल एक व्यापार-भर माना जा सकता है। यह व्यापार सभी शब्दों में नहीं रहता। कुछ शब्द ही अर्थ की ओर निर्देश करते हैं। शब्द के इस वस्तु-निर्देशात्मक व्यापार के आधार पर ही यह निर्णय किया जा सकता है कि कोई बात किसके विषय में कही जा रही है।[1] संज्ञापद, जिन्हें भारतीय वैयाकरणों ने द्रव्यवाचक कहा है, आल्स्टन के अनुसार, वस्तु का निर्देश करने वाले पद हैं। नामांक (label), सूची (list) आदि में भी आल्स्टन वस्तु-निर्देश का व्यापार स्वीकार करते हैं, पर ऐसे कुछ शब्दों के वस्तुनिर्देश-व्यापार को देख कर सभी शब्दों के अर्थ को निर्दिष्ट वस्तुरूप मान लेना उनकी दृष्टि में उचित नहीं।[2]

आल्स्टन ने यह अनुमान किया है कि शब्दार्थ-विषयक उक्त सम्प्रदाय के विचारक शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में जो धारणा अपने मन में रखते थे, सम्भव है, उसे ठीक-ठीक व्यक्त करने की शक्ति 'निर्देश करना' (refer) शब्द में नहीं रही हो,

---

१. विलियम पी० आल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज पृ० १५
२. वही, पृ० १६

और इसके परिणामस्वरूप उनकी शब्दबोध-विषयक धारणा अस्पष्ट रह गयी हो। इस अनुमान का आधार यह है कि उस सम्प्रदाय में वस्तु का 'निर्देश करना' के स्थान पर उसका 'नामाभिधान करना' (designate), 'द्योतन करना' (signify), 'अभिहित करना' (denote) आदि पदों का प्रयोग किया गया है। सामान्यतः यह माना जाता है कि प्रत्येक सार्थक पद किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। अतः शब्द के अर्थ-सूचन, अर्थ-द्योतन आदि अनेक व्यापारों में से अर्थनिर्देश को भी एक व्यापार-मात्र माना जा सकता है। पेंसिल शब्द पेंसिल जाति का निर्देश नहीं कर सकता, पर उसे अभिहित कर सकता है। इसका तात्पर्य यह होगा कि पेंसिल की जाति उन वस्तुओं की जाति है, जिनके लिए पेंसिल शब्द का प्रयोग किया जा सकता है।[1]

यह मानना कठिन है कि ऐसे सभी शब्द जो वस्तु की ओर निर्देश नहीं करते, अर्थ को अभिहित या लक्षित, करते हैं। में, पर, से आदि कारक-चिह्न सार्थक हैं, पर वे वस्तु को निर्दिष्ट, अभिहित या लक्षित नहीं करते। 'यदि', 'और', 'या', भी, तो आदि शब्दों से निर्दिष्ट, अभिहित या लक्षित किसी वस्तु या स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती। अर्थ को वस्तुनिर्देश रूप मानने का दुराग्रह रखने वाले यह युक्ति देते हैं कि 'और', 'या' आदि शब्द भी किसी-न-किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरणार्थ, 'और' शब्द संयोजक कार्य का प्रतिनिधित्व करता है तथा 'या' विकल्पात्मक व्यापार का। इसी प्रकार तो, भी आदि को किसी-न-किसी वस्तु या व्यापार का प्रतिनिधि बताया जा सकता है। किन्तु, कठिनाई यह है कि 'संयोजक व्यापार' के स्वरूप को स्पष्ट करना ही सम्भव नहीं, जिसका प्रतिनिधि 'और' को माना जाता है। उस व्यापार को उसी सन्दर्भ में समझा जा सकता है जिसमें 'और' या उससे मिलता-जुलता शब्द प्रयुक्त होता है। इस प्रकार 'और' आदि पद का अर्थ उससे निर्दिष्ट पदार्थ को मानने पर 'और' का अर्थ उससे निर्दिष्ट 'संयोजक व्यापार' को तथा 'संयोजक व्यापार' का अर्थ 'और' के प्रयोग के स्वरूप को मानना होगा। दो पदार्थों में से एक की सिद्धि के लिए दूसरे का सहारा तथा दूसरे की सिद्धि के लिए पहले का सहारा लेना होगा। यह तार्किक असंगति होगी। जब तक एक सिद्ध न हो, तब तक उसके आधार पर दूसरे को सिद्ध नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि 'और' आदि योजक पदों के अर्थ के रूप में, उन पदों से निर्दिष्ट होनेवाली किसी भाषेतर वस्तु-सत्ता का अन्वेषण काकदन्तगवेषण की तरह व्यर्थ है। निष्कर्ष यह कि भाषा के वाक्यों में प्रयुक्त कुछ शब्दों का सम्बन्ध तो लोक-सिद्ध वस्तुओं से जोड़ा जा सकता है, पर कुछ

---

१. विलियम पी० आल्स्टन, फिलॉसफी ऑफ लैंग्वेज, पृ० १६

शब्दों का बाह्य पदार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः शब्दार्थ को शब्द से निर्दिष्ट वस्तु का रूप मानने वाला सिद्धान्त अर्थतत्त्व के स्वरूप का पूर्ण उद्घाटन नहीं कर पाता।[1]

शाब्दबोध को अवधारणा या प्रत्यय-रूप मानने वाला सिद्धान्त इस मान्यता पर आधृत है कि भाषा के प्रयोग के मूल में जो मानव की धारणा रहती है, उसी से शब्द में अर्थवत्ता आती है। मानव की बुद्धि में स्थित प्रत्यय, विचार या बोध ही, जिसे व्यक्त करने के लिए माध्यम के रूप में शब्द का प्रयोग किया जाता है, किसी शब्द का अर्थ होता है। इस प्रकार शब्दार्थ के अवधारणा-सिद्धान्त के अनुसार शब्द किसी वस्तु का प्रतिनिधित्व इसलिए कर पाता है कि उसका सम्बन्ध उस वस्तु की अवधारणा से रहा करता है। वस्तु की अवधारणा शब्द को जन्म देती है और श्रोता के मन में शब्द वैसी ही अवधारणा उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त एक मनोगत सत्ता को शब्दार्थ के रूप में स्वीकृति देता है।

आल्स्टन की धारणा है कि शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण के लिए जो यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि शब्दार्थ कौन-सा तत्त्व है और वह किस प्रकार किसी शब्द से सम्बद्ध होता है, वह उचित नहीं। कारण यह है कि किसी तत्त्व के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है, पर वह सब शब्दार्थ के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत शब्दार्थ के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जा सकता है, वह अर्थ के रूप में स्वीकार किये जाने वाले तत्त्व के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता। दोनों को अभिन्न मानना युक्तिसङ्गत नहीं। अतः अर्थ की एक स्वतन्त्र सत्ता मान कर शब्द से उसका अभिधान मानना उचित नहीं।[2] शब्दार्थ के स्वरूप पर आल्स्टन ने इस दृष्टि से विचार करना आवश्यक माना है कि किस प्रकार एक कथन को दूसरे कथन से सम्बद्ध किया जा सकता है, जिससे एक के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए दूसरे का उल्लेख किया जा सके?[3] यदि दो पदों के सम्बन्ध को 'समान प्रयोग' माना जाय, तो शब्दार्थ की इस समस्या को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—दो उक्तियों के समान प्रयोग के मूल में क्या तत्त्व है?[4]

---

१. आल्स्टन, फिलॉसोफी आफ लैंग्वेज, पृ०. १८-१९
२. वही, पृ० २०-१२
३. ....the problem of meaning should be formulated as follows : "How must one expression be related to another in order that the one can be exhibited in a specification of the meaning of the other ?—वही पृ०. २१-२२
४. ....then the crucial question can be stated "what is it for two expressions to have the same use ?—वही. पृ. २१-२२

शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में मूल प्रश्न को छोड़ कर नये रूप में प्रश्न को उठाने की यह प्रवृत्ति समस्या से पलायन की प्रवृत्ति ही मानी जा सकती है। आल्स्टन को जब एक शब्द के अर्थ के स्वरूप के निर्धारण में कठिनाई जान पड़ी, तब वे दो शब्दों के समान प्रयोग के पीछे निहित तत्त्व को अर्थ के रूप में ढूँढने का प्रयास करने लगे। शायद उन्हें कोशार्थ-निर्धारण की परम्परित पद्धति से इस प्रकार के चिन्तन की प्रेरणा मिली। कोशकार समान प्रयोग या मिलते-जुलते प्रयोग के आधार पर किसी शब्द का अर्थ-निर्धारण अन्य पदों के सहारे करता है। इसके अतिरिक्त कोशार्थ-निर्धारण का कोई दूसरा उपाय भी नहीं। पर, प्रश्न यह है कि क्या प्रत्येक शब्द का दूसरा पर्यायवाची शब्द मिलता ही है? क्या दो पदों का अर्थ या प्रयोग अभिन्न होता है? शब्दों की अर्थ-छटा पर सूक्ष्मता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि कुछ शब्दों का पर्यायवाची अन्य शब्द होता ही नहीं। जिन्हें किसी शब्द का पर्यायवाची समझा जाता है, उनमें भी कुछ अपना-अपना अर्थगत वैशिष्ट्य रहता है। अतः दो पदों के समान प्रयोग का अन्वेषण असम्भव है, और यदि समान प्रयोग वाले दो पद मिलें भी तो उससे अर्थ के स्वरूप की समस्या का समाधान कैसे मिल जायगा? स्पष्ट है कि आल्स्टन ने मूल समस्या का समाधान ढूँढने की जगह एक नयी समस्या में ध्यान उलझाने का प्रयास किया है। अस्तु, यहाँ शब्दार्थ-विषयक अवधारणा-सिद्धान्त (ideational theory) के सम्बन्ध में आल्स्टन के विचार का मूल्याङ्कन अपेक्षित है।

शाब्दबोध को अवधारणा, प्रत्यय, विकल्प या विचार-रूप मानने वाले विचारकों की मान्यता है कि भाषा मानव के विचार के विनिमय का साधन है। अतः लॉक ने शब्दार्थ के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए यह मान्यता व्यक्त की थी कि शब्द के प्रयोग को विचार का संवेद्य चिह्न होना चाहिए। शब्द जिस विचार का प्रतिनिधित्व करते हैं, वही उनका यथार्थ और साक्षात् संकेतित अर्थ होता है।[1] यह मत विचार की भाषा से स्वतन्त्र सत्ता मानता है। मन में विचार स्वतन्त्र रूप में रहा करते हैं। उस विचार के चिह्न के रूप में शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिससे उस विचार का संप्रेषण सम्भव होता है। विचार का संप्रेषक चिह्न बनने में ही शब्द की अर्थवत्ता है। इस मत के अनुसार शब्द-प्रयोग और उसके अर्थ-बोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन निष्कर्ष सामने आते हैं :

---

1. The use, then, of words is to be sensible marks of ideas; and the ideas they stand for are their proper and immediate signification.—John Locke. Essays concerning human understanding, Sec. 1, ch. 2, Book III

(१) शब्द-प्रयोग के लिए यह आवश्यक है कि उससे व्यक्त होने वाला विचार वक्ता के मन में पहले से विद्यमान हो।

(२) शब्द का प्रयोग करने वाला अपने मन के विचार को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द का निर्माण करता हो। और—

(३) विचार का सम्प्रेषण सफल हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि वक्ता के द्वारा प्रयुक्त शब्द श्रोता के मन में ठीक वैसा ही विचार उत्पन्न करे, जैसा विचार शब्द-प्रयोग के समय वक्ता के मन में रहा हो।

आल्स्टन की धारणा है कि शाब्दबोध के समय उपरिलिखित तीनों अवस्थाएँ नहीं पायी जातीं। जब, में, चूँकि आदि शब्दों को सुनकर श्रोता के मन में एक-एक शब्द को सुनने पर उत्पन्न होने वाले विचार का निर्धारण सम्भव नहीं। उन शब्दों से होने वाले बोध के शब्द-निरपेक्ष स्वरूप को समझना कठिन है। यह नहीं बताया जा सकता कि उन शब्दों के अभाव में उनके अर्थ का कैसा विचारगत स्वरूप होता है, जिसे हम शब्दों में व्यक्त करना चाहते हैं। लॉक ने शब्द से व्यक्त होने वाले विचार या प्रत्यय को एक प्रकार की मानस संवेदना, मनोवेग या मानस-बिम्ब के रूप में स्वीकार किया था। आल्स्टन की मान्यता है कि यदि मनोवेग; मानस-संवेदन या मानस-बिम्ब को विचार का रूप माना जाय, तो अर्थ को विचाररूप मानने वाला सिद्धान्त युक्तिसङ्गत सिद्ध नहीं होगा। कारण यह है कि, एक तो प्रत्येक शब्द के मानस-संवेदन या मानस-बिम्ब की कल्पना नहीं की जा सकती; दूसरे, मूर्त वस्तु के बोधक शब्द यदि मानस-बिम्ब से सम्बद्ध भी होते हैं तो वे बिम्ब हर समय इतने अलग-अलग होते हैं कि उनमें से किस बिम्ब को शब्दार्थ माना जाय, यह निर्णय करना असम्भव है। शब्द से उद्बुद्ध होने वाला मानस-बिम्ब हर समय परस्पर भिन्न होता है, पर शब्द का अर्थ एक ही होता है। अतः अर्थ को शब्दसमुत्थापित मानस-बिम्ब से अभिन्न नहीं माना जा सकता। यह भी सम्भव है कि कभी-कभी भिन्न-भिन्न अर्थों के वाचक भिन्न-भिन्न शब्दों से एक-सा ही मानस-बिम्ब उत्पन्न हो। कुत्ता शब्द से जो बिम्ब बनता है, ठीक वैसा ही बिम्ब पशु शब्द को सुन कर भी बन सकता है, पर दोनों शब्दों के अर्थ अलग-अलग हैं। इन युक्तियों से आल्स्टन ने प्रत्यय, अवधारणा, विचार, मानस-संवेदना या मानस-बिम्ब को शब्दार्थ का स्वरूप मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन किया है।

यदि इस सिद्धान्त में विचार, प्रत्यय या अवधारणा (idea) का तात्पर्य केवल मानस-संवेदना से माना जाय, तो आल्स्टन आदि के द्वारा जो आपत्ति इस सिद्धान्त के विरुद्ध की गयी है, उसका निराकरण भारतीय वैयाकरणों के शब्द-स्फोट-सिद्धान्त

में मिल जाता है। शब्द-स्फोट में शब्द-अर्थ का परस्पर सापेक्ष अस्तित्व माना गया है। उनमें पौर्वापर्य की कल्पना आवश्यक नहीं। अर्थ की शब्द-निरपेक्ष सत्ता मान कर उसके साथ शब्द के आरोपित सम्बन्ध की कल्पना करने से ही अर्थ की पूर्व-सत्ता की कल्पना करनी पड़ी है। वस्तुतः विचार शब्द-सापेक्ष ही होता है। शब्द से अलग 'या', 'तो', 'फिर', 'और' आदि के अर्थ का मानस प्रत्यय या विचार के रूप में अस्तित्व नहीं माना जा सकता। मूर्त-वस्तु-बोधक गाय आदि पदों के अर्थ पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्थ की शब्द से पृथक् सत्ता है, पर तथ्य यह है कि शब्द से पृथक् बोधगत होने वाला व्यक्ति शब्द का अर्थ नहीं। व्यक्ति का मानस बिम्ब भी अर्थ नहीं। अर्थ शब्द-सापेक्ष बोध है। स्फोटवादी विचारकों की दृष्टि में वह स्फोट-रूप है, जिसमें शब्द और अर्थ का बोध एक साथ मिला रहता है। अर्थ का बोध शब्द के बोध के साथ ही होता है। अतः यह प्रश्न नहीं उठता कि शब्द में व्यक्त होने वाले विचार या प्रत्यय-रूप अर्थ का शब्द से अलग कैसा स्वरूप माना जाय।

आधुनिक भाषाविज्ञानियों तथा मनोभाषाशास्त्रियों के द्वारा प्रतिपादित शब्दार्थ-विषयक व्यवहार सिद्धान्त के सम्बन्ध में आल्स्टन का कथन है कि उसमें मानव-व्यवहार के कुछ पक्षों को समुत्तेजना प्रतिक्रिया की प्रक्रिया से सफलता के साथ उद्घाटित कर मनोविज्ञानियों ने भाषिक व्यवहार को भी उसी प्रक्रिया से उद्घाटित करने का प्रयास किया है। अतः अर्थ के सम्बन्ध में इस प्रकार की मान्यता व्यक्त की गयी है कि उक्ति का अर्थ वह स्थिति है, जिसमें वक्ता उसका उच्चारण करता है और वह प्रतिक्रिया जिसे उक्ति श्रोता में उत्पन्न करती है।[1] इस प्रकार शब्द-प्रयोग की परिस्थिति तथा श्रोता में शब्द से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया ; दोनों को शब्द का अर्थ माना गया है।

आल्स्टन का आक्षेप है कि परिस्थितिगत समान तत्त्व का किसी एक शब्द—जैसे, 'कमीज' आदि—, के अर्थबोध में कोई महत्त्व नहीं। अनेक उक्तियों में भी समान स्थिति के तत्त्व के रूप में अर्थ का अन्वेषण व्यर्थ है। इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि परस्पर भिन्न अर्थ वाले अनेक कथनों में परिस्थितिगत समान तत्त्व रह सकते हैं। दूसरे, घोषणात्मक वाक्यों (declarative sentences) में, जिनका सम्बन्ध कथन की परिस्थिति से दूर वस्तुस्थिति से होता है, कोई

---

१. ....the meaning of a linguistic form is....the situation in which the speaker utters it and the response which it calls forth in the hearer.—Bloomfeild, Language,

परिस्थितिगत समान तत्त्व ढूँढ पाना कठिन है। तीसरी बात यह कि कथन के प्रति व्यक्त प्रतिक्रियाओं में किसी महत्त्वपूर्ण समान तत्त्व का निर्धारण करना भी कठिन है। एक कथन के प्रति असंख्य परस्पर असम्बद्ध प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं, जिनके बीच किसी समान प्रतिक्रिया का निर्धारण असम्भव है। उक्त मान्यता की इन त्रुटियों को देखते हुए परवर्ती मनोभाषाशास्त्रियों ने कुछ परिष्कार के साथ उस सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उन विचारकों ने शब्दार्थ के रूप में उक्ति की परिस्थिति पर विचार नहीं कर शब्द से उत्पन्न श्रोता की प्रतिक्रिया पर ही विचार किया है।

शब्दार्थ के स्वरूप को श्रोता की प्रतिक्रिया के रूप में व्याख्यात करने वाले मॉरिस, ओसगुड आदि ने यह मान्यता व्यक्त की है कि शब्द के किसी विशिष्ट अर्थ से युक्त होने और किसी विशिष्ट प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने को एक ही बात मान लेने मात्र से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। इससे आगे बढ़ कर शब्दार्थ-तत्त्व के स्वरूप-निर्धारण के लिए मॉरिस ने प्रतिक्रिया व्यक्त करने की धारणा प्रस्तुत की, जिसका स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन हम कर चुके हैं।

शब्दार्थविषयक प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति-धारणा के विरुद्ध आलस्टन ने यह युक्ति दी है कि जब हम इतिहास के तथ्य का निर्देश करने वाले वाक्य को सुनते हैं, तब वस्तुतः उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करने की प्रवृत्ति हममें नहीं जगती। कुछ वाक्यों को सुनकर कुछ प्रवृत्ति के जगने की बात कही जा सकती है। उदाहरण के लिए, यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति अपने पुत्र से दूर हो और उसे कहा जाय कि 'आपका पुत्र बीमार है' तो उसमें उस वाक्य से पुत्र के पास जाने की प्रवृत्ति सहज ही उत्पन्न होगी, और यह प्रवृत्ति ही उस वाक्य की अर्थवत्ता का निर्णायक होगी। पर, तथ्य यह है कि ऐसे वाक्य से भी सर्वत्र एक-सी प्रवृत्ति का जगना आवश्यक नहीं। यदि श्रोता पहले से ही यह बात जानता हो कि उसका पुत्र बीमार है, तो उस प्रकार की सूचना देने वाले वाक्य से उसमें पुत्र के पास जाने की प्रवृत्ति नहीं जगेगी। कहने वाले व्यक्ति की बात पर अविश्वास होने पर भी कोई प्रवृत्ति श्रोता व्यक्त नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त श्रोता की विशेष परिस्थिति, मनःस्थिति आदि भी विशेष प्रकार की प्रवृत्ति में बाधक हो सकती है।

प्रवृत्ति-सिद्धान्त में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान नहीं दिया गया है कि श्रोता के भेद से एक ही उक्ति परस्पर भिन्न प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। 'शेर' शब्द को सुन कर एक कायर व्यक्ति में भागने की प्रवृत्ति हो सकती है, पर एक उत्साही शिकारी में इसके विपरीत शेर पर हमला करने की प्रवृत्ति जग सकती है।

वर्षा शब्द से केवल छाता खोलने या भागने की प्रवृत्ति पर पश्चिम के विचारकों का ध्यान गया, जो वहाँ के वातावरण के अनुरूप ठीक हो सकता है, पर गर्म देश के बच्चों में वर्षा में उत्साह के साथ भींगने की जो प्रवृत्ति रहती है, वही उस शब्द से भी जगेगी, इस तथ्य पर उन्होंने विचार नहीं किया। स्पष्ट है कि शब्द-विशेष से प्रवृत्ति-विशेष का नियत सम्बन्ध नहीं माना जा सकता और प्रवृत्ति के रूप में शाब्दबोध के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता।

इस सिद्धान्त में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि साँप, शेर, वर्षा आदि असंख्य शब्द समान रूप से भागने की प्रवृत्ति कुछ लोगों में उत्पन्न कर सकते हैं। यदि भागने की प्रवृत्ति को सबका अर्थ माना जाय तो उन शब्दों को पर्यायवाची मानना पड़ेगा, जिसे कथमपि युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। फिर यदि भागने की प्रवृत्ति उन शब्दों का अर्थ हो तो 'भागने की प्रवृत्ति' इस पदबन्ध क क्या अर्थ माना जायगा ?

भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के शाब्दबोध-विषयक उपरिविवेचित मतों के आलोक में, उनके द्वारा किये गये ऊहापोह की शक्ति-सीमा को दृष्टि में रखते हुए, हम यहाँ शब्दार्थ के स्वरूप के स्पष्टीकरण का एक विनम्र प्रयास कर कर रहे हैं :—

शब्द, अर्थहीन ध्वनियों की नियत क्रम में एक सार्थक व्यवस्था है। अर्थ शब्द से केवल अभिहित, लक्षित या द्योतित ही नहीं होता, वह शब्द का एक विधायक तत्त्व भी होता है।

शब्द से होने वाले बोध में शब्द के स्वरूप का तथा उसके वाच्य-अर्थ का युगपत् बोध मिश्रित रहता है। इसीलिए शब्दस्फोटवादी वैयाकरण शब्द-अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। शब्दाध्यासवादी वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द, अर्थ तथा दोनों के सम्बन्ध की तत्त्वतः पृथक-पृथक सत्ता है, पर शाब्दबोध में उनकी अभेदतया प्रतीति होती है। लोक-सिद्ध कुछ मूर्त-अमूर्त वस्तुओं के शब्द से निर्दिष्ट होने का उदाहरण देख कर शब्द-अर्थ की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मान ली गयी है, पर शाब्दबोध के स्वरूप में दोनों के युगपत् बोध के तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकी। उस अभेद बोध को अयथार्थ प्रतीति के रूप में स्वीकार किया गया है ; किन्तु उन विचारकों की दृष्टि में, शब्द-अर्थ की युगपत् बोध-प्रक्रिया में जो असत्य-प्रतीति है, वही शाब्दबोध का सच्चा रहस्य है। ध्यातव्य, है कि 'नहीं', 'है', 'या' असत् अभाव आदि शब्दों से स्वतन्त्र उनके अर्थ की तथा शब्द-अर्थ के सम्बन्ध के अध्यास की कल्पना का सबल आधार नहीं। उन शब्दों के अर्थ उन्हीं में अन्तर्निहित रहते हैं और उनके अभेद की प्रतीति यथार्थ ही होती हैं। हाँ, भाषा से

चलनेवाले लोक व्यवहार के सन्दर्भ में वस्तु-बोधक शब्दार्थ की बोध-प्रक्रिया का, बहुत हद तक, स्पष्टीकरण शब्दाध्यासवाद कर सकता है।

शब्द में अर्थ अन्तःसंजल्प के रूप में निहित रहता है। जब कोई कलाकार अर्थ-हीन माध्यम से सार्थक कला-सृष्टि करता है, तब उसमें व्यक्त अर्थ जिस प्रकार अन्तःसंजल्प के रूप में रहता है, उसी प्रकार शब्द में अर्थ का अन्तःसंजल्प रहता है। रेखा-चित्र में अंकित मानव का रूप किसी प्राणवान् मनुष्य का बोध करा सकता है, उसी प्रकार शब्द में निहित अर्थ बाह्य वस्तुओं का भी बोध करा देता है; पर उन बाह्य वस्तुओं को शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ नहीं माना जाता। शब्द से बोध्य वस्तु का शब्द के साथ पम्परा-प्राप्त सम्बन्ध होता है।

शब्द से निर्दिष्ट वस्तु शब्द का अर्थ नहीं। कारण यह है कि वस्तु का नाश शब्द की अर्थवत्ता को नष्ट नहीं करता। इसीलिए व्यक्ति को अर्थ नहीं मान कर भाषा-तत्त्वविदों ने वस्तु की जाति को शब्द का अर्थ माना है। व्यक्ति को अर्थ मानने में कुछ अन्य आपत्तियों पर भी हम विचार कर चुके हैं। चित्र में अंकित व्यक्ति के बोध के स्वरूप पर विचार करें तो शाब्दबोध का स्वरूप भी बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा। कुछ रेखाएँ जब किसी व्यक्ति का रूप प्रकट कर देती हैं तो वे अर्थवान बन जाती हैं। उनसे एक व्यक्ति का भी बोध होता है, पर उस रेखा चित्र का अर्थ निर्दिष्ट व्यक्ति से अभिन्न नहीं होता। निर्दिष्ट व्यक्ति के समाप्त हो जाने पर भी उस चित्र में अर्थवत्ता रहती है। कारण स्पष्ट है। चित्र व्यक्ति का अमूर्तीकृत सार व्यक्त करता है, जो उस व्यक्ति से सम्बद्ध होकर भी उसकी देश-काल-जनित लौकिक विशिष्टताओं से मुक्त होता है। शब्द भी वस्तु के अमूर्त सार का बोध कराता है। अतः उससे वस्तु का बोध होना शब्दार्थ का बाह्य वस्तु-रूप होना सिद्ध नहीं करता। जगत की वस्तु-सत्ता से शब्दार्थ के स्वरूप की भिन्नता सिद्ध करने के लिए ही तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों ने इस स्थूल जगत से भिन्न एक भाषिक लोक की कल्पना की है जिसकी सत्ता मानव के बोध में मानी गयी है। गणित की भाषा का सम्बन्ध बाह्य लोक की किसी वस्तु से नहीं होता। वह मानव-मन की तार्किक संरचना या विकल्प को अपने अर्थ के रूप में व्यक्त करती है। भले ही उस गणितीय बोध का विनियोग किसी भी वस्तु-सन्दर्भ में किया जा सकता हो, पर उस भाषा का अर्थ वस्तु-सन्दर्भ से स्वतंत्र अपनी सत्ता रखता है।

भूत-जगत के इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तु-ज्ञान और शाब्दबोध को अभिन्न मानने की

भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। आग से उँगली के जल जाने से होने वाला ऐन्द्रिय बोध और 'जलना' शब्द को सुन कर होने वाला अर्थ-बोध एक नहीं होता। जन्मान्ध व्यक्ति के शाब्दबोध के स्वरूप पर ध्यान दें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह सुन्दर-कुरूप अन्धकार-प्रकाश लाल-हरा, उजला-काला आदि शब्दों के अर्थ का मानस ग्रहण कर लेता है और उन शब्द-युग्मों के अर्थगत भेद को भी समझ लेता है, यद्यपि उसने उन शब्दों से निर्दिष्ट किसी वस्तु का कभी चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण नहीं किया है। इसके विपरीत जन्म से ही मूक-बधिर व्यक्ति के मन में वस्तु बोध तो रहता है, पर शाब्दबोध का उसमें अभाव रह सकता है।

शब्द-सम्पदा का पर्याप्त ज्ञान रखने वाले भी बहुधा यह कहा करते हैं कि अभी मेरे मन में जो अनुभूति हो रही है उसे व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिल रहा है।' स्वाद के ही विविध रूपों का उदाहरण लेकर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि शब्द स्वाद के सभी रूपों को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर पाता। मीठा के असंख्य प्रकार वस्तु-भेद के आधार पर होते हैं। उनमें से केवल सामान्य मीठा का अर्थ-बोध ही 'मीठा' शब्द से हो सकता है। केवल गूंगा ही गुड़ खाकर उसका स्वाद बताने में असमर्थ हो, यह बात नहीं, भाषा पर अधिकार रखने वाले भी उस विशिष्ट स्वाद का वर्णन करने में असमर्थ होते हैं; स्वयं वाणी भी असमर्थ होती है। इसके विपरीत वाणी में यह शक्ति भी है कि वह ऐसे इन्द्रियातीत अर्थ का बोध करा सके जिसे जानने का भाषेतर अन्य कोई साधन नहीं। इसी दृष्टि से भाषा की सीमा को मानव के ज्ञान की भी सीमा माना जाता है। स्पष्ट है कि लोक-सिद्ध वस्तु की ऐन्द्रिय अनुभूति और शब्द के अर्थ बोध की प्रकृति परस्पर भिन्न है। शब्द का अर्थ केवल मानस बोध जगाता है भले ही उस बोध से कहीं-कहीं ऐन्द्रिय संवेदना की स्मृति जग जाती हो।

शब्द अवयवातिरिक्त अवयवी का बोध कराता है। घर शब्द का अर्थ दीवाल, खिड़की, दरवाजा, छत आदि से निर्मित एक पदार्थ के रूप में गृहीत होता है, पर दीवाल आदि अवयव घर शब्द का अर्थ नहीं। गाय, मनुष्य, वृक्ष, वन, पशु आदि शब्द भी उनके विभिन्न अवयवों से युक्त किन्तु उन अवयवों से भिन्न एक सत्ता का बोध कराते हैं। इसीलिए उन पदार्थों के अलग-अलग अवयवों के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग होता है और उनसे संघटित अवयवी के लिए अलग शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'खाना' क्रिया-पद के अर्थ-बोध के स्वरूप पर विचार करें तो यह स्पष्ट है कि वह क्रिया विभिन्न साधन-सापेक्ष होती है। खाद्य वस्तु, हाथ या चम्मच तथा मुँह का कुछ विशेष प्रकार का संचालन उस क्रिया का रूप-विधान करता है, पर वह क्रिया खाद्य वस्तु या हाथ-मुँह के संचालन का बोधक न होकर

अवयवी-भूत क्रिया का बोध कराता है। शब्द से बोध्य अवयवी की सत्ता मानव के बोध में ही रहती है, वस्तु में उसे कहीं निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। अतः शब्द को मानव मन की यौक्तिक संरचना या विकल्प के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। शाब्दबोध में अर्थ के साथ मिश्रित शब्द के स्वरूप का बोध भी अवयवी का ही बोध होता है, जिसमें अवयव-भूत वर्ण का बोध अपना अस्तित्व खो देता है।

शब्द से किसी वस्तु के विशिष्ट देश-काल-व्यवच्छिन्न रूप का ग्रहण न होकर उसके एक सामान्य स्वरूप का ही बोध होता है, जिसका निर्धारण शब्द-प्रयोग में श्रोता और वक्ता की बुद्धि ही करती है। कली और फूल का विवेक मानव की बुद्धि का ही कार्य है। दोनों के बीच किसी ऐसी निश्चित विभाजक रेखा का निर्देश नहीं किया जा सकता जिससे पूर्व की स्थिति को कली और बाद की स्थिति को फूल कहा जा सके। शिशु, युवा, प्रौढ और वृद्ध की अवस्थाओं का विभाजन भी सामान्य रूप में ही होता है और उन वयों के बीच विभाजक काल-सीमा नियत नहीं की जा सकती। शब्द वस्तु के निष्कृष्टार्थ का ही बोध कराते हैं। अतः उनसे वस्तु का देश-काल विशिष्ट कोई नियत रूप बोधगत नहीं होता। यही तथ्य लौकिक वस्तु के ऐन्द्रिय बोध तथा शाब्दबोध का भेद सूचित करता है।

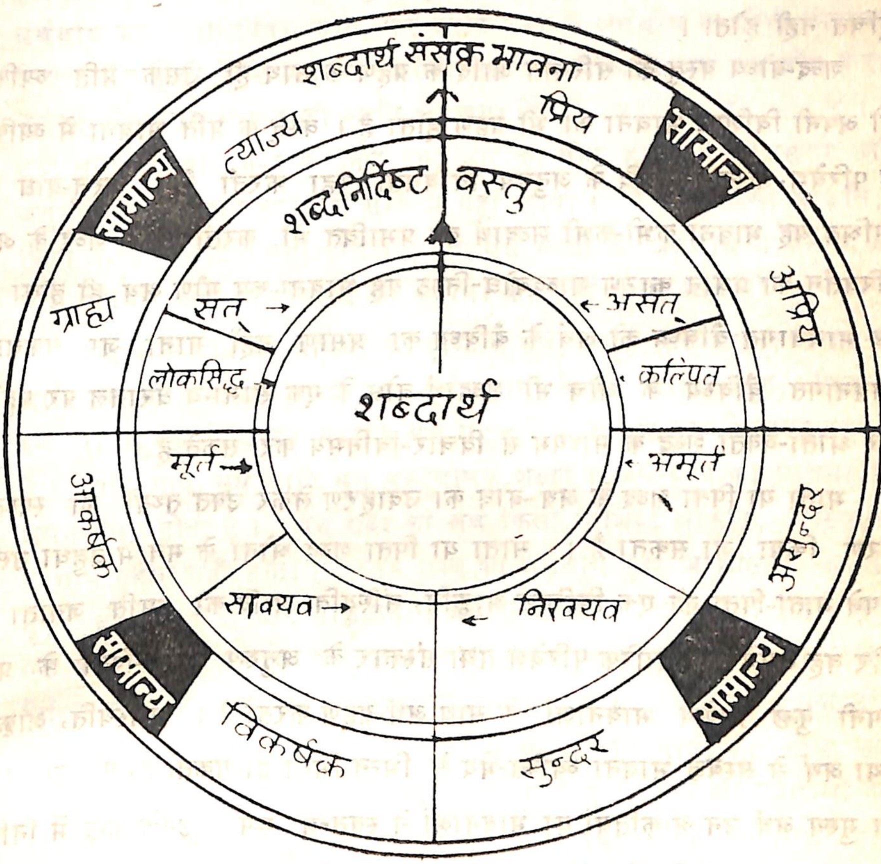
यदि शब्द को अर्थ का प्रतिनिधि या प्रतीक माना जाय, जिसका आग्रह पश्चिम के अनेक दार्शनिकों और भाषाविज्ञानियों में पाया जाता है, तो उसे वस्तु के निष्कृष्ट बोध का ही प्रतीक माना जाना चाहिए, बाह्य वस्तु का नहीं।

शब्द से बोध्य अर्थ के विशिष्ट या नियत स्वरूप की कल्पना करने की अपेक्षा एक अर्थवृत्त को शब्द का विषय मानना अधिक युक्तिसङ्गत होगा। शब्द उस अर्थवृत्त में से केन्द्रीय अर्थ को—जो निष्कृष्ट अवयवी, विकल्प या यौक्तिक संरचना के रूप में एक बोधगत सत्ता-मात्र होता है—अभिहित करता है तथा उस वृत्त की अन्य अनेक अर्थच्छटाओं को भी द्योतित करता है। गाय शब्द के अर्थवृत्त में अवयवातिरिक्त अवयवी गाय को अर्थात् गाय सामान्य को शब्द का मुख्य अर्थ माना जा सकता है और विशिष्ट आकृति, व्यक्ति आदि के बोध को उस अवयवी से अविनाभाव रूप से सम्बद्ध होने के कारण उस शब्द से द्योतित माना जा सकता है।

माँ शब्द के अर्थवृत्त में केन्द्रीय अर्थ के साथ आकृति आदि के बोध को तथा उसके साथ सम्बद्ध मन की सम्पूर्ण भावना को भी समाविष्ट माना जा सकता है। अर्थ-परिमापन-विधि में केन्द्रीय अर्थ को छोड़ कर उसके साथ संलग्न भावना-रूप अर्थ को मापने की जो चेष्टा की गयी है, उसका अर्थबोध के स्वरूप-निर्धारण में विशेष महत्त्व नहीं। किसी अर्थ के साथ संलग्न मनोभाव को नापना या निर्दिष्ट कर देना सम्भव नहीं। हम अर्थवृत्त में केन्द्रीय अर्थ के साथ सम्बद्ध भावना रूप अर्थ की अनन्त छटा की सम्भावना स्वीकार करते हैं। सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के अनुरूप अर्थबोध में जो कुछ भेद रहता है, वह उस अर्थवृत्त के भीतर ही एक बिन्दु से अन्यत्र अर्थ का अपसरण होता है। माँ शब्द या उसके पर्यायवाची अन्य शब्द का अर्थ तो सर्वत्र एक ही होगा, पर अलग-अलग संस्कृति और पारिवारिक परिवेश के अनुरूप लोगों की माँ के प्रति भावना अलग-अलग हो सकती है। शब्द का केन्द्रीय अर्थ जहाँ, लोक-सिद्ध बाह्य वस्तु का बोध कराता है, वहाँ वस्तु की विविध संस्थितियों का ग्रहण उस एक ही शब्द से हो सकता है, फिर भी संस्थितिगत भिन्नता शब्द के मुख्य अर्थ में भेद नहीं ला पाती। गाय शब्द को सुनकर हम कभी एक सुन्दर, काली और बैठी हुई दुधारू गाय का मानस बोध ग्रहण कर सकते हैं, कभी उजली दुबली-पतली और चलती हुई गाय का मानस-बिम्ब ग्रहण कर सकते हैं और कभी बिना किसी आकृति का मानस-चित्र ग्रहण किये ही उस शब्द का अर्थ-बोध प्राप्त कर सकते हैं। गाय शब्द के केन्द्रीय अर्थ के चतुर्दिक उसकी नाना आकृतियों तथा संस्थितियों की सत्ता होने के कारण उनका ग्रहण सम्भव होता है। केन्द्रीय अर्थ अखंड और एक होता है, उससे निर्दिष्ट वस्तु की संस्थितियों में अनेकरूपता रह सकती है।

व्यक्तिवाचक नाम-पद भी उस व्यक्ति के रूपगत तथा संस्थितिगत परिवर्तन से अप्रभावित रह कर अपना अर्थ प्रकट करते हैं। बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक जो रूपगत परिवर्तन होते रहते हैं तथा विभिन्न वेशभूषा तथा क्रिया से जो संस्थितिगत परिवर्तन होते रहते हैं, उन सब को एक ही नाम निर्दिष्ट करता है। कारण यह है कि नाम का संकेत द्रव्य या अवयवातिरिक्त अवयवी में होता है, जिसे आकृति या संस्थिति का परिवर्तन प्रभावित नहीं कर पाता। शाब्दबोध के इस

रहस्य को निम्नांकित वृत्त से स्पष्ट किया जा सकता है :—



शब्दार्थ के साथ श्रोता-वक्ता की असंख्य भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। उनमें से कुछ भावों का ही उपलक्षण के रूप में, उपरिलिखित चित्र में उलेख किया गया है। अर्थ से सम्बद्ध भावना व्यक्ति के समग्र संस्कार से प्रभावित होती है। अतः व्यक्ति भेद से उनमें भेद का होना स्वाभाविक है।

शब्दार्थ के उपरि अंकित वृत्त को दृष्टि में रख कर किसी शब्द के अर्थ के स्वरूप पर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि शब्द से जो अवयव-वातिरिक्त अवयवी-रूप अर्थ बोधगत होता है उसका एक रूप श्रोता-वक्ता की

धारणा में रहता है। उस अर्थ के साथ उसकी संस्थिति आदि की जो अविनाभाव रूप में सत्ता रहती है, उसका भी ग्रहण उसी शब्द से होता है। संस्थिति—गुण, क्रिया आदि—में विविधता का बोध रहा करता है, पर उससे शब्दार्थ की विविधता सूचित नहीं होती।

शब्द-बोध्य वस्तु की संस्थिति आदि के ग्रहण के साथ ही उसके प्रति व्यक्ति की अपनी विशिष्ट भावना का भी ग्रहण होता है। वस्तु के प्रति भावना में व्यक्ति के परिवेश, संस्कार आदि के अनुरूप विविधता रहा करती है। वस्तु-बोध में मिश्रित यह भावना कभी-कभी शब्दार्थ को प्रभावित भी करती है। शब्द के अर्थ परिवर्तन का प्रधान कारण शाब्दबोध-निष्ठ यह भावना-रूप गौण अर्थ ही होता है, पर भावनागत वैविध्य को अर्थ के वैविध्य का प्रमाण नहीं माना जा सकता। भावनागत वैविध्य के बीच भी शब्दार्थ-बोध के एक सामान्य धरातल पर पहुँच कर श्रोता-वक्ता शब्द के माध्यम से विचार-विनिमय कर सकते हैं।

माता या पिता शब्द के अर्थ-बोध का उदाहरण लेकर उक्त तथ्यों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है। माता या पिता शब्द श्रोता के मन में बहुधा उसके अपने माता-पिता की एक विशिष्ट आकृति, संस्थिति आदि की स्मृति जगाता है और वह अपने पारिवारिक परिवेश तथा संस्कार के अनुरूप माता-पिता के प्रति अपनी कुछ विशेष भावनाओं के साथ अर्थ-ग्रहण करता है। संस्थिति, आकृति तथा अर्थ से सम्बद्ध भावना व्यक्ति-भेद से भिन्न-भिन्न हो सकती है, पर उन शब्दों का मुख्य अर्थ उन आकृतियों या भावनाओं से स्वतन्त्र रूप में उनके केन्द्र में निहित रहता है, जो सभी के बोध में समानरूप से रहता है।

सभी शब्दों के अर्थ के साथ आकृति, संस्थिति या भावना का मिश्रण होना भी आवश्यक नहीं। संख्यावाचक शब्द, प्रेम-घृणा आदि मनोभावबोधक शब्द, अभावात्मक सत्ता के वाचक 'आकाश कुसुम', 'वन्ध्यापुत्र' आदि शब्द तथा 'है', 'नहीं', 'या', 'तो' 'भी' 'यदि' 'किन्तु' 'कुछ', 'कोई' आदि शब्द के अर्थबोध में आकृति आदि के बोध तथा उन सभी शब्दों के अर्थ के साथ व्यक्ति की निजी भावना की अभिव्यक्ति की बात युक्तिसंगत नहीं होगी। इस प्रकार के शब्द अपने अर्थ के रूप में मानव-मन की यौक्तिक संरचना या विकल्प को ही व्यक्त करते हैं। उस विकल्प या यौक्तिक संरचना में शब्द और अर्थ अविभाज्य रूप में रहते हैं। दोनों

की पृथक्-पृथक् सत्ता का निर्देश नहीं किया जा सकता। वस्तुतः समग्र शाब्दबोध में शब्द तथा अर्थ के स्वरूप का एक ही साथ ग्रहण होता है। वर्णसंघ में अवयव-भूत अलग-अलग वर्णों से अतिरिक्त अवयवी-भूत शब्द का तथा अर्थ में भी अवयवा-तिरिक्त अवयवी-भूत अर्थ का युगपत् बोध होता है, फिर भी या, तो भी आदि के अर्थबोध का माता, पिता, गाय, घर आदि शब्द के अर्थबोध से थोड़ी भिन्नता इस लिए प्रतीत होती है कि जहाँ माता पिता आदि शब्द अपने अर्थ का बोध कराने के क्रम में लोक-सिद्ध व्यक्ति की स्मृति भी जगा देते हैं, वहाँ या, तो, भी, नहीं आदि शब्द तथा गणितीय शब्द से केवल मुख्य अर्थ का बोध होता है, जिसका लौकिक अनुभूति तथा उसकी स्मृति से सम्बन्ध नहीं होता। ये शब्द किसी आकृति, गुण, क्रिया आदि के बोधक नहीं होते। अतः ऐसे शब्दों के अर्थबोध में केन्द्रीय अर्थ के साथ परिधीय अर्थ के अस्तित्व की कल्पना का कोई आग्रह नहीं होना चाहिए।

शब्दार्थ के बोध की प्रक्रिया की दृष्टि से मूर्त, अमूर्त, सत्-असत्, यथार्थ-कल्पित आदि वस्तुओं के बोधक शब्दों तथा मूर्त पदार्थों में भी जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य या यदृच्छा के बोधक पदों के अर्थ ग्रहण के स्वरूप में कुछ भिन्नता रहा करती है। पशु, गाय, सूर्य आदि मूर्त वस्तुबोधक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया भी कुछ अलग-अलग होती है। पशु शब्द का अर्थ किसी विशिष्ट आकृति, संस्थिति आदि के साथ गृहीत नहीं होता। गाय शब्द का अर्थबोध कुछ आकृतियों के बोध से युक्त हो सकता है और आकृतिबोध असंख्य प्रकार का हो सकता है। सूर्य शब्द एक वस्तु के रूप का बोध कराता है, अतः उस शब्द के अर्थबोध में जो आकृतिबोध निहित रहता है उसका स्वरूप प्रायः नियत रहता है। ध्यातव्य है कि लोकसिद्ध मूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थग्रहण में भी आकृति आदि का बोध सार्वत्रिक नियम नहीं। किसी व्यक्ति का व्याख्यान सुनने या अतीत की घटनाओं को पढने के समय हम प्रत्येक शब्द से बोध्य अर्थ का मानस-चित्र ग्रहण करने की प्रक्रिया से नहीं गुजरते। हाँ, अलग-अलग सार्थक पद के अर्थग्रहण की प्रक्रिया पर विचार करने के क्रम में समूह, जाति, व्यक्ति आदि के वाचक नाम के अर्थबोध में प्रक्रिया-गत उक्त भेद पर ध्यान देना आवश्यक है। सत् पदार्थ तथा असत् पदार्थ की बोध-प्रक्रिया में भी भेद होता है। पुत्र और बन्ध्यापुत्र की तथा कुसुम और आकाश-कुसुम की बोध प्रक्रिया एक सी नहीं होती। प्रेम, घृणा आदि अमूर्त भाव के वाचक शब्द और गाय, कुत्ता आदि मूर्त पदार्थ के बोधक शब्दों की बोध प्रक्रिया भिन्न भिन्न होती है। असत्, अभाव, नहीं आदि के बोध की प्रक्रिया लोक सिद्ध मूर्त-अमूर्त पदार्थों के बोधक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया से अभिन्न नहीं होती। अतः शब्द-निष्ठ अर्थ और लोक सिद्ध या लोक में असिद्ध पदार्थों के

सन्दर्भ में उसके बोध की प्रक्रिया में एक सूक्ष्म अन्तर है। मनोभाषाशास्त्र में अर्थ ग्रहण की प्रक्रिया को ही अर्थ का स्वरूप मानकर शाब्दबोध के स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयास किया गया है, जो उसकी एक सीमा है। हमारी धारणा है कि जिस शब्द से निर्दिष्ट वस्तु का आकार-प्रकार नियत होता है उसके अर्थ बोध में आकृति-व्यक्ति का बोध प्रधान और जाति-बोध गौण हो जाता है। सूर्य, चन्द्रमा ताजमहल जैसा शब्द तथा व्यक्ति वाचक नाम पद के अर्थ बोध में व्यक्ति-बोध तीव्र रहता है, पर अनियत आकार वाली वस्तु के बोधक शब्द के अर्थ बोध में जाति या सामान्य के बोध की ही प्रधानता रहती है। पशु, वृक्ष, लता, फूल आदि शब्दों से आकृति व्यक्ति का बोध अत्यन्त गौण रूप में ही हो सकता है। गाय, कुत्ता, कलम, गुलाब आदि के अर्थ-बोध में सामान्य के साथ एक प्रकार की आकृति का भी बोध मिश्रित रहता है। पर अमूर्त वस्तु के बोधक पदों के अर्थ बोध में आकृति आदि के बोध की कल्पना कष्ट कल्पना ही होगी।

शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु को या शब्द से बाह्य वस्तु के बोध की प्रक्रिया मात्र को शब्दार्थ का स्वरूप मान लेने पर कठिनाई यह होगी कि 'नहीं', 'असत्' आदि शब्दों को अर्थहीन मानना पड़ेगा, पर तथ्य यह है कि अभावात्मक सत्ता के बोधक इन शब्दों का भी अपना-अपना अर्थ है। निष्कर्ष यह कि शब्द अपने अर्थ का बोध कराते हुए लोक-सिद्ध या लोक में असिद्ध केवल मानव मन की परिकल्पना में सिद्ध मूर्त-अमूर्त पदार्थों की सत्ता-असत्ता का बोध भी कराते हैं, पर वस्तुगत सत्ता-असत्ता से शब्दार्थ की सत्ता-असत्ता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। शब्द का अर्थ और शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु अभिन्न नहीं। अनेक शब्द एक ही वस्तु का निर्देश कर, सकते हैं, पर उनके अर्थ अनेक हो सकते हैं, इसके विपरीत एक शब्द अनेक वस्तुओं का निर्देश कर सकता है पर उसका अर्थ एक ही सकता है। कुछ शब्द किसी भी वस्तु का निर्देश नहीं करते, फिर भी सार्थक होते हैं।

शाब्दबोध के स्वरूप की दृष्टि से उपसर्ग, प्रत्यय आदि के अर्थ की कुछ विलक्षण स्थिति है। प्रातिपदिक तथा धातु के कुछ नियत अर्थ हैं, जिनसे व्युत्पन्न पद विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। उन अर्थवान् पदों को प्रयोग योग्य बनाने वाले प्रत्यय तथा उनके अर्थ में वैशिष्ट्य का आधान करने वाले उपसर्ग भी सार्थक पद हैं, पर कुछ भिन्न रूप में। उनका न तो स्वतन्त्र प्रयोग हो सकता है और न संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि पदों के अर्थ की तरह उनका कुछ नियत अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। उपसर्ग शब्द के मूल अर्थ को बदल सकते हैं, उन्हें कुछ विशिष्ट अर्थ प्रदान कर सकते हैं उनका अनुवर्तन कर उनके अर्थ को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं और कहीं-कहीं बिना किसी विशिष्ट अर्थ के ही शब्द के साथ प्रयुक्त हो सकते

हैं। एक ही मूल धातु से निष्पन्न आचार विचार, संचार, प्रचार, उपचार, अतिचार उच्चार, अभिचार आदि शब्दों में कितना अर्थगत भेद है! यह अर्थ-भेद उपसर्गकृत है, जिनका अपना कोई निर्दिष्ट अर्थ नहीं। एक ही 'वि' 'उपसर्ग' विचार 'विहार' 'विनय' 'विकार' 'विस्मरण' आदि शब्दों में अलग-अलग अर्थच्छटा लाता है। अतः उपसर्ग आदि पदों को, जो अपनी सार्थकता के लिए अन्य अर्थवान् पदों पर निर्भर हैं, अर्थ का द्योतक मात्र माना जाना चाहिए, अर्थ का वाचक नहीं। उपसर्ग आदि की अर्थवत्ता या अर्थद्योतकता भी यह प्रमाणित करती है कि शब्दार्थ का शब्द-निर्दिष्ट बाह्य वस्तु से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं।

अनेकार्थवाची एक शब्द के सम्बन्ध में यह मान्यता व्यक्त की गयी है कि उन शब्दों को भी अनेक माना जाना चाहिए। एक शब्द में एक ही अर्थ रह सकता है। जहाँ शब्द एक और अर्थ अनेक होते हैं, वहाँ उस शब्द को एक नहीं मान कर समान स्थान-प्रयत्न से उच्चार्य अनेक शब्द माना जाना चाहिए। बुद्धि में शब्द-अर्थ रूप स्फोट की सत्ता सिद्ध करने के लिए यह दार्शनिक चिन्तन का आग्रह जान पड़ता है। शब्द के अनेकार्थक होने पर भाषिक व्यवहार में प्रसंग आदि के द्वारा अभीष्ट अर्थ का निर्धारण होता है।

बाल्य-काल में शब्द और अर्थ का ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया पर विचार कर लेना भी शब्दार्थ के स्वरूप-निर्धारण में सहायक होगा। किसी वस्तु की ओर निर्देश कर जब बच्चे को यह बताया जाता है कि यह घर है, या घड़ा है आदि, तो वह उस वस्तु का ऐन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही उसके लिए प्रयुक्त शब्द को उस वस्तु के नाम के रूप में ग्रहण करता है। इस ज्ञान में वस्तु, उसके लिए प्रयुक्त शब्द तथा दोनों के सम्बन्ध का अलग-अलग ज्ञान होता है। वस्तु का वह बोध व्यक्ति-बोध के रूप में ही रहता है पर जब वह बालक उस वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों के लिए—जो रूप, गुण, आकृति आदि में एक दूसरे से भिन्न होता है—उसी एक शब्द का प्रयोग देखता है, तब वह शब्द का सम्बन्ध सभी व्यक्तियों में समान रूप से अन्तर्निहित या सभी व्यक्तियों के ऊपर व्याप्त—एक जाति या सामान्य के साथ स्थापित कर लेता है। इस प्रकार बालक व्यक्ति-बोध से जातिबोध की ओर बढ़ता है। व्यक्ति और जाति में अविनाभाव सम्बन्ध रहता है। अतः शब्द जाति या सामान्य का बोध कराने के क्रम में उससे अविनाभाव रूप से सम्बद्ध व्यक्ति तथा उसकी आकृति, संस्थिति आदि का भी बोध करा सकते हैं।

भाषिक व्यवहार में शब्द अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने में आवाप-उद्वाप या अन्वय-व्यतिरेक की पद्धति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस पद्धति से भाषा सीखने

वाला व्यक्ति भाषा का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के भाषिक व्यवहार को देख-सुन कर शब्द-विशेष का वस्तु-विशेष के साथ सम्बन्ध निर्धारित करता हुआ शब्दार्थ का ज्ञान अर्जित करता है।

लोक-सिद्ध मूर्त वस्तुओं का ज्ञान शब्द-निरपेक्ष भी हो सकता है। आग को छू लेने पर जलने की पीड़ा की अनुभूति उस शिशु को भी होगी, जो आग, जलना तथा पीड़ा में से किसी शब्द को नहीं जानता। जिन विचारकों की यह मान्यता है कि समग्र ज्ञान अनिवार्यतः शब्द-बद्ध होता है वे यह मान लेते हैं कि शब्द-निरपेक्ष जान पड़ने वाले ज्ञान के मूल में भी अव्यक्त रूप से पूर्व-जन्मार्जित शब्द-संस्कार सन्निहित रहता है। ऐसी मान्यता का आधार तर्क नहीं, विश्वास होता है, जिसके खण्डन या मंडन के लिए तर्क के उपयोग की आवश्यकता नहीं। वैयाकरण जब सृष्टि के कारणभूत ब्रह्म को ही शब्दमय मानते हैं, तब शब्दातीत किसी सत्ता की कल्पना उनके मन में कैसे आ सकती? पर दूसरे दर्शन में स्वयं ब्रह्म की ही शब्दातीत सत्ता मान कर उसे वाणी से अनिर्वचनीय माना गया है। इस विवाद से यहाँ हमारा विशेष सम्बन्ध नहीं। समग्र वस्तु बोध को शब्द-बद्ध मानने वाले सिद्धान्त को इस अर्थ में तो माना ही जाना चाहिए कि समग्र लौकिक बोध शाब्द-बोध का भी विषय बन सकता है, यद्यपि दोनों बोधों का स्वरूप किञ्चित् भिन्न होता है। दूसरी बात यह कि शब्द बद्ध होकर ही लौकिक बोध विचार का विषय बनता है।

शब्द और अर्थ की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मान कर उनका अनित्य सम्बन्ध मानने वाले शब्दार्थ-द्वैतवादी विचारकों ने शब्द के अर्थ को लौकिक वस्तु-बोध के सन्दर्भ में परखने का प्रयास किया है। वे मानते हैं कि शब्द (ध्वनि समूह की नियत क्रम में व्यवस्था) और अर्थ अर्थात् शब्द से बोध्य वस्तु का परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व है। लोक-व्यवहार में किसी शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध जुड़ जाता है। यह सम्बन्ध स्थायी या नियत नहीं होता। इसीलिए कोई शब्द एक समय में जिस अर्थ का बोध कराता है, दूसरे समय में उससे भिन्न अर्थ का बोधक बन जाता है। शब्द में होने वाला अर्थ परिवर्तन, नवीन शब्दों और अर्थों का भाषा के विकास क्रम में आविर्भाव, कुछ शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध का लुप्त हो जाना आदि इस मत के पोषक तथ्य हैं। इस सिद्धान्त के मूल में यह धारणा निहित है कि शब्द का अर्थ लौकिक वस्तु-रूप होता है जिसका बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। लौकिक वस्तु के सन्दर्भ में शब्द अर्थ का प्रयोग भाषा-व्यवहार का एक अनुभव सिद्ध तथ्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, पर शाब्द-बोध और लौकिक वस्तु-बोध को एक या अन्याश्रित मान लेना तथा लौकिक वस्तु का किसी ध्वनि समूह रूप शब्द के साथ सामयिक सम्बन्ध स्वीकार कर लेना भी युक्तिसंगत नहीं।

इन दो मतों के बीच शब्द-अर्थ का सहज सम्बन्ध मानने वाला एक मत वह है जो वैज्ञानिक तथ्य पर आधृत है। जीवविज्ञानियों ने मानव मस्तिष्क की संरचना का अध्ययन करते हुए उसमें ऐसे भाषिक केन्द्र का पता लगाया है जो मनुष्य के भाषिक बोध को नियन्त्रित करता है। मनुष्य की यह भाषिक क्षमता सहजात होती हैं, जहाँ शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सहज रूप में घटित होता रहता है। अन्य जीवों से मनुष्य के वाक् यन्त्रों की विशिष्ट बनावट भी उसे भाषा व्यवहार में सक्षम बनाती है। मस्तिष्क के भाषिक केन्द्र से नियन्त्रित वाक्-यन्त्र शब्द-अर्थ का सम्बद्ध प्रयोग ही करता है। भारतीय वैयाकरणों ने प्रतिभा-धारणा में अन्तश्चेतना के आलोक में अव्यक्त शब्द के साथ अर्थ के संघटित होकर प्रतिभासित होने की मान्यता व्यक्त कर शब्द-अर्थ के ऐसे ही सहज सहभाव का सिद्धान्त स्थापित किया था। जीव-वैज्ञानिक मान्यता पर आधृत उक्त धारणा से व्याकरण की प्रतिभा-धारणा का केवल इतना अन्तर है कि जहाँ वैयाकरणों ने शुद्ध चेतना अर्थात् आत्मा के सहज प्रकाश में शब्दबद्ध अर्थ के प्रतिभास की मान्यता व्यक्त की है, वहाँ जीव-विज्ञान के तथ्य पर आधृत चिन्तन में भाषाविज्ञानियों ने भौतिक तत्त्वों से घटित मानव-मस्तिष्क के वाक्-केन्द्र को शब्द अर्थ के सम्मिलित बोध का नियामक माना है। ध्यातव्य है कि मस्तिष्क में ही चेतना की अभिव्यक्ति होती है। अतः तत्त्वतः दोनों विचार एक-दूसरे के निकट पहुँच जाते हैं।

हम देख चुके हैं कि शब्द-निर्दिष्ट वस्तु को शब्दार्थ नहीं माना जा सकता। बाह्य वस्तु-बोधक शब्दों का अर्थ भी वस्तुओं की निष्कृष्ट सत्ता भर को माना जा सकता है, जो शब्द में अपने को अभिव्यक्त कर पाती है। उस अर्थ-सत्ता को अभिव्यक्त करने के लिए ही वर्णों के यथाक्रम विन्यास से शब्द घटित होता है, और उस शब्द की निर्माण-प्रक्रिया में ही शब्द के स्वरूप के साथ उसका वाच्य अर्थ भी उसमें अन्तः संजल्प के रूप में अभिव्यक्त होने लगता है। यही शब्द-अर्थ के अभेद सम्बन्ध का रहस्य है। यह नहीं माना जा सकता कि भ.षा में कुछ अर्थहीन शब्द पहले बना लिये जाते हैं और तब उनका कुछ विशिष्ट वस्तुओं के साथ, लोकव्यवहार में, सम्बन्ध जोड़ा जाता है। शब्द के स्वरूप संघटन और अर्थ की उससे अभिव्यक्ति की प्रक्रिया उसी प्रकार एक साथ चलती है, जैसे प्राणी के शरीर और उसकी चेतना के विकास की प्रक्रिया साथ-साथ चलती है। 'या' 'तो' 'भी' आदि शब्दों के अर्थ की शब्द-निरपेक्ष सत्ता कल्पित नहीं की जा सकती। अमूर्त भाव या विचार के बोधक असंख्य शब्दों के अर्थ का स्वरूप शब्द से स्वतन्त्र सत्ता के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। असत्, अभाव, नहीं, है, एक, दो आदि का अर्थ शब्द से व्यक्त होने वाले विकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं। शब्द बोध के अर्जन के क्रम में उन शब्दों के अर्थ की ओर संकेत कर दिखाया नहीं जाता, फिर भी भाषिक व्यवहार में

उन शब्दों तथा उनसे अपृथक्-सिद्ध अर्थों को बालक सीख लेता है। निष्कर्ष यह कि भाषिक अर्थ को शब्द से पृथक् बाह्य लोक में ढूँढ़ना मनुष्य की चेतना को उसके शरीर से पृथक् ढूँढने के सामन निष्फल होगा। अर्थ की सत्ता शब्द में ही रहती है और उसके बोध में शब्द के स्वरूप का बोध भी मिश्रित रहता है। जिन लोक-सिद्ध या मानव मन से कल्पित मूर्त-अमूर्त वस्तुओं का भाषा में निर्देश होता है उनकी शब्द-निरपेक्ष सत्ता भी होती है, पर वे शब्द-बद्ध होकर ही विचार-विनिमय के योग्य बनती हैं। वे वस्तुएँ शब्द का अर्थ नहीं। शब्द परम्परया उनसे सम्पृक्त होते हैं। अतः शब्द से उनका बोध सम्भव होता है। भाषा के अर्थवैज्ञानिक चिन्तन में भाषा से निर्दिष्ट वस्तु के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक नहीं माना जाता, शब्द के संकेतित अर्थ के स्वरूप का अध्ययन ही काम्य माना जाता है। हमारी धारणा है कि शब्दार्थ का ज्ञान और वस्तु-बोध एक-दूसरे के पूरक हैं। भाषिक अर्थ और लोक-सिद्ध पदार्थ हैं तो परस्पर विलक्षण किन्तु लोक-व्यवहार में ये दोनों सहयात्री हैं, अन्योन्य सहयोगी हैं।

❀❀❀

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

हम देख चुके हैं कि अर्थ-बोध की शक्ति शब्द में ही अन्तर्निहित रहती है। इसीलिए अनेक विचारकों ने शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध माना है। व्याकरण दर्शन में अर्थ को शब्द ब्रह्म के विवर्त के रूप में स्वीकृति मिली है। वाणी और अर्थ को अभिन्न मान कर स्फोट-रूप में वाणी के अखण्ड रूप की कल्पना की गयी है, जिसमें वर्ण, पद, वाक्य आदि की तात्त्विक अभिन्नता स्वीकार की गयी है।[1] वर्ण, पद तथा वाक्य में वाणी का विभाजन केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए किया जाता है। वाणी की अखण्डता तात्त्विक है, विभाजन कल्पित। अतः व्यावहारिक सुविधा के लिए ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य को वाग्देवी के चार आस्पद माना गया है।[2] शैवमत में शब्द को शक्ति और अर्थ को शिव के रूप में कल्पित कर दोनों का अभेद सम्बन्ध माना गया है।[3]

मीमांसा दर्शन में शब्द और अर्थ के सहज नित्य सम्बन्ध का सिद्धान्त प्रतिपादित है। भारतीय काव्य तथा काव्यशास्त्र में वाणी और अर्थ के अभेद का सिद्धान्त ही बहुमान्य है। कालिदास ने शिव और शक्ति के अभेद का स्मरण वाणी और अर्थ के अभेद के उदाहरण से किया है।[4] तुलसी ने राम और सीता की—ब्रह्म तथा उसकी शक्ति की—वन्दना के क्रम में उनके सम्बन्ध को वाणी और अर्थ के सम्बन्ध के समान कहा है, जो तत्त्वतः अभेद सम्बन्ध है, भले ही उसकी प्रातिभासिक प्रतीति भेद के रूप में होती हो।[5]

काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने पद और पदार्थ की अभिन्नता स्वीकार की है। मम्मट ने कवि की भारती के जिस 'अनन्य-परतन्त्र' स्वरूप की कल्पना की है उसमें वाणी और अर्थ के अभेद की स्वीकृति अन्तर्निहित है। भोज ने वाग्देवी के

---

१. पदे न वर्णा भिद्यन्ते....

२. ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।

३. अर्थः शम्भुः शिवा वाणी।

४. वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥—कालिदास, रघुवंश, १. १.

५. गिरा अरथ जल बीचि सम लखियत भिन्न न भिन्न।—तुलसी, मानस

चार आस्पद—ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य—का उल्लेख कर उसके सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम रूप को स्मरण करते हुए, परावाक् के जिस स्वरूप की उपासना की है, उसमें वाणी और अर्थ के अभेद की स्वीकृति स्पष्ट है।[1] आचार्य कुन्तक ने 'वक्रोक्तिजीवित' में शब्द और अर्थ—अलङ्कार और अलङ्कार्य--की तात्त्विक अभिन्नता मानी है और विवेचन-विश्लेषण की व्यावहारिक सुविधा-मात्र के लिए, शब्द और अर्थ के बीच तथा शब्द में भी वर्ण, पद, वाक्य आदि के रूप में भेद-कल्पना की आवश्यकता स्वीकार की है। वे तत्त्वतः वाणी को अखण्ड मानते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन में भी वाणी और अर्थ की अभिन्नता—वाणी के स्वरूप की अखण्डता—की धारणा व्यक्त हुई है। क्रोचे के अभिव्यञ्जनावाद में वाणी और अर्थ की—कथ्य और कथन की भंगी की—अभिन्नता की मान्यता स्पष्ट है।

इस पद-पदार्थाद्वैतवाद के विरुद्ध न्याय दर्शन में वाणी और अर्थ के द्वैत के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। भौतिकवादी विचार-धारा में भी शब्दार्थ के अभेद के सिद्धान्त को अमान्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

पद और उसके अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के निर्णय के लिए दोनों के स्वरूप का निर्धारण आवश्यक है। पिछले अध्याय में अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न मतों की चर्चा की जा चुकी है। प्रस्तुत अध्याय में पद के स्वरूप और उसके साथ पदार्थ के सम्बन्ध का निरूपण अभिप्रेत है।

पद और पदार्थ का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पद वह भाषिक प्रतीक है जो अर्थ को बाहर व्यक्त करता है और दूसरों के लिए उसे बोधगम्य बनाता है। विवाद इस प्रश्न को लेकर है कि पद और पदार्थ का सम्बन्ध सनातन और सहज है या आकस्मिक और परम्परा-प्राप्त। व्याकरण में पद-पदार्थ के सम्बन्ध को स्फोट रूप में नित्य और सहज माना गया है, जब कि न्याय दर्शन में उस सम्बन्ध को अनित्य, परम्परा-प्राप्त तथा सामयिक माना गया है। बौद्ध तथा वैशेषिक दर्शन में अलग-अलग तत्त्व-चिन्तन के अनुरूप पद-पदार्थ के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। दोनों ही समान रूप से, शब्द से अर्थ का अनुमान मानते हैं। फिर भी दोनों की शब्दार्थ-सम्बन्ध-धारणा में यह मूलभूत अन्तर है कि जहाँ बौद्ध विचारकों की दृष्टि

---

१. ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।
यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवीं तामुपास्महे ॥—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, मंगल श्लोक

में शब्द और अर्थ; दोनों अयथार्थ हैं और दोनों का सम्बन्ध भी अतात्त्विक है, वहाँ वैशेषिक दर्शन में शब्द-अर्थ की तात्त्विक सत्ता मान कर भी दोनों के बीच किसी सिद्ध सम्बन्ध का निषेध किया गया है।

पद और वाक्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भी भारतीय विचारकों के दो दूरगामी विचार रहे हैं। नैयायिकों की धारणा है कि पदों के योग से ही वाक्य निर्मित होते हैं। अतः पद और पदार्थ से स्वतन्त्र वाक्य और वाक्यार्थ की सत्ता नहीं। इसके विपरीत वाक्य-स्फोटवादी वैयाकरणों की यह मान्यता है कि अखण्ड वाक्य की ही तात्त्विक सत्ता है। पद, वर्ण आदि में उसका विभाग व्यावहारिक सुविधा-मात्र के लिए किया जाता है। मीमांसा दर्शन का अभिहितान्वयवाद न्याय मत से मिलता-जुलता है तो अन्विताभिधानवाद व्याकरण के वाक्य स्फोट की धारणा से मिलता-जुलता है।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की दृष्टि से पद के स्वरूप का अध्ययन विशेष महत्त्व रखता है। वाणी के चार आस्पदों—ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य—में से पद के साथ ही अर्थ का सिद्ध सम्बन्ध माना जा सकता है। इस मान्यता को स्वीकार कर लेने पर भी कि, वाक्य का ही प्रयोग, पूर्ण अर्थ के बोध के लिए, भाषा में किया जाता है और इस लिए वाक्य ही भाषा की मूल इकाई है, वाक्य के सिद्ध स्वरूप और उसके स्थिर अर्थ की कल्पना नही की जा सकती। वाक्य स्वयं साध्य होते हैं। उनके रूप को स्थिर नहीं किया जा सकता। नये-नये वाक्यों की रचना कर नये-नये बोध व्यक्त किये जा सकते हैं, पर उनके अंग-भूत पदों का रूप नियत होता है और इस लिए पदों में ही नियत अर्थ के बोध की शक्ति मानी जा सकती है। पदों की रचना स्फुट वर्णों के मेल से होती है, पर अलग-अलग वर्णों में अर्थ-बोध की शक्ति नहीं रहती। अस्फुट ध्वनि भी अर्थ-हीन होती है।

अब प्रश्न यह है कि अर्थ-हीन वर्णों के समुदाय में अर्थ-बोध की शक्ति कब और कैसे आ जाती है? अर्थ-बोध के लिए पद और वाक्य की क्या उपयोगिता है? क्या अर्थ-बोध की प्रक्रिया में पद की वाक्य से स्वतन्त्र सत्ता मानी जा सकती है?

हम देख चुके हैं कि अर्थ-बोध की शक्ति पदों में ही रहती है। पदों के रूप सिद्ध हैं और उनका संकेत नियत रहता है। वाक्य का रूप साध्य होने के कारण उसमें अर्थ का पूर्व-संकेत नहीं माना जा सकता। वर्ण अर्थहीन होते हैं। अव्यक्त ध्वनि में भी नियत अर्थ के बोध की शक्ति नहीं रहती, भले ही मुँह से निकलने वाली कुछ अव्यक्त ध्वनियाँ पीड़ा, हर्ष आदि की अनुभूतियों का बोध करा दें।

अर्थ-हीन स्फुट वर्णों का समुदाय पद बनता है और उसमें नियत अर्थ के बोध की शक्ति आ जाती है। अस्फुट ध्वनि से स्फुट वर्णों का निर्माण कैसे हुआ, यह एक कठिन प्रश्न था और उसके समाधान के लिए प्राचीन विचारकों को दैवी शक्ति का सहारा लेना पड़ा। संस्कृत व्याकरण में यह कल्पना की गई है कि शिव ने ताण्डव नृत्य के बाद जब चौदह बार ढक्का की ध्वनि की, तो चौदह सूत्र निकले, जिनमें स्फुट स्वर-व्यञ्जन वर्णों का एक निश्चित क्रम है।[1] स्फुट वर्ण भी एक निश्चित क्रम से परस्पर मिल कर ही अर्थ-बोध करा सकते हैं। किन्हीं दो या उनसे अधिक वर्णों का योग पद नहीं माना जा सकता। 'क' और 'ख' का योग या 'A' और 'B' का योग पद नहीं, क्योंकि वर्ण-समूह होने पर भी उनमें किसी अर्थ के बोध की शक्ति नहीं। इसके विपरीत, एक वर्ण का भी पद हो सकता है, यदि उसमें नियत अर्थ का संकेत रहता है। संस्कृत में 'च' 'तु' 'हि' आदि पद हैं जिनमें एक व्यञ्जन और एक स्वर प्रयुक्त हैं। अंग्रेजी का 'a' एक निश्चित अर्थ का बोध कराने के कारण एक शब्द है। इससे स्पष्ट है कि केवल वर्णों का समुदाय निरपेक्ष भाव से शब्द या पद बनने की क्षमता नहीं रखता, अर्थ भी शब्द का नियामक होता है। वर्णों का ऐसा संयोजन कि उसमें नियत अर्थ के बोध की शक्ति आ जाय ; पद कहलाता है। कमल शब्द के स्वरूप और उसके अर्थ-बोध की प्रक्रिया पर विचार करें तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि 'क' 'म' और 'ल' में से कोई भी वर्ण किसी नियत अर्थ का बोधक नहीं। तीनों वर्णों का उक्त क्रम से संयोजन होने पर वे सम्मिलित रूप में एक निश्चित अर्थ का बोध कराते हैं। इस वर्ण-समूह का उसके खण्ड अर्थ से सम्बन्ध नहीं। क और म तक के उच्चारण से कमल के अर्थ का संकेत नहीं मिलता। यदि क और म तक का ही उच्चारण कर वक्ता चुप हो जाता है तो 'कम' शब्द का रूप बनता है जिसका अपना अर्थ है—न्यून। इस प्रकार क और म का योग भी पद का निर्माण करता है और क, म, ल का योग भी, पर दोनों पद एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। कम से कमल का कोई सम्बन्ध नहीं। इससे स्पष्ट है कि पद के स्वरूप निर्धारण में अर्थ की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

पद के नियत अर्थ के बोध की शक्ति का निर्धारण वर्णों का क्रम भी करता है। क, म, ल वर्ण इस क्रम में कमल शब्द का निर्माण कर एक विशेष अर्थ का बोध कराते हैं, पर उन्हीं वर्णों का भिन्न क्रम से संयोजन कलम शब्द का निर्माण करता है और उसका अर्थ कमल के अर्थ से सर्वथा भिन्न हो जाता है। कमल और कलम

---

१. नृत्यावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्

शब्द एक दूसरे से भिन्न हैं, यद्यपि उनके विधायक वर्ण समान हैं। शब्दों का यह भेद वर्णों के क्रम के भेद का परिणाम है। अँग्रेजी में 'G', 'O' तथा 'D' वर्णों के एक क्रम से संयोजन से God शब्द बनता है और क्रम को बदल कर संयोजन करने से Dog शब्द। स्वर के क्रम-भेद से पद और पदार्थ के भेद के भी असंख्य उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं। स्वराघात का भेद भी पद और पदार्थ में भेद लाता है। वेद में इन्द्रशत्रु का उदाहरण प्रसिद्ध है जिसमें उदात्त-अनुदात्त स्वर का क्रम-भेद पद और पदार्थ में बहुत बड़ा भेद ला देता है। अँग्रेजी में भी स्वराघात उच्चारण में लक्षित है और उससे शब्द और अर्थ में अन्तर आता है। Desert और Desert का भिन्न स्वराघात के साथ उच्चारण भिन्न-भिन्न पदों का बोधक है। एक संज्ञा-पद है, दूसरा क्रिया-पद।

ध्यातव्य है कि वर्णों के क्रम में विपर्यय होने पर अर्थ की भिन्नता आ जाने पर ही पदों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। भाषा में प्रयोग की दृष्टि से वर्ण-विपर्यय के असंख्य उदाहरण मिलते हैं। नालिकेर > नारिकेल, लखनउ > नखलउ, अमरूद > अमदुर आदि में वर्णों का विपर्यय होने पर भी विकृत शब्द को मूल शब्द से अभिन्न ही माना जाता है। अतः पद के स्वरूप-विधान के लिए वर्णों का नियत क्रम तथा अर्थहीन वर्णों की अर्थवत्ता; दोनों अपेक्षित हैं।

संस्कृत व्याकरण में पद के रूप-विधान के लिए नियत क्रम में वर्णों के संयोजन तथा उसकी अर्थवत्ता के साथ एक और तत्त्व आवश्यक माना गया है। वह है—उसका विभक्ति से युक्त होना। विभक्ति से रहित अर्थवान् वर्ण-समुदाय या तो प्रातिपदिक होंगे या धातु। प्रातिपदिक और धातु में अर्थबोध की शक्ति अवश्य रहती है, पर विभक्ति के योग के बिना भाषा में उनका प्रयोग सम्भव नहीं होता। प्रातिपदिक और धातु अर्थतत्त्व हैं तो विभक्ति और प्रत्यय सम्बन्ध-तत्त्व। प्रातिपदिक और धातु को उनके मूल रूप में शब्द तो कहा जा सकता है, पर पद नहीं। सम्बन्ध तत्त्व का योग उन्हें वाक्य में प्रयोग के योग्य बनाता है और उन्हें पद का व्यपदेश देता है। इस प्रकार संस्कृत व्याकरण के अनुसार विभक्ति युक्त सार्थक वर्णसमुदाय को पद माना जाना चाहिए। किन्तु संसार में स्थान-प्रधान अनेक भाषाएँ हैं, जिनमें शब्दों को वाक्य में प्रयोग के योग्य बनाने के लिए विभक्ति का योग आवश्यक नहीं माना जाता। शब्दों का स्थान ही वाक्य में दूसरे पदों के साथ उनके सम्बन्ध का बोध कराता है। अतः शब्द में नियत क्रम से वर्णों का संयोजन और उसकी अर्थवत्ता सार्वत्रिक रूप से पद के नियामक के रूप में स्वीकार्य है। अर्थ तत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व का योग भाषा विशेष की प्रकृति के अनुरूप पद का घटक या अघटक माना जा सकता है। उपसर्ग और निपात जैसे अव्यय पदों में

लुप्त विभक्ति की कल्पना की गयी है। आधुनिक भाषा विज्ञान में Zero Morpheme की कल्पना भी ऐसी ही है। इस प्रकार की कल्पना से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि पद के विधायक या सम्बन्ध-सूचक प्रत्यय के बिना उसमें भाषा में प्रयोग की योग्यता नहीं आती। सार्थक वर्ण-समूह शब्द हैं जो प्रत्यय का योग होते पर भाषा में प्रयुक्त हो सकते हैं।

अब समस्या यह है कि किसी पद के वर्ण-समूह का बोध किस रूप में होता है। यह युक्ति दी गयी है कि जिस प्रकार वन शब्द से वृक्ष, लता, झाड़ी आदि का समूहालम्बनात्मक रूप में अर्थबोध होता है, उसी प्रकार वर्णसमुदाय का समूहालम्बनात्मक बोध हुआ करता है।[1] ध्यातव्य है कि वन शब्द के अर्थ के रूप में विभिन्न पदार्थों का जो समूहालम्बनात्मक बोध होता है उसमें वस्तुओं के बोध का कोई क्रम नहीं होता, सभी वस्तुओं के सम्मिलित रूप का एक साथ बोध होता है, पर पदों में वर्णों का एक निश्चित क्रम होता है और उस क्रम के साथ ही पदों का बोध सम्भव होता है। दूसरी बात यह कि वन के जिस सामान्य स्वरूप का बोध होता है, उसमें वन की किसी अङ्गभूत वस्तु के नष्ट होने या नयी वस्तु के उगने से कोई बोधगत भेद नहीं आता, पर पदों के अङ्गभूत वर्णों और उनके क्रम का जो विशिष्ट बोध होता है उसमें पदों के अङ्गभूत किसी वर्ण का लोप होने या विपर्यय होने से पद के बोध में भिन्नता आ जाती है। कमल शब्द के आदि मध्य या अन्त के वर्ण का लोप होने पर क्रमशः मल, कल या कम शब्द का बोध होगा जो मूल शब्द के बोध से तत्त्वतः भिन्न होगा। वर्ण-विपर्यय होने पर कमल शब्द के घटक तीन वर्ण कलम शब्द का रूप-विधान कर सकते हैं जो शब्द कमल शब्द से सर्वथा भिन्न है। हाँ, वर्ण-विपर्यय से शब्द में रूपगत भिन्नता होने पर भी अर्थ की अभिन्नता रहे तो मूल और विकृत पदों को एक माना जा सकता है। अर्थ को पद का नियामक मानने के कारण ही भारतीय वैयाकरणों ने इस सिद्धान्त की स्थापना की है कि अर्थभेद से शब्द भिन्न होते हैं। अनेकार्थवाची एक पद को भी वे अलग-अलग अर्थ के अनुरूप अनेक पद मानते हैं, भले ही उन पदों का रूप समान उच्चारणस्थान तथा प्रयत्न के कारण अभिन्न हो। स्पष्ट है कि वन शब्द के अर्थबोध में तथा पदों के स्वरूप-बोध में कुछ भेद है फिर भी प्राधान्य के आधार पर बोध के समूहालम्बनत्व को दृष्टि में रखकर पद में वर्णसमूह के बोध को वन शब्द से विभिन्न वस्तुओं के समूहात्मक बोध के समान कहा गया है।

एक प्रश्न यह है कि वर्णों का नियत क्रम से संयोग यदि अर्थबोध की शक्ति पाता है तो वह शक्ति उसमें कब और कहाँ आती है? उदाहरण के लिए कमल

१. समुदायोऽभिधेयः स्यादविकल्पसमुच्चयः। वा० प० २,१२६

शब्द में क, म, और ल; ये तीन वर्ण हैं और उनका एक नियत क्रम है। इनमें से किसी भी एक वर्ण के लुप्त होने या वर्णों के उस क्रम का भङ्ग होने पर कमल शब्द का अस्तित्व मिट जाता है और उसमें उस अर्थविशेष के बोध की शक्ति नहीं रह जाती है। उक्त तीन वर्णों के उस नियत क्रम में जिस अर्थ का बोध कराने की शक्ति है वह क्या 'क' में है, या 'म' में है या 'ल' में है? स्पष्ट है कि अलग-अलग क, म या ल में अर्थबोध की शक्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वर्ण अर्थ-हीन होते हैं। अतः वर्णों के नियत क्रम से युक्त समूह में ही अर्थबोध की शक्ति मानी जा सकती है। किसी शब्द के अवयव-भूत सभी वर्ण समग्रता में ही अर्थबोध करा सकते हैं। अब प्रश्न है कि वर्णों के क्रम और उनकी समग्रता की धारणा क्या एक साथ सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर दर्शन के अलग-अलग सम्प्रदायों में अलग-अलग दिया गया है जिन पर उन दार्शनिकों के तत्त्व-चिन्तन का प्रभाव है।

शब्द की नित्यता में विश्वास रखने वाले दार्शनिकों के लिए इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं। उनकी दृष्टि में क, म और ल का उच्चारण होता तो क्रम से ही है, पर 'क' का उच्चारण कर लेने के बाद जब हम 'म' का उच्चारण करते हैं तो पूर्व-उच्चरित क वर्ण लुप्त नहीं हो जाता। वह नित्य है, अक्षर है। अतः उसके विनाश की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार ल का उच्चारण करने के समय पूर्व उच्चरित क और म का भी अस्तित्व बना रहता है और फलतः उक्त तीनों वर्णों का, उनके क्रम का तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का बोध एक साथ होता है। इस शब्द-रूप के बोध के साथ ही उसके अर्थ का भी बोध होता है। शब्द के रूप और उसके अर्थ का बोध पृथक्-पृथक् नहीं होता। हाँ, कुछ स्थितियों में केवल शब्द का बोध हो सकता है। सभी पदों का अर्थ सब जानें ही, यह आवश्यक नहीं। विदेशी भाषा के अनेक शब्दों को सुन कर भी व्यक्ति उनके अर्थ को नहीं जानता। अपनी भाषा के भी सभी शब्दों का अर्थ व्यक्ति, ज्ञान की सीमा के कारण, नहीं जानता। दूसरी बात यह है कि जिस पद के सङ्केतित प्राकृतिक पदार्थ से हम परिचित हैं उसके अर्थबोध का स्वरूप ऐसे पद के अर्थबोध के स्वरूप से थोड़ा भिन्न अवश्य होता है जिसके द्वारा सङ्केतित प्राकृतिक वस्तु से हमारा परिचय नहीं। उदाहरण के लिए कमल शब्द से हमें न केवल भाषिक अर्थबोध होता है वरन् उस नाम की प्राकृतिक वस्तु से पूर्व परिचय रहने के कारण, वह शब्द हमारे मन में प्राकृतिक वस्तु-विशेष का रूप भी स्पष्टता से उभार देता है, पर जब हम 'अशोक के फूल' जैसे शब्द को सुनते हैं तब इन पदों की केवल भाषिक प्रतीति ही होती है। अँग्रेजी भाषा में अनेक ऐसे फूलों के नाम हम सुनते हैं, जिनके केवल कोशार्थ के बोध से ही हमें संतोष करना पड़ता है। पदों के बोध के साथ उनके अर्थ-बोध का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं, पर पदार्थ के बोध में पद

के स्वरूप का बोध अनिवार्यतः निहित रहता है। यह विचारणीय है कि जिन पदों के अर्थ का बोध हमें नहीं होता, उनके स्वरूप की पूर्णता-अपूर्णता का निर्णय हम कैसे कर सकते हैं? हम 'कमल' को भी पूर्ण पद मानते हैं और उसके एक अंग 'कम' को भी स्वतः-पूर्ण पद मानते हैं। कलम, कलश, कलह आदि भी एक-एक अखण्ड शब्द हैं और कल भी। निश्चय ही इनकी रूप-गत पूर्णता का निर्णय अर्थ के आधार पर ही होता है। वर्णों का क्रम जहाँ पहुँच कर एक विशिष्ट अर्थ का बोध करा दे, वहाँ तक वर्णों के क्रम-समूह को एक शब्द मान लिया जाता है, पर जिन पदों का अर्थ ज्ञात नहीं रहता उनके स्वरूप का बोध भी तो होता ही है! वहाँ पद का स्वरूप-निर्धारण व्यक्ति अर्थ के आधार पर नहीं, वर्णों के सम्बन्ध-मात्र के आधार पर करता है। एक क्रम से गुम्फित वर्ण-समूह जहाँ विराम की स्थिति में आते हैं और शब्द के एक विशिष्ट रूप का बोध हो जाता है, वहीं तक के वर्ण-क्रम को एक पद में सम्बद्ध मान लिया जाता है। ध्यातव्य है कि शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं रखने वाले व्यक्ति बहुधा वर्ण-क्रम में शब्द के स्वरूप को समझने में भी गलती किया करते हैं। शब्द के स्वरूप का नियामक अर्थ है। अतः शब्द के प्रामाणिक ज्ञान के लिए उसके अर्थ का ज्ञान भी आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में शब्द को अनित्य मानने वाले विचारकों की युक्ति यह है कि वर्ण उच्चरित होते ही लुप्त हो जाते हैं। क्षण भर भी उनका अस्तित्व नहीं रहता। उनके उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय तक ही उनकी सत्ता रहती है। शब्द या पद में वर्ण चूँकि एक नियत क्रम से परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, इसलिए किसी पद के सभी वर्णों के एक साथ उच्चारण की सम्भावना तो हो ही नहीं सकती। वर्णों का उच्चारण एक क्रम से होता है और उसी क्रम से एक-एक उच्चरित वर्ण विनष्ट होता जाता है। ऐसी स्थिति में उच्चरित एवं तत्काल लुप्त वर्ण का उसके बाद उच्चरित होने वाले वर्ण के साथ सम्बन्ध कैसे सिद्ध किया जा सकता है? 'कमल' शब्द में 'क' के उच्चारण के बाद जब हम 'म' का उच्चारण करते हैं तब तक 'क' का अस्तित्व मिट जाता है और 'ल' के उच्चारण के समय 'क' और 'म'; दोनों का अस्तित्व समाप्त हो चुका रहता है। तब क्या अन्तिम वर्ण में, अर्थात् ल में अर्थ के बोध की शक्ति मानी जानी चाहिए? केवल 'ल' को कमल का वाचक कथमपि नहीं माना जा सकता। वस्तुतः उस एक वर्ण में किसी भी अर्थ के बोध की शक्ति नहीं। वह अन्य वर्णों के साथ मिलकर ही अर्थ बोध की शक्ति पाता है। इस समस्या का समाधान इस तर्क से किया गया है कि किसी शब्द में क्रमशः आने वाले वर्ण एक क्रम से उच्चरित और तत्क्षण लुप्त होते जाते हैं, पर उनका संस्कार अवशिष्ट रहता है और शब्द के अन्तिम वर्ण का

उच्चारण होते ही पूर्व-उच्चरित वर्णों का संस्कार उसके साथ मिलकर सम्पूर्ण शब्द के स्वरूप का बोध कराता है। शब्द को नित्य तथा अनित्य मानने वाले विचारकों ने अपने-अपने मत के पोषण के लिए अनेक युक्तियाँ दी हैं, जिनका मूल्यांकन हम उचित सन्दर्भ में करेंगे।

पद के बोध और पदार्थ के बोध के स्वरूप का तथा पद-पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण करने के क्रम में एक प्रश्न यह उठाया गया है कि शब्द का ग्रहण केवल कान से होता है, पर शब्द से संकेतित अर्थ का बोध विभिन्न इन्द्रियों से हो सकता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के विविध रूपों के वाचक शब्द ही होते हैं। वाचक का ग्रहण तो श्रवणेन्द्रिय से होता है, पर उन शब्दों के अर्थ नेत्र, नासिका आदि इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं। इस आधार पर न्याय दर्शन में पद को प्रकाशक और पदार्थ को प्रकाश्य माना गया है। नैयायिकों की युक्ति है कि किसी पद से उसके अर्थ की स्मृति मात्र होती है। उदाहरण के लिए घट शब्द और उसके अर्थ में न केवल बोध कराने वाली इन्द्रियों क भेद है, वरन् उस शब्द और उसके अर्थ में देश काल का भेद भी है। घट शब्द वक्ता के मुख से उच्चरित होकर श्रोता के कान से गृहीत होता है, पर घट नाम से अभिहित होने वाली वस्तु कुम्भकार के घर में तथा अन्य लोगों के घर में रह सकती है और उसका चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण हो सकता है। देश-काल तथा बोध के माध्यम के इस भेद के कारण शब्द और अर्थ में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। शब्द से अर्थ का केवल स्मरण होता है।

इस प्रकार की युक्ति का आधार बहुत दुर्बल है। यह समग्र तर्क-पद्धति इस मान्यता पर आधृत है कि शब्द का अर्थ प्राकृतिक अर्थ से अभिन्न है। तथ्य यह है कि पद का अर्थ बोध-रूप हुआ करता है, प्राकृतिक वस्तु-रूप नहीं। पद से मन में वस्तु का जो बोध उत्पन्न होता है, वही पद का अर्थ है। वह बोध वस्तु के सामान्य का होता है विशिष्ट रूप का नहीं। पद यदि विशिष्ट वस्तु का वाचक होता तो उस विशिष्ट वस्तु के निरन्तर होने वाले रूप-परिवर्तन के साथ उसके वाचक पद में भी निरन्तर परिवर्तन की आवश्यकता होती। कुछ स्थितियों में ऐसा होता भी है, पर उसे पद से विशिष्ट प्राकृतिक पदार्थ के बोध का प्रमाण नहीं माना जा सकता। कली की एक अवस्था के बाद उसके लिए फूल शब्द का प्रयोग किया जाता है। शिशु, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्ध आदि का प्रयोग भी एक वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के लिए अलग-अलग पद के प्रयोग का उदाहरण है। पर उससे पद का प्राकृतिक वस्तु के विशिष्ट रूप का वाचक होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। उक्त पदों में से कोई भी पद किसी एक ही प्राकृतिक पदार्थ का वाचक

नहीं, वस्तुओं के एक सामान्य या जाति का वाचक है। इसी लिए शब्द और अर्थ को अभिन्न मानने वाले वैयाकरणों ने अर्थ को बोध रूप या विकल्प रूप माना है। कारनेप आदि भाषाविज्ञानियों की मान्यता में इस विचार की छाया मिलती है। वस्तुओं की जाति या सामान्य के बोध को पद का अर्थ मान लेने पर शब्द और अर्थ को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों के भेद तथा उनके देश-काल के भेद का प्रश्न नहीं उठता। कुछ भाषाविज्ञानियों ने शब्द को अर्थ का symbol (प्रतीक) माना है। मनोविज्ञान में शब्द को अर्थ-बोध का उत्तेजक (stimulus) मान कर शब्दार्थ के सम्बन्ध पर विचार किया गया है।

पद तथा पदार्थ के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ऊपर जिन कुछ समस्याओं की चर्चा की गयी है उससे इस विषय की जटिलता एवं इस विषय के प्रतिपादन में विचारकों ने मतवैभिन्न्य का परिचय मिलता है। अतः इस प्रसंग में पद-पदार्थ विषयक विभिन्न मतों का परीक्षण वाञ्छनीय है।

स्फोटवाद—पद-पदार्थ के स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में व्याकरण दर्शन में स्फोट-सिद्धान्त की कल्पना की गयी है। यह स्पष्ट है कि हमारा ध्वनि-यन्त्र एक समय एक ही ध्वनि का उच्चारण कर सकता है और उस ध्वनि या वर्ण को पद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसका अपना कोई अर्थ नहीं। अर्थवान वर्णसमूह का उच्चारण क्रम से ही होता है, एक समय नहीं। ऐसी स्थिति में जब हम यह कहते हैं कि 'मनुष्य शब्द का अर्थ है चिन्तन की शक्ति रखने वाला एक विशेष प्राणी' तो प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य का उच्चारण तो हम समग्रतः कर ही नहीं सकते, 'म' आदि कुछ वर्णों का क्रमशः ही उच्चारण करते हैं तब यह अर्थ किस वर्ण का माना जाय? हम 'मनुष्य' पद की समग्र रूप में सत्ता मान लेते हैं, क्या इसे वैज्ञानिक मान्यता माना जा सकता है?

इस समस्या के समाधान के लिए व्याकरण दर्शन में स्फोट-सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। इस सिद्धान्त के प्रवर्तक स्फोटायन माने जाते हैं जिसका उल्लेख हरदत्त ने काशिका की पदमंजरी टीका में किया है।[1] नागेश ने भी स्फोट-वाद का प्रवर्तक स्फोटायन को ही माना है।[2] पद-पदार्थ के स्वरूप के सन्बन्ध में

---

१. स्फोटोऽयनं परायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः।—काशिका, पदमंजरी ६,१,१२३.

२. वैयाकरण नागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम्। परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतां जगदीश्वरः॥

औदुम्बरायण के मत का खण्डन करने के लिए यास्क ने निरुक्त में स्फोट-सिद्धान्त का प्रथम उल्लेख किया था, जिस सिद्धान्त की पुष्टि पीछे चलकर व्याकरण के अनेक विचारकों ने यौक्तिक पद्धति पर की है। औदुम्बरायण का मत था कि एक निश्चित क्रम में गुम्फित वर्ण-समूह से पृथक् पद की कोई सत्ता नहीं। अतः पदों का चार वर्गों में—नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात के वर्गों में—विभाजन युक्तिसंगत नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वैयाकरण पद के उक्त चार प्रकार स्वीकार करते हैं। यास्क ने औदुम्बरायण के उक्त मत के विरुद्ध यह युक्ति दी है कि शब्द सर्वव्यापी और शाश्वत हैं, अतः उक्त चार वर्गों में उनका विभाजन किया जा सकता है।[1] मीमांसा दर्शन की एक शाखा में भी शब्द को नित्य और व्यापक माना गया है। यास्क उससे सहमत हैं। यास्क ने अपनी इस युक्ति में उच्चरित वर्णों के समुदाय-रूप मूर्त शब्द से—जिसे उत्पत्ति-विनाशशील माना जा सकता है—शब्द की अधिक व्यापक सत्ता मानी है, जिस अमूर्त रूप में शब्द व्यापक और सनातन है। उच्चरित शब्द के उत्पत्ति-विनाशशील होने पर भी स्फोट के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है।

जिसकी सहायता से वर्ण, पद या वाक्य का अर्थ प्रकाशित होता है, उसे स्फोट कहते हैं। इस प्रकार, अर्थ-बोध में उपयोगी शक्तिशाली पदार्थ को ही स्फोट कहा जाता है। वर्ण के अर्थ-बोध में उपयोगी स्फोट को वर्णस्फोट, पद के अर्थ-बोध में उपयोगी स्फोट को पदस्फोट तथा वाक्य के अर्थबोध में उपयोगी स्फोट को वाक्य-स्फोट कहा जाता है। स्फोट का यह विभाजन स्थूल है। केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए इस प्रकार के स्थूल विभाजन की उपादेयता मानी जा सकती है। वर्णों का समूह पद कहलाता है और पदों का समूह वाक्य बनता है, किन्तु वर्ण, पद आदि क्षणिक अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील हैं। उच्चारण के साथ ही वर्ण, पद आदि का विनाश हो जाता है। अतः एक समय अनेक वर्णों या अनेक पदों का एकत्र समावेश सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में अनेक वर्ण, पद आदि का सम्मिलित अर्थबोध कैसे सम्भव माना जायगा? इसी समस्या का समाधान स्फोटवाद में इस मान्यता के द्वारा किया गया है कि पदार्थ के शाब्दबोध में पद का ज्ञान तथा वाक्यार्थ के शाब्दबोध में वाक्य का ज्ञान ही कारण बनता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि संसार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं, जो शब्दसम्पर्क के बिना उत्पन्न हो सके।[2] शब्द-ज्ञान से ही अर्थबोध सम्भव होता है। भर्तृहरि आदि वैयाकरणों के अनुसार ज्ञान वही है, जो मन में शब्द के साथ ग्रथित

१. व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य ०००० । निरुक्त
२ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते ।—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १, १३२

होकर आता है। अतः अर्थबोध के अनुकूल स्फोट-नामक पदार्थ की कल्पना आवश्यक है। वाचकता अर्थात् मुख्य अर्थ की प्रकाशकता को स्फोट का एकमात्र धर्म माना गया है। इस प्रकार वर्ण, पद अर्थात् नियत सम्बन्ध सूत्र में ग्रथित वर्ण-समूह तथा वाक्य अर्थात् निश्चित सम्बन्ध सूत्र में ग्रथित पद-समूह का ज्ञान एवं उनके अर्थ का ज्ञान और अर्थ के साथ वर्ण, पद और वाक्य के सम्बन्ध का ज्ञान स्फोट की व्यापक धारणा में सन्निविष्ट है। यही शब्द-तत्त्व है जो वर्ण, पद आदि के उत्पत्ति-विनाशशील होने पर भी उनके स्वरूप का तथा अर्थ के साथ उनके सम्बन्ध का बोध कराता है। शब्द, अर्थ तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध; इन तीनों का ज्ञान शाब्दबोध के लिए आवश्यक है। इनमें से किसी भी एक अंग के ज्ञान का अभाव होने पर शाब्दबोध सम्भव नहीं होता। यही कारण है कि विदेशी भाषा के किसी पद के स्वरूप का ज्ञान होने पर भी हमें उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता, जब तक हम उसके अर्थ के साथ उसके सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लें। शब्द और उसके अर्थ के बीच के सम्बन्ध का हमारा अज्ञान उस शब्द और उसके अर्थ के अभेद सम्बन्ध को खण्डित नहीं कर सकता।

आधुनिक भाषा-विज्ञान में जब शब्द को अर्थ का प्रतीक (symbol) माना जाता है, तब शब्द के स्वरूप, उसके अर्थ तथा उनके बीच के सम्बन्ध का ज्ञान शाब्दबोध के लिए आवश्यक माना जाता है। प्रतीक का प्रयोग अर्थ के साथ उसके सम्बन्ध का निश्चित ज्ञान रहने पर ही सम्भव होता है। इस दृष्टि से स्फोटवादी वैयाकरणों की शब्दतत्त्व विषयक मान्यता का महत्त्व समझा जा सकता है।

स्फोटवादी विचारकों की मान्यता है कि स्फोट अव्यक्त और नित्य है। ध्वनि या वर्ण उस नित्य और अव्यक्त स्फोट को व्यक्त करते हैं। जिस प्रकार अव्यक्त, नित्य तथा व्यापक जाति की अभिव्यक्ति व्यक्तियों में होती है, उसी प्रकार अव्यक्त, नित्य तथा व्यापक स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनियों में होती है। इस लिए स्फोटरूप शब्द-तत्त्व की ही तात्त्विक सत्ता मानी जाती है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इस तथ्य का उल्लेख किया है कि स्फोट ही शब्द का तात्त्विक रूप है। ध्वनि शब्द का गुण है, जिस ध्वनि में स्फोटरूप शब्द की अभिव्यक्ति होती है।[1]

स्फोट सिद्धान्त के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह उठाया गया है कि यदि शब्द-तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है और ध्वनि या वर्ण को अपने से भिन्न उस शब्द-

---

१. एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः।—पतञ्जलि, महाभाष्य, १, १, ६९.

तत्त्व का प्रकाशक मात्र माना जाता है तो क्या प्रत्येक वर्ण को अलग-अलग शब्द-तत्त्व का प्रकाशक माना जायगा या वर्ण समूह को सम्मिलित रूप में उसका प्रकाशक माना जायगा ? उदाहरण के लिए 'कमल' शब्द में तीन वर्ग विशिष्ट प्रकार के सम्बन्ध-सूत्र में ग्रथित हैं। प्रश्न यह है कि क्या इनमें से प्रत्येक वर्ण को अलग-अलग कमल के स्फोटरूप शब्द-तत्त्व को प्रकाशित करने में समर्थ माना जायगा, या तीनों वर्णों को एक साथ मिल कर उसके प्रकाशन में समर्थ माना जायगा ? नैयायिकों की युक्ति है कि न तो पद के सभी वर्णों को अलग-अलग शब्दतत्त्व का प्रकाशक माना जा सकता है और न सभी वर्णों के सम्मिलित रूप को ही उस शब्द-तत्त्व के प्रकाशक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्येक वर्ण को अलग-अलग स्फोट-रूप शब्द का प्रकाशक मानने में आपत्ति यह है कि तब पद में सभी वर्णों को अलग-अलग एक ही शब्द तत्त्व का प्रकाशक मानना पड़ेगा और पद में एक वर्ण को छोड़ अन्य वर्णों के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं रह जायगा। क, म, और ल में से प्रत्येक यदि कमल शब्द का प्रकाशक माना जाय तो उनमें से किसी एक ही वर्ण का प्रयोग कमल के लिए होना चाहिए। अतः वर्णों को अलग-अलग स्फोट का प्रकाशक नहीं माना जा सकता। सभी वर्णों के सम्मिलित रूप से स्फोट के प्रकाशन की कल्पना में आपत्ति यह है कि एक साथ किसी पद के सभी वर्णों के सम्मिलित रूप का उच्चारण सम्भव नहीं। एक वर्ण के उच्चारण के समय पूर्व उच्चरित वर्ण लुप्त हो जाता है। अतः वर्णों के सम्मिलित रूप को भी स्फोट रूप पद का प्रकाशक कैसे माना जायगा ?[1]

स्फोटवादी वैयाकरणों की मान्यता यह है कि ध्वनि-समूह का अर्थात् व्यक्त शब्द का प्रथम वर्ण ही उस नित्य निर्विकल्प स्फोट-रूप शब्द-तत्त्व को प्रकाशित कर देता है। उदाहरणार्थ, कमल का उच्चारण करने के क्रम में 'क' का उच्चारण होते ही अव्यक्त कमल-रूप शब्द-तत्त्व का प्रकाशन होने लगता है। इस मान्यता के विरुद्ध जो यह युक्ति दी गयी है कि 'क' से कमल का बोध हो जाने पर उस पद के म और ल ध्वनियों के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं रह जायगा, उसके उत्तर में वैयाकरणों का कथन यह है कि व्यक्त पद के प्रथम वर्ण से शब्द-तत्त्व का प्रकाशन

---

१. ननु स्फोटव्यक्तौ अपि इदानीं क्व गतास्ते वर्णानां व्यस्तसमस्तादि विकल्पाः ? आह चभट्टः—
यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्येत वर्णबुद्धिभिः।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनापि विमुच्यते॥ इति—न्यायमंजरी, खण्ड १ पृ. ३३९

मान लेने पर भी उस पद के अन्य वर्णों की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती। परवर्ती अन्य वर्ण प्रथम वर्ण से अभिव्यक्त शब्दतत्त्व को और अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त करने में सहायक होते हैं। इस मान्यता की पुष्टि के लिए एक उदाहरण दिया गया है। मणि के प्रथम दर्शन में ही मणि तत्त्व दर्शक की दृष्टि में व्यक्त हो जाता है, पर इससे उसके पुनः-पुनः निरीक्षण की व्यर्थता सिद्ध नही हो जाती। उसके पुनः-पुनः निरीक्षण से मणितत्त्व रत्नपारखी की दृष्टि में और अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। उसी प्रकार शब्द के प्रथम वर्ण से प्रकाशित शब्दतत्त्व में अन्य वर्ण विशिष्टता और स्पष्टता लाते हैं।[1]

ध्यातव्य है कि जिस दृष्टान्त से पद के प्रथम वर्ण से शब्दतत्त्व अर्थात् स्फोट की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त को दृढ करने का प्रयास किया गया है, उस दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक के स्वरूप में किञ्चित् भिन्नता है। प्रथम प्रकाशित मणितत्त्व के स्पष्ट रूप को परखने के लिए पहले देखी हुई वस्तु का ही बार-बार अवलोकन किया जाता है, पर शब्द में प्रथम वर्ण से प्रकाशित शब्दतत्त्व या स्फोट के स्वरूप का स्पष्टीकरण प्रथम वर्ण से भिन्न अन्य वर्णों से होता है। कमल में यदि क से स्फोट की अभिव्यक्ति और म तथा ल से उस अभिव्यक्त शब्दतत्त्व की पुष्टि मानी जाती है तो उसके लिए मणितत्त्व के अधिकाधिक स्पष्ट ज्ञान के लिए मणि के बार-बार निरीक्षण का उदाहरण सर्वथा उपयुक्त नहीं जान पड़ता। हाँ, प्रथम वर्ण से स्फोट के प्रकाशित होने के कुछ प्रमाण व्यवहार में भी अवश्य उपलब्ध होते हैं। जब वक्ता के द्वारा उच्चारित अधूरे पद या वाक्य से श्रोता पूर्ण अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर लेता है अथवा कुछ ही वर्णों का उच्चारण कर किसी कारणवश वक्ता के चुप हो जाने पर जब श्रोता सम्पूर्ण पद या वाक्य के अर्थ को समझ लेता है, तो उसे प्रथम वर्ण से स्फोट की प्रकाशकता का एक प्रमाण माना जा सकता है। वाक्य के एक अंश से वाक्य स्फोट के असंख्य उदाहरण भाषा के व्यवहार में उपलब्ध होते हैं। वाक्य के स्थान पर एक पद का या कुछ पदों का प्रयोग तथा उससे वाक्यार्थ का बोध वाक्य-स्फोट के वाक्य के आरम्भ में ही प्रकाशित होने का प्रमाण माना जा सकता है। निश्चय ही अपूर्ण पद या वाक्य से पदस्फोट या वाक्यस्फोट का ज्ञान अनुमान के आधार पर होता है। कहीं-कहीं वक्ता के विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ का बोध भी श्रोता को हो जाता है। इसी लिए पद या वाक्य में प्रयुक्त समग्र वर्ण-संघ की स्फोट की स्पष्ट अभिव्यक्ति में उपयोगिता स्वीकार की गयी है। इस प्रकार स्फोट अर्थात् नित्य निर्विकल्प शब्द-तत्त्व के प्रकाशन के सम्बन्ध में स्फोट-

---

१. सामस्त्येन तु तद्व्यक्तिः सर्वान्ते मणितत्त्ववत्। —भर्तृहरि, वाक्यपदीय

वादी विचारकों की मान्यता का सार यह है कि पद या वाक्य के प्रथम वर्ण से ही वह स्फोट-तत्त्व प्रकाशित हो उठता है तथा उस पद या वाक्य में आने वाले अन्य सभी वर्ण उस तत्त्व को अधिकाधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने में सहायक होते हैं। अतः पद या वाक्य की कोई भी ध्वनि व्यर्थ नहीं होती। स्फोट और व्यक्त वर्णसमूह अर्थात् व्यक्त पद, वाक्य आदि का सम्बन्ध जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध के समान माना गया है। जिस प्रकार व्यक्ति के आविर्भाव के साथ ही उसमें जाति की प्रकाशकता मानी जाती है, उसी प्रकार ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य के उत्पन्न होते ही, उसके आरम्भ से ही स्फोट-रूप शब्द-तत्त्व की प्रकाशकता का सिद्धान्त माना गया है।

अब प्रश्न यह है कि स्फोट की सत्ता प्रत्यक्ष-सिद्ध है, या अनुमान-सिद्ध ? वैयाकरणों ने स्फोट को प्रत्यक्ष-सिद्ध भी माना है और अनुमान-सिद्ध भी। किसी भी वर्ण-समूह से उसके जिस विशिष्ट अर्थ का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय है। उदाहरण के लिए गाय या कमल शब्द में परस्पर सम्बद्ध वर्णों का एक अखण्ड इकाई के रूप में बोध होता है और उन पदों के अर्थ का ग्रहण भी एक इकाई के रूप में ही होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि चूँकि पद में अनेक वर्णों का बोध पृथक्-पृथक् और क्रमशः होता है, इसलिए पद की इकाई की अवधारणा भ्रमात्मक या आभास-रूप होती है। कारण यह है कि भ्रमात्मक ज्ञान का यथार्थ ज्ञान से परिहार हो जाता है। यदि गाय और कमल आदि पदों के प्रत्यय को आभास-रूप या भ्रमात्मक माना जाय तो कलान्तर में उन वर्ण-संघों का दूसरे पद के रूप में यथार्थ ज्ञान होने पर भ्रममूलक पूर्वज्ञान का परिहार हो जाना चाहिए, पर तथ्य यह है कि गाय आदि पदों में प्रयुक्त वर्ण-समूह एक समय जिन पदों का बोध कराते हैं, उनसे कालान्तर में भी उन्हीं पदों का बोध होता है। अतः वर्ण-समूह से पद का एक इकाई के रूप में प्रत्यय यथार्थ है, आभास-रूप नहीं।[1]

शब्द स्फोट रूप में नित्य, अखण्ड, अव्यक्त और व्यापक है, ध्वनि रूप में वह अनित्य और उत्पत्ति-विनाशशील है। ध्वनि से वह अव्यक्त शब्द-तत्त्व अभिव्यक्त होता है। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर आचार्य व्याडि ने 'संग्रह' नामक ग्रन्थ में शब्द को नित्य और अनित्य दोनों माना है। जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को नित्य, व्यापक, अखण्ड और अव्यक्त मान कर उसकी बीज शक्ति माया से सृष्टि का आविर्भाव अर्थात् अव्यक्त ब्रह्म की नामरूपात्मक जगत में अभिव्यक्ति

१. न्यायमञ्जरी, १, पृ० ३४०-४१.

माना गया है, उसी प्रकार स्फोटवाद में अव्यक्त और नित्य शब्दतत्त्व की ध्वनि से अभिव्यक्ति मानी जाती है। वेदान्त में सृष्टि की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की जाती है, स्फोटवादी भी व्यक्त ध्वनि को भ्रमात्मक प्रतीति या प्रतिभास-रूप नहीं मानकर उसकी व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं।

उस नित्य और अखण्ड शब्द-तत्त्व में, शब्द और अर्थ में कोई भेद नहीं। उस मूल रूप में शब्द-अर्थ एकाकार हैं। वह शब्द-तत्त्व अविभाज्य, निरङ्ग और नित्य है। व्यवहार में शब्द और अर्थ को पृथक्-पृथक् कल्पित कर लिया जाता है।[1]

स्फोट-रूप शब्द-तत्त्व को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि के दो रूप माने गये हैं—प्राकृत तथा वैकृत। प्राकृत ध्वनि स्फोट को प्रकाशित करती है तथा वैकृत ध्वनि से उसकी वृत्ति (शीघ्र, विलम्ब आदि वृत्ति) नियमित होती है।[2]

एक समस्या यह सामने आती है कि उच्चरित भाषा के वाच्य अर्थ और वाचक शब्द में जो स्थान, करण आदि का भेद है, वह कैसे आ जाता है? यदि शब्द-तत्त्व में शब्द-अर्थ अविभाज्य हैं तो उसके प्रकाशक ध्वनिरूप शब्द में भी अखण्डता क्यों नहीं रह जाती? यदि उच्चरित ध्वनि समूह में क्रम या विभाग आ जाता है तो उच्चरित ध्वनि-समूह का अर्थ के साथ सम्बन्ध किस प्रकार हो जाता है? स्फोटवादियों के मतानुसार इसका उत्तर यह होगा कि तात्त्विक शब्द तो अविभाज्य है। वह शब्द-रूप भी है और अर्थ-रूप भी। उसमें शब्द और अर्थ का विभाग नहीं। जब वैखरी भाषा में व्यक्त ध्वनियों से उस तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है तब व्यक्त ध्वनियों में क्रम या विभाग अवश्य रहता है, फिर भी उस क्रमयुक्त व्यक्त ध्वनि-समूह का बुद्धि में स्थित अखण्ड शब्द-तत्त्व से तादात्म्य हो जाने के कारण शब्द और उसके अर्थ का अभिन्न रूप में बोध हो जाता है।[3]

पतञ्जलि ने महाभाष्य में शब्दतत्त्व की नित्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए स्फोट सिद्धान्त की पुष्टि की है। उनकी मान्यता है कि शब्द नित्य हैं। उन नित्य शब्दों में वर्णों को कूटस्थ अर्थात् निर्लेप तथा अचल होना चाहिए, जिनमें

---

१. शब्दार्थयोरसंभेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं सत् समवस्थितम्॥ वाक्य प० १२६ की टीका।

२. स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥—वाक्यपदीय १, ७७.

३. अविभक्तो विभक्तेभ्यः जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा संभेदमुपगच्छति॥—वही, १,४५ की टीका

क्षय, वृद्धि या विकार नहीं हो।[1]

पतञ्जलि ने स्फोटरूप शब्द-तत्त्व की परिभाषा में कहा है कि जिसकी कर्णेन्द्रिय से उपलब्धि होती है, जो बुद्धि से ग्रहण किया जाता है, जो प्रयोग से अर्थात् उच्चारण से प्रकाशित होता है, वह आकाश में रहने वाला तत्त्व शब्द है। उस शब्द का आश्रय-भूत आकाश भी एक या अखण्ड है।[2] पतञ्जलि के इस शब्द-लक्षण पर टिप्पणी देते हुए नागेश और कैयट ने यह सिद्ध किया है कि पतञ्जलि ने शब्द की इस परिभाषा में स्फोटरूप शब्द का स्वरूप स्पष्ट किया है। शब्द का ग्रहण कान से होना इस बात का प्रमाण है कि शब्द आकाश का धर्म है। कान आकाश का अंश है। कान के भीतर का आकाश श्रोत्र कहलाता है। अतः श्रोत्र आकाशगत तत्त्व को ही ग्रहण करता है।

शब्द को बुद्धिग्राह्य मानकर पतञ्जलि ने एक कठिन समस्या का समाधान किया है। विशेष प्रकार के सम्बन्ध-सूत्र में ग्रथित वर्णों का समूह शब्द कहलाता है। वर्ण उच्चरित होते ही विनष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शब्द के सभी वर्णों के एकत्र अस्तित्व की कल्पना कैसे की जा सकती है? पतञ्जलि की युक्ति है कि प्रत्येक पूर्ववर्ती ध्वनि से जो अभिव्यक्ति उत्पन्न होती है उसकी संस्कार-परम्परा बनती जाती है। ध्वनि का विनाश हो जाने पर भी उसकी अभिव्यक्ति संस्कार रूप में बुद्धि में स्थित रहती है। जब अन्तिम परिपाक की स्थिति में शब्द के अन्तिम वर्ण का ज्ञान होता है तब शब्द का ग्रहण होता है। स्पष्ट है कि शब्द का पूर्ण ज्ञान उसके अन्तिय वर्ण के ज्ञान से ही सम्भव होता है, पर उसके पूर्व आने वाली ध्वनियाँ शब्द की अभिव्यक्ति करती हैं। उस अभिव्यक्ति से उदित संस्कारों के साथ अन्तिम वर्ण के ज्ञान का योग होने पर ही पूर्ण शब्द का ज्ञान होता है।[3] पूर्व उच्चरित ध्वनियों से अभिव्यक्त शब्द-तत्त्व का संस्कार तथा शब्द के अन्त्य वर्ण के ज्ञान से संस्कार-परम्परा के योग की यह प्रक्रिया—जिससे पूर्ण शब्द का ज्ञान हो पाता है—बुद्धि में ही धटित होती है। अतः शब्द को बुद्धिग्राह्य माना गया है।

---

१. नित्याश्च शब्दाः नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।—पतञ्जलि, महाभाष्य, आ० २

२. शब्दोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्।—वही,

३. पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकान्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य इत्यर्थः।—महाभाष्य पर कैयटकृत टीका।

शब्द को प्रयोग से प्रकाशित कह कर यह धारणा व्यक्त की गयी है कि यद्यपि तत्त्वतः शब्द की सार्वत्रिक एवं सार्वकालिक सत्ता है, फिर भी उसकी सदा व्यक्त रूप में उपलब्धि नहीं होती। ध्वनि या वर्ण के उच्चारण से वह नित्य, निरवयव शब्दतत्त्व प्रकाशित होता है। ध्वनि-समूह का उच्चारण शब्द का उत्पादन नहीं है, वह अव्यक्त रूप से स्थित शब्द-तत्त्व का प्रकाशन-मात्र है।

शब्द को आकाश में स्थित मान कर पतञ्जलि ने शब्द-तत्त्व की अखण्डता की धारणा प्रकट की है। शब्द का आश्रय आकाश एक है, अखण्ड है। अतः उस पर आश्रित तत्त्व—शब्द तत्त्व—भी एक है, अखण्ड है। नागेश ने पतञ्जलि की इस मान्यता की व्याख्या के क्रम में कहा है कि शब्द अर्थात् स्फोट-रूप शब्दतत्त्व एक है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि शब्द अखण्ड है, तो शब्दों में पौर्वापर्य तथा देशगत भेद क्यों दिखाई पड़ता है? नागेश का उत्तर है कि जैसे आकाश के एक या अखण्ड होने पर भी घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में उसके भेद की कल्पना कर ली जाती है, उसी प्रकार शब्द के एक होने पर भी उसमें देशगत भेद विभिन्न देशों में रहने वाले व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित प्रकाशक ध्वनियों के कारण दिखायी पड़ता है। शब्दतत्त्व को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनियों के देश, काल आदि के भेद से उस मूल शब्द-तत्त्व की एकता या अखण्डता की धारणा खण्डित नहीं हो जाती। आकाश के लिए नीला आदि विशेषण की तरह शब्द के लिए संसर्ग के कारण जो अनेक विशेषण प्रयुक्त होते हैं उनसे भी शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती।

स्फोट-रूप शब्द के लक्षण में शब्द के साथ एक-वचन की विभक्ति का प्रयोग भी यह सूचित करता है कि पतञ्जलि शब्दतत्त्व या स्फोट को एक और अखण्ड मानते थे।

स्फोट की नित्य तथा उसकी अभिव्यक्ति करनेवाली ध्वनियों की अनित्य सत्ता स्वीकार कर पतञ्जलि ने दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण किया है। उनके मतानुसार स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण। अतः शब्द में स्फोट और ध्वनि; दोनों रहते हैं। ध्वनि का रूप व्यक्त होने के कारण ध्वनि ही दिखाई पड़ती है। लघुता और दीर्घता, वृद्धि और ह्रास ध्वनि का ही धर्म है। नगारे की ध्वनि के उदाहरण से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि किसी नगारे की ध्वनि कुछ ही दूर तक जाती है जबकि दूसरे नगारे की ध्वनि उससे अधिक दूर तक जा सकती है। दोनों में स्फोट तो उतना ही (एक-सा ही) रहता है, उसके प्रसार

की लघुता तथा दीर्घता ध्वनि के कारण रहा करती है।[1]

भाष्यकार की इस मान्यता की व्याख्या करते हुए कैयट तथा नागेश ने कहा है कि स्फोट और ध्वनि में व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। ध्वनि व्यञ्जक है और स्फोट व्यंग्य। ध्वनि से ही अव्यक्त स्फोट की अभिव्यञ्जना होती है। वृद्धि और ह्रास स्फोट की व्यञ्जना करनेवाली ध्वनि में ही दीख पड़ते हैं। व्यञ्जक के वृद्धि-ह्रास से व्यंग्य स्फोट में कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्फोट काल-भेद से मुक्त है। ध्वनि स्फोट को भी प्रकाशित करती है और अपने आप को भी। अतः दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष-सिद्ध है। उनकी सत्ता की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। स्फोट का उपकारक या उसका व्यञ्जक होने के कारण ही ध्वनि को शब्द का गुण कहा गया है।[2] इस व्याख्या में भर्तृहरि की स्फोट-विषयक मान्यता का प्रभाव स्पष्ट है।

भर्तृहरि :—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्फोट-दर्शन का जो विवेचन किया है, वही परवर्ती विचारकों के खण्डन-मण्डन का आधार बना हुआ है। शब्दकौस्तुभ, वैयाकरणभूषण, मंजूषा, स्फोट-सिद्धि आदि ग्रन्थों में भर्तृहरि की स्फोट-विषयक मान्यता का ही स्पष्टीकरण हुआ है। स्फोटवाद के विरुद्ध मीमांसक तथा अन्य दार्शनिकों ने जो युक्तियाँ दी हैं, उनका लक्ष्य भर्तृहरि का स्फोट-सिद्धान्त ही रहा है। पीछे चलकर शंकराचार्य, मण्डन मिश्र आदि ने भर्तृहरि के स्फोटवाद की तर्कों से पुष्टि की है। इससे स्फोटवादी चिन्तन में भर्तृहरि का महत्त्व सहज ही समझा जा सकता है।

शब्दतत्त्व के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि शब्द-शास्त्र के विद्वान् उपादान शब्दों में दो प्रकार के शब्दों की सत्ता मानते हैं, जिनमें से एक शब्दों का कारण होता है और दूसरा अर्थ में प्रयुक्त होता है।[3] यह कथन

---

१. स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्? भेर्याघातवत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः
ध्वनिःस्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत् स्वभावतः।
पतञ्जलि, महाभाष्य, १,१,६७

२. द्रष्टव्य—महाभाष्यकार के उक्त कथन पर प्रदीप, उद्योत टीकाएँ।

३. द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो बिदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १, ४४

व्याख्या-सापेक्ष था। अतः वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने इसकी व्याख्या के क्रम में 'उपादान' शब्द के दो अर्थों के आधार पर इसके दो अर्थों की सम्भावना प्रकट की है। भर्तृहरि के उक्त कथन का एक अर्थ यह हो सकता है कि उपादान शब्द अर्थात् स्फोटरूप शब्द के दो रूप माने जाते हैं। अपने तात्त्विक रूप में वही स्फोट उच्चरित वर्णसमूहात्मक शब्दों का उपादान कारण बनता है और उसका दूसरा रूप अर्थात् ध्वन्यात्मक रूप अर्थ के लिए प्रयोग में आता है। इस व्याख्या में उपादान का अर्थ किया गया है—'जिससे अर्थ का ज्ञान हो'—उपादीयते येनार्थः—अर्थात् स्फोटरूप शब्दतत्त्व जो उच्चरित शब्दों का उपादान कारण होता है। अर्थबोध के लिए उस अव्यक्त शब्दतत्त्व की ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति आवश्यक है। इस प्रकार इस व्याख्या के अनुसार भर्तृहरि शब्द के दो रूप मानते थे—

(क) अव्यक्त स्फोटरूप शब्द जिससे उच्चरित शब्द उत्पन्न होते हैं और (ख) ध्वनि या वर्णों में व्यक्त शब्द, जिसका प्रयोग अर्थबोध के लिए किया जाता है। उपादान शब्द का अर्थ 'प्रयोग में आनेवाला शब्द समुदाय' मानने पर उक्त कथन की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है—ध्वन्यात्मक या उच्चरित शब्दों के दो रूप हैं। उस ध्वन्यात्मक शब्द का एक रूप वह है जो स्फोटरूप शब्दतत्त्व की अभिव्यक्ति का कारण बनता है तथा दूसरा रूप वह है जिससे स्फोट का अर्थ में प्रयोग किया जाता है।[1] ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है तथा ध्वनि को सुनकर बुद्धि में स्थित अव्यक्त शब्दतत्त्व प्रस्फुरित हो जाता है। क्रमवान् वर्ण-समूह को सुनकर बुद्धिस्थ क्रमरहित स्फोटरूप शब्दतत्त्व उद्बुद्ध होकर अर्थ का ज्ञान कराता है।

पहली व्याख्या के अनुसार अव्यक्त शब्दतत्त्व अर्थात् स्फोट को ध्वनि या उच्चरित शब्दों का उपादन कारण माना गया है। बुद्धि में स्थित वह शब्दतत्त्व अपनी अभिव्यक्ति के लिए ध्वनि को उत्पन्न करता है। ध्वनियों से व्यक्त शब्दों का निर्माण होता है और वे अर्थबोध के लिए प्रयुक्त होते हैं। दूसरी व्याख्या में इसी तथ्य को दूसरे क्रम में, श्रोता की स्थिति को दृष्टि में रखकर स्पष्ट किया गया है। उच्चरित शब्द श्रोता के कान में पड़कर बुद्धिस्थ स्फोटरूप शब्दतत्त्व को अभिव्यक्त करते हैं तथा अभिव्यक्त स्फोट अर्थ का बोध कराता है। भर्तृहरि के उक्त कथन की दोनों व्याख्याओं पर विचार करने से स्फोट तथा ध्वनि अर्थात् अव्यक्त शब्दतत्त्व तथा उच्चरित शब्द के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में निम्नलिखित बातें सामने आती हैं।

---

१. द्रष्टव्य, वाक्य प० १,४४ पर पुण्यराज की टीका।

(क) अव्यक्त शब्दतत्त्व या स्फोट उपादान कारण है, जिससे उच्चरित शब्द उत्पन्न होते हैं।

(ख) ध्वनि या वर्णों में व्यक्त शब्दों का ही प्रयोग अर्थबोध के लिए होता है, निरवयव या अव्यक्त स्फोट का नहीं।

(ग) स्फोट और ध्वनि में व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध है। ध्वनि व्यञ्जक है, जिससे स्फोट की अभिव्यक्ति होती है।

(घ) ध्वनि कर्णगोचर होकर बुद्धिस्थ स्फोट को उद्बुद्ध करती है।

(ङ) क्रम-युक्त वर्ण-समूहात्मक उच्चरित शब्द के वर्णों की संस्कार-परम्परा से बुद्धि में स्थित क्रम-रहित अखण्ड स्फोटरूप शब्दतत्त्व उद्बुद्ध होकर अर्थ का ज्ञान कराता है।

स्फोट और ध्वनि के भेद-अभेद के प्रश्न पर स्फोटवादी विचारकों के दो मत हैं। हम देख चुके हैं कि स्फोटरूप शब्दतत्त्व को कारण (उपादान कारण) माना गया है और ध्वनि को उससे उत्पन्न कार्य। कुछ विचारक उपादान कारण और कार्य में अभेद-सम्बन्ध मानते हैं तो दूसरे विचारक भेद-सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। मिट्टी और उससे निर्मित घट में कुछ विचारकों के अनुसार अभेद-सम्बन्ध रहता है, पर अन्य विचारकों के अनुसार भेद-सम्बन्ध। इसी प्रकार कुछ विचारक अव्यक्त स्फोट तथा उससे उत्पन्न ध्वनि में अभेद मानते हैं तो दूसरे विचारक स्फोट की नित्यता तथा ध्वनि की अनित्यता के आधार पर दोनों में भेद-सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। नित्य तथा अव्यक्त स्फोट और अनित्य तथा व्यक्त ध्वनि में कुछ अन्तर तो है ही। भेदवादी उनमें मौलिक भेद मानते हैं और अभेदवादी उनमें तात्त्विक अभिन्नता मानकर बुद्धिकल्पित भेद स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में स्फोट और ध्वनि तत्त्वतः अभिन्न हैं, दोनों का भेद बुद्धिभेद के कारण है। स्फोट या अव्यक्त शब्दतत्त्व का ग्रहण बुद्धि से होता है और व्यक्त ध्वनि का कान से। इसी आधार पर तत्त्वतः अभिन्न पदार्थ में भिन्नता की कल्पना कर ली जाती है। दोनों में अभेद तात्त्विक है, भेद व्यावहारिक।

१. आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते॥—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १,४५

२. व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यतः।
शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्तते॥—वही, २,२३२-३३

बुद्धि में स्थित अव्यक्त शब्दतत्त्व से ध्वनि या उच्चरित व्यक्त शब्द के उत्पन्न होने के तथ्य को स्पष्ट करने के लिए वाक्यपदीय के टीकाकार पुण्यराज ने एक दृष्टान्त दिया है। अरणि नामक लकड़ी में आग अप्रकट रूप से पहले से विद्यमान रहती है। जब लकड़ी को घिसा जाता है, तब आग प्रकट हो जाती है। लकड़ी में अव्यक्त रूप से रहने वाली आग एक होती है, पर लकड़ी से प्रकट होने पर वह अनेक रूप ग्रहण कर लेती है। उसके रूप का यह भेद आश्रयभेद के कारण होता है। इसी प्रकार बुद्धि में नित्य शब्दतत्त्व अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। जब ध्वनियन्त्र से, विभिन्न स्थान-प्रयत्नों से वह बाहर प्रकट होता है तब वह एक अव्यक्त तत्त्व अनेक नाम-रूपात्मक ध्वनियों के रूप ग्रहण कर लेता है। उसे व्यक्त करने वाली ध्वनियों के रूपभेद के कारण ही उसमें पूर्वापर क्रम तथा अनेकरूपता लक्षित होती है। ध्वनि स्फोट को भी प्रकाशित करती है और अपने आप को भी। अरणि में रहने वाली अग्नि की तरह बुद्धि में स्थित अखण्ड स्फोट ही अनेक श्रुतिगोचर शब्दों के रूप में विकसित होता है। बुद्धिस्थ स्फोट मूल तत्त्व है तथा ध्वनियाँ और ध्वनियों से निर्मित व्यक्त शब्द उसका विवर्त—अनेक रूपों में परिवर्तित अवस्था।[1]

ध्वनि और स्फोट में तादात्म्य सिद्ध करने के लिए भर्तृहरि ने कई युक्तियाँ दी हैं। यदि दोनों में तादात्म्य नहीं होता तो जिस शब्द से जिस विशेष अर्थ का बोध होता है, उस शब्द के रूप में थोड़ा-सा भी परिवर्तन हो जाने पर उस अर्थ का बोध नहीं हो पाता, पर यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है कि शब्द में ध्वनि का परिवर्तन होने पर भी वह विकृत शब्द मूल शब्द के अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है। इसका रहस्य यह है कि परिवर्तन, विकास या विकार व्यक्त ध्वनियों या उनसे बने श्रुतिगोचर शब्दों में ही होता है, बुद्धिस्थ शब्द-तत्त्व में नहीं। अतः ध्वनि में विकार होने पर भी वह शब्द बुद्धि में अविकृत शब्दतत्त्व को ही उद्बुद्ध करता है, जिससे अर्थबोध सम्भव होता है। दूसरी बात यह है कि यदि ध्वनि और स्फोट में तादात्म्य नहीं होता तो किसी भी ध्वनि अर्थात् ध्वन्यात्मक वर्णसमूह या व्यक्त शब्द से किसी भी अर्थ का बोध हो जाता, पर तथ्य यह है कि भाषा में नियत ध्वनि-समूह से अर्थात् नियत शब्द से निश्चित अर्थ के बोध की व्यवस्था रहती है। यह स्फोट और ध्वनि में अभेद के कारण ही सम्भव होता है। बुद्धि शब्दविशेष का अर्थविशेष के साथ सम्बन्ध निर्धारित करती है। अतः न तो उच्चरित शब्द में विकार होने से अर्थ के साथ उसके सम्बन्ध में व्याघात होता है और न ध्वनि

१. वाक्यपदीय, १,८४ पर पुण्यराज की टीका।

के साथ उसका अनियत सम्बन्ध होता है, अर्थात् किसी भी शब्द से अनियत रूप में किसी भी अर्थ का बोध नहीं होता। शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि में ही निर्धारित होता है। स्थान-प्रयत्न से उच्चरित ध्वनियों का समूह उसे व्यक्त-भर करता है। अतः बुद्धि में शब्द और अर्थ का अध्यास अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध माना जाना चाहिए।[1]

स्फोट से अनेक अर्थों का बोध होने के कारण यह शंका हो सकती है कि अनेक अर्थों के बोधक स्फोट भी अनेक हैं। इस सम्भावित शंका के समाधान के लिए भर्तृहरि ने यह युक्ति दी है कि स्फोट वस्तुतः एक, निरवयव और क्रम-रहित है। उसे व्यक्त करने वाली ध्वनियाँ अनेक और क्रम-युक्त होती हैं। वे ही अर्थबोध के लिए प्रयुक्त होती हैं। उन व्यञ्जक ध्वनियों की अनेकरूपता एवं विशिष्टार्थ-प्रत्यायकता तथा उनके क्रम को देख कर व्यंग्य स्फोट की अनेकता तथा उसके क्रम का जो आभास होता है, वह चञ्चल जल की तरंगों में अनेकशः दीख पड़ने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के आभास की तरह है। असंख्य जल-बीचियों में अनेक रूपों में दीख पड़ने वाले चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से जिस प्रकार चन्द्रमा की अनेकता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार विभिन्न अर्थों के बोधक अनेक व्यक्त ध्वनि-समूह से स्फोट की अनेकता सिद्ध नहीं होती। उस एक, निरवयव स्फोट में किसी प्रकार के क्रम की सम्भावना हो ही नहीं सकती। क्रम स्फोट की व्यञ्जना करने वाली ध्वनियों में ही रहता है।[2]

स्फोट-रूप शब्दतत्त्व के ज्ञान और उससे पदार्थ के बोध की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि जिस प्रकार ज्ञान स्वतः प्रकाश्य भी है और ज्ञेय वस्तु का प्रकाशक भी अर्थात् वह अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है और ज्ञेय वस्तु का भी बोध कराता है, उसी प्रकार स्फोटरूप शब्दतत्त्व अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है और पदार्थ का भी बोध कराता है।[3]

उस निरवयव मूल शब्द-तत्त्व से व्यक्त क्रमवान् ध्वनि, वर्ण, पद तथा वाक्य के विकास के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए पक्षी के अण्डे में निरवयव रूप में रहने

---

१. वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥ —भर्तृहरि, वाक्यप० १,४७

२. प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः॥ —वही १,४९

३. आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥ —वही, १,५०

वाले तत्त्व के धीरे-धीरे सावयव रूप में विकसित होने का उदाहरण दिया गया है। पक्षी के अण्डे में रहने वाले क्रमरहित निरवयव, एक तत्त्व की तरह ब्रह्माण्ड में शब्दतत्त्व विद्यमान है, जो अखण्ड, अरूप और क्रममुक्त है। मनुष्य की बुद्धि में भी वह अखण्ड और व्यापक स्फोट सदा विद्यमान रहता है। वही अखण्ड अव्यक्त शब्द-तत्त्व क्रिया रूप वृत्ति से व्यक्त होकर अनेक खण्डों में विभक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि अव्यक्त शब्दतत्त्व में जब वृत्ति जगती है, जिसका स्वरूप क्रिया है, तब वह ध्वनि के रूप में व्यक्त होकर उच्चरित होता है।[1] एक ही तत्त्व अखण्ड एवं क्रम-रहित रूप में भी बोधगम्य होता है और खण्डशः एवं क्रमवान् रूप में भी। जब कोई चित्रकार किसी व्यक्ति को देखता है तो उसके अलग-अलग अवयवों से युक्त रूप का अवयव-क्रम से ही बोध होता है, पर जब वह उस व्यक्ति के रूप का मानस-चित्र ग्रहण करता है, तो वह मन में गृहीत बिम्ब एक, अखण्ड और पूर्ण होता है। उसमें अवयवों के बोध का क्रम नहीं, पूर्ण व्यक्तित्व का एक अखण्ड बोध होता है। फिर जब चित्रकार अपने मानस चित्र को चित्रफलक पर अंकित करता है, तब चित्र में अंकित व्यक्ति के व्यक्तित्व में अवयवों का क्रमिक बोध होता है। इससे स्पष्ट है कि बाह्य वस्तु में क्रम रहता है, पर बुद्धिस्थ वस्तु क्रम-रहित और अखण्ड होती है। यही स्थिति शब्द की भी है। बुद्धिस्थ स्फोटरूप शब्दतत्त्व अखण्ड, निरवयव, व्यापक और क्रमरहित है पर ध्वनि-रूप में बाहर व्यक्त होने पर वह खण्डित, सावयव, सीमित और क्रमवान् जान पड़ता है। चित्र के तत्त्वतः एक होने पर भी जिस प्रकार बाहर से उसके विभाग की प्रतीति होती है, उसी प्रकार शब्द के तत्त्वतः एक होने पर भी बाहर से अर्थ और उसके स्वरूप की अलग-अलग प्रतीति होती है।[2]

तत्त्वरूप में शब्द और अर्थ का अभेद मानने पर भी भर्तृहरि ने व्यक्त भाषा में शब्द को अर्थ-बोध का साधन माना है। अव्यक्त स्फोट में शब्द और अर्थ में तादात्म्य है, पर प्रयोग की भाषा में शब्द अर्थ-बोध के साधन हैं। इसीलिए क्रिया का सम्बन्ध साध्यभूत अतएव प्रधानभूत अर्थ के साथ ही होता है, साधनभूत अतः गौण शब्द के साथ नहीं। फलतः 'गाय को बाँधो' का अर्थ गाय शब्द से गृहीत अर्थ को बाँधो ही होता है, गाय पदार्थ के साथ गाय शब्द को भी बाँधो, नहीं। जहाँ, शब्द का अर्थ कोई शब्द ही हो, वहाँ उसके साथ क्रिया का सम्बन्ध हो सकता

---

१. आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम्॥—भर्तृहरि वाक्य प०, १,५१

२. यथैकबुद्धिविषया मूर्तिराक्रियते पटे।
मूर्त्यन्तरस्य त्रितयमेवं शब्देऽपि दृश्यते॥—वही, १,५२

है, पर वहाँ भी क्रिया का सम्बन्ध शब्द के साथ नहीं, शब्द के अभिप्रेत अर्थ के साथ ही माना जायगा, भले ही शब्दार्थ शब्दरूप ही हो। शब्द के सम्बन्ध में व्याकरण के एक नियम का उदाहरण दिया गया है। 'अग्नि से ढक् प्रत्यय होता है' यहाँ ढक् प्रत्यय लगने की क्रिया का सम्बन्ध अग्नि शब्द के साथ है या अग्नि शब्द के अर्थ के साथ? अग्नि के अर्थ के साथ प्रत्यय लगने की क्रिया के सम्बन्ध की तो तनिक भी सम्भावना हो ही नहीं सकती। निश्चय ही यहाँ क्रिया का सम्बन्ध शब्द के साथ है, पर यह शब्द ही उस सन्दर्भ में प्रयुक्त अग्नि शब्द का अर्थ है। 'अग्नि शब्द' के बोध के लिए प्रयुक्त अग्नि-रूप ध्वनि-समूह का अर्थ भी शब्द-विशेष ही है। अतः वहाँ भी अर्थ के साथ—शब्दविशेष से गृहीत, शब्द-रूप अर्थविशेष के साथ—क्रिया का अन्वय माना जाना चाहिए।[1]

शब्दतत्त्व की नित्य सत्ता स्वीकार कर ध्वनि से उसकी अभिव्यक्ति मानने वाले स्फोटवादी विचारकों के सामने एक स्वाभाविक प्रश्न यह था कि ध्वनि उस अव्यक्त स्फोटरूप शब्द को किस प्रकार अभिव्यक्त करती है? इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों की तीन प्रकार की मान्यताएँ भर्तृहरि के समय तक प्रचलित थीं, जिनका उल्लेख उन्होंने 'वाक्यपदीय' में किया है। कुछ विचारकों की मान्यता है कि उच्चरित शब्द कान में पड़ कर कान का संस्कार कर देता है और इस प्रकार बुद्धिस्थ नित्य शब्दतत्त्व की उपलब्धि का साधन बनता है। अन्य विचारकों का मत है कि ध्वनियों के योग से शब्द-तत्त्व का ही संस्कार होता है। इस प्रकार संस्कार प्राप्त कर वह श्रुतिगोचर होता है। कुछ अन्य विचारकों का विचार है कि शब्दतत्त्व और उसे ग्रहण करने वाली इन्द्रिय अर्थात् कान; दोनों का संस्कार होने से शब्द की उपलब्धि होती है।[2]

कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में इन तीनों मतों का सोदाहरण स्पष्टीकरण किया है। कान के संस्कार के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा है कि शब्द की नित्य सत्ता मानने वाले विचारकों के मतानुसार ध्वनियाँ इन्द्रिय का संस्कार करती हुई शब्द को व्यक्त करती हैं। विजातीय ध्वनियों से नित्य शब्दतत्त्व की व्यञ्जना के सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने यह युक्ति दी है कि तैजस पदार्थ दीपक घट, पट आदि पार्थिव पदार्थ को व्यक्त करता ही है। अतः विजातीय ध्वनियाँ भी शब्दतत्त्व को व्यक्त कर सकती हैं। शब्द के संस्कार की मान्यता के

---

१. द्रष्टव्य—भर्तृहरि, वाक्यप० १, ५२—६०

२. इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य च।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥—वही, १, ७८

पोषण में यह युक्ति है कि यदि कान का संस्कार माना जाय तो एक बार कान का संस्कार हो जाने पर वह उच्चरित-अनुच्चरित सभी शब्दों को ग्रहण कर ले, पर ऐसा होता नहीं। अतः यही मानना युक्ति-संगत है कि विषय का अर्थात् उच्चरित शब्द का संस्कार होता है और उस संस्कृत शब्द के कान में पड़ने से नित्य शब्द की उपलब्धि होती है। शब्द तथा कान, दोनों का संस्कार मानने वाला मत अधिक व्यापक है। प्रकाश दृष्टि और उसके विषय दोनों को प्रकाशित करता है। कान का संस्कार होने पर अनुच्चरित शब्दों के भी ग्रहण की युक्ति सबल नहीं। प्रकाश से संस्कृत दृष्टि अन्धकार में रहने वाली वस्तु को नहीं देख पाती। उसी प्रकार संस्कृत कान केवल उन्हीं शब्दों को ग्रहण करता है, जिनका संस्कार ध्वनियों से हो जाय।[1]

एक प्रश्न यह है कि अव्यक्त स्फोट और उसे व्यक्त करने वाली ध्वनियों का ग्रहण किस रूप में होता है? इस सम्बन्ध में भर्तृहरि ने चार प्रकार के मत का उल्लेख किया है। (क) स्फोट और ध्वनि में भेद नहीं होने के कारण स्फोट से समन्वित ध्वनि का ग्रहण होता है। (ख) ध्वनि स्वतः असंवेद्य होने पर भी नित्य शब्द का ग्रहण कराने में साधन होती है। (ग) स्फोट दूर और अदृश्य होने के कारण ध्वनियों के ही द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और (घ) स्फोट स्वतः प्रकाशमान है। दूरी के कारण वह नहीं दीखता। ध्वनि उस दूरी को समाप्त कर उसे प्रकट करती है।[2]

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन व्याकरण-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। स्फोटवादी वैयाकरणों की यह मान्यता है कि अर्थ शब्दब्रह्म का ही विवर्त है। शब्दब्रह्म ही चरम सत्य है और शब्द के बिना कोई भी प्रत्यय या बोध सम्भव नहीं। पतञ्जलि ने पस्पशा में यह प्रश्न उठाया है कि 'गौः' में क्या शब्द है? यह शब्द तो द्रव्य के साथ गुण, क्रिया आदि के साथ भी सम्बद्ध है! अर्थ और शब्द के अभेद की स्वीकृति पर ही यह प्रश्न अवलम्बित है। यह भी ध्यातव्य है कि वैयाकरण सविकल्पक प्रत्यक्षीकरण को ही सत्य मानते हैं— बौद्धों की तरह निर्विकल्पक प्रत्यक्षीकरण को नहीं। उनकी मान्यता है कि अर्थ अपने वाचक शब्द के साथ ही बोधगम्य होता है। जब हमें किसी अर्थ का ग्रहण होता है तो उसके साथ अविभाज्य रूप से सम्बद्ध शब्द का भी ग्रहण होता है। इस

---

१. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक, स्फोटवाद।
२. स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।
कैश्चिद्ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकाशकः॥ भर्तृहरि, वाक्यपदीय १,८२

प्रकार ज्ञान का विषय शब्द से नियमित होता है।[1] अतः पद-पदार्थ का ज्ञान सविकल्पक माना गया है।

प्रश्न यह है कि नवजात शिशु जब किसी वस्तु को देखता है, जिसकी संज्ञा आदि का ज्ञान उसे नहीं रहता अर्थात् शब्द, अर्थ और उनके बीच के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं रहता, उस समय वस्तु को देख कर उसे जो बोध होता है, वह तो निर्विकल्पक ही होगा? पशु-पक्षियों को भी वस्तु का बोध तो होता ही है, पर वह बोध भी शब्दबद्ध नहीं होकर निर्विकल्पक ही तो होता होगा? इस प्रश्न के उत्तर के लिए वैयाकरणों को पूर्व-जन्म के संस्कार की कल्पना करनी पड़ी है। वे मानते हैं कि यद्यपि नवजात शिशु ने इस जन्म में शब्द का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, फिर भी पूर्वजन्म के संस्कार के रूप में उसके भीतर अव्यक्त रूप में शब्द रहता है और उसी शब्द में वह वस्तु का ग्रहण किया करता है।[2] उनकी दृष्टि में शब्द सार्वत्रिक रूप से प्रत्यय का नियामक है। इसीलिए वे शब्दब्रह्म को समग्र विश्व का समवाय कारण मानते हैं। वैखरी रूप तक ही वाणी सीमित नहीं। मध्यमा और सूक्ष्मा वाणी व्यापक है, और वह विश्व का समवाय कारण है।[3] वैयाकरणों के अनुसार शब्द ज्ञेय वस्तुओं का तो समवाय कारण है ही, वह ज्ञान का भी समवाय कारण है, क्योंकि वही सभी प्रकार के ज्ञान का अनिवार्य साधक है।[4]

शब्द-अर्थ के सम्मिलित प्रत्यय के विरुद्ध कुछ विचारकों ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि इस प्रकार के प्रत्यय को प्रत्यक्ष ज्ञान माना जायगा या अनुमान ज्ञान? दूसरे शब्दों में, यह ज्ञान ज्ञानेन्द्रिय पर अवलम्बित है या अनुभवगम्य होता है?

---

१. अथायमान्तरो जातः सूक्ष्मोवागात्मनिस्थितः।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ वाक्य प० १,११२

२. यदि तूच्यते-बालानां तिरश्चां चाविकल्पः प्रत्ययः व्यवहारश्च इति तन्न। तेषामपि सूक्ष्मवागुपपत्तेः। त्रेधा हि वाचं विभजन्ते—वैखरी, मध्यमा, सूक्ष्मा चेति। × × ततः सूक्ष्मशब्दसमभिन्नमर्थं बालोऽपि प्रतिपद्यते।—श्लोकवार्तिक पर सुचरित मिश्र की काशिका टीका, पृ० २४८। (त्रिवेन्द्रम सं० सी०)

३. शब्दब्रह्मैव तेषां हि परिणामी प्रधानवत्।
वैखरी मध्यमा सूक्ष्मा वागवस्थाविभेदतः॥—वहीं काशिका में उद्धृत, स्फोटसिद्धि की गोपालिका टीका में भी उद्धृत।

तथा—

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत॥—वाक्यपदीय, १,१२०

४. द्रष्टव्य—शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, कारिका ११२८ पर कमलशील की पंजिका।

दोनों में से कोई भी विकल्प मान्य नहीं। कारण यह है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान के लिए बाह्य वस्तु की सत्ता अपेक्षित होती है, जिसका ज्ञानेन्द्रिय के साथ सम्पर्क होने पर मन से ग्रहण होता है, पर प्रत्यय या ज्ञान आन्तरिक होता है और फलतः उसके गुण को अर्थात् शब्द के साथ उसके सम्बन्ध को इन्द्रिय ग्राह्य-ज्ञान या प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं माना जा सकता। अब रहा दूसरा विकल्प ! तो, प्रत्यय या बोध अनुभव का विषय हो सकता है, पर उसके गुण को अर्थात् शब्द को अनुभवगम्य नहीं माना जा सकता।[1]

इस आपत्ति के उत्तर में वैयाकरणों की युक्ति यह है कि चूँकि शब्द और अर्थ अनुविद्ध रहते हैं—एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से संपृक्त रहते हैं—अतः एक को ज्ञान से दूसरे का ज्ञान स्वतः हो जाता है—अर्थ के प्रत्यय के साथ ही उससे संपृक्त शब्द का भी बोध स्वभावतः ही हो जाता है।

प्रभाचन्द्र सूरि ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में शब्द-अर्थ को परस्पर ग्रथित मानने वाले सिद्धान्त के विरुद्ध एक प्रश्न उठाया है कि शब्द और अर्थ के परस्पर अनुविद्ध होने का तात्पर्य क्या है ? क्या वैयाकरण यह मानते हैं कि शब्द और अर्थ एक साथ एक ही आधार में रहते हैं, या वे यह मानते हैं कि दोनों अभिन्न हैं ? समान आधार में दोनों की सह-स्थिति का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि घट आदि रूप अर्थ अवकाश में किसी भी स्थान पर रह सकता है पर घट आदि शब्द, जिनसे अर्थ का द्योतन होता है, श्रोता के श्रोत्रेन्द्रिय में रहते हैं। शब्द और अर्थ को अभिन्न भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि शब्द और उसके अर्थ में अभेद होता तो दोनों का ज्ञान एक ही ज्ञानेन्द्रिय से होता; पर हम देखते हैं कि 'नील' शब्द कहने से वह शब्द कान से सुना जाता है पर उसका अर्थ 'नील वर्ण' आँख से देखा जाता है। अतः 'नील' शब्द और उसका अर्थ 'नीलवर्ण' अभिन्न नहीं'।[2]

---

१. शब्दानुबिद्धत्वस्य ज्ञानेषु प्रतिभासात् तद्धि प्रत्यक्षो प्रतीयते, अनुमानेन वा ? प्रत्यक्षेण चेत् किम् ऐन्द्रियकेन स्वसंवेदनेन वा ? न तावत् ऐन्द्रियेण—इन्द्रियाणां रूपादिनियतत्वेन ज्ञानाविषयत्वात्। नापि स्वसंवेदनेन—अस्य शब्दागोचरत्वात्। —प्रभाचन्द्रसूरि, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ३९-४० (निर्णयसागर प्रेस) तत्त्वसंग्रह, कारिका ११२८ पर कमलशील की पंजिका भी द्रष्टव्य।

२. ननु किमिदं शब्दानुबिद्धं नाम। अर्थस्य अभिन्नदेशे प्रतिभासः, तादात्म्यं वा ? तत्राद्यविकल्पोऽसमीचीनः। तद्रहितस्यैवार्थस्य अध्यक्षे प्रतिभासनात्। नहि तत्र यथा पुरोऽवस्थितो नीलादिः प्रतिभासते, तथा तद्देशे शब्दोऽपि—

प्रभाचन्द्र सूरि की यह युक्ति वैज्ञानिक नहीं मानी जा सकती। इस युक्ति का आधार यह मान्यता है कि शब्द का अर्थ प्राकृतिक वस्तु होती है, जिसका प्रत्यक्षीकरण विभिन्न इन्द्रियों से होता है। यह मान्यता ही अमान्य है। अतः इसपर आधृत युक्ति मान्य नहीं हो सकती। हम यह देख चुके हैं कि शब्दार्थ प्राकृतिक अर्थ से भिन्न होता है। वह बोधरूप होता है। यह ठीक है कि शब्द प्राकृतिक अर्थों का भी बोध कराते हैं, पर इस आधार पर शब्दार्थ को प्राकृतिक अर्थ से अभिन्न नहीं माना जा सकता। शब्द ऐसे अर्थ का भी तो बोध कराते हैं, जिनकी प्रकृति में कहीं सत्ता नहीं। लोकसिद्ध वस्तु के बोधक शब्द का भी अर्थ प्रत्यय-रूप होने से बोधगम्य होता है, इन्द्रियग्राह्य नहीं। अतः इन्द्रिय-भेद के आधार पर शब्द और अर्थ का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता। बुद्धि से शब्द और अर्थ; दोनों का ग्रहण होता है, अतः दोनों की भिन्नता सिद्ध करने के लिए जो दोनों के आश्रय का भेद दिखाया गया है, वह भी सबल तर्क नहीं। वैयाकरण शब्द के अर्थ को प्रत्यय या बोध-रूप मानते हैं जो बुद्धि से ग्राह्य होता है। उन्होंने शब्द से निर्दिष्ट होने वाली प्राकृतिक वस्तु को भी शब्दार्थ के अन्तर्गत माना है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है, वह यदि लोकसिद्ध वस्तु भी हो तो शब्द उसका मानस प्रत्यक्षीकरण ही कराता है। वह प्रत्यक्षीकरण या बोध लोकसिद्ध एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों का नहीं होता, जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा का होता है। इन्द्रिय से होने वाले व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण से यह शब्दार्थ का प्रत्यय अवश्य ही भिन्न होता है। जन्मान्ध व्यक्ति के बोध का उदाहरण लेकर इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। निश्चय ही वह व्यक्ति अपनी अन्ध आँखों से किसी प्राकृतिक वस्तु का ग्रहण नहीं कर सकता, फिर भी उसे शब्दार्थ का बोध तो होता ही है। गाय शब्द के अर्थबोध के लिए यह आवश्यक नहीं कि गाय नाम के प्राकृतिक प्राणी का चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण हो, उसका मानस बोध ही उस पद के अर्थ का स्वरूप माना जायगा। आधुनिक युग में भी भाषाशास्त्रियों ने शब्दार्थ का स्वरूप निर्धारित करते हुए उसे प्राकृतिक वस्तु से स्वतन्त्र बोध-रूप माना है, जो प्राकृतिक वस्तु का निर्देश कर भी सकता है और नहीं भी। इसीलिए उलमान ने ओग्डेन और रिचर्ड्स की शब्दार्थ-सम्बन्धी त्रिकोण कल्पना—शब्द, संकेत और उससे निर्दिष्ट प्राकृतिक वस्तु की कल्पना—के स्थान पर

श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे तत्प्रतिभासात्। ××× नापि तादात्म्यम्। विभिन्नेन्द्रियजनितज्ञानग्राह्यत्वात्। ××× शब्दाकाररहितं हि नीलादिरूपं लोचनज्ञाने प्रतिभाति तद्रहितस्तु शब्दः श्रोत्रज्ञाने—इति कथं तयोरैक्यम्?
—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४०।

शब्द और शब्दार्थ के युग्म को ही भाषाशास्त्रीय चिन्तन में विवेच्य माना है, उससे निर्दिष्ट प्राकृतिक वस्तु को नहीं। इस तथ्य को दृष्टि में रख कर विचार करने से प्रभाचन्द्र सूरि का यह तर्क निराधार जान पड़ता है कि शब्द श्रोता के कान में रहते हैं और अर्थ अन्यत्र तथा शब्द कान से गृहीत होते हैं और अर्थ आँख आदि अन्य इन्द्रियों से, अतः दोनों परस्पर भिन्न हैं।

नवजात शिशु के वस्तु-ज्ञान को शब्दानुबिद्ध सिद्ध करने के लिए वैयाकरणों ने जो पूर्वजन्म के संस्कार की कल्पना की है, उसे तर्कहीन बताते हुए श्लोकवार्तिक की टीका में सुचरित मिश्र ने कहा है कि यदि पूर्वजन्म के संस्कार के रूप में ही संकेत का ज्ञान होता है तो अर्थविशेष के साथ शब्दविशेष के सम्बन्ध को सीखने की क्या आवश्यकता थी? यदि नवजात शिशु को किसी अर्थ को देखते ही उसके बोधक शब्द की स्मृति हो आती है, तो आगे चल कर भी ऐसा ही क्यों नहीं होता? व्यक्ति किसी भी नयी वस्तु को देख कर उसके बोधक शब्द का पूर्वजन्मार्जित संस्कार से स्मरण क्यों नहीं कर लेता ?[1]

वस्तुतः पूर्व-जन्म के संस्कार को तर्क के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उसकी कल्पना दार्शनिक विश्वास पर अवलम्बित है। दूसरी बात यह है कि पूर्व-जन्म के संस्कार की कल्पना से भी शब्दार्थ-बोध की सभी समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता। भाषा में चलने वाले निरन्तर विकासक्रम को देखते हुए यह प्रश्न किया जा सकता है कि नये-नये वस्तु-रूप के बोधक जो नये-नये शब्द भाषा में बनते रहते हैं, उनके पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान की समस्या का समाधान उस संस्कार से कैसे हो सकेगा? न तो व्यक्ति अपने पूर्वजन्म में उस नवीन अर्थ से परिचित रहा होगा और न वह उसके वाचक शब्द को ही जानता होगा, फिर उनका संस्कार कैसे माना जा सकेगा? शब्द के स्वरूप में होने वाला ध्वनिपरिवर्तन तथा शब्द का अर्थपरिवर्तन भी पूर्वजन्म के संस्कार से नियत अर्थ और नियत शब्द के पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान की धारणा को खण्डित करता है। संस्कार में यदि शब्दार्थ का सम्बन्ध-ज्ञान थोड़ी देर के लिए, मान भी लिया जाय तो प्रश्न होगा कि संस्कारगत शब्द और अर्थ का स्वरूप तथा उनका सम्बन्ध वर्तमान से किञ्चित् भिन्न होगा, फिर वह संस्कार वर्तमान युग के शब्दार्थ-रूप और उनके सम्बन्ध के ज्ञान में कहाँ तक सहायक सिद्ध होगा? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वैयाकरण शायद इस कल्पना का सहारा लेंगे कि अव्यक्त शब्दतत्त्व नित्य और अपरिवर्तन-शील है। वही अर्थबोध का नियामक है। शब्द के ध्वनिपरिवर्तन या अर्थपरिवर्तन

---

१. द्रष्टव्य—श्लोक वार्तिक, स्फोटवाद पर सुचरित मिश्र की टीका, पृ० २४९

से वह प्रभावित नहीं होता। बुद्धि में स्थित वही स्फोट-रूप शब्दतत्त्व—जिसमें शब्द और अर्थ अभिन्न रूप में जुड़े रहते हैं—शब्दार्थ-बोध का नियमन करता है। संस्कार में उसी नित्य स्फोट से शब्दार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान आता है। अतः वह शब्द तथा अर्थ और उनके पारस्परिक सम्बन्ध में होने वाले बाह्य परिवर्तन से प्रभावित नहीं होता।

आधुनिक भाषाविज्ञान के विचारकों ने नवजात शिशु के शब्द और अर्थ के बोध के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए शब्द के दो रूप स्वीकार किये हैं—symbol (प्रतीक) और sign (चिह्न)। अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयुक्त शब्द अर्थ के symbol अर्थात् प्रतीक होते हैं। नवजात शिशु जब दूध की बोतल देखता है और उसे केवल एक वस्तु के रूप में समझता है, उस समय वह बोतल उसके लिए केवल एक Sign (चिह्न) है। तात्पर्य यह कि उसका वह बोध निर्विकल्पक ही होता है, पर जब धीरे-धीरे बच्चा बोतल के साथ दूध का सम्बन्ध समझ लेता है और बोतल को देखकर दूध पीने की इच्छा की प्रतिक्रिया व्यक्त करने लगता है तब बोतल उसके लिए प्रतीक (symbol) बन जाती है। शब्दज्ञान की भी यही स्थिति मानी जा सकती है। नवजात शिशु जब शब्द सुनने लगता है तो आवश्यक नहीं कि प्रत्येक शब्द का अर्थविशेष के साथ सम्बन्ध भी वह समझ ले। उस समय शब्द उसके लिए केवल *Sign* (ध्वनिचिह्न) होता है। जब धीरे-धीरे वह लोक व्यवहार में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध समझ लेता है, तब शब्द उसके लिए अर्थविशेष का प्रतीक (Symbol) बन जाता है। शब्दविशेष का अर्थविशेष के साथ सम्बन्ध या तो वह बड़े लोगों के प्रत्यक्ष उपदेश से समझता है, या व्यवहार में लोगों के प्रयोग को सुनते-सुनते उसकी बुद्धि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निर्धारित कर लेती है। इस प्रकार शिशु के आरम्भिक ज्ञान को निर्विकल्पक तथा शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद उसके शब्दार्थ-ज्ञान को सविकल्पक माना जा सकता है।

पूर्व-जन्म के संस्कार से पद-पदार्थ के सम्बन्ध के बोध का यह सिद्धान्त मानव-निर्मित भाषा के अर्थबोध की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता। इस प्रकार की भाषा में शब्द-विशेष का अर्थविशेष के साथ सम्बन्ध मानव की इच्छा से आरोपित होता है। चिरकाल से लोकव्यवहार में प्रवहमान भाषा में भले ही यह निर्णय करना कठिन हो कि किसी एक शब्द का किसी बिशेष अर्थ में पहली बार कब और किसने प्रयोग किया होगा और इसके फलस्वरूप कुछ दार्शनिकों ने शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को ईश्वरेच्छारूप मानने की आवश्यकता समझी हो, पर मानव के प्रयत्न से निर्मित भाषा में किसी शब्द के साथ किसी अर्थ का सम्बन्ध कुछ व्यक्ति निर्धारित कर देते हैं और दूसरे लोग उसी आरोपित संकेत को मान लेते हैं। संकेत-

भाषा (code language) में प्रत्येक शब्द के साथ किसी विशेष अर्थ का सम्बन्ध जोड़ दिया जाता है। यह सम्बन्ध कृत्रिम ही होता है। ऐसे कृत्रिम या मानवेच्छा से आरोपित शब्दार्थ का सम्बन्ध बिना सीखे नहीं जाना जा सकता। पूर्वजन्मार्जित संस्कार से ऐसे सम्बन्ध के ज्ञान का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं।

वैयाकरणों ने शब्दब्रह्म के सिद्धान्त के पोषण के लिए जो पश्यन्ती और सूक्ष्मा जैसी अव्यक्त या अनुच्चरित वाणी की कल्पना की है, उसे निराधार सिद्ध करने के लिए प्रभाचन्द्र सूरि ने यह युक्ति दी है कि अनुच्चरित या अव्यक्त वाणी की कल्पना नहीं की जा सकती। 'वाक्' का अर्थ ही है उच्चरित ध्वनि। अतः उच्चरित पद, वाक्य आदि के लिए ही वाक् शब्द का प्रयोग किया जाता है, अव्यक्त शब्द-तत्त्व के लिए नहीं। अतः पश्यन्ती और सूक्ष्मा वाक् की कल्पना युक्ति-संगत नहीं।[1] वाणी को उच्चरित ध्वनिरूप मान लेने पर यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि अर्थ के बोध में शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान अनिवार्यतः अन्तर्निहित नहीं रहता।

शब्दतत्त्व की मान्यता के खण्डन के लिए प्रभाचन्द्र ने जो यह युक्ति दी है उसे बहुत सबल नहीं माना जा सकता। वैखरी वाणी से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम वाक्रूपों की जो कल्पना है उसका आधार इतना दुर्बल नहीं कि इस छोटी-सी युक्ति से उसे खण्डित किया जा सके। मौन चिन्तन में अव्यक्त रूप से चलने वाली वाणी की पदचाप तो स्पष्ट रूप से सुनी जा सकती है। वाणी के बिना क्या कोई विचार सम्भव है ? मौन चिन्तन में ध्वनि उच्चरित नहीं होती, फिर भी क्या उस समय मन में चलने वाले भाषा-प्रवाह के अस्तित्व को अस्वीकार किया जा सकता है ? वैयाकरणों ने उससे भी आगे बढ़ कर क्रमरहित पश्यन्ती तथा अन्तर में प्रकाश रूप में रहने वाली सूक्ष्मा वाणी की कल्पना की है। वस्तुतः वाणी को उच्चरित ध्वनि-रूप तक सीमित मानना उचित नहीं। इस मान्यता से भाषा का पूर्ण रूप स्पष्ट नहीं हो पाता। यह वैज्ञानिक तथ्य है कि उच्चरित होने के पूर्व वाणी मन में आकर ग्रहण करती है। उसकी सत्ता मानव के मानसलोक में रहती है। मानव मस्तिष्क के वाक् केन्द्र (speech centre) में अर्थ वाणी का आकार ग्रहण करता है। तब ध्वनि-यन्त्र से उच्चरित वाणी में वह अर्थ व्यक्त होता है। आज मनोविज्ञान और भाषाविज्ञान के चिन्तन से उत्पन्न ज्ञान की एक शाखा मनोभाषिकी (psycho Linguistics) में व्यक्ति के मानस-लोक में भाषा के क्रियाकलाप का

---

१. संहृताशेषवर्णादिविभागा तु पश्यन्ती, सूक्ष्मा चान्तर्ज्योतिरूपा वागेव न भवति। अनयोरर्थात्मदर्शनलक्षणत्वात्, वाचस्तु वर्णपदाद्यनुक्रम-लक्षणत्वात्। × × ×—प्रभाचन्द्र सूरि, प्रमेय कमलमा॰ पृ॰ ४१-४२

वैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है। उसकी भाषाविषयक मान्यताओं पर हमने अपरत्र विचार किया है। यहाँ इतना निर्देश पर्याप्त है कि भाषा को उच्चरित ध्वनियों तक सीमित नहीं माना जा सकता। शब्दब्रह्म की नित्य और व्यापक सत्ता की मान्यता से तथा अव्यक्त शब्दब्रह्म से समग्र अर्थात्मा जगत के विकास के सिद्धान्त से कुछ विचारक असहमत हो सकते हैं, पर उस असहमति के लिए वाणी को उच्चरित ध्वनियों तक सीमित नहीं मान सकते। उच्चरित भाषा अर्थ का संवहन कर लोक-व्यवहार का संचालन करती है; पर सूक्ष्म रूप में मानव के मानसलोक में उसकी सत्ता रहा करती है। वैज्ञानिक विश्लेषण का विषय भाषा का उच्चरित स्थूल रूप ही होता है, पर दार्शनिक विवेचन का विषय उसका अनुच्चरित सूक्ष्म रूप भी हो सकता है। इस दृष्टि से व्याकरण-दर्शन में कल्पित भाषा के सूक्ष्म स्वरूप का अपना महत्त्व है।

प्रभाचन्द्र सूरि की मान्यता है कि शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध का ज्ञान प्रत्यक्ष-सिद्ध तो नहीं ही है, अनुमान से भी उसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। अनुमान में हेतु और साध्य में कार्यकारण भाव अथवा तादात्म्य सम्बन्ध रहा करता है, पर शब्द-अर्थ के सम्बन्ध के अनुमान ज्ञान में इस प्रकार का हेतु सम्भव नहीं। यदि कहीं अनुमान से शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सिद्ध होता भी हो तो उसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष से शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध का खण्डन पहले किया जा चुका है। प्रत्यक्ष को अनुमान से सबल प्रमाण माना जाता है। अतः जो प्रत्यक्ष प्रमाण से असिद्ध हो उसे अनुमान से सिद्ध होने पर भी असिद्ध ही माना जायेगा। शब्द-अर्थ का नित्य सम्बन्ध चूँकि प्रत्यक्ष से असिद्ध है अतः अनुमान से कहीं सिद्ध भी हो जाय तो उसे असिद्ध ही मानेंगे।[1]

वैयाकरण अनुमान से स्फोट-रूप शब्द-तत्त्व और अर्थ के नित्य सम्बन्ध की सिद्धि मानते हैं। वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज ने इस पर विस्तार से विचार किया है। उच्चरित शब्द से अर्थ का जो बोध होता है उसमें शब्द में वर्णों का क्रम रहता है, पर अर्थ में वर्ण आदि जैसा कोई विभाग नहीं रहता। वर्णविभागयुक्त उच्चरित शब्द से अखण्ड अर्थ का बोध अकारण नहीं। उसका कारण अखण्ड स्फोट-रूप शब्द को ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार अर्थबोधरूपी कार्य से अखण्ड स्फोट-रूप तथा कारणभूत शब्द और दोनों के नित्य सम्बन्ध का अनुमान होता है। उसे

---

१. अनुमानात् तेषां तदनुविद्धत्वप्रतीतिरित्यपि मनोरथमात्रम् तदविनाभावि-लिंगाभावात्। तत्सम्भवे प्रत्यक्षादिबाधित पक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वाच्च। —प्रमेयकमल मार्तण्ड में उद्धृत।

कार्यानुमान, परिशेषानुमान या अर्थापत्ति—कोई भी नाम दिया जा सकता है। यह युक्ति उचित नहीं कि कान से सुनाई पड़ने वाले वर्णों को ही शब्द कहा जाता है। वस्तुतः जिस ध्वनि-समूह को सुनने से अर्थ का बोध हो सके उसे ही शब्द कहा जाता है। इसीलिए नदी की कलकल ध्वनि को शब्द नहीं माना जाता। अर्थ का बोध स्फोट से होता है। अतः उसे ही शब्द माना जाता है। वर्णों में अर्थबोध की शक्ति नहीं। वे केवल स्फोट को प्रकाशित कर सकते हैं। इस प्रकार स्फोट की अनुमान से सिद्धि होती है। उस स्फोट में शब्द तथा अर्थ का नित्य सम्बन्ध अन्तर्निहित रहता है। हेलाराज ने कहा कि 'गाय' कहने से 'यह गाय शब्द है' तथा यह 'गायनामक पशुविशेष है' इस प्रकार की प्रतीति होती है जिसमें शब्द और अर्थ के तादात्म्य का बोध मिलाजुला रहता है, अर्थात् पद के स्वरूप का बोध तथा पदार्थ का बोध अभिन्न रूप में ही होता है।[1]

जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में वैयाकरणों के शब्दविवर्तवाद का खण्डन करने का प्रयास किया है। वैयाकरण अव्यक्त और नित्य शब्दतत्त्व से अर्थ का विकास मानते हैं। उनके अनुसार अर्थ शब्दब्रह्म का विवर्त है। इस मत के विरुद्ध जयन्त ने यह युक्ति दी है कि वैयाकरणों का विवर्त से यदि परिणाम का तात्पर्य हो तो अर्थ को शब्द का परिणाम नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि परिणाम का परिणामी से स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। दही दूध का परिणाम होता है। उसकी दूध से स्वतन्त्र सत्ता होती है। अतः यदि अर्थ को शब्द का परिणाम माना जाय, तो उसका परिणामी शब्द से अभेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। अर्थ का परिणामी-शब्द से स्वतन्त्र अस्तित्व मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि अर्थ को शब्दब्रह्म का परिणाम मानने पर शब्दब्रह्म को परिवर्तनशील भी मानना पड़ेगा जो वैयाकरणों को अभीष्ट नहीं।[2]

प्रभाचन्द्र सूरि ने इस युक्ति को और आगे बढ़ाते हुए कहा है कि यदि यह कहा जाय कि विकास के क्रम में शब्दतत्त्व अपने को परिवर्तित नहीं कर अपने मूल तत्त्व को सुरक्षित रखता है अर्थात् शब्दतत्त्व से अर्थ का विकास होने पर भी शब्दतत्त्व मूलतः अविकारी ही रहता है, तो प्रश्न यह होगा कि किसी बाह्य अर्थ का ज्ञान

---

१. वाक्यपदीय, ३, ३, २ पर हेलाराज की टीका, पृ. ९७

२. विवर्तवादोऽपि न समञ्जसः। तथा हि विवर्ते क्षीरमिव दधिरूपेण परिणामित्वेन विकारितया वा क्षीरादेरिवानित्यत्वप्रसंगात्। तथा भावेऽपि च नाद्वैतसिद्धिर्दध्न इव क्षीरविकारस्य शब्द विकारस्यार्थस्य ततोऽन्यत्वात्।
—जयन्त, न्यायमञ्जरी, खण्ड २, पृ० १०२

होने पर उसके वाचक शब्द का भी ज्ञान क्यों नहीं हो जाता ? हम ऐसी अनेक वस्तुओं को देखते और उनका ज्ञान प्राप्त करते हैं जिनके बोधक शब्द का ज्ञान हमें नहीं रहता। उदाहरण के लिए, जो जन्म से बहरा है और किसी शब्द को नहीं सुन सकता उसे भी घड़ा आदि वस्तुओं का ज्ञान तो होता ही है, पर यह मानने का कोई आधार नहीं कि उसे उस बोध के साथ घड़ा शब्द का भी बोध हो जाता है। यदि शब्द और अर्थ में अभिन्नता होती तो 'घड़ा' अर्थ के बोध के साथ ही 'घड़ा' शब्द का भी बोध हो जाना चाहिए, पर सभी स्थितियों में ऐसा नहीं होता।[1] इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि जन्मान्ध व्यक्ति को हाथी शब्द सुन कर हाथी अर्थ का भी बोध हो जाना चाहिए, पर तथ्य यह है कि वह शब्द उसे हाथी के स्वरूप का प्रत्यय नहीं करा पाता।

परिणाम और परिणामी के भेद के उदाहरण से परिणामवाद में शब्द और अथ का भेद सिद्ध करने के लिए जो युक्ति दी गयी है, उसका उत्तर वैयाकरणों के मतानुसार इस प्रकार दिया जा सकता है कि शब्द से अर्थ के परिणाम की यह विशेषता है कि अर्थ के रूप में परिणत होने पर भी शब्द का अपना अस्तित्व बना रहता है। इसीलिए अर्थ-बोध के साथ-साथ शब्द के स्वरूप का भी बोध होता है। दही के रूप में दूध का परिणाम होने पर परिणामी दूध की सत्ता का दही के रूप में विसर्जन हो जाता है, पर शब्द परिणाम में अपनी सत्ता का विसर्जन नहीं करता। विश्व को ब्रह्म का परिणाम मानने वाले दार्शनिक भी परिणाम में परिणामी ब्रह्म की सत्ता का विलयन नहीं मानते। शब्दपरिणामवाद पर उसी दार्शनिक मान्यता का प्रभाव है। इस मान्यता पर प्रभाचन्द्र ने जो यह आपत्ति की है कि बाह्य अर्थ का बोध होने पर उसके वाचक शब्द का भी ज्ञान क्यों नहीं हो जाता, उसके सम्बन्ध में वैयाकरणों की स्पष्ट मान्यता है कि शब्द के बिना कोई भी प्रत्यय सम्भव ही नहीं। बहरा यदि 'घड़ा' शब्द नहीं जानता, तो घड़ा अर्थ का बोध उसे इस रूप में होगा कि 'यह एक ऐसी वस्तु है, जिसका नाम हम नहीं जानते'। हम जिस वस्तु की संज्ञा नहीं जानते, उसका भी बोध हमें भाषा के आकार में ही होता है, उसका स्वरूप होता है कि 'हम इसकी संज्ञा नहीं जानते'। संज्ञा का अज्ञान शब्द

---

१. शब्दात्मकं हि ब्रह्म नीलादिरूपतां प्रतिपद्यमानं स्वाभाविकं शब्दरूपं परित्यज्य प्रतिपद्येत अपरित्यज्य वा ? द्वितीयपक्षे तु नीलादिसंवेदनकाले बधिरस्यापि शब्दसंवेदनप्रसङ्गः, नीलादिवत् तदव्यतिरेकात्। यत् खलु यदव्यतिरिक्तं तत् तस्मिन् संवेद्यमाने संवेद्यते, यथा नीलादिसंवेदनावस्थायां तस्यैव नीलादेरात्मा नीलाद्यव्यतिरिक्तश्च शब्द इति।

—प्रभाचन्द्रसूरि, प्रमेयकमल-मार्तण्ड, पृ० ४३

के अज्ञान को सिद्ध नहीं करता। मूक-बधिर भी जब संकेत से किसी वस्तु का Symbol अर्थात् प्रतीक के रूप में प्रयोग करता है, तो उसकी अनुभूति या उसके विचार मन में भाषा का आकार अवश्य ग्रहण करते हैं, जिन्हें वह अपनी शारीरिक अक्षमता के कारण व्यक्त नहीं कर पाता। जन्मान्ध को भी हाथी आदि शब्द के अर्थ का ग्रहण होता ही है, भले ही वह प्राकृतिक हाथी को आँखों से देखने वाले व्यक्ति की तरह उसके आकार-प्रकार का बिम्बग्रहण नहीं करे। हम जिस वस्तु को नहीं देखें उसके वाचक शब्द के अर्थ का बोध हमें न हो, यह तो माना ही नहीं जा सकता। यदि ऐसा होता, तो अलोक-सिद्ध अर्थ के वाचक शब्दों को सार्थक शब्द ही नहीं माना जाता, पर आकाश-कुसुम, बन्ध्यापुत्र आदि शब्द भी सार्थक माने जाते हैं और हमें उनके अर्थ का ग्रहण होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि शब्दार्थ प्राकृतिक अर्थ से अभिन्न नहीं। उस शब्दार्थ का बोध शब्द के बोध के साथ ही सम्भव होता है, इस रूप में वैयाकरणों की मान्यता को स्वीकार किया जा सकता है।

जयन्त भट्ट ने शब्द परिणामवाद के खण्डन के लिए उक्त युक्ति देकर यह कहा है कि यदि वैयाकरण शब्दविवर्तवाद का यह तात्पर्य मानते हों कि शब्द की ही तात्त्विक सत्ता है और अर्थ उसका असत्य प्रतिभास मात्र है, यानी यदि वे यह मानते हों कि शब्द इन्द्रजाल की तरह असत् अर्थ को मन के सामने फैला देता है तो यह बात भी मान्य नहीं होगी। कारण यह है कि शब्द की तरह बाह्य अर्थ की भी तात्त्विक सत्ता है। शब्द से जिस जाति-व्यक्ति रूप अर्थ का बोध होता है उसे अयथार्थ मान लेने में कोई युक्ति नहीं दीखती।[1] सुचरित मिश्र, जयन्त भट्ट आदि नैयायिकों का विचार है कि वैयाकरणों के शब्दविवर्तवाद पर बौद्ध मत का प्रभाव है, जो बाह्य अर्थ की सत्ता नहीं मानते। इसी आधार पर वे बौद्धमत की तरह ही वैयाकरणों के शब्दविवर्त के सिद्धान्त को भी अमान्य मानते हैं।[2]

---

१. अर्थमर्थप्रतिभासमसत्यमपि इन्द्रजालवत् उपदर्शयति शब्दः इत्ययं विवर्तार्थः सोऽपि न युक्तः। बाह्यस्य वस्तुनः पदाभिधेयस्य जातिव्यक्त्यादेर्वाक्य-वाच्यस्यापि भावनादेः पूर्वप्रसाधितत्वात्। ×××× न च इन्द्रजाल-मायादिवत् अयथार्थतायां किमपि कारणमुत्पश्यामः। —जयन्त न्याय-मञ्जरी, २ पृ० १०२

२. एवं हि बौद्धसन्धि वैयाकरणा मन्यन्ते।
—न्यायमञ्जरी, १, पृ० २७५ पर द्रष्टव्य।

एतेनासतो भाने बौद्धमतप्रवेश इत्यपास्तम्। तैस्तत्र आरोपितसत्त्व-स्याप्यनङ्गीकारात्। आत्मनस्तेनानङ्गीकाराच्च। —वही, पृ० २८० द्रष्टव्य।

शब्द से अर्थ की भ्रमात्मक प्रतीति मानने में अर्थात् अर्थ को शब्द का विवर्त या अयथार्थ प्रतिभास मानने में एक आपत्ति यह भी होगी कि भ्रमात्मक प्रतीति अतिशय सादृश्य के कारण होती है, पर शब्द और अर्थ के बीच ऐसा सादृश्यातिशय का सम्बन्ध नहीं रहता। रज्जु में साँप की तथा सीपी में चाँदी की भ्रमात्मक प्रतीति इसलिए होती है कि रज्जु और साँप में तथा सीपी और रजत में अतिशय सादृश्य होता है। शब्द और अर्थ के स्वरूप में सादृश्य का अभाव होने पर शब्द से अर्थ की भ्रमात्मक प्रतीति कैसे मानी जा सकती है?[1] वैयाकरण शायद यह युक्ति देंगे कि चूँकि शब्दब्रह्म विश्व का स्रष्टा है, इसलिए विश्व को शब्दब्रह्म का विवर्त माना गया है, पर इस युक्ति पर नैयायिकों की आपत्ति यह है कि एक तो शब्द को चरम सत्य मानना भी कठिन है, पर यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा मान भी लिया जाय, तो शब्द को अचेतन ही मानना पड़ेगा। अचेतन शब्द को विश्व के स्रष्टा के रूप में कैसे कल्पित किया जा सकता है? यदि वैयाकरण शब्द को परम सत्य और चेतन भी मानें तब तो उनका शब्दब्रह्म नैयायिकों के ईश्वर से अभिन्न हो जायगा और उनके तत्त्वचिन्तन में नैयायिकों के तत्त्वचिन्तन से कोई नवीनता नहीं रह जायगी।[2]

वस्तुतः वैयाकरण शब्द को परम सत्य और चेतन ही मानते हैं। ऐसा होने पर भी उनके चिन्तन को नैयायिकों के तत्त्वचिन्तन से अभिन्न सिद्ध नहीं किया जा सकता। परम सत्य को—सृष्टि के मूलभूत तत्त्व को—शब्दरूप मानना वैयाकरणों के तत्त्वचिन्तन की मौलिकता है। वैयाकरण अर्थरूप विश्व को उस नित्य-अव्यक्त शब्दब्रह्म की अन्तर्निहित शक्ति से विकसित मानते हैं। अधिकांश वैयाकरण अर्थ-रूप विश्व को शब्दब्रह्म का परिणाम ही मानते हैं। कुछ वैयाकरणों ने उसे शब्दब्रह्म का विवर्त भी माना है, पर उस विचार को बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित नहीं माना जा सकता। ऐसा मानना वैयाकरणों की समस्त चिन्तन-पद्धति की उपेक्षा करना होगा।

अखण्ड शब्दब्रह्म को अर्थात्मा जगत का समवाय कारण मानने में नैयायिकों की आपत्ति यह है कि वस्तु का निर्माण अणुओं से होता है, अखण्ड या पूर्ण से नहीं। यदि अखण्ड, अविभाज्य और पूर्ण से वस्तुओं की सृष्टि होती, तो वस्तुएँ भी अविभाज्य और पूर्ण ही होतीं, पर तथ्य यह है कि वस्तुओं का अणुओं में विभाजन किया जा सकता है। अतः नैयायिकों की मान्यता है कि विश्व की सृष्टि अणुओं

---

१. द्रष्टव्य, न्यायमञ्जरी खण्ड २, पृ० १०२।

२. वही, खण्ड २, पृ० १०१-१०२।

के योग से हुई है, एक पूर्ण ब्रह्म से नहीं।[1] शब्दब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रभाचन्द्र सूरि ने एक और तर्क दिया है कि यदि अखण्ड और अविकारी शब्द-ब्रह्म से विश्व की सृष्टि हुई होती तो विश्व के सभी पदार्थों का निर्माण एक ही साथ हो गया होता। एक ब्रह्म से विश्व की रचना में क्रम कैसे आ पाता? पर विश्व का निर्माण क्रमशः होता है। इसलिए उसका समवाय कारण अखण्ड शब्द-ब्रह्म को नहीं माना जा सकता। अणुओं के योग से सृष्टि के निर्माण का सिद्धान्त मानने पर ही सृष्टि के क्रम की समस्या का समाधान हो पाता है, पूर्ण ब्रह्म से सृष्टि के निर्माण का सिद्धान्त मानने पर नहीं।[2]

शब्दब्रह्म से विश्व के विकास के सिद्धान्त के विरुद्ध जो ये युक्तियाँ दी गयी हैं उनके पीछे नैयायिकों के तत्त्व-चिन्तन से प्राप्त निष्कर्ष है, जो वैयाकरणों के तत्त्व-चिन्तन के निष्कर्ष से सर्वथा भिन्न है। भौतिकवादी विचारधारा में सृष्टि को अणुओं का समाहार माना जाता है। नैयायिकों की भी ऐसी ही मान्यता थी। भौतिकवादी चिन्तन से उसका कुछ भेद है तो केवल 'ईश्वर' की सत्ता की मान्यता को लेकर ही है। आज का भौतिक विज्ञान भी अणुओं के योग से ही विश्व की सृष्टि मानता है। पर, अध्यात्मवादी चिन्तन में जड़ अणुओं से चेतना की उत्पत्ति को असम्भव मान कर सृष्टि के मूल कारण के रूप में एक नित्य चित् तत्त्व की कल्पना की गयी है। वह तत्त्व अव्यक्त, अखण्ड और चित् रूप है। वही अपनी कलाओं से अर्थात् अपनी अन्तर्निहित विभूतियों से नामरूपात्मक विश्व का सृजन करता है। सृष्टि का निर्माण एक अखण्ड तत्त्व से होने पर भी उसमें अपूर्णता तथा क्रम ब्रह्म की कलाओं के कारण आता है। वैयाकरणों ने भी शब्दब्रह्म के विकास का हेतु प्राकृत और वैकृत ध्वनियों को माना है। इसलिए सृष्टि के क्रम तथा वस्तुओं की अपूर्णता एवं विभाज्यता की समस्या उनके सामने कोई कठिनाई उपस्थित नहीं कर सकी।

जयन्त भट्ट ने न्याय-मञ्जरी में उपनिषद् के दो वाक्य उद्धृत किये हैं, जिनमें से एक में कहा गया है कि दो ब्रह्मों को जानना चाहिए—शब्दब्रह्म और परम ब्रह्म को, तथा दूसरे में कहा गया है कि शब्दब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने वाले परमब्रह्म

---

१. न च परमाणुवादस्य कारणत्वम्। अवयवसमवायेन पृथिव्यादेः कार्यस्य ग्रहणात्। —जयन्त भट्ट, न्याय मञ्जरी २, पृ० १०२।

२. नापि शब्दात् उत्पत्तिः। तस्य नित्यत्वेनाविकारित्वात्, क्रमेण कार्योत्पत्ति विरोधात् सकलकार्याणां युगपदेवोत्पत्तिः स्यात्। कारणवैकल्याद्धि कार्याद-विलम्बन्ते नान्यथा। तच्चेदविकलं किमपरं तैरपेक्ष्यं येन युगपन्न भवेयुः
—प्रभाचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ४४

को प्राप्त करते हैं। जयन्त की युक्ति है कि यदि वैयाकरण इन उक्तियों से शब्दाद्वैतवाद का समर्थन करें तो प्रश्न यह होगा कि उक्त दो वाक्यों में शब्दब्रह्म और परब्रह्म के द्वैत का जो उल्लेख है वह यथार्थ है या प्रातिभासिक ? यदि द्वैत यथार्थ हो तो अद्वैत का सिद्धान्त ही खण्डित हो जायगा। इसलिए शब्दाद्वैतवादी उन उक्तियों में प्रातिभासिक द्वैत ही मानेंगे; किन्तु ऐसा मानने पर भी शब्दब्रह्म को परम सत्य नहीं मान कर परमब्रह्म को ही चरम सत्य मानना पड़ेगा, क्योंकि शब्दब्रह्म के ज्ञान को परमब्रह्म की प्राप्ति का साधन कहा गया है। अतः परम ब्रह्म की ही मूल सत्ता की स्वीकृति उपनिषद् की उन उक्तियों में है। उनसे शब्दब्रह्म की नित्यता और मूलसत्ता के सिद्धान्त का पोषण नहीं होता, खण्डन ही होता है।[1]

वैयाकरणों के मतानुसार शब्दब्रह्म ही मूल तत्त्व है। उससे सृष्टि का विकास होता है। वे शब्दब्रह्म और परमब्रह्म; दो ब्रह्मों की सत्ता नहीं मानते। वस्तुतः अखण्ड, पूर्ण और व्यापक तत्त्व एक ही हो सकता है। दो पूर्ण और व्यापक ब्रह्मों की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना से ब्रह्म की सत्ता की मूल धारणा ही खण्डित हो जायगी। यदि शब्दब्रह्म के ज्ञान को परमब्रह्म की प्राप्ति का साधन माना जाय तो परमब्रह्म की तुलना में शब्दब्रह्म को सीमित मानना पड़ेगा। यह वैयाकरणों का अभिमत नहीं। अतः उपनिषद् की उक्तियों के आधार पर वैयाकरणों की शब्दब्रह्म-विषयक मान्यता का खण्डन उचित नहीं।

शब्दाध्यासवाद—व्याकरण दर्शन में स्फोट-रूप अव्यक्त शब्द-तत्त्व के जिस स्वरूप की कल्पना की गयी है उसमें शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध की धारणा अन्तर्निहित है। शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध मानने वाले इस सिद्धान्त पर अनेक दिशाओं से आक्षेप किये गये हैं। यहाँ तक कहा गया है कि शब्द और अर्थ में यदि अभेद होता तो आग शब्द के उच्चारण से ही लोग जल जाते। तलवार शब्द का उच्चारण करते ही जीभ कट जाती। आग अर्थ में दाहकता रहती है, पर आग शब्द में नहीं। फिर दोनों में अभेद कैसा ? कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में वैयाकरणों की मान्यता को प्रस्तुत कर उसके खण्डन के लिए अनेक युक्तियाँ दी हैं। वैयाकरणों की एतद्विषयक मान्यता के विरुद्ध दी गयी युक्तियों के मूल्यांकन के लिए शब्द और अर्थ के समन्ध में उनकी धारणा का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

---

१. "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।"—× × तदपि ब्रह्मसुभिक्षमत्यन्तमलौकिकमेकतरस्य ब्रह्मणः काल्पनिकत्वात् अकाल्पनिकत्वे वा कथमद्वैतवादः, तस्मात् कृतमनेन शब्दब्रह्मणा—जयन्त, न्यायम० २, पृ० १०३

वैयाकरणों की धारणा है कि अव्यक्त, नित्य शब्द-तत्त्व में शब्द और अर्थ का कोई विभाग नहीं, पर जब उस शब्दब्रह्म से विश्व का विकास हुआ—शब्दब्रह्म की शक्ति से अर्थात्मा जगत उत्पन्न हुआ और वह अव्यक्त शब्दतत्त्व ध्वनियों में व्यक्त हुआ तब शब्द-अर्थ के तात्त्विक अभेद में भी व्यावहारिक भेद आया। शब्द अर्थ का वाचक माना गया। इस प्रकार व्यवहार की भाषा में शब्दार्थबोध के तीन पक्ष होते हैं—शब्द, अर्थ और उन दोनों के बीच का सम्बन्ध। शाब्दबोध में इन तीनों का ज्ञान अनिवार्यतः रहा करता है। उदाहरण के लिए, 'गाय' शब्द को सुन कर हमें जो बोध होता है उसका स्वरूप इस प्रकार का होता है—हम 'गाय' शब्द का अर्थात् ग्, आ, य, इन ध्वनियों का नियत क्रम में बोध प्राप्त करते हैं, गाय अर्थ का अर्थात् गोत्व जाति से युक्त एक पशु-विशेष का बोध भी प्राप्त करते हैं और उस शब्द से उस प्राणी-रूप अर्थ का बोध कराना वक्ता को अभीष्ट है, इस प्रकार के शब्दार्थ-सम्बन्ध का भी हमें ज्ञान होता है।[1] इन तीन अङ्गों में से किसी भी एक अङ्ग के बोध के अभाव में शाब्दबोध सम्भव नहीं होता। इसीलिए वैयाकरणों ने शब्द, अर्थ और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान का महत्त्व स्वीकार किया है। वर्ण-समूहात्मक शब्द और उससे निर्दिष्ट अर्थ अलग-अलग रहते हैं, यह प्रत्यक्षसिद्ध है, साथ ही शब्दविशेष से अर्थविशेष का बोध होने से यह भी अनुभवसिद्ध है कि दोनों के बीच एक सम्बन्ध रहता है. अर्थात् शब्द में अर्थबोध की शक्ति निहित रहती है। शब्द के स्वरूप और बाह्य अर्थ के बीच वाच्य-वाचक सम्बन्ध रहता है। बाह्य अर्थ वाच्य होता है और शब्द वाचक। शब्द और वक्ता के अभिप्राय में कारण-कार्य सम्बन्ध रहता है। शब्द कारण है और वक्ता का अभिप्राय-कार्य। इस प्रकार शब्द और उसके अर्थ के बीच जो भेद-अभेद का अनुभव होता है उसके स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए व्याकरण-दर्शन में शब्दाध्यास के सिद्धान्त की स्थापना हुई है। शब्द में अर्थ का बोध कराने की जो योग्यता अर्थात् शक्ति रहती है उसे वैयाकरण स्वाभाविक तथा नित्य मानते हैं। उनके अनुसार, शब्द के उच्चरित होते ही अर्थ को उपस्थित करने की शक्ति उसमें नित्य भाव से रहा करती है। ध्यातव्य है कि शब्द से निर्दिष्ट होने वाला प्राकृतिक पदार्थ अनित्य होता है, फिर भी वैयाकरण शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हैं, क्योंकि अर्थ का बोध कराने की शक्ति नित्य शब्द में रहती है और इसलिए वह शक्ति भी नित्य मानी गयी है।[2]

---

१. ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः॥ —वाक्यपदीय, ३,३,१।

२. सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसंबन्धः।
—पतञ्जलि, महाभाष्य, अ० १, इस पर प्रदीप द्रष्टव्य।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर लिया जाना चाहिए कि 'अर्थ' से तात्पर्य शब्द से निर्दिष्ट होने वाली प्राकृतिक वस्तु का भी है और शब्दार्थ अर्थात् शाब्दबोध का भी। वैयाकरण 'अर्थ' शब्द के दोनों अर्थ स्वीकार करते हैं। व्यवहार में प्राकृतिक वस्तु का निर्देश करने के लिए भी शब्द का प्रयोग किया जाता है। कलम कहने से हमें उस एक विशिष्ट वस्तु का भी बोध होता है, जिससे हम लिख रहे हैं, पर उस शब्द से कलम के सामान्य रूप की भी अवधारणा बनती है, जिसमें रंग, आकार-प्रकार आदि की विशिष्टता का बोध नहीं रहता। उस सामान्य अवधारणा के अनुरूप होने वाली सभी विशिष्ट वस्तुओं को हम 'कलम' समझ लेते हैं—भले ही वे रंग आदि गुणों में एक दूसरे से बहुत भिन्न हों। शब्द से होने वाला सामान्य प्रत्यय भी शब्द का अर्थ है। उलमान आदि आधुनिक विचारकों की मान्यता है कि शब्द से उत्पन्न वस्तु-सामान्य के बोध को ही 'अर्थ' मान कर भाषाशास्त्र में उसके स्वरूप का विवेचन होना चाहिए, प्राकृतिक वस्तु का नहीं। अस्तु, वैयाकरण विशिष्ट प्राकृतिक वस्तु तथा शब्द से उत्पन्न वस्तु-सामान्य का प्रत्यय; इन दोनों को शब्द का अर्थ मानते हैं। शब्द से निर्दिष्ट प्राकृतिक वस्तु को शब्द का अर्थ मानने पर शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध की कल्पना करने से स्वभावतः ही अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। उन कठिनाइयों से बचने के लिए शब्दाध्यास के सिद्धान्त की कल्पना की गयी है।

भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करते हुए कहा है कि जब शब्द के स्वरूप का अर्थात् विशेष क्रम में घटित वर्णसमूह का बोध होता है, तब अर्थ का अर्थात् उस शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु का बोध होता है, या कहीं-कहीं शब्दविषयक ज्ञान में सन्देह होता है। यह सार्वत्रिक नियम है, जिसका कोई अपवाद नहीं मिलता।[1] भर्तृहरि के इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए वाक्यपदीय के टीकाकार हेलाराज ने शब्द-अर्थ में तादात्म्य-बुद्धि के तथ्य का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि जब हम यह एक वाक्य सुनते या बोलते हैं कि 'यह गाय है' तब उसके बोध की प्रक्रिया यह होती है कि 'यह गाय (शब्द) है' और 'यह गाय (पशुविशेषरूप) अर्थ' है। इस प्रकार एक ही शब्द एक ओर अपने स्वरूप का बोध कराता है तथा दूसरी ओर अपने वाच्य अर्थ का भी बोध कराता है। दोनों प्रकार का बोध अभिन्न रूप में होता है। गाय शब्द और उसके वाच्य पशुविशेष-रूप बाह्य अर्थ में अभिन्नता की प्रतीति होने के कारण ही शब्द

---

२. प्रतिपत्तिर्भवत्यर्थे ज्ञाने वा संशयः क्वचित्।
स्वरूपेषूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते ॥—भर्तृहरि वाक्यपदीय, ३,३,२.

अपने स्वरूप के बोध के साथ अपने वाच्य अर्थ का भी बोध करा पाता है। हेलाराज ने यह स्पष्ट किया है कि शब्द और अर्थ में तात्त्विक विवेचन की दृष्टि से भेद रहता है। 'यह गाय है' ऐसे कथन में 'यह' शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ के भेद का बोध कराता है। 'यह' शब्द का प्रयोग एक विशेष प्राणी का—बाह्य वस्तु का—बोध कराता है, जिसका निर्देश करने के लिए 'यह' का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार शब्द तथा उससे निर्दिष्ट बाह्य वस्तु में तात्त्विक भेद होने पर भी शब्द से उसके अर्थ के बोध की प्रक्रिया यह होती है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य या अभेद की प्रतीति हुआ करती है। ऐसी प्रतीति शब्द के संकेत के कारण हुआ करती है। भाषा के व्यवहार में शब्द और अर्थ के बीच होनेवाले तादात्म्य-बोध को, पारिभाषिक शब्द में कहें, तो अध्यास को हेलाराज व्यावहारिक दृष्टि से उपेक्षणीय नहीं मानते। शब्द-अर्थ के बीच अभेद की प्रतीति अतात्त्विक होने पर भी लोकव्यवहार में साधक बनती है। अतः उसका अपना महत्त्व है।[1] शब्द से होने वाले अर्थबोध के स्वरूप का निर्धारण करते हुए हेलाराज ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि अर्थबोध में अर्थ शब्दरूप ही प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में, बोध के समय शब्द और अर्थ में तादात्म्य की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ, 'गाय' शब्द के अर्थबोध में, यह ज्ञान नहीं रहता कि यह शब्द गाय अर्थ का उत्पादक है। गाय शब्द और उसके वाच्य प्राणी-रूप अर्थ की प्रतीति अभिन्न रूप में ही होती है।[2]

भर्तृहरि ने शब्द, अर्थ और उनके बीच के सम्बन्ध की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार की थी। उनके अनुसार अभिधान अर्थात् शब्द, अभिधेय अर्थात् अर्थ तथा निमित्त अर्थात् सम्बन्ध; इन तीनों की स्वतन्त्र सत्ता है। सम्बन्ध का बोध संकेत से होता है। शब्द और अर्थ से पृथक् वह दीख नहीं पड़ता। ये तीनों नियमतः एक साथ रहा करते हैं। व्यवहार में इन्हें एक साथ देखते-देखते तथा एक साथ इनका उच्चारण सुनते-सुनते मनुष्य इतना अभ्यस्त हो गया है कि उसे इनकी विभिन्नता का बोध नहीं होता।[3]

नागेश ने वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा में भर्तृहरि की इस मान्यता की पुष्टि की है। उनकी युक्ति है कि 'घट' शब्द है, घट अर्थ है और उसका ज्ञान भी घटरूप

---

१. द्रष्टव्य—वाक्यपदीय, ३, ३, २ पर हेलाराजकृत टीका।

२. वही।

३. अभिधानाभिधेयनिमित्तभेदाच्च भिन्नरूपमिति स्वरूपेष्वित्याह।-वाक्यपदीय, प्रतिपत्तिर्भवत्यर्थे····इत्यादि श्लोक पर हेलाराज की टीका, पृ० ९६,

ही होता है। इसलिए 'घट' शब्द का उच्चारण करने पर शब्द, अर्थ और उसके ज्ञान का पृथक्-पृथक् बोध नहीं होता। इस प्रकार हैं तो वे तीनों तत्त्वतः पृथक्-पृथक्, पर व्यवहार के कारण तीनों में अध्यास का, अर्थात् तात्त्विक भेद में अभेद की प्रतीति का सम्बन्ध रहता है। नागेश ने वाक्यपदीय के एक श्लोक को उद्धृत कर कहा है कि भर्तृहरि ने उसमें शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के अध्यास के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[1]

इस अध्यास की कल्पना कर लेने पर वैयाकरण शब्दार्थ के अभेद के सिद्धान्त पर किये गये ऐसे आक्षेपों का उत्तर बड़ी सरलता से दे सकते हैं कि घट शब्द के उच्चारण-मात्र से घट अर्थ उपस्थित क्यों नहीं हो जाता और मधु को घट शब्द में ही क्यों नहीं रखा जाता? शब्द से निर्दिष्ट वस्तु और शब्द में यदि तात्त्विक अभेद माना जाता तो ऐसे प्रश्न हो सकते थे। वैयाकरण उनमें तात्त्विक अभेद तो मानते नहीं, केवल अभेद की प्रतीति मानते हैं। अतः वैसे प्रश्न के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।

कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में वैयाकरणों के शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक अध्यास-सिद्धान्त के खण्डन के लिए अनेक युक्तियाँ दी हैं, जिनका परीक्षण इस सन्दर्भ में अपेक्षित है।

कुमारिल का तर्क है कि वैयाकरणों ने लोकव्यवहार में शब्द और अर्थ में होने वाली अभेद-प्रतीति का औचित्य दिखाने के लिए तत्त्वतः भिन्न शब्द और अर्थ में अयथार्थ अभेद की प्रतीति की कल्पना की है। यह कल्पना इस मान्यता पर आधृत है कि लोकव्यवहार में शब्द और अर्थ का अभिन्न रूप में ही बोध होता है। कुमारिल अध्यासवाद की इस आधारभूत मान्यता को ही गलत मानते हैं। उनकी युक्ति है कि व्यवहार में अर्थ का बोध अनिवार्यतः शब्द के बोध के साथ ही नहीं होता। वस्तु का बोध स्व-लक्षण अर्थात् निर्विकल्पक होता है। वस्तुविशेष का शब्दविशेष के साथ सम्बन्ध हम पीछे चल कर धीरे-धीरे सीखते हैं। जब तक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान अर्जित नहीं किया जाता, तब तक अर्थ का ज्ञान निर्विकल्पक या स्वलक्षण ही होता है। नवजात शिशु अथवा पशु-पक्षी को किसी वस्तु को देखने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह शब्दबद्ध रूप में या सविकल्पक नहीं होता। अतः कुमारिल का निष्कर्ष है कि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध नहीं होता, व्यवहार में सर्वत्र शब्द और अर्थ की अभेदतया प्रतीति नहीं होती और इस लिए शब्द-अर्थ में तात्त्विक भेद मान कर भी उनके बीच अभेद की मिथ्या प्रतीति

---

१. नागेश, वैयाकरणसिद्धान्त मञ्जूषा।

अर्थात् अध्यास के सिद्धान्त की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं।[1] शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान अर्जित कर लेने के उपरान्त भी जब शब्द के आकार में लोकसिद्ध बाह्य अर्थ का सविकल्पक ज्ञान होता है तो उसमें भी हम शब्द, अर्थ तथा उनके बीच के सम्बन्ध को तो समझते हैं, पर शब्द और उसके अर्थ को अभिन्न नहीं समझते। कारण यह है कि हमें शब्द के श्रोत्रग्राह्य होने तथा उसके अर्थ के नेत्र आदि भिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य होने का ज्ञान बना रहता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि 'गाय' आदि शब्द को सुन कर हमें ग्, आ तथा य आदि ध्वनियों से निर्मित गाय आदि शब्द में तथा उससे संकेतित विशेष प्राणी आदि रूप अर्थ में अभेद की प्रतीति होती है ?[2]

कुमारिल भट्ट की प्रथम युक्ति कुछ हद तक तथ्यपूर्ण जान पड़ती है। भाषा-ज्ञान से अपरिचित शिशु तथा पशु-पक्षी के वस्तु-ज्ञान को शब्दाश्रित या सविकल्पक सिद्ध करना कठिन है। इसे सिद्ध करने के लिए वैयाकरणों ने पूर्वजन्म के संस्कार की कल्पना का सहारा लिया है, पर एक तो ऐसी कल्पना से बुद्धिवादी विचारकों को संतोष नहीं होता, दूसरे उस कल्पना से भी नये-नये अर्थों और नये-नये शब्दों का जो आविर्भाव होता रहता है उनके ज्ञान की समस्या का समाधान नहीं हो पाता। पूर्व जन्म में जिन अर्थों और शब्दों का अस्तित्व ही नहीं था उनके सम्बन्ध-ज्ञान के संस्कार की कल्पना कैसे की जा सकती है ? सभी प्रकार के ज्ञान को शब्दबद्ध सिद्ध करने के लिए शब्दब्रह्म के व्यापक एवं अनादि स्वरूप की कल्पना कर जो सभी अर्थों को उसी से विकसित माना गया है वह दार्शनिक चिन्तन में कुछ विचारकों के विश्वास का प्रतिफलन हो सकता है, पर भौतिकवादी चिन्तकों की बौद्धिक जिज्ञासा की तुष्टि इस मान्यता से भी नहीं हो पाती। कुमारिल भट्ट की दूसरी युक्ति का उत्तर व्याकरण सिद्धान्त के अनुयायी इस रूप में दे सकते हैं कि शब्द और उसके अर्थ में अभेद की प्रतीति का आशय यह नहीं कि लोग वर्णों से निर्मित शब्द को और उससे निर्दिष्ट अर्थ को परस्पर अभिन्न समझ लेते हैं। अभेद की प्रतीति का आशय यह है कि किसी शब्द को सुनकर उस शब्द के स्वरूप का, उससे निर्दिष्ट अर्थ का तथा दोनों के सम्बन्ध का एक ही समय ऐसा मिला-जुला बोध होता है कि उनमें परस्पर अभेद की प्रतीति हो जाती है। उदाहरण के लिए

---

१. न चाविकल्पितः शब्दादिति वाच्यो न गृह्यते।
तेनागृहीतशब्दोऽपि गोत्वादीन् प्रतिपद्यते ॥—श्लोकवा० प्रत्यक्षसूत्र, वा० १७३

२. श्रुतिसंस्पर्शबोधेऽपि नैव भेदोपचारता।
विवेकादर्थशब्दानां चक्षुःश्रोत्रधिया कृतात् ॥—वही, १७७

गाय शब्द को सुनने से गाय शब्द, उसके वाच्य अर्थ तथा शब्दार्थ के सम्बन्ध का बोध एक ही साथ हो जाता है, पृथक्-पृथक् नहीं। इस प्रकार शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के मिश्रित बोध के कारण उनमें अभेद की प्रतीति तो होती ही है, पर, वह अभेद तात्त्विक नहीं केवल प्रातिभासिक होता है। अतः शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के तात्त्विक भेद और मिथ्या प्रतीति-जन्य अभेद की—अध्यास की—कल्पना का औचित्य असन्दिग्ध है। यह स्पष्ट कर लेना भी आवश्यक है कि शब्द से निर्दिष्ट वस्तु और शब्द का अर्थ अभिन्न नहीं। शब्द के साथ उसके अर्थ की तो अभेद-प्रतीति होती ही है, भले ही निर्दिष्ट वस्तु से शब्द के भेद का ज्ञान बना रहे।

शब्द-अर्थ में अभेद की प्रतीति के सिद्धान्त के विरुद्ध कुमारिल भट्ट की एक युक्ति यह है कि शब्द एक निश्चित साध्य का साधन मात्र होता है। वह अर्थ के बोध का साधन है। किसी वस्तु में अनेक गुणों के रहने पर भी उसके किसी एक गुण के बोधक शब्द का प्रयोग उसके लिए हो सकता है। उदाहरण के लिए संसार शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से जगत की गतिशीलता के गुण से सम्बद्ध है, फिर भी वह शब्द जगत के अर्थ का बोध करा देता है, जिस जगत में संसरणशीलता के साथ और भी असंख्य गुण हैं। एक गुण के बोधक शब्द को असंख्य गुणों से युक्त अर्थ से अभिन्न कैसे समझा जा सकता है? जो सम्बन्ध दीपक और घड़े में है वही शब्द और अर्थ में भी रहता है। दीपक प्रकाशक है जो घड़े या उसके वर्ण आदि के बोध में सहायक होता है। वह साधन होता है, घड़ा तथा उसका वर्ण आदि साध्य। उसी प्रकार शब्द साधन है, अर्थ साध्य। शब्द और अर्थ में अभेद मान लेना दीपक और घड़े में अभेद मान लेनेके समान होगा।[1]

शब्द की अर्थ-प्रकाशकता को दीपक की वस्तु-प्रकाशकता के समान मान कर जो यह तर्क दिया गया है कि जैसे दीपक और उससे प्रकाशित घट, पट आदि वस्तुओं में अभेद-प्रतीति की कोई सम्भावना नहीं हो सकती, उसी प्रकार अर्थ के द्योतक शब्द और उससे द्योतित अर्थ में भी अभेद की प्रतीति नहीं मानी जा सकती, उसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि शब्दार्थ के बोध का स्वरूप दीपक के सहारे होने वाले वस्तु-बोध से भिन्न है। दीपक में वस्तु के प्रकाशन की जो शक्ति है उसका किसी विशेष वस्तु से नियत सम्बन्ध नहीं रहता। वह घट का भी प्रकाशन करता है, पट का भी और अन्य असंख्य वस्तुओं का भी। अतः किसी वस्तु के साथ सम्बद्ध नहीं होने के कारण वहाँ अभेद प्रतीति का कोई प्रश्न ही नहीं; पर शब्द और

---

१. कुमारिल भट्ट, श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्ष सूत्र, १७८-७९

उसके वाच्य अर्थ के सम्बन्ध की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। शब्दविशेष का वस्तुविशेष के साथ नियत सम्बन्ध रहता है। गाय शब्द सदा अपने वाच्यविशेष प्राणी-रूप अर्थ को ही द्योतित करता है। इस प्रकार शब्दविशेष की अर्थविशेष के साथ नियत सह-स्थिति के कारण—अर्थ-विशेष का विशिष्ट शब्द से ही बोध होने के कारण—शब्द-अर्थ में अभेद की प्रतीति होने लगती है। अतः शब्दाध्यासवाद के खण्डन के लिए दी गयी कुमारिल की उक्त युक्ति सबल नहीं मानी जा सकती।

कुमारिल भट्ट ने अध्यासवादी वैयाकरणों के सामने एक प्रश्न रखा है कि उनके अनुसार शब्द का संकेतित अर्थ चार प्रकार का होता है—जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। क्या वे अर्थ-बोध के इन चारो प्रकारों में उनके बोधक शब्दों से अर्थ की अभिन्नता की प्रतीति मानते हैं? यदि जाति आदि चार का सार्वत्रिक रूप से शब्द-रूप में बोध माना जाय तो शब्दाध्यास की धारणा सिद्ध नहीं होती, क्योंकि अध्यास में शब्द-अर्थ में तात्त्विक भिन्नता और अतात्त्विक अभिन्नता की प्रतीति होनी चाहिए। यदि यह कहा जाय कि शब्दार्थ-बोध के समय हम शब्द के तात्त्विक भेद से अवगत रहते हैं, तो भी अध्यास का सिद्धान्त असिद्ध हो जायगा; क्योंकि तात्त्विक भेद का यथार्थ ज्ञान रहने पर अभेद की अयथार्थ प्रतीति की कल्पना नहीं की जा सकती। एक समय या तो यथार्थ ज्ञान रह सकता है, या केवल भ्रमात्मक ज्ञान। दोनों की एक साथ सत्ता सम्भव नहीं। या तो अर्थ की शब्द से अभिन्नतया प्रतीति मानी जा सकती है, या भिन्न-भिन्न रूप में। दोनों ही स्थितियों में अध्यास का सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता।[1]

शब्द-अर्थ के अध्यास की मान्यता के विरुद्ध उठायी गयी इस आपत्ति का उत्तर यह है कि शब्द और अर्थ के बीच तात्त्विक भेद का बोध और दोनों के अभेद की प्रतीति अनुभव-सिद्ध है। दोनों के तात्त्विक भेद की चेतना रहने के कारण ही साँप, शेर आदि शब्दों को सुन कर लोग भाग खड़े नहीं होते। आग शब्द में दाहकता के अभाव तथा आग अर्थ में दाहकता के सद्भाव का किसे अनुभव नहीं? फिर भी शब्दार्थ-बोध के स्वरूप की यह विशिष्टता है कि दोनों के तात्त्विक भेद का ज्ञान रहने पर भी उनकी अभिन्नतया ही प्रतीति होती है। शब्दार्थ-बोध में तात्त्विक भेद-ज्ञान अतात्त्विक अभेद-प्रतीति को बाधित नहीं कर सकता। कारण यह है कि शब्द-

---

१. नित्यं यदि च गोत्वादि शब्दरूपेण गृह्यते।
रूपान्तरं न दृष्टं चेद् भेदाभ्यासौ कुतोन्विमौ॥
यत्राभेदो न मिथ्यात्वं भेदश्चेत् स्यात् स्वरूपतः।
नाध्यारोपप्रसंगः स्यात् भ्रान्त्या त्वध्यासकल्पना॥—श्लोकवा०, प्रत्यक्षसूत्र, १८०-८१

विशेष की अर्थविशेष के साथ अव्यभिचारी स्थिति होने से शब्द और अर्थ की एक ही साथ उपस्थिति होती है। रज्जु में साँप की या सीपी में रजत की भ्रान्त प्रतीति, जिसका यथार्थ ज्ञान से खण्डन हो जाता है, शब्दार्थ की अयथार्थ अभेद-प्रतीति का उपयुक्त उदाहरण नहीं। सीपी और रजत की या रज्जु और साँप की अनिवार्य सह-स्थिति नहीं रहती। अतः वहाँ अन्य वस्तु में अन्य की प्रतीति यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण ही होती है और यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वह अयथार्थ प्रतीति नष्ट हो जाती है। शब्दार्थ-बोध में तात्त्विक भेद का ज्ञान तथा अतात्त्विक अभेद का ज्ञान एक साथ रह सकते हैं। यही शब्दाध्यास की अन्य प्रतीतियों से विशेषता है। शब्द-अर्थ की सर्वत्र एक साथ उपस्थिति के कारण दोनों में अभेद का अयथार्थ बोध होता है, जिसमें दोनों के तात्त्विक भेद का बोध भी मिला रहता है।

शब्दाध्यासवाद के विरुद्ध कुमारिल का एक तर्क यह है कि शब्द ज्ञात अर्थ को अभिव्यक्त करने के साधन होते हैं। जब हमें किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है और हम उसे अभिव्यक्ति देना चाहते हैं, तब उसे व्यक्त करने में समर्थ शब्द का प्रयोग करते हैं। अतः ज्ञात अर्थ को शब्द से अभिन्न मानना युक्तिसंगत नहीं। दूसरी बात यह है कि शब्द, ज्ञेय अर्थ और ज्ञान; तीनों की अलग-अलग अनुभूति हुआ करती है। उदाहरण के लिए, गाय शब्द का बोध ध्वनि-समूह के रूप में तथा गाय अर्थ का बोध विशेष जीव के रूप में होता है। इन दोनों के बीच सम्बन्ध रूप में रहने वाला ज्ञान, जिसमें गाय शब्द तथा गाय अर्थ दोनों का बोध मिश्रित रहता है, प्रकाश-रूप निराकार चेतना है। अतः शब्दाध्यास की कल्पना का कोई औचित्य नहीं।[1]

अध्यासवाद के अनुसार इस तर्क का उत्तर इस रूप में दिया जा सकता है कि अर्थ का ज्ञान शब्द के आकार में ही उत्पन्न होता है। दोनों में कोई पूर्वापर क्रम लक्षित नहीं होता। वस्तु का ज्ञान पहले प्राप्त कर लेने के बाद हम उसके वाचक शब्द को चुनकर प्रयोग में लाते हैं, ऐसी मान्यता उचित नहीं। अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द का प्रयोग जानने वालों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया यह होती है कि उनका अर्थ-बोध शब्द के आकार में ढल कर ही उत्पन्न हुआ करता है। भाषा-ज्ञान से वंचित शिशु आदि की बोध-प्रक्रिया अलग मानी जा सकती है। उसे वस्तु की केवल चिह्न के रूप में वेदना होती है, पर कुमारिल ने भाषा के प्रयोक्ता का जो उदाहरण दिया है, उसके प्रत्यय को शब्दहीन नहीं माना जा सकता। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान रखने वाला अर्थ का बोध उसके

---

१. गोत्वे सास्नादिमद्रूपा गादिरूपाभिधायके।
निराकारोभयज्ञाने संवित्तिः परमार्थतः ॥ —श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, १८५

वाचक शब्द के रूप में ही किया करता है और इस प्रकार शब्द का अर्थ के प्रतीक (Symbol) के रूप में प्रयोग कर सकता है। शब्द, अर्थ और उनके बीच ज्ञान-रूप सम्बन्ध की पृथक्-पृथक् अनुभूति की जो बात कुमारिल ने कही है उससे अध्यास का सिद्धान्त खण्डित नहीं हो पाता। तात्त्विक रूप से तो इन तीनों की स्वतन्त्र सत्ता वैयाकरणों ने मानी ही है। शब्द-अर्थ के बोध के समय वे एक-दूसरे से इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि उनके भेद की अनुभूति न होकर अभेद की अनुभूति होने लगती है। गाय शब्द, गाय अर्थ तथा उनके सम्बन्ध का बोध हमें एक ही रूप में—गाय के ही रूप में—होता है। अतः शब्द, अर्थ और उनके बीच के सम्बन्ध को तत्त्वतः परस्पर भिन्न मानकर व्यवहारतः उनकी अभिन्नतया प्रतीति मानने वाली अध्यास-धारणा के विरुद्ध कुमारिल की यह युक्ति बहुत सबल नहीं जान पड़ती।

कुमारिल ने शब्दाध्यास के सिद्धान्त में एक दोष यह दिखाया है कि यदि यह मान लिया जाय कि अर्थ पर अयथार्थ आरोप अर्थात् अध्यास के कारण शब्द और अर्थ की अभेद-प्रतीति हो जाती है, तो अनेकार्थ-बोधक शब्द के सभी अर्थ परस्पर अभिन्न हो जायेंगे, क्योंकि उन सभी अर्थों को एक ही शब्द से अभिन्न माना जायगा। उदाहरणार्थ, अक्ष शब्द आँख, चौसर तथा पहिये का धुरा आदि का वाचक है। शब्दाध्यासवाद के अनुसार अक्ष शब्द इन सभी अर्थों से अभिन्न माना जायगा और इस प्रकार सभी अर्थ परस्पर अभिन्न हो जायेंगे, किन्तु तथ्य यह है कि हमें अनेकार्थवाची शब्दों के सभी अर्थों का बोध अलग-अलग होता है। वैयाकरण यह तर्क देते हैं कि पर्यायवाची शब्द एक नहीं, अर्थ के अनुरूप शब्द भी अनेक होते हैं, भले ही उनका स्वरूप उच्चारण के स्थान-प्रयत्न के समान होने के कारण एक-सा होता है। पर, कुमारिल के अनुसार यह तर्क मान्य नहीं। अक्ष में उक्त तीन अर्थों के अनुरूप तीन पदस्फोटों की कल्पना युक्तिसंगत नहीं। कारण यह है कि अक्ष शब्द को सुनकर तत्काल यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि किस अर्थ में उसका प्रयोग किया गया है। अतः उसे सुनते ही किसी नियत अर्थ में पदस्फोट का बोध नहीं हो पाता।[1] इसके विपरीत पर्यायवाची शब्द से शब्दभेद के कारण समान अर्थ का बोध न होकर भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध होना चाहिए, पर हस्त,

१. एवम् इन्द्रियजेष्विव न शाब्देष्वपि प्रत्ययेषु शब्दः स्वरूपमध्यस्यति—इति युक्तम्। यदि च शब्दः स्वरूपेणार्थं प्रतिपादयति तदाक्ष शब्दस्यैक्याद् देवन-विभीतक—रथाक्षेषु तुल्या प्रतीतिः स्यात्। न च अक्षशब्दा भिन्ना इति वक्तव्यम्, रूपप्रत्यभिज्ञाऽनपायात्, उच्चारणे चार्थत्रय्यां संशयदर्शनात्। —जयन्त, न्यायमं २,१०१/द्रष्टव्य श्लोकवा १८६,१८९-९०।

कर, पाणि आदि शब्द एक ही अर्थ का बोध कराते हैं। उनमें से किस शब्द को अर्थ से अभिन्न माना जायगा?[1] इस युक्ति से कुमारिल भट्ट ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अध्यास के द्वारा शब्द-अर्थ में अभेद-बोध की कल्पना असंगत है।

अनेकार्थवाची शब्दों के स्फोट की अनेकरूपता सिद्ध करने के लिए जो युक्ति कुमारिल ने दी है उसका उत्तर अध्यासवादी वैयाकरणों के मतानुसार यह होगा कि वस्तुतः अलग-अलग अर्थ के अनुरूप एक ही आकृति वाले अनेक शब्द माने जाते हैं,जो अपने-अपने अर्थ के साथ अभिन्न रूप में गृहीत होते हैं। आकृति की समानता के कारण उन शब्दों को एक शब्द नहीं माना जा सकता। अब प्रश्न यह है कि जब हम किसी अनेकार्थवाची शब्द को सुनते हैं, तो सुनते ही हमें उसके अनेक अर्थों में से किस अर्थ का ग्रहण होता है और उस एक विशिष्ट अर्थ के ग्रहण का क्या आधार होता है? इस प्रश्न का उत्तर वैयाकरणों के वाक्यस्फोट के सिद्धान्त में आसानी से मिल सकता है। वैयाकरण वाक्यस्फोट की ही तात्त्विक सत्ता मानते हैं। उस वाक्यस्फोट में पद का अर्थ—अनेकार्थवाची पदों के भी अनेक अर्थों में से एक विवक्षित अर्थ—निश्चयात्मक रूप में ही गृहीत होता है, अर्थात् एक वाक्य में एक शब्द एक नियत अर्थ का ही बोध कराता है। जहाँ एक वाक्य में एक शब्द के अनेक अर्थों के बोध के लिए प्रयोग किया जाता है, वहाँ भी शब्द को श्लिष्ट माना जाता है, यानी एक शब्द में अनेक शब्दों की संश्लिष्ट सत्ता मानी जाती है। इस प्रकार एक शब्द का एक अर्थ मान लेने पर शब्द-अर्थ की अभेद-प्रतीति का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता। पर्यायवाची शब्दों के अध्यास के सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि एक अर्थ के लिए अनेक वाचक शब्दों के होने पर भी एक समय उस अर्थ के लिए एक ही शब्द का प्रयोग होता है और उस प्रयोग के समय प्रयुक्त शब्द के साथ अर्थ की अभेद-प्रतीति होती है।

शब्दाध्यासवाद के सन्दर्भ में कुमारिल भट्ट ने अध्यास के स्वरूप के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठाया है। अध्यास अर्थात् अयथार्थ-प्रतीति दो प्रकार से सम्भव है। एक तो सादृश्य के कारण एक वस्तु में उससे भिन्न वस्तु की प्रतीति हो जाती है। जैसे सीपी और रजत में, रज्जु और साँप में सादृश्य होने के कारण सीपी में अयथार्थ रजत की या रज्जु में असत साँप की मिथ्या प्रतीति होती है। दूसरे, एक वस्तु

---

१. अपि च पर्यायेषु हस्तः करः पाणिरित्यादिषु शब्दरूपभेदादध्यासपक्षे अर्थबुद्धिभेदः प्राप्नोति, न चासौ अस्ति इति नाध्यासः।—न्यायमं पृ० १०१
तथा—करहस्तादिशब्देभ्यः शब्दरूपस्य भेदतः।
भिन्नोऽर्थः संप्रतीयेत तदध्यासोपकल्पने॥—श्लोकवा०, प्रत्यक्षसूत्र, २०८

के गुण के अन्यत्र संक्रमण से भी उस वस्तु में अन्य वस्तु का असत्य बोध हो जाता है। उदाहरण के लिए, उज्ज्वल स्फटिक में जब समीप रखे हुए जपा पुष्प की लाली संक्रमित हो जाती है तब स्फटिक में जवा पुष्प की अयथार्थ प्रतीति हो सकती है। शब्द और उसके वाच्य अर्थ में न तो सादृश्य होता है और न उपराग अर्थात् एक के गुण का अन्यत्र संक्रमण ही। फिर शब्द और अर्थ में अभेद की मिथ्या प्रतीति कैसे होगी? यह युक्ति भी उचित नहीं कि जैसे चन्द्रमा का बिम्ब जल में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही शब्द का रूप अर्थ में प्रतिबिम्बित हो उठता है। कारण यह है कि शब्द, गन्ध, रस आदि का कोई रूप-रंग नहीं होता और इसलिए रंगहीन शब्द के प्रतिबिम्ब की कल्पना निराधार है।[1] उपराग से अर्थात् एक के गुण के अन्यत्र संक्रमण से होने वाले अध्यास की कल्पना शब्दार्थ के सन्दर्भ में इसलिए भी नहीं की जा सकती कि उपराग-रूप अध्यास उन्हीं वस्तुओं में हो सकता है, जो समान इन्द्रिय के विषय हों। शब्द और अर्थ अलग-अलग इन्द्रियों के विषय हैं। अतः उनमें अध्यास की कोई सम्भावना नहीं।[2]

वस्तुतः सीपी में रजत की मिथ्या प्रतीति या स्फटिक में जपा-पुष्प की प्रतीति के दृष्टान्त से शब्द-अर्थ की तादात्म्य-प्रतीति को नहीं समझा जा सकता और न उन उदाहरणों से शब्दाध्यास के सिद्धान्त का खण्डन ही उचित माना जा सकता है। अध्यासवादी वैयाकरणों की स्पष्ट मान्यता यह है कि शब्द से होने वाले अर्थ-प्रत्यय में शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध की ऐसी मिश्रित प्रतीति होती है कि उनके तात्त्विक भेद का बोध मिट जाता है और उनमें अभेद का बोध आरोपित हो जाता है। शब्द और उसके वाच्य अर्थ की अनिवार्य सह-स्थिति के कारण ही ऐसा होता है। लौकिक बोध में भी अव्यभिचारी स्थिति के कारण भिन्न वस्तुओं में अभिन्नता के बोध के असंख्य उदाहरण पाये जा सकते हैं। जब अनेक स्वाद वाली वस्तुओं को मिश्रित कर हम उसका स्वाद लेते हैं, तब सभी प्रकार के स्वाद में अभेद की प्रतीति होने लगती है। यही नहीं, भिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य गन्ध, स्वाद और रूप में भी अभेद का बोध होता ही है। तभी तो भोजन को सुस्वादु बनाने के लिए उसमें सुगन्धित पदार्थ डाला जाता है और उसे विभिन्न रंगों के योग से नयनाभिराम बनाया जाता है। आम की गन्ध और उसका स्वाद तत्त्वतः अलग-अलग गुण हैं,

---

१. शब्दगन्धरसानां च कीदृशी प्रतिबिम्बता।
ज्ञाने च गृह्यमानस्य कथं स्यादर्थधर्मता॥—श्लोकवा०, शून्यवाद, ३९

२. न च भिन्नेन्द्रियग्राह्यं किञ्चिदस्त्यनुरागकृत्।
नहि लाक्षानुरक्तेऽपि स्फटिके धीस्त्वगादिभिः॥—वही, प्रत्यक्षसूत्र, २१२.

पर उसे खाने के समय क्या स्वाद और गन्ध में अभेद का बोध नहीं होता ? आग से लाल लोहे के बोध में ऊष्मा और लौह द्रव्य के परस्पर भिन्न होने पर भी दोनों की प्रतीति अभिन्नतया ही होती है। इसी प्रकार शब्द के रूप में ढल कर जब कोई बाह्य वस्तु प्रत्यय का विषय बनती है, तब दोनों में तात्त्विक भेद होने पर भी अभेद की प्रतीति होने लगती है।

इस प्रकार शब्दाध्यास के सिद्धान्त के खण्डन के लिए जितनी युक्तियाँ कुमारिल भट्ट ने दी हैं, उनमें से अधिकांश पूर्वग्रहपूर्ण हैं और उन से वैयाकरणों का अध्यास-वाद खण्डित नहीं हो जाता। हाँ, कुमारिल के इस कथन में तथ्य अवश्य है कि भाषा का ज्ञान नहीं रखने वाले शिशु, पशु, पक्षी आदि को जो वस्तु का बोध होता है उसे भी अनिवार्यतः शब्दाश्रित या सविकल्पक नहीं माना जाना चाहिए। हमारी धारणा है कि शिशु, पशु, पक्षी आदि के वस्तु-बोध पर तथा भाषा का ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के शब्द बोध पर अलग-अलग विचार होना चाहिए। अर्थविज्ञान का सम्बन्ध शब्द से होने वाले अर्थबोध से ही है। वह अर्थ लोक-सिद्ध वस्तु का बोधक भी हो सकता और अलोक-सिद्ध भावगत सत्ता का बोधक शब्द-बोध रूप भी। नहीं, या, तो, और आदि शब्दों के वाच्य अर्थ लोक-सिद्ध नहीं, फिर भी उनका अर्थ तो है ही, नहीं तो उन्हें सार्थक शब्द कैसे माना जाता है ? लोक-सिद्ध मूर्त बाह्य वस्तु के वाचक शब्द तथा लोक में असिद्ध अर्थ अथवा अमूर्त भाव, विचार आदि के बोधक शब्द से होने वाले अर्थ-बोध की प्रक्रिया भी एक-दूसरे से किञ्चित् भिन्न होती है। शब्द-बोध के स्वरूप पर विचार करने के समय इस तथ्य पर भी ध्यान रखा जाना चाहिए। अस्तु, भारतीय व्याकरण दर्शन में शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध के स्वरूप का विवेचन करते हुए अनेक विचारकों ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे अर्थवैज्ञानिक चिन्तन की दृष्टि से बहुत महत्त्व रखते हैं। शब्दब्रह्म को समग्र विश्व का कारण मानना, शब्द ज्ञान के लिए पूर्व जन्म के संस्कार की कल्पना करना कुछ ऐसी बातें हैं, जिनसे आज का बुद्धिवादी विचारक असहमत हो सकता है, पर अनेक बातों में वैयाकरणों की दृष्टि तथ्यपरक और वैज्ञानिक रही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में वैयाकरणों के तीन मत सामने आते हैं—शब्द-परिणामवाद, शब्दाध्यासवाद और शब्द-विवर्तवाद। इन तीनों मतों के स्वरूप को एक साथ वैयाकरणों का मत मान कर उनका परीक्षण नहीं किया जा सकता और इस तरह उनमें चिन्तन की अव्यवस्था नहीं दिखायी जा सकती। उक्त तीनों वादों में व्याकरण दर्शन के विचारकों की तीन स्वतन्त्र विचार-सरणियाँ प्रतिफलित हुई हैं। शब्द-परिणामवादी

तथा शब्दाध्यासवादी वैयाकरण शब्द और अर्थ; दोनों की यथार्थ सत्ता स्वीकार करते हैं। शब्दपरिणामवाद में परिणामी शब्दब्रह्म की मूल सत्ता मान कर अर्थ को उसका परिणाम माना जाता है और उस परिणामभूत अर्थ की भी यथार्थ सत्ता स्वीकार की जाती है। शब्दाध्यासवाद में भी शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की तत्त्वतः परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मान कर उनमें व्यावहारिक दृष्टि से अभेद की अयथार्थ प्रतीति मानी जाती है। पर, शब्दविवर्तवाद में शब्दब्रह्म की तात्त्विक सत्ता को कल्पना कर अर्थ को उसका विवर्त अर्थात् असत्य प्रतिभास मात्र माना जाता है।

वाचस्पति मिश्र ने उक्त तीनों वादों के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए निष्कर्ष रूप में कहा है कि इन तीनों वादों को परस्पर स्वतन्त्र चिन्तन का प्रतिफलन माना जाना चाहिए।[1] भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्दविवर्तवाद का निरूपण किया है। इससे पूर्व शब्दपरिणामवाद तथा शब्दाध्यासवाद की स्थापना हो चुकी थी। भर्तृहरि ने उन दो पूर्वप्रचलित मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। अतः शब्द-परिणामवाद और शब्दाध्यासवाद को भर्तृहरि के शब्दविवर्तवाद की पूर्व-भूमिका माना गया है।[2]

वैयाकरणों के शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक तीन सिद्धान्तों का जो समीक्षात्मक परिचय ऊपर दिया गया है उससे स्पष्ट है कि सभी वैयाकरण नित्य-अव्यक्त-व्यापक शब्दब्रह्म की मूल सत्ता स्वीकार करते हैं और अर्थ को उसी मूल सत्ता से उत्पन्न मानते हैं। भाषित भाषा में शब्द तथा उसके वाच्य अर्थ और उनके बीच के सम्बन्ध के स्वरूप-निरूपण में शब्दाध्यासवादी वैयाकरणों की दृष्टि अधिक वैज्ञानिक रही है। वैयाकरणों के मतानुसार 'अर्थ' शब्द के दो अर्थ मान्य हैं—शाब्दबोध रूप मानस प्रत्यय तथा बाह्य वस्तु। दोनों ही अर्थों के बोध के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। शब्दाध्यास-सिद्धान्त के अनुसार शब्द की तो तात्त्विक सत्ता है ही, अर्थ अर्थात् शब्द समुत्थापित मानस प्रत्यय रूप अर्थ तथा शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु रूप अर्थ—की भी तत्त्वतः स्वतन्त्र सत्ता है, पर शब्द से अर्थबोध की प्रक्रिया में अर्थ, शब्द और उनके सम्बन्ध की अभेदतया प्रतीति होती है। आधुनिक भाषाविज्ञान के चिन्तन के आलोक में विचार करने से वैयाकरणों की उक्त मान्यताओं में शब्दाध्यास-विषयक मान्यता ही सबसे अधिक वैज्ञानिक जान

---

१. एते प्रत्यासपरिणामविवर्ताः मतभेदेन मन्तव्याः। इति।--मण्डन मिश्र कृत विधिविवेक पर वाचस्पति मिश्र की न्याय कणिका टीका.

२. विवर्तवादस्य हि पूर्वभूमिः। वेदान्तवादे परिणामवादः। —संक्षेप शारीरक, ११,६१।

पड़ती है। शब्द, अर्थ तथा उनके सम्बन्ध के त्रिक की सत्ता मान कर भी अध्यासवादियों ने भाषिक अर्थबोध की अखण्ड प्रकृति के रहस्य का स्पष्टीकरण करने का महनीय कार्य किया है।

पद और वाक्य का सम्बन्ध—वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की मान्यता है कि हम व्यवहार में किसी पूर्ण अर्थ को व्यक्त करने के लिए वाक्य का ही प्रयोग करते हैं, किसी स्वतन्त्र पद का नहीं। वाक्य ही पूर्ण अर्थ को व्यक्त करने में समर्थ होते हैं। वाक्य का अर्थ अपने में पूर्ण एक अखण्ड अभिव्यक्ति होता है। अतः वाक्य भी एक पूर्ण अविभाज्य इकाई होता है। वाक्य के पदों और वर्णों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं। वैयाकरण भूषण में कौण्डभट्ट ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य का उल्लेख किया है।[1]

जब हम व्यवहार में एक ही पद का प्रयोग करते हैं, तब भी वैयाकरणों के मतानुसार वह एक वाक्य ही होता है, क्योंकि उस पद के प्रयोग में हमारा आशय एक पूर्ण अर्थ को व्यक्त करना होता है, जो वाक्य से ही सम्भव है। उदाहरण के लिए, जब हम साँप को देख कर आतंक से चिल्ला उठते हैं—'साँप', या कोई प्यासा कहता है—'पानी' तो वैसे प्रयोग को पद का प्रयोग माना जायगा या वाक्य का ? वैयाकरणों का उत्तर होगा कि वैसे अलग-अलग पदों के रूप में हम अलग-अलग वाक्य का ही प्रयोग करते हैं, क्योंकि उस 'साँप' पद के प्रयोग में हमारा अभिप्राय साँप की उपस्थिति की सूचना देना होता है और पानी के प्रयोग में 'पानी दो' जैसा अभिप्राय व्यक्त करना होता है, जो अभिप्राय वाक्य में ही व्यक्त हो सकता है। उस पद के साथ कोई न कोई क्रिया-पद हमारे मन में अवश्य जुड़ा रहता है, जिसका उच्चारण हम भले ही नहीं करते हों। सुनने वाला भी उस पद के साथ किसी-न-किसी क्रिया-पद का अन्वय कर ही उस पद के अर्थ को पूर्णता के साथ समझ सकता है। किसी के सम्बोधन में प्रयुक्त 'ऐ' आदि तथा स्वीकृति या अस्वीकृति में कहे जाने वाले हाँ, ना, आदि भी एक पूर्ण अर्थ के बोधक होने के कारण वाक्य-स्फोटवादियों की दृष्टि में वाक्य ही हैं। जैसे एकाक्षर पद होते हैं, वैसे ही एक पदात्मक वाक्य भी हो सकते हैं। एक और उदाहरण लेकर हम इस समस्या पर विचार कर सकते हैं। शिशु को शब्द का उच्चारण सिखाने के क्रम में जब व्यक्ति उसे बार-बार माँ या गाय आदि शब्द कहता है, तब वक्ता का क्या अभिप्राय होता है और

---

१. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥
—वैयाकरण भूषण, कारिका सं० ६६

वह शिशु उस उच्चरित पद को किस रूप में ग्रहण करता है? वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की मान्यता के अनुसार वक्ता का अभिप्राय उस पद के उच्चारण में यह हो सकता है कि 'माँ या गाय शब्द बोलो' या यह भी अभिप्राय हो सकता है कि 'यह माँ है, यह गाय है आदि। किसी भी स्थिति में वह वाक्य का ही प्रयोग करता है। प्रयोग करने वाले का अभिप्राय पूर्णतः या अंशतः प्रयुक्त वाक्य से ही व्यक्त हो सकता है। एक कठिनाई यह अवश्य रह जाती है कि भाषा का ज्ञान अर्जित करने के क्रम में शिशु की बोध-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण किस रूप में किया जाय? क्या वह शिशु, जो प्रथम बार माँ या पिता जैसा कोई शब्द सुनता है किसी क्रिया-पद के अन्वय के साथ एक सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध प्राप्त कर लेता है? हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि लोक व्यवहार में भाषा का ज्ञान अर्जित करने वाला व्यक्ति आवाप-उद्वाप से अनेक पदों का—क्रिया पदों का भी—अर्थ समझ पाता है। फिर केवल एक दो पदों का ज्ञान प्राप्त करने वाला तथा उन पदों का एक-दो बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध समझ पाने वाला शिशु भी वाक्यार्थ का ही ग्रहण करता है, यह मानने में अवश्य कुछ कठिनाइयाँ हैं, जिन पर हम अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद के विवेचन के सन्दर्भ में विस्तार से विचार करेंगे। इतना तो स्पष्ट ही है कि भाषा का प्रयोग करने वाला अपने पूर्ण अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए वाक्य का ही प्रयोग किया करता है। इसीलिए वैयाकरणों ने वाक्य को ही भाषा की अखण्ड इकाई के रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार वाक्य के अङ्ग के रूप में पद, वर्ण तथा ध्वनि की कल्पना केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए की जाती है। अखण्ड का विश्लेषण भी खण्ड-कल्पना से ही सम्भव है। अतः उनके अनुसार वाक्य की तात्त्विक सत्ता है, पद, वर्ण आदि की कल्पित।

आधुनिक भाषा विज्ञान में भी वाक्य को ही भाषा की मूल इकाई माना जाता है। भाषा को अर्थ का प्रतीक मानने वाले विचारक यह मान कर चलते हैं कि भाषा-प्रयोग का उद्देश्य किसी अभिप्राय को व्यक्त करना होता है, जो सम्पूर्ण वाक्य से ही सम्भव होता है। उन विचारकों की मान्यता का परीक्षण हम आगे करेंगे। यहाँ वाक्य के साथ पद के सम्बन्ध के विषय में वैयाकरणों के विचार का विवेचन अभिप्रेत है।

इस प्रसंग में मूल प्रश्न यह है कि वाक्य से स्वतन्त्र पद का अस्तित्व माना जाना चाहिए या नहीं? अभिहितान्वयवादी विचारक पद और पदार्थ की ही मूल सत्ता मानते हैं और पदों के समुदाय मात्र को वाक्य तथा अलग-अलग पद के वाच्य अर्थों के समुदाय को वाक्यार्थ स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत वाक्य-

स्फोटवादी वैयाकरण वाक्य और वाक्यार्थ की ही मूल सत्ता स्वीकार करते हैं और केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए पद, वर्ण आदि के अस्तित्व की कल्पना का औचित्य मानते हैं।

भर्तृहरि का कथन है कि वर्ण, पद आदि वाक्य के साधन मात्र हैं, उसके अवयव नहीं। जिस प्रकार दस, सौ आदि संख्याओं के अर्थ-बोध के लिए एक, दो आदि संख्याओं का ज्ञान आवश्यक होता है उसी प्रकार वाक्यार्थ-बोध के लिए वर्ण, पद आदि के ज्ञान की आवश्यकता होती है। एक, दो आदि जैसे दस आदि से भिन्न हैं, फिर भी उन्हें दस आदि के अवयव के रूप में समझा जाता है, उसी प्रकार पद और पदार्थ को वाक्य और वाक्यार्थ के अवयव के रूप में समझ लिया जाता है। पद वस्तुतः वाक्य के साधन हैं और साधन होने के कारण वाक्य के अवयव के रूप में प्रतीत होते हैं।[1]

वाक्य में वर्ण, पद आदि के बोध के क्रम की समस्या का समाधान करने के लिए भर्तृहरि ने एक उदाहरण दिया है कि जैसे अन्धकार या दूरी के कारण वृक्ष आदि के केवल आकार का ग्रहण होता है और उसमें हाथी आदि की प्रतीति हो जाती है, पर ठीक से देखने पर उसका यथार्थ बोध हो जाता है, उसी प्रकार वाक्य को प्रकट करने में साधनभूत ध्वनियों का क्रमशः ग्रहण होता है। इस तरह पहले वर्ण, पद की सत्ता की अयथार्थ प्रतीति होती है, पर ठीक से देखने पर केवल अखण्ड वाक्य का ही यथार्थ बोध होता है। अखण्ड वाक्य ही बुद्धि का विषय होता है। उसमें वर्ण, पद आदि का अवयवों के रूप में प्रतिभास होता है।[2]

जिस प्रकार चित्र और चित्र का ज्ञान अखण्ड होता है उसी प्रकार वाक्य और वाक्यार्थ-बोध भी अखण्ड होता है। चित्र के वर्ण, आकार आदि के बोध की तरह ही वर्ण, पद आदि के भेद का वाक्य में अतात्त्विक बोध होता है। वाक्य में पदों की कल्पना को भर्तृहरि ने अखण्ड पद के प्रकृति-प्रत्यय-विभाग की तरह केवल विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से उपयोगी माना है। उनकी मान्यता है कि वाक्य अखण्ड है और उसका अर्थ 'प्रतिभा' है, जो अविभाज्य है।[3]

वैयाकरण भूषण में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है कि जैसे पद से प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग कर उनका विश्लेषण किया जाता है, उसी प्रकार

---

१. यथाद्यसङ्ख्याग्रहणमुपायः प्रतिपत्तये।
सङ्ख्यान्तराणां भेदेऽपि तथा शब्दान्तरश्रुतिः॥ भर्तृहरि, वाक्यप. १,८७.

२. वही, १,८९-९०

३. वही, २, ७-१३

वाक्य से भी पद आदि को अलग-अलग कर उनका विवेचन किया जाता है। वस्तुतः यह विभाजन अतात्त्विक और विश्लेषण मात्र में उपयोगी होता है।[1]

वाक्य में पद की तथा वाक्यार्थ में पद के अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। जिस प्रकार समस्त पद में उसके समस्त रूप का ही एक पूर्ण अर्थ होता है, समास के खण्ड का स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता, उसी प्रकार सम्पूर्ण वाक्य का एक पूर्ण अर्थ होता है, उसमें पदों का स्वतन्त्र अर्थ नहीं।[2]

वाक्य को अखण्ड और भाषा की मूल इकाई मानने वाले वैयाकरणों की वाक्य के अर्थबोध के सम्बन्ध में तीन दृष्टियाँ रही हैं। कुछ आचार्यों ने वाक्य को अखण्ड और एक शब्द माना है, दूसरे आचार्यों ने पद-समूह में रहने वाली जाति को वाक्य माना है तथा अन्य आचार्यों ने वाक्य को आभ्यन्तर स्फोट अर्थात् बुद्धिगत, शब्दार्थमय ज्ञान रूप माना है। प्रथम दो मतों में वाक्य की बाह्य सत्ता मानी गयी है और अन्तिम मत में उसे ज्ञानतत्त्व के रूप में कल्पित कर उसे पदों का बुद्धिगत समन्वय स्वीकार किया गया है।

वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की मान्यता है कि पद को भाषा की मूल इकाई मान कर वाक्य को पदों का समूह मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ध्वनि और वर्ण की तरह उनसे संघटित पद भी अनित्य होते हैं, जिनके समुदाय की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः उनके अनुसार वाक्य और प्रतिभारूप वाक्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मानना और वाक्य को भाषा की मूल इकाई स्वीकार करना आवश्यक है।

वाक्य के पदभेद की—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि पद-भेद की—व्यावहारिक उपादेयता बताते हुए नागोजी भट्ट ने कहा है कि प्रत्येक वाक्य में संकेत-ग्रह नहीं माना जा सकता, वह पद में ही सम्भव है, अतः वाक्य का विभिन्न पदभेदों में तथा पदों का भी प्रकृति-प्रत्यय में अर्थात् अर्थतत्त्व और सम्बन्ध तत्त्व में विभाजन किया जाता है। इस विभाजन के बिना असंख्य वाक्यों और वाक्यार्थों के बीच रहने वाले सम्बन्ध को नहीं समझा जा सकता।[3] पद-स्फोट की तात्त्विक सत्ता नहीं होने पर भी वह वाक्य-स्फोट के बोध का साधक होता है।

---

१. वैयाकरणभूषण

२. शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते॥—भर्तृहरि, वाक्यप. २,१३

३. तत्र प्रतिवाक्ये संकेतग्रहस्यासम्भवात् × ×। वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा, पृ० ५-६.

वैयाकरणों के पद-वाक्य-सम्बन्ध विषयक इस मान्यता के सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि वे अव्यक्त शब्दब्रह्म की मूल सत्ता स्वीकार करते हैं। अतः तात्त्विक दृष्टि से वाक्य भी सत्य नहीं। वाक्य, पद आदि की व्यावहारिक जगत में ही सत्ता है। अतः जब शब्दब्रह्म के व्यक्त स्वरूप में—व्यवहार की भाषा में—वाक्य, पद आदि के सापेक्ष महत्त्व का विचार होता है तब वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण एक पूर्ण बोध को व्यक्त करने वाले वाक्य को ही अखण्ड मूल इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं और पद को वाक्य-बोध का साधक मान कर विश्लेषण की सुविधा के लिए वाक्य को विभिन्न प्रकार के पदों, पद-खण्डों और वर्णों आदि में विभाजित करने की उपयोगिता मानते हैं। इसके विपरीत पदस्फोटवादी पदों में ही संकेतग्रह सम्भव होने के कारण उन्हें ही भाषा की मूल इकाई मानते हैं और वाक्यों को पदों का समुदाय-मात्र स्वीकार करते हैं। दोनों पक्षों में अपनी-अपनी कुछ युक्तियाँ हैं। इन मतों की परीक्षा हम अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद के अध्ययन के क्रम में करेंगे।

भर्तृहरि ने, जो स्वयं वाक्यस्फोटवादी हैं, पद को भाषा की मूल इकाई मानने वाले पदस्फोटवादी विचारकों की ओर से वाक्यस्फोटवाद के विरुद्ध उठायी गयी पाँच आपत्तियों का उल्लेख कर उनका उत्तर दिया है, साथ ही पद को भाषा की मूल इकाई मानने में कुछ असंगतियाँ भी दिखायी हैं। वाक्यपदीय में उद्धृत वाक्यस्फोटवाद के विरुद्ध पदस्फोटवादियों की युक्तियाँ संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(क) यदि वाक्य की ही पदों से स्वतन्त्र मूल सत्ता हो तो द्वन्द्व समास में द्विवचन के प्रयोग का क्या औचित्य होगा? वहाँ द्विवचन का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि पद ही भाषा की मूल इकाई हैं और पद से गृहीत अर्थ के समुदाय के रूप में ही वाक्यार्थ का बोध होता है।

(ख) वाक्य और वाक्यार्थ को मूल इकाई मानने में दूसरी आपत्ति यह है कि वैसी स्थिति में कई पदों के साथ एक क्रिया-पद के अन्वय का कोई औचित्य नहीं रह जायगा। एक उदाहरण दिया गया है कि 'धव, खदिर, पलाश को सींचो' इसे यदि एक अखण्ड वाक्य माना जाय तो तीनों पदों के साथ एक सींचना क्रिया का अन्वय कैसे माना जा सकेगा और धव को सींचो, खदिर को सींचो तथा पलाश को सींचो; इन अर्थों की उपलब्धि कैसे हो सकेगी?

(ग) अखण्ड वाक्य की मूल सत्ता मानने पर द्वन्द्व समास में रहने वाले किसी पद के लिए सर्वनाम पद के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं होगा।

(घ) वाक्य यदि एक क्रमहीन अखण्ड इकाई होता तो वाक्यार्थ के बोध के

समय उस बोध में कोई क्रम नहीं होना चाहिए, पर एक साथ सभी कार्य का होना सम्भव नहीं।

(ङ) यदि वाक्य और वाक्यार्थ ही मूल इकाई हो तो आंशिक रूप से किसी कार्य के होने पर जो यह कहा जाता है कि 'वह कार्य हुआ' उसमें क्या औचित्य होगा ?[1]

वाक्यस्फोटवाद के विपक्ष में दिये गये इन तर्कों का उत्तर भर्तृहरि ने इस युक्ति से दिया है कि वस्तुतः वाक्य समस्त ही होते हैं। अल्पज्ञों को समझाने भर के लिए समास का विग्रह किया जाता है—अपोद्धार को मान कर द्विवचन, बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। बहुव्रीहि समास में पद के अपने अर्थ की सत्ता नहीं मानी जाती। यह इस बात का एक प्रमाण है कि वाक्य में पद और पदार्थ की सत्ता नहीं होती, अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ की ही मूल सत्ता है।[2]

भर्तृहरि की युक्ति है कि यदि पद और पदार्थ की मूल सत्ता मानी जाय तो व्याकरण में जो नाना प्रक्रियाएँ, अनेक नियम-अपवाद आदि उपलब्ध हैं उनका क्या कारण माना जायगा ? कहीं प्रकृति ही प्रत्यय के अर्थ का बोध करा देती है और इसके विपरीत कहीं-कहीं प्रत्यय से ही प्रकृति के अर्थ का बोध हो जाता है। उदाहरणार्थ अहन् में प्रत्यय का अभाव होने पर भी प्रकृति से ही उसका बोध हो जाता है; इयत् में इदम् शब्द के लुप्त रहने पर भी प्रत्यय से प्रकृति का बोध हो जाता है। स्पष्ट है कि शास्त्र के नियम केवल व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी होते हैं। अखण्ड तत्त्व का शास्त्र में विश्लेषण नहीं होता।[3]

पद की मूल सत्ता मानने में भर्तृहरि ने अनेक असंगतियाँ दिखायी हैं। पहली बात यह है कि यदि पद की मूल सत्ता हो तो समास के अवयव का अर्थ समुदाय के अर्थ से भिन्न होना चाहिए और एक ही साथ उसमें भेद और संसर्ग; दोनों विरोधी गुणों की उपलब्धि होनी चाहिए, पर अनुभव में ऐसा नहीं पाया जाता। दूसरी बात यह कि पद-वाद को मान लेने पर अव्ययीभाव समास की सत्ता ही अमान्य हो जायगी, क्योंकि उसमें अवयव का अपना कोई सिद्ध अर्थ नहीं रह जाता। तीसरी बात यह कि अन्य-पद-प्रधान बहुव्रीहि समास भी पदवाद को मान लेने पर असिद्ध हो जायगा चूँकि उस समास में आये पदों का अपना-अपना अर्थ प्रधान नहीं रह

---

१. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २, २२१-२५.

२. वही, २, २२६-२८

३. व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यतः। भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २,२३२

जाता। प्रज्ञु, संज्ञु आदि में जानु के स्थान पर 'ज्ञु' शब्द का प्रयोग है और उन समस्त पदों में अवयवभूत पदों का कोई अर्थ नहीं। अतः पद और पदार्थ को मूल इकाई नहीं माना जा सकता।[1] अनेक अन्य युक्तियों से भी पद की मूल सत्ता की मान्यता का खण्डन कर भर्तृहरि ने यह मान्यता व्यक्त की है कि वाक्य ही मूल और अखण्ड इकाई है। वाक्य और वाक्यार्थ की पद और पदार्थ से स्वतन्त्र सत्ता है।

पद-पदार्थ के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा वर्ण, पद, वाक्य आदि के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में वैयाकरणों की मान्यता का निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार है—

अव्यक्त शब्द-तत्त्व नित्य और व्यापक है। शब्द ब्रह्म है। वह स्फोट रूप है। उस अव्यक्त स्फोट रूप शब्द-तत्त्व के व्यापक एवं अखण्ड रूप में शब्द और अर्थ का विभाग नहीं। अनित्य और उत्पत्ति-विनाशशील ध्वनियों या वर्णों से उस स्फोट रूप नित्य तथा व्यापक शब्द-तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। बुद्धिस्थ शब्द-तत्त्व ही वर्णसमूहात्मक उच्चरित शब्द का नियामक होता है। वर्णों का क्रम केवल उच्चरित पद का धर्म होता है। स्फोट रूप शब्दतत्त्व अखण्ड और क्रम-मुक्त है।

शब्द-ब्रह्म से ही अर्थ का विकास हुआ है। शब्द सम्पूर्ण अर्थात्मा जगत् का समवाय कारण है। शब्दतत्त्व से अर्थ का विकास मानने में एक मत होने पर भी विकास के स्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरण अलग-अलग तीन दृष्टियाँ रखते हैं। कुछ विचारक अर्थ को शब्द का विवर्त मानते हैं, कुछ उसका परिणाम, तो अन्य मनीषी शब्द अर्थ का अध्यास मानते हैं। अध्यासवादियों की दृष्टि अधिक वैज्ञानिक और व्यावहारिक है। वे शब्द-ब्रह्म में भले ही शब्द और अर्थ को अभिन्न मानें, पर भाषा के प्रयोग में शब्द-अर्थ को तत्त्वतः भिन्न मानकर शब्दार्थ के बोध के समय दोनों में अभेद की अतात्त्विक प्रतीति स्वीकार करते हैं।

वैयाकरण सभी प्रकार के प्रत्यय को शब्दरूप ही मानते हैं। यहाँ तक कि वे शिशु और पशु-पक्षी के बोध को भी शब्दबद्ध और सविकल्पक मानते हैं। 'अर्थ' शब्द से उन्हें बाह्य वस्तु तथा मानसिक बोध; दोनों का अभिप्राय मान्य है। शब्द का अर्थ लौकिक वस्तु से अभिन्न तो नहीं पर वह वस्तु-बोध में भी सहायक है। अतः वैयाकरण शाब्दबोध के स्वरूप विश्लेषण के क्रम में शब्द से निर्दिष्ट वस्तु की बोध-प्रक्रिया पर भी विचार करना अपेक्षित समझते हैं।

---

१. द्रष्टव्य, भर्तृहरि, वाक्यप० २, २१८-२०

वाक्य और पद के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर वैयाकरणों के दो सम्प्रदाय हो गये हैं—वाक्यस्फोटवादी तथा पदस्फोटवादी। वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण वाक्य को ही भाषा की अखण्ड और मूल इकाई मानते हैं, क्योंकि अर्थ का पूर्ण बोध वाक्य से ही सम्भव है। इसके विपरीत पदस्फोटवादी पद में ही संकेतग्रह होने से उसे ही मूल इकाई मानते हैं और वाक्य तथा वाक्यार्थ को पद तथा पदार्थ का समुदाय मात्र स्वीकार करते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान में वाक्य को अविभाज्य इकाई माना जाता है।

हमारी धारणा है कि वैयाकरणों के शब्दब्रह्म की कल्पना से तथा शब्दब्रह्म से अर्थ के विकास की मान्यता से आज के बुद्धिवादी विचारक असहमत हो सकते हैं, समग्र बोध को शब्दबद्ध मानने में भी दो मत हो सकते हैं, पर इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय व्याकरणदर्शन में व्यापक भाषाशास्त्रीय दृष्टि उपलब्ध होती है और उसमें भाषा के अर्थमूलक विश्लेषण की वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि का भी अभाव नहीं है।

मीमांसा सिद्धान्त—मीमांसा दर्शन में वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त का खण्डन करने का प्रयास किया गया है। उच्चरित ध्वनि को क्षणिक और उत्पत्ति विनाशशील मानने के कारण ही वैयाकरणों को नित्य स्फोट या अव्यक्त सनातन शब्द-तत्त्व की कल्पना करनी पड़ी थी। मीमांसक ध्वनि को शाश्वत मानते हैं। वे अक्षरों या वर्णों से ही शब्द की रचना मानते हैं। उनके मतानुसार ध्वनि या वर्ण-समूह से स्वतन्त्र स्फोट या अव्यक्त शब्द की सत्ता नहीं। शाबर-भाष्य में उपवर्ष के इस सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है कि वर्ण ही शब्द की रचना करते हैं।[1] ब्रह्मसूत्र के शारीरक भाष्य में शंकराचार्य ने भी उपवर्ष के उक्त मत का उल्लेख किया है।[2]

मीमांसकों की मान्यता है कि ध्वनि नित्य और व्यापक है। अन्य दार्शनिकों की तरह मीमांसक ध्वनि को आकाश का गुण नहीं मानते। उनके विचार में पृथ्वी, जल आदि की तरह ध्वनि भी एक तत्त्व है। मीमांसकों की शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्य धारणा यह है कि वर्ण या अक्षर से जो ध्वनि व्यक्त होती है, वह चूँकि नित्य और व्यापक है, इसलिए उससे पृथक् कोई ऐसा समुदाय नहीं, जो अर्थ का ज्ञान कराता हो। वैयाकरणों ने ध्वनि को अनित्य और सीमित मान कर उससे स्वतन्त्र स्फोट-रूप नित्य तत्त्व की कल्पना की थी। ध्वनि के सम्बन्ध में मीमांसकों के

१. द्रष्टव्य शाबर भाष्य, पृ० ४५
२. वर्ण एव तु शब्द इति भगवान उपवर्षः।

दृष्टि-भेद के कारण ही वैयाकरणों के शब्दतत्त्व-विषयक चिन्तन से उनका मत-भेद खड़ा हुआ।

उपवर्ष के मत को उद्धृत करते हुए शाबर भाष्य में शबर स्वामी ने शब्द के स्वरूप का निर्धारण इस प्रकार किया है—श्रोत्रग्राह्य अक्षर-समुदाय जो लोक-व्यवहार में सुनाई पड़ता है उसी को शब्द कहते हैं। एक उदाहरण से इस मान्यता को स्पष्ट किया गया है। 'गौः' इस में क्या शब्द है ? उपवर्ष का मत है कि 'ग्' 'औ' तथा विसर्ग अक्षर जो श्रुतिगोचर होते हैं, वे ही शब्द हैं।[1] इन अक्षरों से स्वतन्त्र किसी समुदाय को शब्द के रूप में कल्पित नहीं किया जा सकता।

अक्षरों को शब्द मानने में एक कठिनाई यह सामने आती है कि शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध-निर्धारण किस प्रकार हो सकेगा ? एक-एक अक्षर के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान तो होता नहीं, और मीमांसकों की धारणा के अनुसार अक्षरों से स्वतन्त्र किसी समुदाय-विशेष की सत्ता भी नहीं मानी जा सकती, फिर शब्द से अर्थ-बोध की समस्या का समाधान कैसे किया जा सकेगा ? उदाहरणार्थ, गौः शब्द में यदि 'ग्' 'औ' तथा विसर्ग ही हैं तो वे एक नियत क्रम में हैं। उनका उच्चारण और कान से ग्रहण क्रमशः ही होता है, एक साथ समुदाय रूप में नहीं। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, पर किसी शब्द में यह निर्णय करना कठिन है कि किस वर्ण समुदाय से किस अर्थ का बोध होता है ?[2]

अक्षरों में अर्थबोध की शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। यदि अक्षर-विशेष में अर्थ-विशेष के बोध की शक्ति रहती तो समान अक्षरों से बने सभी शब्दों का अर्थ समान ही होता। नदी और दीन, क़लम और कमल, God और Dog आदि शब्द-युग्म में समान अक्षरों का ही प्रयोग है, फिर भी उनके अर्थ एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उनमें अर्थगत किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता। इस कठिनाई से बचने के लिए मीमांसक के पक्ष से यदि यह युक्ति दी जाय कि विशेष क्रम में ग्रथित अक्षरों में विशेष अर्थ के बोध की शक्ति रहती है और उस क्रम में परिवर्तन होने से अर्थ में भी तदनुसार परिवर्तन हो जाता है, तो मीमांसकों के मत में दूसरी कठिनाई उपस्थित हो जाती है। मीमांसक अक्षर को नित्य और व्यापक मानते हैं। नित्य और व्यापक अक्षर में काल तथा देश के क्रम

---

१. द्रष्टव्य—शाबर भाष्य, पृ० ४५

२. अथापि मीमांसकमतेन नित्यः शब्दः इष्यते, तत्रापि सत्तयायौगपद्यस्य सकल-वर्णसाधारणत्वात् केन वर्णसमुदायेन कोऽर्थः प्रत्याय्येतेति नावधार्यते। न्यायमञ्जरी, १, ३३७

की कल्पना नहीं की जा सकती ।[1] इस प्रकार की कल्पना से अक्षर की नित्यता और व्यापकता की मूल धारणा ही खण्डित हो जायगी ।

मीमांसकों के पक्ष से यह युक्ति दी जा सकती है कि वर्ण या अक्षर तत्त्वतः तो शाश्वत और व्यापक हैं, पर उनका प्रकाशन जब ध्वनियन्त्र के विशेष स्थान-प्रयत्न से होता है, तभी वे शब्द बन कर अर्थ का बोध कराते हैं । अतः उच्चरित अक्षर या वर्ण ही शब्द कहलाते हैं । अक्षर स्वयं नित्य और व्यापक हैं, पर उनका प्रकाशन क्षणिक और सीमित होता है । उन प्रकाशक अनित्य ध्वनियों में क्रम रह सकता है । उच्चरित ध्वनियों से अर्थात् शब्द से—अर्थ के बोध में सामान्यतः दो विकल्प सामने आते हैं—वे उच्चरित अक्षर समग्रतः अर्थात् समुदाय रूप में मिल-जुल कर अर्थ का बोध कराने में समर्थ होते हैं अथवा अलग-अलग अक्षर में अर्थ का बोध कराने की शक्ति रहती है ? मीमांसक इन दोनों विकल्पों को अग्राह्य मानते हैं । उनकी मान्यता है कि यद्यपि उच्चरित वर्ण क्षणिक होते हैं, फिर भी प्रत्येक उच्चरित वर्ण अपना संस्कार छोड़ता जाता है और जब शब्द के अन्तिम वर्ण का उच्चारण होता है, तब पूर्व उच्चरित सभी वर्णों की उसी क्रम में स्मृति हो आती है और इस प्रक्रिया से स्मृति में आये हुए सभी वर्ण एक नियत क्रममें संघटित होकर अर्थ का बोध कराते हैं ।[2] यही कारण है कि नदी-दीन आदि शब्दों की रचना समान वर्णों से होने पर भी क्रम के भेद के कारण उनके अर्थ में भेद हो जाता है और समान वर्ण अर्थ की अभिन्नता का भ्रम उत्पन्न नहीं करते ।

मीमांसकों की इस मान्यता में एक शंका यह की जा सकती है कि उच्चरित वर्ण जो अपनी छाप छोड़ते हैं उसमें वर्णों के उच्चारण के क्रम के अनुरूप ही क्रम मानना पड़ेगा । अतः वर्णों के संस्कार की स्मृति भी तो एक क्रम से ही होगी ! समग्रतः वर्ण-समुदाय की छाप की स्मृति तो सम्भव ही नहीं ! अतः स्मृति के सिद्धान्त की कल्पना से भी सम्पूर्ण वर्ण-समुदायात्मक शब्द के तथा उससे किसी अर्थ के बोध की बात स्पष्ट नहीं हो पाती । इस शंका के समाधान के लिए मीमांसकों ने यह युक्ति दी है कि पूर्व-उच्चरित वर्णों की क्रमिक स्मृति अन्तिम वर्ण के संस्कार से मिल कर एक पूर्ण शब्द-संस्कार उत्पन्न करती है और इस प्रकार

---

१. ब्रह्मसूत्र, १, ३, २८ पर शांकर भाष्य द्रष्टव्य

२. अथवा क्रमोपलब्धेष्वपि वर्णेषु मानसमनुव्यवसायरूपमखिलवर्णविषयं संकलनाज्ञानं यदुपजायते तदर्थप्रत्यायनांगं भविष्यति, × × × यदि वाऽन्त्यवर्णेऽपि तिरोहिते भवन्नसद्वर्णविषयतया सदसद्वर्णगोचर एव न चित्राकारः सोऽर्थप्रतीतिहेतुरेक एवेति निरवकाशा व्यस्तसमस्तविकल्पाः ।

—जयन्त, न्यायमं० पृ० ३४५

वर्णों की सम्मिलित स्मृति से विशेष अर्थ का बोध होता है।[1]

इस प्रकार शब्द के स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसकों की मान्यता का सार यह है कि नित्य वर्णों से निर्मित शब्द भी नित्य होते हैं और इसी प्रकार नित्य शब्दों से संघटित वाक्य की भी नित्य सत्ता होती है।

शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करते हुए मीमांसकों ने यह धारणा व्यक्त की है कि जिस प्रकार आग में उष्णता का धर्म नित्य रूप से रहता है, उसी प्रकार शब्द में अर्थ के बोध का धर्म सनातन रूप से रहा करता है। शब्द-विशेष से अर्थविशेष का बोध इसलिए सम्भव होता है कि उस शब्द-विशेष में अर्थ विशेष के बोध की शक्ति सनातन रूप से विद्यमान रहती है। अर्थबोध की यह शक्ति मीमांसकों के द्वारा शब्द के विधायक तत्त्वों में से एक तत्त्व के रूप में स्वीकार की गई है।

मीमांसकों की इस मान्यता पर न्याय-सिद्धान्त के अनुयायियों ने यह आपत्ति उठायी है कि यदि शब्द में अर्थबोध की शक्ति की सार्वत्रिक और नित्य सत्ता होती, तो शब्द को सुनते ही सब को उसके अर्थ की प्रतीति हो जानी चाहिए। यदि अर्थ बोध की शक्ति शब्द में ही हो तो उसका बोध सबको होना चाहिए। आग केवल उसे ही नहीं जलाती, जो उसकी दाहक शक्ति को जानते हैं, वह उसे भी जलाती है जो उसकी शक्ति से अपरिचित रहता है। पर तथ्य यह है कि शब्द के अर्थ-बोध के लिए शब्दार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान अपेक्षित होता है। उस सम्बन्ध के ज्ञान के अभाव में शब्द का ज्ञान होने पर भी उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता। ऐसे असंख्य शब्द लोग जानते हैं, जिनके अर्थ का ज्ञान उन्हें नहीं रहता, या उनके गलत अर्थ का ज्ञान उन्हें रहता है। ऐसी स्थिति में अर्थ-बोध की शक्ति को शब्द का घटक तत्त्व कैसे माना जा सकता है?

इस आपत्ति के उत्तर में मीमांसकों ने यह युक्ति दी है कि शब्द में अर्थ-व्यञ्जकता का धर्म रहता तो सनातन रूप में ही है, फिर भी वह तब तक अर्थ का बोध नहीं कराता, जब तक दोनों के 'समय' अर्थात् सम्बन्ध का ज्ञान न हो जाय। इसकी पुष्टि के लिए एक दृष्टान्त दिया गया है कि जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति के अन्तर्निहित रहने पर भी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ सदा सभी विषयों को ग्रहण नहीं करतीं, विषयों के साथ सम्पर्क होने पर ही उन्हें ग्रहण कर पाती हैं, उसी प्रकार शब्दों में अर्थ को उद्घाटित करने की शक्ति के अन्तर्निहित होने पर भी शब्द तभी अर्थ का उद्घाटन करते हैं जब शब्दार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान हो

---

३. द्रष्टव्य—वही, १ पृ० ३४६-४७।

जाता है।[1] तात्पर्य यह कि मीमांसक शब्द से अर्थ-बोध के लिए एक साथ उसमें अन्तर्निहित शक्ति, समय अर्थात् परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध तथा व्यापार यानी शब्दार्थ के सम्बन्ध की स्मृति को अपेक्षित मानते हैं। ये तीनों अलग-अलग रह कर अर्थबोध नहीं करा सकते, एक साथ सम्मिलित रूप में रह कर ही शब्दार्थ का बोध कराते हैं।

अर्थ-बोध के लिए समय या शब्द तथा अर्थ के बीच परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध की आवश्यकता स्वीकार कर मीमांसकों ने शब्द के अर्थ-परिवर्तन की समस्या का भी समाधान कर दिया है। शब्द के अर्थ में जो काल-क्रम से संकोच, विस्तार और अर्थादेश के रूप में परिवर्तन होता रहता है, उसका कारण दोनों के बीच परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध में किसी कारणवश होने वाला परिवर्तन ही है।

ध्यातव्य है कि मीमांसकों ने समय अर्थात् शब्द और अर्थ के बीच परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध के अतिरिक्त शब्द में अर्थ की व्यञ्जकता की नित्य शक्ति की कल्पना की है। शब्द में, उनके मतानुसार, अर्थबोध की शक्ति नित्य रूप से अन्तर्निहित रहती है, फिर भी शब्द के स्वरूप के ज्ञान के अनन्तर उसके अर्थ के बोध के लिए दोनों के बीच के परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध का ज्ञान अपेक्षित होता है। जब शब्द को सुन कर अर्थविशेष के साथ उसके परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध का स्मरण किया जाता है, तब शब्द में अन्तर्निहित अर्थबोधकता से शब्दार्थ का ज्ञान होता है। आधुनिक भाषा-विज्ञान में शब्द और अर्थ के बीच के सम्बन्ध को परम्परा-प्राप्त, अतः अनित्य माना जाता है। मीमांसकों ने शब्द-अर्थ के बीच परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध के साथ शब्द में अर्थ-बोध की नित्य शक्ति की जो कल्पना की है उसके औचित्य की परीक्षा हम भाषाविज्ञानियों की एतद्विषयक मान्यता के विवेचन के सन्दर्भ में करेंगे।

शब्द में अर्थबोध की नित्य शक्ति की कल्पना करने पर भी मीमांसकों ने ज्ञानेन्द्रियों के विषय के साथ सम्पर्क होने पर ही विषय का ज्ञान होने के दृष्टान्त से जो अर्थ के बोध के लिए शब्द में सहजशक्ति और समय अर्थात् शब्द-अर्थ के बीच परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध के ज्ञान की आवश्यकता स्वीकार की, उस पर यह प्रश्न उठाया गया है कि ज्ञानेन्द्रियाँ तो विशिष्ट अर्थ के ग्रहण तक ही सीमित रहती हैं, तो क्या उन्हीं की तरह शब्द में अर्थ-बोधकता की शक्ति को भी किसी विशिष्ट अर्थ तक ही सीमित माना जाय? यदि ज्ञानेन्द्रियों के विषय की तरह शब्द-

---

१. ननु सति स्वाभाविके सम्बन्धे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नस्यापि बोधः स्यात्। नहि अग्निरविदितशक्तिर्न दहति—इत्यत्र प्रत्यक्षादेः स्वाभाविकेऽर्थप्रत्यायकत्वे सत्यपि यथा इन्द्रियसन्निकर्षापेक्षा तथापि संकेतग्रह-सचिवस्यैव बोधकत्व-मित्याह। ---जयतीर्थकृत न्यायसुधा से वैयाकरण भूषण में उद्धृत, पृ.१८९

विशेष में अर्थ-विशेष के बोध की शक्ति निर्धारित होती तो शब्द-विशेष से उसके एक विशिष्ट अर्थ का ही बोध सदा होता, पर व्यवहार में ऐसा नहीं पाया जाता। एक ही शब्द देश-काल के भेद से अलग-अलग अर्थ का बोध कराता है। वैदिक काल में असुर शब्द जिस अर्थ का बोध कराता था, आज वही शब्द उससे भिन्न अर्थ का बोध कराता है। राग शब्द का किसी समय अर्थ था 'प्रेम'। आज बंगला भाषा में वह शब्द क्रोध का बोधक है और हिन्दी में प्रेम का। वैयाकरण भूषण में यव शब्द का उदाहरण दिया गया है। आर्य उस शब्द का प्रयोग दीर्घशूक लम्बे नुकीले अग्रभाग तथा जौ के अर्थ में करते हैं और उस शब्द से उन्हें दीर्घशूक जौ के अर्थ का ही बोध होता है, जबकि अनार्य उस शब्द का प्रयोग प्रियंगु के अर्थ में करते हैं और उन्हें उस शब्द से प्रियंगु अर्थात् कंगनी नामक एक विशेष प्रकार के अन्न के अर्थ का ही बोध होता है। शब्द में अर्थविशेष के बोध की स्वाभाविक शक्ति रहने पर शब्द-विशेष और अर्थ-विशेष के बीच इस प्रकार का अनियत सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध का अनियम यह सिद्ध करता है कि शब्द में अर्थबोध की स्वाभाविक शक्ति नहीं रहती, केवल परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध रहता है। यह युक्ति नहीं दी जा सकती कि किसी शब्द में किसी विशेष अर्थ के बोध की स्वाभाविक शक्ति रहती है, पर उसके साथ ही वह शब्द अन्य अर्थ का भी बोध करा देता है। कारण यह है कि जिसमें जिस वस्तु के प्रकाशन की सहज शक्ति होगी उससे केवल उसी का बोध होगा, अन्य वस्तु का नहीं। दीपक में रूप को प्रकाशित करने की सहज शक्ति है। अतः वह केवल रूप को ही प्रकाशित करता है, रस को नहीं। इसी प्रकार जिस शब्द में किसी अर्थ के प्रकाशन की सहज शक्ति मानी जाय उससे केवल उसी अर्थ का बोध होना चाहिए, अन्य अर्थ का नहीं।[1]

इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसकों ने यह युक्ति दी है कि विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों में अपने-अपने नियत विषय को ग्रहण करने की स्वाभाविक शक्ति के रहने पर भी विषय के साथ उनका सन्निकर्ष होने पर कभी-कभी उस विषय से भिन्न वस्तु की भ्रमात्मक प्रतीति भी उन्हें हो जाया करती है। सीपी के साथ दृष्टि का सन्निकर्ष

---

१. अथापि स्वाभाविकः सम्बन्धः सर्वेषां शब्दानां सर्वैरेवार्थैः समं आस्थीयते, कस्यचित् केनचिदेव समं वा। नाद्यः। शब्दार्थव्यवस्थाऽनुपपत्तेः। अन्त्ये आर्यम्लेच्छानामनियमाभावप्रसंगः। तथाहि—आर्या हि यवशब्दं दीर्घशूके प्रयुञ्जते, दीर्घशूकमेव च बुध्यन्ते। म्लेच्छास्तु प्रियंगौ प्रयुञ्जते- प्रियंगुमेव च बुध्यन्ते—इत्येवमनियमः स्वाभाविक्यां शक्तौ न स्यात्। नहि प्रदीपो रूपप्रकाशनशक्ती रसमपि प्रकाशयति। —कौण्डभट्ट, वैयाकरण भूषण,

होने पर कभी दृष्टि उसे सीपी के यथार्थ रूप में प्रकाशित करती है, पर कभी-कभी उसे रजत के अयथार्थ रूप में भी प्रकाशित कर देती है। किन्तु इससे इन्द्रिय की सहज अर्थ-प्रकाशन-शक्ति खण्डित नहीं हो जाती। प्रकाश्य वस्तु की भिन्नता प्रकाशक में अन्तर्निहित सहज प्रकाशन शक्ति का अपलाप नहीं कर सकती। शब्द के प्रकाश्य अर्थ में भिन्नता होने के आधार पर शब्द में अर्थबोध की सहज शक्ति का खण्डन नहीं किया जा सकता। तत्वतः शब्द की शक्ति नित्य और अपरिवर्तनशील है, वह एक अर्थ से ही सम्बद्ध रहती है फिर भी लोक-व्यवहार में शब्द-अर्थ के सम्बन्ध के परिवर्तित होते रहने के कारण वह शक्ति परिवर्तनशील जान पड़ती है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानव की इच्छा पर निर्भर है। लोक-व्यवहार या परम्परा गतिशील एवं परिवर्तनशील है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध यह परिवर्तनशील परम्परा ही निर्धारित करती है। अतः शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार एक ओर तो शब्द में अर्थ की प्रकाशकता का सहज, अपरिवर्तनशील धर्म अन्तर्निहित रहता है और दूसरी ओर लोकव्यवहार में शब्द विशेष में अर्थ विशेष के सामयिक सम्बन्ध का निर्धारण चलता रहता है।[1]

एक शब्द से देश-काल भेद से अनेक प्रकार के अर्थ के बोध के लिए दृष्टि के सीपी को रजत के रूप में प्रकाशित करने का जो उदाहरण दिया गया है, वह उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यव शब्द का जो उदाहरण दिया गया था उसमें यव शब्द एक भाषा में एक निश्चित अर्थ का बोध कराता है और दूसरी भाषा में उससे भिन्न एक दूसरे निश्चित अर्थ का बोध कराता है। उनमें से किसी एक को शब्द का यथार्थ और दूसरे को अयथार्थ अर्थ मानना—एक को सम्बन्ध का यथार्थ ज्ञान और दूसरे को अयथार्थ ज्ञान मानना—युक्तिसंगत नहीं। लोक व्यवहार से यदि शब्दार्थ के सम्बन्ध का निर्धारण मीमांसकों को मान्य है, तो विशेष देश-काल में शब्द-विशेष के साथ अर्थ-विशेष के सम्बन्ध को यथार्थ ही माना जाना चाहिए, भ्रममूलक नहीं। हाँ, यदि अज्ञान के कारण कोई व्यक्ति किसी शब्द से संकेतित अर्थ से भिन्न अर्थ का सम्बन्ध उस शब्द से समझ लेता है, तो उसके लिए सीपी में रजत के अयथार्थ ज्ञान का दृष्टान्त उपयुक्त हो सकता है।

---

१. यद्वा स्वाभाविकी शक्तिरेवास्ति। व्युत्पत्तिवशात् व्यवहारनियमसम्भवात्। यथा खलु शुक्तिसन्निकर्षेण चक्षुषा कश्चित् शुक्तिकां प्रतिपाद्यते, कश्चिद् रजतम्। न चैतावता चक्षुषोऽर्थप्रत्यायकत्वं न स्वाभाविकम्। तथा शब्दस्यापि शक्त्यनुसार्यननुसारिव्युत्पत्तिलक्षणसहकारिवशात् अनियमेऽपि स्वाभाविकशक्तिसद्भावः सम्भवति। × × इयान् विशेषः--शब्दः संकेतेनापि बोधको न प्रत्यक्षमिति।—वैयाकरण भूषण,

मीमांसकों ने शब्द में अर्थबोध की नित्य शक्ति की कल्पना के साथ ही शब्द-विशेष में अर्थविशेष के बोध का परम्परा-प्राप्त संकेत भी कल्पित किया है। इस पर न्यायदर्शन के विचारकों ने यह आपत्ति की है कि यदि शब्द में अन्तर्निहित अर्थबोधकता की शक्ति के साथ-साथ परम्परा-प्राप्त संकेत की कल्पना भी आवश्यक हो तो शब्द में निहित सहज शक्ति की कल्पना का प्रयोजन ही क्या है? शब्द-विशेष में अर्थविशेष के बोध की शक्ति लोक-व्यवहार या परम्परा से आ जाती है, और उसी परम्परा-प्राप्त संकेत से कोई शब्द किसी अर्थ का बोध करा देता है; इतना मान लेना ही पर्याप्त होगा। नित्य शब्द और उसमें शाश्वत भाव से रहने वाली अर्थबोधकता की कल्पना की क्या आवश्यकता है?[1]

इस प्रश्न के उत्तर में मीमांसकों ने यह युक्ति दी है कि किसी शब्द में किसी खास अर्थ का संकेत निश्चय ही लोकव्यवहार से ही आता है। अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझा जाना चाहिए; इस प्रकार का शब्द-संकेत मानव की इच्छा से निर्धारित होता है, पर ऐसे संकेत को अर्थबोध के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। यदि शब्द में निहित अर्थबोध की सहज शक्ति को अस्वीकार कर केवल मानवेच्छा से निर्धारित शब्दविशेष से अर्थविशेष के बोध का संकेत ही स्वीकार किया जाय तो समस्या यह है कि वैसी स्थिति में मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी शब्द का किसी भी अर्थ में प्रयोग कर लेता और उसकी इच्छा से कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का बोध करा देता। फलतः किसी भी शब्द का अर्थ निर्धारित नहीं हो पाता। पर ऐसा होता नहीं है। अतः शब्द में नित्य-सहज शक्ति की कल्पना की गयी है, और व्यवहार-सिद्ध संकेत को उस सहज शक्ति का सहायक माना गया है। इस प्रकार की मान्यता से शब्दविशेष और अर्थविशेष के बीच अनियम का दोष नहीं आता।[2] कुमारिल भट्ट ने यह तर्क दिया है कि मनुष्य में शक्ति के निर्माण की क्षमता नहीं होती। यदि शब्द में स्वभावतः अर्थबोध की शक्ति नहीं रहती तो मनुष्य से उसमें अर्थबोध की शक्ति का सृजन करना सम्भव नहीं होता।[3]

---

१. ननु स्वाभाविकसम्बन्धग्राहकत्वेन संकेतावश्यकत्वे किं स्वाभाविक्या शक्त्या? अथ असति स्वाभाविके सम्बन्धे संकेतनियम एव कथं स्यात्?

—वैयाकरण भूषण

२. कोऽयं समयो नाम? अभिधानाभिधेय-नियमनियोगः समय उच्यते। × × स हि पुरुषकृतः संकेतः। नहि पुरुषेच्छया वस्तुनियमोऽवकल्प्यते—तदिच्छया अव्याहतप्रसरत्वात् × × शक्तिस्तु नैसर्गिकी यथा रूपप्रकाशिनी दीपादेस्तथा शब्दस्यार्थप्रतिपादने। तस्मात् न समयमात्रादर्थप्रतिपत्तिः।

—न्यायमं० १, पृ० २२१

३. नहि स्वतोऽसतीशक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते।—कुमारिल, श्लोक वार्तिक।

मीमांसकों की इस मान्यता में कुछ परिष्कार अपेक्षित है कि यदि शब्द और अर्थ के बीच परम्परा-प्राप्त या मानवेच्छा से आरोपित सम्बन्ध अर्थात् शब्द के संकेतग्रह को ही अर्थबोध के लिए पर्याप्त मान लिया जाय तथा उसमें अर्थबोध की सहज शक्ति नहीं मानी जाय तो किसी भी अर्थ में किसी भी शब्द का प्रयोग मानव अपनी इच्छा से करने लगे और फलस्वरूप शब्द-विशेष से अर्थविशेष के बोध का नियम ही नहीं रह पाये। वस्तुतः शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध की स्थापना मानवेच्छा या लोक-व्यवहार से मानने का तात्पर्य यह नहीं कि हर व्यक्ति अपनी इच्छा से किसी भी शब्द का किसी अर्थ से सम्बन्ध जोड़ सकता है और स्वच्छन्दतापूर्वक किसी शब्द का किसी अर्थ में प्रयोग कर सकता है। ऐसा हो तो किसी भी व्यक्ति का शब्द प्रयोग दूसरे के लिए बोधगम्य नहीं हो और भाषा-प्रयोग का मूल उद्देश्य ही खण्डित हो जाय। मानवेच्छा या लोकव्यवहार से शब्दविशेष में अर्थविशेष के संकेत का आरोप मानने का तात्पर्य यह है कि व्यवहार में जब कोई शब्द किसी विशेष अर्थ के वाचक के रूप में जनसमुदाय की स्वीकृति पा लेता है, तब उस शब्द में उस अर्थ-विशेष का संकेत आरोपित हो जाता है। शब्दविशेष के साथ अर्थविशेष के सम्बन्ध में जन-समुदाय की मान्यता ही नियामक होती है। इसलिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से शब्द-अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध में अनियम नहीं आता। लोक-परम्परा की स्वीकृति पा लेने पर ही शब्द-विशेष में अर्थविशेष का संकेत निर्धारित होता है। यही कारण है कि जब परम्परा से स्वीकृत शब्द-अर्थ के सम्बन्ध को छोड़ व्यक्ति भ्रमवश अथवा जानबूझ कर आलंकारिक प्रयोग के लिए, विनम्रता प्रकट करने के लिए, मंगलभाषित के लिए, व्यंग्य में, आवेश-वश या असावधानी आदि कारणों से किसी शब्द का भिन्न अर्थ में प्रयोग करने लगता है, तब व्यवहार में चल पड़ने और जनसमुदाय के द्वारा नवीन अर्थ में उस शब्द के प्रयोग को स्वीकृति मिल जाने पर उस शब्द में अपने मूल अर्थ के स्थान पर नवीन अर्थ का संकेत आ जाता है। इसी प्रक्रिया से शब्द में अर्थ का परिवर्तन—अर्थसंकोच, अर्थविस्तार तथा अर्थादेश—होता रहता है। जब कुछ विचारकों ने शब्द के संकेत को ईश्वरेच्छारूप—शब्द-विशेष से अर्थविशेष का बोध होना चाहिए; इस प्रकार की ईश्वरेच्छा का रूप—कहा था तो उसे कुछ परिष्कार के साथ समष्टि रूप में मानवेच्छारूप ही माना जाना चाहिए। मानव-चेतना की समष्टि ही तो ईश्वर का स्वरूप है! वही मानव-चेतना की समष्टि शब्द का संकेत निर्धारित करती है। अब, इस संकेत के साथ शब्द में अर्थबोध की सहज शक्ति की कल्पना आवश्यक है या नहीं, यह अलग प्रश्न है। इसके पक्ष तथा विपक्ष में मीमांसकों और नैयायिकों ने कुछ तर्क प्रस्तुत किये, हैं जिनका परीक्षण अपेक्षित है।

नैयायिकों की मान्यता है कि शब्द में अन्तर्निहित सहज शक्ति की कल्पना

अनावश्यक है। केवल लोकव्यवहार या संकेत से शब्द के अर्थ का बोध हो सकता है। उनकी दृष्टि में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध केवल इतना है कि शब्द को सुन कर अर्थ की स्मृति हो आती है। अतः शब्दार्थ का बोध स्मृतिरूप होता है और उसमें लोकव्यवहार से प्राप्त शब्द का संकेत ही हेतु होता है। शब्द और अर्थ के बीच मानवेच्छा से सम्बन्ध के आरोपित रहने के कारण ही शब्द को सुन कर उससे सम्बद्ध अर्थ की स्मृति हो आती है।[1]

मीमांसकों ने नैयायिकों की उक्त मान्यता के विरुद्ध यह युक्ति दी है कि पदार्थ के ज्ञान को स्मृतिरूप नहीं माना जा सकता। स्मृतिज्ञान में तत्ता का (वह के भाव का) भाव अपेक्षित होता है। शब्द को सुन कर अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने में तत्ता का अभाव होने से वह ज्ञान स्मृतिज्ञान से भिन्न होता है। वह ज्ञान अनुमान ज्ञान से भी भिन्न होता है। पद-पदार्थ के ज्ञान का स्वरूप इस रूप में होता है---शब्दविशेष अर्थविशेष का बोध कराता है।[2] शब्द की इस अर्थबोधकता को मीमांसक 'शक्ति' या अभिधा कहते हैं। इस शक्ति या अभिधा को वे संकेत से—जिसे समय, आप्तोपदेश तथा वृद्ध व्यवहार भी कहा जाता है—भिन्न मानते हैं। उनका तर्क है कि संकेत तो आङ्गिक चेष्टाओं तथा विशेष प्रकार की ध्वनियों में भी रहा करता है, जिससे वे चेष्टाएँ और ध्वनियाँ भी संकेतित अर्थ का बोध करा देती हैं, पर उनमें अर्थ-बोध की अन्तर्निहित शक्ति नहीं रहा करती। अर्थविशेष के साथ इङ्गित-विशेष या ध्वनि-विशेष का तात्कालिक सम्बन्ध मान लिया जाता है, जिससे उनके अर्थ का बोध हो जाता है। वैसी चेष्टाओं और ध्वनियों से शब्द का यही भेद है कि शब्द में अर्थबोध की सहज शक्ति अन्तर्निहित रहती है। यदि इस अन्तर्निहित सहज शक्ति को नहीं मान कर केवल परम्परा-प्राप्त संकेत को शब्द के अर्थ-बोध में समर्थ माना जाय तो शब्द का आंगिक चेष्टाओं और संकेत-प्राप्त ध्वनियों से क्या भेद रह जायगा ?[3]

---

१. पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः। × × × पदज्ञानस्य हि एकसम्बन्धिज्ञानविधया पदार्थोपस्थापकत्वम्। शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। सा चास्मात् शब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति ईश्वरेच्छारूपा। विश्वनाथ, सिद्धान्तमुक्तावली, शब्दकाण्ड।

२. पदेभ्यः स्मृतिरेव इति न युक्तं तत्ताऽनुल्लेखात् × × किञ्च शाब्दयामि (?) इत्यनुव्यवसायात् न स्मृतित्वं अनुमितित्वं वा तज्जन्यप्रत्ययस्य।
---नागोजी, वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृ० ५९-६०

३. अपि च समयमात्रशरणः शक्तिशून्यः शब्दः कथम् अक्षिनिकोच हस्तसंज्ञादिभ्यो भिद्येत। स हि तदानीं कशांकुशप्रतोदाभिघातस्थानीय एव भवेत्। तथा च शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे इति लौकिको व्यपदेशो बाध्येत। समयादर्थं प्रतिपद्यामहे इति स्यात्। न्यायमं० १, पृ० २२२.

एक प्रश्न यह उठता है कि शब्द में अन्तर्निहित स्वभावसिद्ध शक्ति को यदि किसी विशेष अर्थों के बोध में समर्थ माना जाय तो शब्द में जो अर्थपरिवर्तन होता है, या एक ही शब्द जो अनेक अर्थों का वाचक होता है, वहाँ शब्द की नियतार्थ-बोधकता कैसे सिद्ध की जा सकेगी ? इस समस्या के समाधान के लिए मीमांसकों ने यह युक्ति दी है कि वस्तुतः शब्द में अर्थबोध की शक्ति नियत रहती है, पर भ्रमात्मक ज्ञान के कारण अन्य अर्थ का बोध उससे हो जाता है। शब्द के अनेकार्थ-वाची होने के सम्बन्ध में मीमांसक यह मानते हैं कि वस्तुतः एक शब्द से एक ही अर्थ का बोध होता है। जहाँ एक शब्द से अनेक अर्थों का बोध होता जान पड़ता है, वहाँ शब्द भी उतने ही होते हैं, जितने अर्थ। अनेक शब्द में एकत्व का अभास इसलिए होता है कि वे शब्द स्वरूपतः समान होते हैं, अर्थात् उनके उच्चारण में स्थान-प्रयत्न समान होते हैं।[1] एक शब्द से अनेक अर्थ के बोध की समस्या का समाधान करने के लिए मीमांसा दर्शन के कुछ विचारकों ने एक और युक्ति दी है। जैसे एक फल में स्वाद, गन्ध आदि की शक्ति रहती है वैसे ही एक शब्द में अनेक अर्थों के बोध की शक्ति रह सकती है।[2]

शब्द में किसी एक अर्थ के बोध की सहज-शाश्वत शक्ति मान लेने से अर्थ-परिवर्तन और अनेकार्थबोधकता के सन्दर्भ में जो कठिनाई सामने आती है, उसका समाधान कठिन है। नियत अर्थ से भिन्न अर्थ के ज्ञान को भ्रमात्मक ज्ञान कह कर इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, यदि असुर शब्द की शक्ति वेदकालीन अर्थ के बोध में मानी जाय तो क्या उससे आधुनिक युग में राक्षस अर्थ के बोध को भ्रमात्मक ज्ञान माना जायगा ? शब्द में एक अर्थ से दूसरे अर्थ के परिवर्तन में मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध रहा करता है, भले ही कुछ शब्दों के अर्थपरिवर्तन के मूल में भ्रान्ति रही हो। एक फल में गन्ध, स्वाद आदि की तरह शब्द में अनेक अर्थ की शक्ति मानने में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की संगति नहीं। गन्ध, स्वाद आदि अलग-अलग तत्त्व हैं, जबकि अर्थ एक ही तत्त्व है। अर्थभेद से एक ही शब्द को समान श्रुति या समान आकृति वाले अनेक शब्दों के रूप में कल्पित करने में एक गूढ भाषातत्त्वीय चिन्तन माना जा सकता

---

१. अर्थभेदात् तत्-तादात्म्यापन्नशब्देषु भेदौचित्येनार्थभेदात् शब्दभेद इत्युपपद्यते। समानाकारत्वमात्रेणतु एकोऽयं शब्दो नानार्थ इति व्यवहारः।
—वै० सि० मं० पृ० ५४, उसपर कुञ्चिका टीका भी द्रष्टव्य।

२. अन्ये तु एकत्रैवाम्रफले रूप-रस-गन्धादीनां भिन्नानां तादात्म्यवत् एकत्रैव शब्देऽनेकार्थं निरूपितानि भिन्नानि तादात्म्यानीत्याहुः।
—वही, पृ० ५६ तथा उसपर कुञ्चिका टीका।

है। जब व्यक्ति के मन में कोई अर्थ किसी विशेष शब्द के रूप में ढल कर व्यक्त होता है तो उस समय उस शब्द का एक ही अर्थ होता है। यदि दूसरे प्रसंग में किसी अन्य अर्थ को उसी शब्द से व्यक्त किया जाता है तो तत्त्वतः वह शब्द भी भिन्न ही होता है, केवल उसकी ध्वनि पहले शब्द से अभिन्न होती है। व्याकरण दर्शन में भी अनेकार्थवाची शब्द को अर्थ-भेद से अनेक माना गया है। अर्थ परिवर्तन की समस्या का समाधान शब्द के संकेत या समय में परिवर्तन के आधार पर ही किया जा सकता है।

इस प्रकार शब्द और अर्थ के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में मीमांसकों की मान्यता का सार यह है कि शब्द अक्षरों या वर्णों का समूह है जो नित्य है। उसमें अर्थबोध की स्वाभाविक और नित्य शक्ति अन्तर्निहित रहती है। उस शक्ति के साथ समय या परम्परा-प्राप्त शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा व्यापार से अर्थ-बोध सम्भव होता है।

वैशेषिक सिद्धान्त:—वैशेषिक दर्शन में शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मान कर अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया गया है। इस चिन्तन के फलस्वरूप वैशेषिक दर्शन के विचारकों ने शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को अनुमानरूप माना है। उनकी दृष्टि में शब्द अनुमापक है और अर्थ अनुमाप्य।

शब्द और अर्थ में, वैशेषिक मतानुयायियों के अनुसार, न तो संयोग सम्बन्ध रहता है और न समवाय सम्बन्ध ही। फिर भी, यह तो माना ही नहीं जा सकता कि दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि यदि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं होता तो शब्दविशेष से जो अर्थ-विशेष का बोध होता है, वह सम्भव नहीं होता। अतः शब्द और अर्थ में कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। गौतम ने न्यायसूत्र में पूर्व पक्ष के रूप में वैशेषिक मत का उल्लेख करते हुए उनके अनुसार शब्द-अर्थ के सम्बन्ध की स्वीकृति और उसके निषेध का दो सूत्रों में उल्लेख किया है। 'इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है, इसमें षष्ठी विभक्ति युक्त वाक्य से ज्ञात होने वाला शब्द-अर्थ का वाच्य-वाचक रूप सम्बन्ध वैशेषिकों के द्वारा स्वीकृत है, पर प्राप्तिरूप सम्बन्ध अर्थात् स्वाभाविक सम्बन्ध का उन्होंने खण्डन किया है। वैशेषिक दर्शन में यह माना गया है कि शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का बोध अनुमान के आधार पर होता है। अर्थात् शब्द से अर्थ का अनुमान होता है। वैशेषिक दार्शनिकों की तरह बौद्ध विचारकों ने भी शब्द और अर्थ में अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध माना है।[1] बौद्धों की मान्यता पर हम अपरत्र

१. तत्रानुमानमेवेदं बौद्धवैशेषिकैः श्रितम्।
—कुमारिल, श्लोक वार्तिक शब्द परिच्छेद १५।

स्वतन्त्र रूप से विचार करेंगे।

अनुमान-जन्य ज्ञान और शब्द-बोध में कुछ समता दिखाकर वैशेषिक दर्शन के विचारकों ने यह सिद्ध करना चाहा है कि चूँकि शब्द से होने वाले ज्ञान की प्रक्रिया किसी भी अनुमान-जन्य ज्ञान की प्रक्रिया से अभिन्न होती है, इसलिए शब्द से प्राप्त ज्ञान अनुमान ज्ञान ही होता है। किसी शब्द से किसी अर्थ के अनुमान या बोध के स्वरूप का अन्य अनुमान-जन्य ज्ञान के स्वरूप से समता-विषमता का निर्देश भी उन्होंने कर दिया है। उनकी मान्यता है कि अनुमान ज्ञान में साध्य और उसके हेतु में अनिवार्य और अव्यभिचारी या नित्य सम्बन्ध होता है। धुआँ से आग का अनुमान इसलिए होता है कि उन दोनों के बीच अनिवार्य और अव्यभिचारी सम्बन्ध रहता है। शब्द से अर्थ के अनुमान में भी यह बात पायी जाती है कि दोनों में एक नियत और अव्यभिचारी सम्बन्ध रहता है। उदाहरणार्थ, गाय शब्द और गाय अर्थ में अव्यभिचारी सम्बन्ध है। इसीलिए गाय शब्द गाय अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ का बोध नहीं करा पाता। पर शाब्दबोध में शब्द और अर्थ का नियत सम्बन्ध नैसर्गिक और विश्वजनीन नहीं होता, वह लोकव्यवहार से आरोपित, अतः कृत्रिम और सीमित होता है। उदाहरण के लिए अन्य भाषाओं में गाय अर्थ के लिए अलग-अलग शब्द उपलब्ध हैं। अँग्रेजी में Cow शब्द के साथ उस अर्थ का सम्बन्ध होगा। एक ही शब्द जब अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग अर्थ का बोध कराता है—वैशेषिक विचारकों की शब्दावली में, अनुमान कराता है—तो उस एक ही शब्द का अलग-अलग भाषा जानने वाले अलग-अलग अर्थ के साथ कृत्रिम सम्बन्ध समझते हैं। 'राग' शब्द से बंगला भाषा-भाषियों को 'क्रोध' अर्थ का अनुमान होता है, पर हिन्दी भाषाभाषियों को 'प्रेम' अर्थ का। इसका कारण वैशेषिकमतानुयायी यह मानेंगे कि राग शब्द, जो अर्थ-विशेष का अनुमापक है, अनुमाप्य अर्थ के साथ कृत्रिम सम्बन्ध से सम्बद्ध है, जो कृत्रिम सम्बन्ध अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग रूप का है। केवल इस एक भेद को छोड़कर अनुमान जन्य ज्ञान और शाब्दबोध में और कोई भेद नहीं। शाब्द-बोध और अनुमान ज्ञान में एक समता यह भी है कि जैसे अनुमान में अनुमाप्य और अनुमापक के बीच सम्बन्ध का होना ही पर्याप्त नहीं, उस सम्बन्ध का ज्ञान भी आवश्यक होता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का होना तथा उस सम्बन्ध का ज्ञान होना; दोनों ही शाब्दबोध के लिए आवश्यक है।[1]

---

१. शब्दादीनामनुमानेऽन्तर्भावोऽनुमानव्यतिरिक्तत्वं समानविधित्वात् समान प्रवृत्तिप्रकारत्वात्। यथा व्याप्तिबलेनानुमानं प्रवर्तते तथा शब्दादयोऽपीत्यर्थः × × × यावदि शब्दो नार्थं प्रतिपादयति यावदयमस्याव्यभिचारीत्येवं

सम्बन्ध ज्ञान के अभाव में शाब्दबोध सम्भव नहीं। Cow शब्द का अर्थ से सम्बन्ध तो है पर जिसे उस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं उसे उस शब्द का अर्थबोध नहीं हो सकता। दोनों में तीसरी समता यह है कि जैसे अनुमान में सामान्य का ही बोध होता है वैसे ही शब्द से सामान्य अर्थ का ही बोध होता है, विशेष का नहीं। चौथी बात यह कि जैसे अनुमान में हेतु अप्रत्यक्ष का ही बोध कराता है उसी प्रकार शब्द ही प्रत्यक्ष दृष्ट होता है और उससे अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध होता है।[1]

अणुवादी वैशेषिकों ने शब्द-प्रमाण की कल्पना की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए शब्द और अर्थ के बीच संयोग तथा समवाय; दोनों प्रकार के सम्बन्ध की सम्भावना के खण्डन में जो युक्तियाँ दी हैं, उन पर संक्षेप में विचार कर लेना वाञ्छनीय है। शब्द और उसके वाच्य अर्थ में सम्बन्ध मानने में वैशेषिक दर्शन के अनुयायियों ने निम्नलिखित आपत्तियाँ उठायी हैं—

(क) शब्द आकाश का गुण है और उससे जिस अर्थ का बोध होता है वह सामान्यतः द्रव्यरूप होता है। अतः कणाद की युक्ति है कि द्रव्य और गुण में संयोग सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। द्रव्य और गुण में समवाय सम्बन्ध ही रह सकता है, पर वह भी शब्द और अर्थ में सिद्ध नहीं होता।

(ख) दूसरी बात यह है कि शब्द भी गुण है और संयोग सम्बन्ध भी गुण है। दो गुणों में परस्पर संयोग सम्बन्ध सम्भव नहीं। अतः गुण-भूत शब्द के साथ संयोग-सम्बन्ध रूप अन्य गुण के संयोग-सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती।

(ग) तीसरी बात यह है कि गुण द्रव्याश्रित होते हैं। वे द्रव्य में ही रह सकते हैं, गुण में गुण नहीं रह सकते। शब्द गुण के बोधक होते हैं। ऐसी स्थिति में, जहाँ किसी शब्द का अर्थ कोई गुण होगा, वहाँ शब्दरूप गुण के साथ अर्थरूप गुण का संयोग सम्बन्ध कैसे माना जा सकेगा?

(घ) चौथी बात यह कि संयोग सम्बन्ध वहीं सम्भव होता है जहाँ संयुक्त होने वाली वस्तुओं में से कम-से-कम एक में क्रिया रहे। शब्द तो सार्वत्रिक रूप से क्रियाहीन हैं ही, उनसे बोधगम्य अनेक अर्थ भी क्रियाहीन होते हैं। आकाश आदि शब्द से जिस अर्थ का ग्रहण होता है, वह क्रियाहीन है। ऐसी स्थिति में क्रियाहीन शब्द और उसके क्रियाहीन अर्थ में संयोग सम्बन्ध कैसे माना जा सकेगा?

नावगम्यते, ज्ञातेत्वव्यभिचारे प्रतिपादयन् धूमइव लिंगं स्यात्।
—प्रशस्तपादभाष्य पर श्रीधरकृत न्यायकन्दली टीका पृ. २१३-१४

१. इतश्चानुमानं शब्दः अर्थस्यानुपलब्धेः। प्रत्यक्षेनानुपलब्धार्थविषयत्वात्।
—गौतम न्यायसूत्र पर न्यायवार्तिक टीका,

(ङ) पाँचवीं बात यह कि शब्द से अविद्यमान वस्तु का भी बोध होता है। 'नहीं' का अर्थ 'असत्ता' है। 'घड़ा नहीं है' वाक्य भी सार्थक है, जिससे वस्तु-विशेष के अविद्यमान होने का बोध होता है। ऐसी स्थिति में, जबकि शब्द विद्यमान रहता है और उसका वाच्य अर्थ अविद्यमान, तो विद्यमान शब्द का अविद्यमान अर्थ के साथ संयोग सम्बन्ध कैसे सम्भव होगा ?

(च) छठी बात यह है कि जिन दो वस्तुओं में संयोग या समवाय का सम्बन्ध रहता है, उनके लिए भाषा में जैसा प्रयोग होता है, वैसा प्रयोग शब्द-अर्थ के लिए नहीं होता। उदाहरण के लिए, दण्ड से संयोग सम्बन्ध वाले व्यक्ति के लिए 'दण्डी' और एक आँख से समवाय सम्बन्ध वाले के लिए 'एकाक्ष' शब्द का प्रयोग किया जाता है किन्तु गाय आदि के लिए 'गाय शब्द वाली गाय' जैसा प्रयोग नहीं किया जाता। यदि गाय शब्द के साथ गाय अर्थ (विशेष प्रकार की वस्तु) का संयोग या समवाय सम्बन्ध होता तो उस अर्थ के लिए सीधे गाय शब्द का प्रयोग न होकर 'गाय शब्द युक्त गाय' का प्रयोग होना चाहिए था, पर ऐसा नहीं होता। वैशेषिक मतानुयायियों के अनुसार यह इस बात का प्रमाण है कि शब्द का उसके वाच्य अर्थ के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है।[1]

न्यायमञ्जरी में जयन्त भट्ट ने इस मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ में न तो घड़े और बेर के समान संयोग सम्बन्ध रहता है और न धागे और उससे बने वस्त्र के समान समवाय सम्बन्ध ही। और जितने प्रकार के सम्बन्ध हैं, उनका आधार संयोग या समवाय सम्बन्ध ही होता है। अतः जब शब्द और अर्थ में संयोग या समवाय में से कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, तब उनमें और किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। दो वस्तुओं में संयोग सम्बन्ध के लिए यह आवश्यक होता है कि दोनों वस्तुएँ एक स्थान पर रहें। शब्द और अर्थ एक स्थान पर नहीं रहते। शब्द मुँह से उच्चरित होते हैं और कान से गृहीत होते हैं, पर उनके वाच्य अर्थ बाहर धरती आदि पर रहते हैं और विभिन्न इन्द्रियों से गृहीत होते हैं। शब्द कण्ठ, तालु आदि स्थान, जीभ रूप करण तथा प्रयत्न से उत्पन्न होते हैं। जिस स्थान पर घड़ा, गाय आदि पदार्थ रहते हैं, उस स्थान पर शब्द नहीं रहते और जिस मुँह में शब्द रहते हैं उसमें घड़ा,

१. युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः योगविभागो न विद्येते। गुणत्वात्। गुणोऽपि विभाव्यते। निष्क्रियत्वात्। असति नास्तीति प्रयोगात्। शब्दार्थावसम्बद्धौ संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च।
—वैशेषिक सूत्र, ७,७,२, १३-१९.

गाय आदि वस्तुएँ नहीं रह सकतीं। अतः अलग-अलग अधिकरण में रहने वाले शब्द और उसके वाच्य अर्थ में संयोग सम्बन्ध नहीं रहता।[1]

कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में उक्त मान्यता को एक उदाहरण से स्पष्ट किया है। शब्द और अर्थ अलग-अलग स्थान पर रहते है, जैसे विन्ध्य और हिमालय पर्वत अलग-अलग स्थान पर हैं। अलग-अलग स्थान पर रहने वाले उन दो पर्वतों में जैसे कोई सम्बन्ध नहीं, उसी तरह अलग-अलग स्थान में रहने वाले शब्द और अर्थ में भी कोई सम्बन्ध नहीं।[2]

इस प्रकार शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार के स्वाभाविक सम्बन्ध की सम्भावना का खण्डन कर तथा अनुमान-ज्ञान से शाब्दबोध की कुछ समता दिखा कर कणाद ने शब्द से होने वाले अर्थ-बोध को अनुमान-रूप सिद्ध करने का प्रयास किया है। शब्द और अर्थ में सम्बन्ध केवल सामयिक अर्थात् लोकव्यवहार से आरोपित होता है। अतः वह सम्बन्ध कृत्रिम और अनित्य होता है। लोकव्यवहार से शब्दविशेष में अर्थविशेष के बोध का संकेत स्वीकृत हो जाता है और वह संकेत ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध होता है।

शब्द-बोध्य अर्थ को अनुमानरूप मानने वाले वैशेषिक मत का न्याय, मीमांसा सांख्य आदि दर्शन के विचारकों ने खण्डन किया है। ध्यातव्य है कि वैशेषिक विचारकों की तरह नैयायिक भी शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं मानते। दोनों सम्प्रदाय के विचारकों में शब्दार्थ-सम्बन्ध के स्वरूप के विषय में बहुत कुछ मतैक्य होने पर भी मतभेद इस बात में है कि जहाँ वैशेषिक मतानुयायी शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानकर अनुमान में उसका अन्तर्भाव मानते हैं, वहाँ नैयायिक शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। नैयायिकों की मान्यता है कि शाब्दबोध का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। गौतम ने न्यायसूत्र में वैशेषिक विचारकों की शब्दार्थ-विषयक उक्त मान्यता को दो सूत्रों में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर सिद्धान्त सूत्र में कहा है कि शब्द में आप्तोपदेश से प्राप्त सामर्थ्य के होने के कारण

---

१. नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः कश्चिदस्ति। × × × नहि शब्दार्थयोः कुण्डबदरयोरिव संयोगस्वभावः, तन्तुपटयोरिव समवायात्मा वा सम्बन्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। तन्मूलत्वाच्च संम्बन्धान्तराण्यपि न सन्ति। तदुक्तम्—'मुखे शब्दमुपलभामहे, भूमावर्थम्' इति। जयन्त, न्यायमञ्जरी, १ पृ० २२०-२१।

२. तन्निषेधमतः प्राह न शब्दोऽर्थेन संगतः।
तद्देशानन्तरादृष्टेर्विन्ध्यो हिमवता यथा॥
—कुमारिल, श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेप, श्लोक सं० ७।

शब्द से अर्थ का प्रत्यय होता है।[1] स्वर्ग अप्सरा आदि अनेक ऐसे पदार्थ हैं जो प्रत्यक्ष नहीं। फिर भी लोग इन पदार्थों के प्रतिपादक आप्तवाक्य को आप्तवाक्यत्व निबन्धन प्रमाण-रूप समझ कर, उसकी शक्ति से उन पदार्थों को अप्रत्यक्ष पदार्थ मान लेते हैं। केवल शब्द से इन पदार्थों का बोध सम्भव नहीं, इसमें आप्तवाक्य को प्रमाण मानना आवश्यक है। वात्स्यायन ने न्याय सूत्र के भाष्य में इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए यह युक्ति दी है कि शाब्दबोध जिस प्रकार के कारण से उत्पन्न होता है उस प्रकार के कारण से अनुमान-ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। शाब्दबोध आप्तवाक्य प्रयुक्त ज्ञान होता है, जब कि अनुमान आप्तवाक्य प्रयुक्त ज्ञान नहीं होता। अतः शाब्दबोध को अनुमान-ज्ञान तथा शब्द को अनुमान-प्रमाण मानना युक्ति-संगत नहीं। आप्तवाक्य अर्थात् वृद्धव्यवहार से पदार्थ का यथार्थ शाब्दबोध होता है। यह अनुभव-सिद्ध है कि शाब्दबोध का मानस प्रत्यक्ष इस रूप में होता है—हमें इस शब्द के द्वारा, इस रूप में, इस पदार्थ का शाब्दबोध होता है, इस रूप में नहीं कि—'हमें इस शब्द से, इस रूप में इस पदार्थ का अनुमान होता है'।

वात्स्यायन ने गौतम के सूत्र की व्याख्या में इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है कि शब्द और अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध ही रहता है, पर उनमें प्राप्तिरूप सम्बन्ध अर्थात् शब्द और अर्थ की एक साथ एकत्र उपलब्धि का सम्बन्ध नहीं रहता। भाष्यकार वात्स्यायन का मत है कि शब्द और अर्थ में जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध रहता है, वह स्वाभाविक सम्बन्ध या व्याप्ति-रूप सम्बन्ध नहीं। अतः उस सम्बन्ध से शब्द में अर्थ की व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता। यदि दोनों में व्याप्तिरूप सम्बन्ध होता, तब दोनों में स्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध हो सकता था। तात्पर्य टीका में भाष्यकार की इस मान्यता का पल्लवन करने के क्रम में कहा गया है कि यदि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध या प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध अथवा प्राप्ति-सम्बन्ध होता तो उस सम्बन्ध को स्वाभाविक सम्बन्ध माना जा सकता था। नैयायिक वैयाकरणों की इस मान्यता से सहमत नहीं कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है। शब्द और अर्थ में प्राप्ति-रूप सम्बन्ध के असिद्ध होने के कारण, उनके अनुसार, शब्द और अर्थ में स्वाभाविक प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं होता।[2]

न्यायकन्दली में श्रीधर ने शब्द से अर्थ को अनुमेय मानने वाले मत के खण्डन के लिए यह प्रश्न उठाया है कि अनुमान में साध्य-धर्म विशिष्ट धर्मी का बोध होता

१. द्रष्टव्य—गौतम, न्यायसूत्र
२. वहीं ११३ पृ० ५२

है। यदि शब्द से अर्थ का अनुमान माना जाय तो धर्मी कौन होगा ? अर्थ को तो धर्मी माना ही नहीं जा सकता, क्योंकि वह अनुमान के समय अज्ञात रहता है। अर्थ को अनुमेय माना गया है। अतः वह अनुमान के पूर्व अप्रतीत रहता है। उस अप्रतीत अर्थ को अनुमान का पक्ष नहीं माना जा सकता, क्योंकि पक्ष को प्रतीत होना चाहिए। पर्वत अग्नि से युक्त है, इस आधार-वाक्य में पक्षभूत पर्वत प्रतीत रहता है। पक्ष के अप्रतीत रहने पर अनुमान सम्भव नहीं। शब्द से अर्थ का अनुमान मानने में अर्थ को पक्ष नहीं माना जा सकता।[1]

कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक में वैशेषिक विचारकों की ओर से सम्भावित इस युक्ति का खण्डन किया है कि शब्द को ही अर्थवान् होने के कारण पक्ष और हेतु; दोनों माना जा सकता है तथा अर्थ को साध्य माना जा सकता है। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का अनुमान इस रूप में होता है कि 'इस अर्थवान् शब्द से इस अर्थ का बोध होता है, क्योंकि यह शब्द-अर्थवान् है'। कुमारिल का तर्क है कि ऐसा मानने पर हेतु के प्रतिज्ञावाक्य या आधारवाक्य का अंग होने का दोष होगा।[2]

वैशेषिक विचारक यह युक्ति दे सकते हैं कि हेतु का आधार-वाक्य का अंग होना अनुमान में सर्वथा दोष नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए अनुमान का एक रूप लिया जा सकता है। 'यह धुआँ, धुआँ होने के कारण अग्नियुक्त है' 'रसोईघर में धुआँ अग्नियुक्त ही होता है'। अनुमान के इस रूप में पक्ष और हेतु एक ही है, अर्थात् धुआँ ही पक्ष भी है और हेतु भी, यह अनुमान सदोष नहीं। अतः शब्द से अर्थ के अनुमान में शब्द को ही पक्ष तथा हेतु मानने में कोई दोष नहीं।[3]

इस युक्ति के खण्डन में कुमारिल का तर्क यह है कि पक्षभूत धुआँ में धुआँ को ही हेतु मान कर आग के अनुमान के उक्त उदाहरण से शब्द को ही एक साथ पक्ष और हेतु दोनों मान कर अर्थ के अनुमान का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि उक्त उदाहरण में पक्षभूत धुआँ में आग का जो अनुमान होता है

---

१. अनुमाने साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी प्रतीयते। शब्दादर्थानुमाने को धर्मी ? न तावदर्थः तदानीमप्रतीयमानत्वात्।—प्रशस्तपाद भाष्य पर श्रीधर की न्यायकन्दली।

२. अथ शब्दोऽर्थवत्वेन पक्षः कस्मात् न कल्प्यते।
प्रतिज्ञार्थैकदेशो हि हेतुस्तत्र प्रसज्यते॥—श्लोकवा. शब्दप. ६२-६३

३. ननु यथा अग्निमानयं धूमः, धूमत्वात्, महानसधूमवत्—इत्युक्तम्— × × एवं गोशब्द एव अर्थवत्त्वेन साध्यताम् गोशब्दत्वात् इत्यादि सामान्यं च हेतूक्रियतामिति।—जयन्त, न्यायमञ्जरी, १, पृ० १४०।

उसमें यह धुआँ आग से युक्त है' इस आधार वाक्य का जो धुआँ पक्ष है, वह विशिष्ट धुआँ का निर्देश करता है और हेतुभूत धुआँ सामान्य धुआँ का बोधक है। इस प्रकार सामान्य धुआँ के हेतु से विशेष धुआँ के पक्ष में आग का अनुमान होता है। अतः वहाँ धुआँ का ऐक्य तात्त्विक नहीं, प्रातिभासिक है। तात्त्विक दृष्टि से पक्षभूत विशिष्ट धुआँ हेतुभूत सामान्य धुआँ से भिन्न होता है। पर, यदि गाय शब्द से गाय अर्थ का अनुमान मानने के लिए उस एक ही शब्द को पक्ष और हेतु; दोनों माना जायगा, तो युक्ति-दोष होगा।[1]

जयन्त भट्ट ने अनुमानवाद के विरुद्ध एक युक्ति यह दी है कि पक्षभूत शब्द और साध्य-भूत अर्थ में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता और पक्ष तथा साध्य में सम्बन्ध नहीं होने पर अनुमान सम्भव नहीं। पर्वत में जो आग का अनुमान किया जाता है, उसमें पर्वत और आग में संयोग सम्बन्ध रहता है, पर शब्द और अर्थ में न तो संयोग सम्बन्ध माना जा सकता है और न समवाय सम्बन्ध ही। ये दो सम्बन्ध सभी सम्बन्धों के मूल हैं। शब्द-अर्थ में इन दो सम्बन्धों का अभाव होने से कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। अतः शब्द को पक्ष और अर्थ को साध्य मान कर शब्द से अर्थ के अनुमान की धारणा असंगत है।[2] यदि वैशेषिक मत की पुष्टि में यह युक्ति दी जाय कि शब्द और अर्थ में व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध रहता है और उसी सम्बन्ध के कारण शब्द से अर्थ का अनुमान सम्भव होता है, तो उसमें यह दोष होगा कि अनुमेय अर्थ का पूर्वकथन हो जायगा।

शब्द से होने वाले अर्थ-बोध को अनुमान-ज्ञान के समान प्रमाणित करने के लिए दोनों में देशगत तथा कालगत साहचर्य दिखाना आवश्यक होगा, पर उनमें न तो देशगत साहचर्य है न कालगत ही। शब्द कान से सुने जाते हैं और उनके वाच्य अर्थ बाहर रहते हैं, यह दोनों का देशगत भेद है। अतीत तथा अनागत अर्थ के लिए, और कुछ स्थितियों में, अलोक-सिद्ध अर्थ के लिए वर्तमान काल में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उनका अर्थ से कालगत साहचर्य नहीं होता। शब्द में लोकव्यवहार से अर्थबोध का जो संकेत आता है वह संयोग और समवाय सम्बन्ध से भिन्न रूप में शब्द-अर्थ के बीच रहता है। अतः शब्दार्थज्ञान अनुमान ज्ञान से अभिन्न नहीं।[3]

---

१. पक्षे धूमविशेषे च सामान्यं हेतुरिष्यते।
सामान्यं गमकं नात्र गोशब्दत्वं निषेत्स्यते॥
व्यक्तिरेव विशेष्यातो हेतुश्चैका प्रसज्यते।—श्लोक वा० ६३-६४।

२. जयन्त भट्ट, न्यायमञ्जरी, १, पृ० २२०।

३. नाप्यग्निधूमयोरिव शब्दार्थयोरस्ति अविनाभावनियमः। देशकालव्यभिचारात्। तद् व्यभिचारश्च असत्यपि कलौ युधिष्ठिरशब्दप्रयोगात्, असत्यपि लंकायां जम्बुद्वीपे लंकाशब्दश्रवणात्। तस्मादनुमानसामग्रीवैलक्षण्यात् शब्दो नानुमानम्।—न्यायकुसुमाञ्जलि, पृ० २१४।

एक ही शब्द के अलग-अलग देशकाल में जो अलग-अलग अर्थ पाये जाते हैं, उनसे भी यह सिद्ध होता है कि दोनों में आग और धुआँ जैसा विश्वजनीन सम्बन्ध नहीं रहता और उसके अभाव में शब्द से अर्थ के अनुमान का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया जा सकता।[1]

यदि शब्दार्थ का ज्ञान अनुमान-सिद्ध होता तो उसकी सिद्धि केवल तार्किक पद्धति से होती, पर तथ्य यह है कि शब्दार्थ का ज्ञान आप्त-वचन पर निर्भर रहता है। अतः उसे अनुमान ज्ञान मानना उचित नहीं।[2]

वस्तुतः शब्द प्रमाण की अनुमान से स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानने के कारण वैशेषिक विचारक भाषाशास्त्रीय चिन्तन में कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं दे पाये। इस तथ्य को कथमपि अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि बच्चे बड़े लोगों के कथन को ही प्रमाण मानकर शब्दार्थ का ज्ञान अर्जित करते हैं, अनुमान के आधार पर नहीं। बचपन में माता-पिता, फिर शिक्षक जो अर्थ बताते हैं, तथा लोगों के व्यवहार में भी आवाप उद्वाप से बच्चे जो सीखते हैं, वही शब्दार्थ-बोध का प्रमाण होता है। अतः शाब्दबोध में आप्त जनों के व्यवहार से शब्द में निहित अर्थ के संकेत की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

न्यायमत—शब्द के स्वरूप तथा शब्द में अर्थबोध के संकेत के सम्बन्ध में नैयायिकों की मान्यता यह है कि वर्णों का समूह ही शब्द है। उनके अनुसार वर्ण ही अर्थ-बोध में समर्थ होते हैं। यह अर्थबोधकता वर्णों में एक विशेष स्थिति में आती है। वर्णों का एक क्रम से उच्चारण होता है और प्रत्येक उच्चरित वर्ण श्रोता के मन पर अपना संस्कार छोड़ता जाता है। उन उच्चरित वर्णों के संस्कार की एक साथ स्मृति हो आने पर किसी शब्द के अर्थ का बोध होता है। पूर्व-उच्चरित वर्णों का संस्कार अन्तिम वर्ण के संस्कार से मिल कर एक इकाई के रूप में उपस्थित होता है, जिसे हम शब्द कहते हैं और उस वर्णसमूहात्मक पद से एक निश्चित अर्थ का बोध होता है। अतः जयन्त भट्ट की मान्यता है कि वर्णसमूह से स्वतन्त्र वैयाकरणों के शब्दस्फोट की सत्ता की कल्पना आवश्यक नहीं।[1]

---

१. इतोऽपि नानुमानम्, देशविशेषेषु अर्थव्यभिचारात्। न धूमो वह्निं व्यभिचरति शब्दस्तु स्वार्थं व्यभिचरति।—न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० २१४

२. वही, पृ० २१४.

३. श्रोत्रग्राह्यवस्तुकरणिका तदर्थप्रतीतिरभिधानक्रिया इत्थं लोके व्यवहारात्, उक्तोऽभिहितश्च स एवार्थो लोके व्यपदिश्यते × ×।
—जयन्त, न्यायमं० १ पृ० १३८।

शब्द से अर्थ-बोध का कारण, नैयायिकों की दृष्टि में, आप्तोपदेश या लोक-व्यवहार है। गौतम ने न्यायसूत्र में कहा है कि आप्तोपदेश के सामर्थ्य से शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का बोध होता है। हम प्रत्यक्षतः यह देखते हैं कि लोक-व्यवहार में भाषा सीखने वाले उन लोगों की बात को प्रमाण मान कर किसी शब्द का अर्थ समझते हैं जिन्हें उस भाषा का पहले से ज्ञान रहता है। बच्चों को माता-पिता या शिक्षक जिस शब्द का जो अर्थ बता देते हैं उसे वे मान लेते हैं। व्यवहार में आवाप-उद्वाप से भी शब्दविशेष से अर्थविशेष का जो बोध होता है उसमें भी आप्तवचन या वृद्धव्यवहार ही प्रमाण होता है। एक भाषा का ज्ञान रखने वाले प्रौढ व्यक्ति भी जब नयी भाषा सीखते हैं, तो उस नयी भाषा का ज्ञान रखने वाले आप्तजनों की बात को ही प्रमाण मान कर उस भाषा के शब्दों का अर्थ समझते हैं। कोश से अर्जित किया जाने वाला शब्दार्थज्ञान भी आप्तवचन पर ही आधृत रहता है।

प्रश्न यह उठता है कि भाषा का प्रामाणिक ज्ञान रखने वाले व्यक्तियों के व्यवहार को प्रमाण मान कर हम शब्दार्थ का ज्ञान अर्जित करते हैं, यह तो अनुभव-सिद्ध है, पर जब भाषा की आदि सृष्टि हुई होगी, और किसी भी व्यक्ति को उसका ज्ञान नहीं रहा होगा, कोई भी व्यक्ति शब्दविशेष में अर्थविशेष के संकेत से परिचित नहीं रहा होगा, उस समय लोगों ने किस से शब्दविशेष में निहित अर्थ-विशेष के संकेत का ज्ञान प्राप्त किया होगा? विकासवाद में किसी ऐसी स्थिति या किसी ऐसे व्यक्ति की कल्पना नहीं की जाती। उसमें किसी वस्तु को कालक्रम में चलने वाली सहज विकास-प्रकिया का प्रतिफलन माना जाता है। अतः विकास वाद के सिद्धान्त के अनुसार यह प्रश्न ही निराधार है, पर सृष्टि के मूल में चेतन परोक्ष सत्ता में विश्वास करने वाले विश्व के अनेक आस्तिक विचारकों ने भाषा का निर्माता ईश्वर को माना है और शब्द-विशेष में अर्थविशेष के बोध की शक्ति को भी ईश्वर की इच्छा से आरोपित माना है। वायबिल में शब्द में अर्थ का संकेत ईश्वर के द्वारा आरोपित बताया गया है। भारतीय दर्शन में भी अनेक विचारकों ने ऐसी ही मान्यता व्यक्त की है। इसी आधार पर संकेत की परिभाषा में कहा गया है कि 'अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझा जाना चाहिए, इस प्रकार की ईश्वरेच्छा ही संकेत है'। अस्तु, नैयायिक भी यह मानते हैं कि ईश्वर ने शब्दविशेष में अर्थ-विशेष के बोध की शक्ति दी है। अब प्रश्न यह होगा कि असंख्य ऐसे शब्दों और उनके वाच्य अर्थों का नव-निर्माण होता रहता है, जिनका संकेत भाषिक व्यवहार में एक व्यक्ति या अनेक व्यक्ति एक साथ मिल कर, निर्धारित किया करते हैं। इस प्रत्यक्ष तथ्य की उपेक्षा कर ईश्वर के द्वारा संकेत के निर्धारण के अप्रत्यक्ष तथ्य की कल्पना करना क्या उचित होगा? जयन्त भट्ट शायद इस

समस्या से परिचित थे। इसलिए उन्होंने नैयायिक विचारकों के प्रतिनिधि के रूप में अपनी यह मान्यता व्यक्त की है कि आदि भाषा में ईश्वर ने शब्द-विशेष में अर्थविशेष के बोध का संकेत निर्धारित किया था।[1]

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में नैयायिकों की यह मान्यता है कि शब्द और अर्थ के बीच संयोग, कार्य-कारण, आश्रयाश्रयी भाव आदि सम्बन्ध नहीं रहते। उनमें अविनाभाव सम्बन्ध भी नहीं रहता, जो अनुमान का आधार होता है। अतः शाब्दबोध को अनुमान ज्ञान में अन्तर्भुक्त नहीं माना जा सकता। शब्द और अर्थ के बीच उक्त सम्बन्धों के सिद्ध नहीं होने पर भी इतना तो अनुभव-सिद्ध ही है कि शब्द-अर्थ में कुछ सम्बन्ध अवश्य है। तभी तो शब्दविशेष से अर्थ-विशेष का नियमित ज्ञान हुआ करता है। सम्बन्ध का सर्वथा अभाव होता तो शब्द और अर्थ में कोई नियम नहीं रहता; किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का बोध हो जाता पर ऐसा नहीं होता। नैयायिकों के मतानुसार शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक का निर्धारण समय अर्थात् संकेत करता है। यह समय या संकेत ही शब्द-अर्थ का सम्बन्ध है। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ही एक बार शब्द और अर्थ के बीच संकेतरूप सम्बन्ध का निर्धारण कर देता है।[2]

इस प्रकार, जहाँ मीमांसक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अनादि और नित्य मानते हैं, वहाँ नैयायिक उसे आरोपित मानते हैं। शब्द और अर्थ के बीच सहज, नित्य या प्राप्तिरूप सम्बन्ध (अर्थात् शब्द और अर्थ की एक साथ उपस्थिति होने का सम्बन्ध) के खण्डन में नैयायिकों की युक्ति यह है कि शब्द और अर्थ में देश-काल का भेद अनुभवसिद्ध है। शब्द कान से गृहीत होते हैं, अर्थ आँख आदि से। शब्द मुँह में रहते हैं, अर्थ बाहर। शब्द वर्तमान काल में सुने जाते हैं और उनके वाच्य अर्थ अतीत या अनागत भी हो सकते हैं। गौतम का कथन है कि मिठाई शब्द कहने से मुँह मिठाई से नहीं भर जाता, आग कहने से आग की दाहकता का अनुभव नहीं हो जाता तथा तलवार आदि शब्द का उच्चारण करने से मुँह कट नहीं जाता, अतः शब्द-अर्थ में प्राप्तिरूप सम्बन्ध नहीं।[3] इसलिए

---

१. × × पुरुषपरिघटित समयसम्बन्धव्यतिरेकेण शब्दादर्थप्रत्ययानुपपत्तेः।
जयन्त, न्यायमं० पृ० २२०।

तथा—तस्मादीश्वरविरचितसम्बन्धाधिगमोपायभूतवृद्धव्यवहारलब्धतद्व्युत्पत्तिसापेक्ष शब्दोऽर्थमवगमयतीति सिद्धम्। —वही पृ० २२५।

२. द्रष्टव्य—जयन्त, न्यायमं० पृ० २२०-२५।

३. द्रष्टव्य—गौतम, न्यायसूत्र।

नैयायिकों की मान्यता है कि शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध ही रहता है, प्राप्तिरूप सम्बन्ध नहीं। उनकी युक्ति है कि किसी भी प्रमाण से इस नित्य या प्राप्तिरूप सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती, और जिसकी सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं, उसकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। वात्स्यायन ने न्यायसूत्र के भाष्य में यह दिखाने का प्रयास किया है कि प्रत्यक्ष आदि जितने प्रमाण मान्य हैं, उनमें से किसी भी प्रमाण से शब्द और अर्थ के सहज, नित्य या प्राप्तिरूप सम्बन्ध की सिद्धि नहीं होती।

शब्द और अर्थ को अभिन्न मानने वाले सिद्धान्त के खण्डन के लिए नैयायिकों ने यह युक्ति दी है कि इस नित्य प्राप्तिरूप सम्बन्ध की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं होती। शब्द और अर्थ में प्राप्तिरूप सम्बन्ध के सिद्ध नहीं होने पर उनमें स्वाभाविक प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध भी सिद्ध नहीं होता। हम प्रत्यक्षतः शब्द और अर्थ की एकत्र प्राप्ति नहीं देखते। यदि दोनों में ऐसा सम्बन्ध मानें तो उसे अतीन्द्रिय मानना पड़ेगा, क्योंकि जिस इन्द्रिय से शब्द का प्रत्यक्ष होता है, उससे उस शब्द के वाच्य अर्थ का ग्रहण नहीं होता, फिर ऐसे भी अर्थ होते हैं जिनका किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता। उन्हें शब्द प्रमाण का ही विषय माना जा सकता है। दो वस्तुओं में प्राप्तिरूप सम्बन्ध का प्रत्यक्ष तभी हो सकता है जब दोनों वस्तुएँ समान इन्द्रिय से ग्राह्य हों। एक ही इन्द्रिय से (आँख से) ग्राह्य दो उँगलियों में प्राप्ति या संयोग सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण आँख के द्वारा होता है, पर भिन्न इन्द्रियों से ग्राह्य वायु और वृक्ष में प्राप्ति या संयोग सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। शब्द और अर्थ चूँकि अलग-अलग इन्द्रियों से ग्राह्य हैं, अतः उनमें प्राप्तिरूप सम्बन्ध का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। वह अतीन्द्रिय है और प्रत्यक्ष प्रमाण से उसकी सिद्धि नहीं हो सकती।[1]

यदि यह कहा जाय कि शब्द और अर्थ के प्राप्तिरूप सम्बन्ध की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है, तो प्रश्न होगा कि शब्द के निकट अर्थ रहता है, या अर्थ के निकट शब्द रहता है अथवा शब्द और अर्थ, दोनों एक-दूसरे के स्थान पर रहते हैं? तात्पर्य यह कि शब्द से ही उसके साथ उसके वाच्य अर्थ की उपस्थिति मानी जायगी, या अर्थ से उसके साथ ही उसके वाचक शब्द की प्राप्ति मानी जायगी, अथवा यह माना जायगा कि शब्द और अर्थ परस्पर प्राप्तिसम्बन्ध-विशिष्ट होते हैं, अतः शब्द के साथ अर्थ की भी उपस्थिति होती है और अर्थ के साथ शब्द की भी प्राप्ति होती है?

---

१. द्रष्टव्य—जयन्त न्यायमं १, पृ० २२२।

यदि शब्द और अर्थ; दोनों की एक-दूसरे के साथ ही उपस्थिति मानी जाय तो उसमें आपत्ति यह है कि अन्न शब्द का उच्चारण करने से अन्न से मुँह भर क्यों नहीं जाता, आग कहने से मुँह जल क्यों नहीं जाता और तलवार कहने से जीभ कट क्यों नहीं जाती? दूसरी बात यह कि शब्द-अर्थ में देश-काल का जो भेद रहता है वह भी दोनों के परस्पर साथ उपस्थित होने के मत का बाधक है। वर्ण-समूहात्मक शब्द की उत्पत्ति कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थान तथा करण के विभिन्न प्रयत्नों से होती है, पर शब्द का वाच्य अर्थ कण्ठ, तालु आदि स्थानों में नहीं रहता। अतः अनुमान प्रमाण से भी शब्द और अर्थ के परस्पर प्राप्तिरूप सम्बन्ध की (अर्थात् जहाँ शब्द रहे वहाँ उसका वाच्य अर्थ भी रहे और जहाँ अर्थ रहे वहाँ उसका वाचक शब्द भी रहे इस रूप के सम्बन्ध की) सिद्धि नहीं होती।[1]

यदि यह माना जाय कि अर्थ के निकट उसका वाचक शब्द रहता है तो इस मत में यह आपत्ति होगी कि अर्थ के आधारभूत भूतल आदि स्थान पर शब्द का उच्चारण नहीं होता। शब्द के उच्चारण का जो स्थान, करण और प्रयत्न होता है उसकी उपपत्ति अर्थ के निकट नहीं होती। इसी युक्ति से इस विकल्प का भी खण्डन हो जाता है कि शब्द के निकट अर्थ रहता है। अर्थ के निकट शब्द के सद्भाव तथा शब्द के निकट अर्थ के सद्भाव के सिद्धान्त के खण्डित हो जाने पर यह मत स्वतः खण्डित हो जाता है कि दोनों परस्पर एक दूसरे के निकट रहते हैं। अतः शब्द और अर्थ में परस्पर प्राप्तिरूप सम्बन्ध अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

उपमान प्रमाण या शब्द प्रमाण से शब्द और अर्थ में प्राप्ति-सम्बन्ध की सिद्धि की तो कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। वैशेषिक मतावलम्बी तो उपमान तथा शब्द प्रमाण को अनुमान प्रमाण में ही अन्तर्भुक्त मानते हैं। शब्द और अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं किया जा सकता, चूँकि दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है। अनुमान से शब्द और अर्थ में प्राप्तिरूप सम्बन्ध के सिद्ध नहीं होने पर उपमान और शब्द प्रमाण से भी उसकी सिद्धि नहीं मानी जा सकती।[2]

महर्षि गौतम की मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुए उद्योतकार ने यह युक्ति दी है कि शब्द के निकट अर्थ रहता है अथवा अर्थ के निकट शब्द रहता है, इन दो पक्षों के विरुद्ध यह प्रश्न उठता है कि क्या जिस स्थान पर शब्द उत्पन्न होता है,

---

१. द्रष्टव्य—जयन्त, न्यायमञ्जरी, १ पृ० २२०-२५।
२. वही

उस स्थान पर अर्थ उपस्थित होता है ? यानी उस स्थान पर अर्थ का आगमन होता है ? या जहाँ अर्थ रहता है, वहाँ शब्द आगमन करता है ? शब्द के निकट अर्थ का आगमन होता है, यह मान्यता लोकव्यवहार का खण्डन करती है। लड्डू आदि मूर्तिमान पदार्थ शब्द का उच्चारण करने से मुँह में नहीं आ जाते। अर्थ के निकट शब्द के आगमन की मान्यता भी निर्मूल है। शब्द गुण पदार्थ है, जिसमें गति की कल्पना नहीं की जा सकती। गति केवल द्रव्य पदार्थ में रह सकती है।[1]

स्पष्टतः लड्डू आदि के उदाहरण से शब्द-अर्थ का जो भिन्नाश्रयत्व दिखाया गया है उसमें अर्थ का अर्थ शब्द से निर्दिष्ट होने वाली लौकिक वस्तु को मान लिया गया है, जो उचित नहीं। वस्तु का बोध करानेवाले शब्दों का अर्थ भी उनसे निर्दिष्ट होने वाली वस्तु से स्वतन्त्र सत्ता रखता है।

यदि यह कहा जाय कि अर्थ के निकट शब्द का आगमन नहीं होता वरन् वहाँ शब्द की उत्पत्ति हो जाती है तो इसके उत्तर में उद्योतकार की युक्ति यह होगी कि इस पूर्वपक्ष को मानने वाले मीमांसक आदि जब शब्द अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध मानते हैं तथा शब्द को नित्य मानते हैं, तब नित्य शब्द की उत्पत्ति मानना आत्म-घाती युक्ति ही होगी। यदि शब्द को नित्य तथा शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को स्वाभाविक मानने वाले मीमांसक यह कहें कि अर्थ के स्थान पर न तो शब्द आगमन करते हैं और न वहाँ उत्पन्न होते हैं, बल्कि वहाँ अभिव्यक्त होते हैं, तो यह मत भी उद्योतकार के अनुसार मान्य नहीं। इस प्रकार उद्योतकार ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि शब्द और अर्थ में प्राप्तिरूप सम्बन्ध की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती। उनमें स्वाभाविक प्रतिपाद्य-प्रदिपादक भाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता। स्वाभाविक सम्बन्ध के सिद्ध नहीं होने पर उनमें व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध भी असिद्ध हो जाता है। अतः शब्द को अनुमान प्रमाण के रूप में जो स्वाभाविक सम्बन्ध-विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादक माना गया है और उसे अनुमान प्रमाण में अन्तर्भूत माना गया है, वह युक्तिसंगत नहीं।[2]

शब्द और वाक्य के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में नैयायिकों की मान्यता यह है कि शब्द भाषा की अर्थवान् मूल इकाई हैं और उन शब्दों के विशिष्ट योग से वाक्य की रचना होती है। अतः उनके मतानुसार वाक्य और वाक्यार्थ की, पद और पदार्थ से स्वतन्त्र सत्ता नहीं। अर्थबोध का संकेत शब्द में ही रहता है, वाक्य में नहीं। इस मान्यता पर हम 'अभिहितान्वयवाद' के विवेचनक्रम में विस्तार से विचार करेंगे।

---

१. गौतम, न्यायमूत्र पर उद्योत टीका।
२. वही

नैयायिकों के शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक चिन्तन को सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—वे वर्णसमूह को ही शब्द मानते हैं। उनके मतानुसार नियत क्रम से उच्चरित वर्णों का संस्कार अन्तिम वर्ण के संस्कार के साथ मिल कर शब्द के स्वरूप का निर्माण करता है।

नैयायिक शब्द और अर्थ में नित्य, स्वाभाविक या प्राप्तिरूप सम्बन्ध नहीं मानते। आप्तवचन या वृद्धव्यवहार से शब्द-विशेष में अर्थविशेष के बोध का संकेत उन्हें मान्य है। वे यह भी मानते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर की माया से शब्दविशेष में अर्थविशेष के बोध की शक्ति आयी, पर अब भाषा में लोकव्यवहार से ही शब्द का संकेत निर्धारित होता है।

नैयायिकों के अनुसार शब्द और शब्दार्थ के समूह से ही वाक्य और वाक्यार्थ का स्वरूप घटित होता है। वाक्य एवं वाक्यार्थ की पद तथा पदार्थ से स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

भाषाशास्त्रीय चिन्तन में यह एक गम्भीर समस्या है कि एक क्रम से उच्चरित होने वाले वर्णों के समूह के रूप में किसी पद के स्वरूप का बोध कैसे सम्भव होता है! वर्णों के संस्कार के समूहात्मक बोध की कल्पना से इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, पर प्रश्न यह है कि अन्तिम वर्ण कौन-सा है, इसका निर्णय कैसे होगा? यदि पद के अन्तिम वर्ण का ज्ञान हमें होता है तो यह मानना पड़ेगा कि हमें पद के स्वरूप का पहले से ज्ञान रहता है। वैयाकरणों ने यही माना है। उन्होंने बुद्धिस्थ शब्द की पूर्वसत्ता मान कर वर्णों से उसकी अभिव्यक्ति मानी है, पर नैयायिकों को शब्द के पूर्व-ज्ञान का सिद्धान्त मान्य नहीं। ऐसी स्थिति में उनके सामने यह समस्या रखी जा सकती है कि हम वर्णों के संस्कार में से प्रथम वर्ण, अन्तिम वर्ण आदि का निर्णय कैसे कर लेते हैं? उदाहरण के लिए क, ल, म; इन वर्णों के क्रम में हम किसे अन्तिम वर्ण मानेंगे और उसे अन्तिम वर्ण मानने का क्या आधार होगा? 'ल' को अन्तिम वर्ण मानने पर 'कल' शब्द बनता है और 'म' को अन्तिम वर्ण मानने पर 'कलम' शब्द। दोनों ही सार्थक शब्द हैं। ध्यातव्य है कि 'कलम' शब्द के बोध में कल शब्द के बोध का स्पर्श भी नहीं रहता। उसमें क, और 'ल' अपने अस्तित्व को 'म' के साथ विसर्जित कर ही बोध का विषय बनते हैं। इसीलिए नैयायिकों ने अन्तिम वर्ण को प्रधान मान कर उसी से शब्द के बोध का सिद्धान्त स्वीकार किया है, पर तथ्य यह है कि अन्तिम वर्ण का निर्धारण वक्ता की विवक्षा के आधार पर ही किया जा सकता है। इस समस्या का यह भी समाधान प्रस्तुत किया जा सकता

है कि वर्ण-समूह का एक इकाई के रूप में उच्चारण होने से उतने वर्णों का एक साथ एक शब्द के रूप में ग्रहण होता है, भले ही उन वर्णों का बोध एक निश्चित क्रम से ही होता हो। कल शब्द के उच्चारण में क और ल की इकाई का बोध निहित रहता है तथा कलम के उच्चारण में क, ल और म; तीनों की इकाई का। इसी प्रकार अँग्रेजी में I, S, I, T, इन वर्णों से I sit तथा Is It; इन शब्दों का निर्माण होता है। वर्णों में अभिन्नता तथा क्रम में समता होने पर भी वर्णों की इकाई के भेद के कारण उक्त भेद है। वर्णों की पृथक्-पृथक् इकाई की विवक्षा अलग-अलग अर्थ के बोध की दृष्टि से ही हुआ करती है। अतः पद का स्वरूप बहुत हद तक अर्थ-सापेक्ष होता है। इसीलिए वैयाकरणों ने शब्द-अर्थ में अभेद का सिद्धान्त माना है। कारनेप आदि ने यह कह कर कि 'यदि आप शब्द जान लेते हैं, तो उसका अर्थ भी जानते हैं,' शब्द और अर्थ के बोध की सापेक्षता के सिद्धान्त का ही समर्थन किया है। नैयायिकों ने शब्द और अर्थ को परस्पर स्वतन्त्र मान कर वर्ण-समूह को शब्द मानने का तथा पूर्व-उच्चरित वर्णों के संस्कार की अन्तिम वर्ण के साथ स्मृति से अन्विति के द्वारा शब्द के स्वरूप-बोध का जो सिद्धान्त स्थापित किया है, उसके अनुसार इस समस्या का समाधान नहीं हो पाता कि वर्णों में से अन्तिम वर्ण का निर्णय हम कैसे करते हैं। उसके लिए बुद्धिस्थ शब्द की स्वीकृति आवश्यक है, चाहे शब्द का वह बोध बुद्धि में व्यवहार से ही निहित माना जाय। वर्ण बुद्धि में स्थित शब्द का उद्घाटन करते हैं। नये शब्दों का बोध वर्णों के उच्चारण की इकाई के आधार पर होता है, जिसका प्रयोग वक्ता किसी निश्चित अर्थ के लिए करता है।

लोकव्यवहार से शब्दविशेष में अर्थविशेष के संकेत की जो धारणा नैयायिकों ने व्यक्त की है उसमें उनकी भाषावैज्ञानिक दृष्टि का प्रमाण मिलता है। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा के द्वारा शब्द में संकेत के आरोप का सिद्धान्त न भी माना जाय तो भी आप्त-उपदेश या वृद्धव्यवहार से शब्द में अर्थ-बोध के संकेत का स्पष्टीकरण हो जाता है। भाषा लोकव्यवहार में ही विकसित होती है।

पद को भाषा की मूल इकाई मानने वाला सिद्धान्त विवादास्पद है। इस पर हम अभिहितान्वयवाद के विवेचन-क्रम में विस्तार से विचार करेंगे।

बौद्धमत—वैशेषिक मतानुयायियों की तरह बौद्ध विचारक भी शब्द और अर्थ में अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध मानते हैं। उनके अनुसार शब्द अनुमापक है और अर्थ अनुमाप्य। तात्पर्य यह कि शब्द-विशेष से जो अर्थ-विशेष का बोध होता है,

वह बौद्ध विचारकों के मतानुसार, अनुमान-रूप होता है।[1] विज्ञान को एकमात्र तत्त्व मानने वाले बौद्ध विचारकों की दृष्टि में शब्द और अर्थ के बीच अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई दूसरा सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता। उनके मतानुसार किसी भी बाह्य वस्तु की तात्त्विक सत्ता नहीं। जब बाह्य वस्तु या अर्थ की सत्ता ही नहीं तब उससे शब्द के सम्बन्ध की कल्पना कैसे की जा सकती है? शब्द-बोध्य अर्थ, उनकी दृष्टि में एक तार्किक संरचना या मानस विकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

प्रमाणवार्तिक में धर्मकीर्ति ने बाह्य पदार्थ के अस्तित्व का खण्डन करते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि वस्तुओं का सूक्ष्म विज्ञान रूप ही सिद्ध है, उनका स्थूल भौतिक रूप असिद्ध। बाह्य वस्तुओं के रूप गुण में परिवर्तन या विनाश का ऐसा अनवरत चलने वाला क्रम है कि कोई भी वस्तु क्षणभर के लिए भी अपने एक रूप में स्थिर नहीं रह पाती। ऐसी स्थिति में वस्तु के किस रूप को सत्य माना जायगा? जब तक किसी वस्तु के स्वरूप पर विचार किया जाय तब तक उस वस्तु का वह रूप ही मिट चुका होता है। फलतः किसी वस्तु का कोई स्थिर बाह्य रूप विचार में लाया ही नहीं जा सकता। अतः बौद्ध विचारकों की मान्यता है कि बाह्य पदार्थ के जो आकार-प्रकार हैं, वे ग्राह्य और ग्राहक के आकार से भिन्न कुछ नहीं हैं। ग्राह्य और ग्राहक निराकार विज्ञान के ही दो रूप हैं। वह विज्ञान तत्त्वतः एक है। पदार्थ वस्तुतः आकार-प्रकार से शून्य होते हैं। इस युक्ति से शून्यवादी बौद्ध विचारक पदार्थ को निराकार मानते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि बाह्य पदार्थ के रूप में अवभासित होने वाले विज्ञान में जो बाह्य पदार्थ का स्वरूप अवभासित होता है, उसकी सत्ता को अस्वीकार कर यदि पदार्थ-मात्र को निराकार माना जाय तो चक्षु आदि से उसका ग्रहण कैसे सम्भव माना जायगा? व्यावहारिक तथ्य यह है कि बाह्य पदार्थ का ग्रहण इन्द्रियों से होता है। यदि पदार्थ निराकार हो तो नेत्र से उसका ग्रहण सम्भव नहीं होगा। नेत्र आकार-प्रकार को ही ग्रहण करता है। घड़ा देख कर हम उसके आकार-प्रकार को ही ग्रहण करते हैं, किसी निराकार वस्तु को नहीं। फिर घड़े को—घड़ा नाम के पदार्थ को—आकार-प्रकार से शून्य कैसे माना जा सकता है?

धर्मकीर्ति ने इस प्रश्न का उत्तर इस युक्ति से दिया है कि वस्तुओं के प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले आकार-प्रकार तात्त्विक नहीं होते। उदाहरणार्थ जब कोई जादूगर किसी की दृष्टि को मन्त्र से बाँध देता है तब उस व्यक्ति को आँखों के सामने पड़ा

---

१. : तत्रानुमानमेवेदं बौद्धवैशेषिकैः स्मृतम्।—श्लोकवार्तिक वा. १५.

हुआ मिट्टी का लोंदा जादूगर के द्वारा इच्छित किसी वस्तु के रूप में दिखायी पड़ने लगता है। दिखायी पड़ने वाली वस्तु का वह रूप तात्त्विक नहीं होता। वस्तुतः मिट्टी का लोंदा उस दीख पड़ने वाली वस्तु के रूप से शून्य होता है।[1] बाहर और भीतर एक ही विज्ञानतत्त्व है, जो ग्राह्य और ग्राहक के आकार में विभक्त होकर अवभासित होता है। इस तथ्य पर ध्यान नहीं देकर लोग लोक-व्यवहार का अन्धानुसरण करते हैं। अतः तत्त्व-ज्ञानियों को भी व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से बाह्य वस्तुओं का विवेचन करना पड़ता है।[2] बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं होने के कारण उसके साथ शब्द के सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती।

इस प्रकार बौद्ध विचारकों के शब्दार्थ-चिन्तन का निष्कर्ष यह है कि शब्द से अर्थ का बोध अनुमान-रूप होता है। शब्द-अर्थ के बीच अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता।

हम वैशेषिक विचारकों की मान्यता के परीक्षण-क्रम में शाब्दबोध को अनुमानरूप मानने वाले मत के औचित्य की परीक्षा कर चुके हैं। शाब्दबोध का यह रूप नहीं होता कि 'हमें अमुक शब्द से अमुक अर्थ का अनुमान होता है।' अतः शाब्दबोध के सन्दर्भ में अनुमानवाद का सिद्धान्त अनुभवसिद्ध नहीं। शब्द और अर्थ में भाषिक परम्परा से प्राप्त सम्बन्ध का सर्वथा अभाव मानना भी उचित नहीं। ऐसा होता तो भाषा में शब्द-विशेष से अर्थविशेष के बोध की व्यवस्था ही नहीं रह पाती।

शैव आगम और तन्त्र में शब्दार्थ-सम्बन्ध-निरूपण :—प्रत्यभिज्ञा दर्शन के प्रवक्ता शैव दार्शनिकों ने वैयाकरणों की तरह ही, शब्द और अर्थ में अविभाज्य सम्बन्ध माना है। उनकी दृष्टि में अर्थ शिव हैं और वाणी शक्ति। अभिनवगुप्त की मान्यता है कि शक्ति शक्तिमान से तत्त्वतः अभिन्न होती है। जैसे अग्नि और उसकी दाहक शक्ति में कोई तात्त्विक भेद नहीं, उसी तरह परम शिव और विमर्शशक्ति में कोई भेद नहीं।[3]

---

१. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, ३, ३५३-५५

२. वही, ३, २१९

३. शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव॥—बोधपंचदशिका—३.

तन्त्र शास्त्र में शब्द-अर्थ के अभेद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। तन्त्र में समस्त अभिव्यक्ति को शब्दमय माना गया है। यह समग्र सृष्टि अभिव्यक्ति है। यह शब्दात्मा है। वाक् ही समस्त सृष्टि का मूल है। इस नामरूपात्मक जगत और वाणी की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया अभिन्न है। विश्व की तीन अवस्थाओं में—निष्कल, निष्कल-सकल और सकल अवस्थाओं में—उस वाक्रूपिणी परा शक्ति की ही अभिव्यक्ति होती है। मूल निष्कल अवस्था शब्दातीत है। निष्कल-सकल का मिलन-बिन्दु स्फुरण अवस्था है। सकल अवस्था में पराशक्ति की नाम-रूपात्मक अभिव्यक्ति होती है। नाम और रूप—शब्द और अर्थ—क्रमशः शक्ति और शिव अंश के व्यक्त रूप हैं। शक्ति अंश और शिवांश पराशक्ति के ही अंश हैं। अतः वे तत्त्वतः अभिन्न हैं। अभिव्यक्ति की प्रकिया में वे भिन्न-भिन्न दिखायी अवश्य पड़ते हैं, पर वस्तुतः हैं अभिन्न। वाणी की सृष्टि को शक्तिविमर्श और अर्थमय सृष्टि को शिव-विमर्श कहा गया है।

पराशक्ति की अभिव्यक्ति की तांत्रिक धारणा संक्षेप में इस प्रकार है—पराशक्ति जब स्वगर्भस्थ प्रकाशरूप विश्व को देखने के लिए उन्मुख होती है तब मात्राविशिष्ट शक्ति और शिव समभाव से एक बिन्दु के रूप में परिणत होते हैं और उससे प्रतिफलित परम चैतन्य ज्योतिर्लिंग के रूप में प्रकट होता है। शक्ति और शिव का—वाक् और अर्थ का—यह मिलन-बिन्दु 'कामरूप पीठ' कहलाता है। इस पीठ में अभिव्यक्त चैतन्य को स्वयंभूलिंग कहते हैं। यह शक्ति-पीठ एक मात्रा शक्ति-अंश और एक मात्रा शिव-अंश के सम-भाव से संघटित होता है। शक्ति और शिव के इन दो अंशों को शान्ता शक्ति और अम्बिका शक्ति कहा गया है। इस कामरूप पीठ में महाशक्ति का आत्मप्रकाश परावाक् के रूप में होता है। शक्ति के विकास के अगले चरण में शान्ता शक्ति 'इच्छा' शक्ति के रूप में तथा शिव का अंश अम्बिका शक्ति 'वामा' शक्ति के रूप में आविर्भूत होती है। इन दोनों शक्तियों की समरसता होने पर जिस बिन्दु का आविर्भाव होता है उसे 'पूर्णगिरि पीठ' कहते हैं। इस पीठ में दोनों शक्तियों के सामरस्य से तदनुरूप चैतन्य का स्फुरण होता है। इस चिद्विकास को वाग्लिंग कहा जाता है, जो पश्यन्ती वाक् की अवस्था से अभिन्न है। शब्द-तत्त्व की मूल अवस्था में अर्थात् कामरूप पीठ में परा-शक्ति आत्मगर्भस्थ विश्व को नित्य और अखंड रूप में देखती है, जिसमें देश-काल का भेद नहीं होता। यह शान्तिमय अवस्था है, जहाँ किसी प्रकार का आवरण नहीं, कोई विक्षोभ नहीं। इस अवस्था के बाद इच्छाशक्ति का उन्मेष होने पर शब्द के दूसरे विकास-चरण में सृष्टि का विकास होता है, जिसे नित्यमंडल कहा गया है। यही शक्ति-गर्भस्थ बीजभूत विश्व है। इस भूमि से काल के प्रभाव के कारण सृष्टि-क्रिया क्रमानुसार होने लगती है। यहीं से देशगत भेद

और कार्य-कारण भाव का स्फुरण होता है। इसकी परावस्था में इच्छाशक्ति का उपराम होने पर ज्ञानशक्ति उद्भूत होती है और शिवांश ज्येष्ठाशक्ति के साथ अद्वैत भाव में मिलकर जलंधर पीठ-रूप सामरस्य बिन्दु की सृष्टि करता है। इस बिन्दु से अभिव्यक्त चैतन्य इतरलिंग नाम से अभिहित होता है। शक्ति के इस स्तर में मध्यमा वाक् का आविर्भाव होता है। इसके प्रभाव से निर्मित सृष्टि तत्तद्भाव में स्थित रहती है। जब स्थिति-शक्ति क्षीण पड़ जाती है, तब अन्तर्मुख आकर्षण की प्रबलता के कारण संहारशक्ति की क्रिया आरम्भ होती है। इस अवस्था में ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होकर शिवांशभूत रौद्री-शक्ति के साथ साम्य भाव प्राप्त कर लेती है। इसे 'उड्डीयमान पीठ' कहते हैं। इस बिन्दु से चित्-शक्ति की अभिव्यक्ति महा तेजस्, सम्पन्न परलिंग-रूप में होती है। यह शब्द की 'वैखरी' नामक चतुर्थ भूमि है। यह संहारशील क्षय-धर्मक जगत, जिसका हम अनुभव करते हैं, वैखरी शब्द की ही विभूति है।[1]

सृष्टि-विकास के सम्बन्ध में उक्त तांत्रिक दृष्टि का उल्लेख पुराण साहित्य में भी उपलब्ध है, जिसमें वाणी को शक्तिरूपा और अर्थ को शिवरूप माना गया है।[2]

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ने समग्र नामरूपात्मक सृष्टि की विकास-प्रक्रिया को शब्द-तत्त्व के विकास की अवस्थाओं से अभिन्न बताते हुए लिखा है—"पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, शब्द की जिन तीन अवस्थाओं के विषय में कहा गया है, वही प्रणव के 'अ'कार 'उ'कार और 'म'कार हैं अथवा ऋक्, यजु और साम, इस वेदत्रय के रूप में ज्ञानी की दृष्टि में प्रतिभात होते हैं। त्रिलोक, त्रिदेवता, त्रिकाल प्रभृति अखंड परावाक् अथवा तुरीयवाक् का ही त्रिविध परिणाम-मात्र है। बिन्दु-गर्भित जो महात्रिकोण समस्त विश्वब्रह्माण्ड के मूल रूप में शास्त्रों में सर्वत्र व्याख्यात हुआ है, वह इसी चतुर्विध शब्द के सम्बन्ध से प्रकटित होता है। इस त्रिकोण की तीन रेखाएँ पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीरूप तीन प्रकार के शब्द—सृष्टि, स्थिति और संहाररूप, तीन प्रकार के व्यापार—वामा, ज्येष्ठा और रौद्री क्रिया; ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप तीन प्रकार के शिवांश अथवा इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप तीन शक्त्यंश के प्रतिनिधियाँ हैं।[3]

---

१. द्रष्टव्य—महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज लिखित 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि'। पृ० ७४-७५

२. शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥—वायुपुराण।
महाभारत में जगत को नादमय माना गया है। नाद से जगत की उत्पत्ति, उसी में स्थिति और उसी में विलयन का सिद्धान्त प्रतिपादित है।

३. म० म० गोपीनाथ कविराज, तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ७४-७५

स्पष्ट है कि शैव आगम तथा तन्त्र शास्त्र में शब्द-अर्थ का अविच्छेद्य सम्बन्ध माना गया है, जिस सिद्धान्त का व्याकरण दर्शन में विस्तृत विवेचन किया गया है। उल्लेख्य है कि वेदों में भी वाग्देवी लोकों की रचना के हेतु और सृष्टि में व्यापक तत्त्व के रूप में वर्णित है।[1]

निष्कर्ष यह कि वाक् को मूल चेतन सत्ता मान कर जगत को उसी शब्दतत्त्व की अर्थात्मा अभिव्यक्ति मानने वाले विचारकों की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है, जबकि दूसरी ओर इसके विपरीत, शब्द और अर्थ की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले विचारकों की भी लम्बी परम्परा है, जिनकी मान्यता है कि शब्द और अर्थ का पारस्परिक सम्बन्ध अनित्य और सामयिक है, जो लोक-व्यवहार-साधन के लिए लोक-व्यवहार से ही स्थापित होता है। यह सम्बन्ध मानव समुदाय के समष्टि-मानस की क्रिया का प्रतिफलन होता है।

जैनमत—अणुवादी जैन दार्शनिकों की मान्यता है कि शब्द एक भौतिक तत्त्व है, जिसकी रचना अणुओं से हुई है। हाँ, शब्द का निर्माण करने वाले अणु सृष्टि के मूल-भूत अणुओं से—वायु, पृथ्वी आदि के अणुओं से—भिन्न हैं। शब्द की रचना, जैन दार्शनिकों के मतानुसार, ध्वनि के अणुओं से होती है। इस अणुवादी चिन्तन के विरोध में नैयायिकों ने चार युक्तियाँ दी हैं। पहली युक्ति यह कि यदि शब्द परमाणुओं के संघटन से निर्मित होता तो उसमें स्पर्श का गुण होना चाहिए। दूसरी, परमाणु-संघ होने पर उसमें अन्य अवरोधक तत्त्वों से अवरुद्ध होने की प्रकृति होती। तीसरी, शब्द में उसके घटक अंगों का बोध नहीं रहता और चौथी युक्ति यह कि परमाणु-संघटन होने पर उसके अन्य सूक्ष्म परमाणुओं से संघर्ष का भी अनुभव होना चाहिए, पर इनमें से कोई बात शब्द में नहीं पायी जाती। अतः शब्द का अणुवादी सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता।

जैन विचारकों ने प्रथम आपत्ति का उत्तर यह कह कर दिया है कि शब्द में स्पर्श का गुण तो रहता ही है, भले ही वह अन्य भौतिक वस्तुओं के स्पर्श-धर्म की तरह व्यक्त नहीं हो। हवा के रुख के साथ शब्द का दूर तक पहुँचना और उसके विपरीत दिशा में कम दूरी तक पहुँचना इसका प्रमाण है। फिर, हमें ध्वनि-यन्त्र से निकलने वाले शब्द का प्रत्यक्षीकरण होता ही है। अतः शब्द भी अन्य भौतिक तत्त्वों की तरह परमाणु-घटित है, यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। दूसरी आपत्ति के उत्तर में कहा गया है कि परमाणु-संचय में सर्वत्र अवरोध से रुद्ध हो जाने का धर्म नहीं होता। उदाहरण के लिए—चारो ओर से बन्द कमरे से गंध के परमाणुओं का बाहर आना तथा बाहर से उनका मकरे में

---

१. ऋग्वेद, १०-१०-१२५

प्रवेश करना अनुभव-सिद्ध तथ्य है। अतः यदि शब्द भी दीवार आदि से अवरुद्ध नहीं होता तो इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह परमाणु-संघ नहीं है। गंध-परमाणु के बन्द कमरे में आने जाने का कारण यदि परमाणुओं की सूक्ष्मता को माना जाय तो यही बात शब्द के परमाणुओं के सम्बन्ध में भी मानी जानी चाहिए। तीसरी आपत्ति का उत्तर जैन मतावलम्बियों ने इस युक्ति से दिया है कि अणु-संघ में सर्वत्र अवयवों का अनुभव आवश्यक नहीं। विद्युल्लता प्रकाश के अणुओं से संघटित है किन्तु उसके प्रकाश-कणों का स्वतन्त्र रूप में अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार यदि ध्वनि के अणुओं से संघटित शब्द में ध्वनि-खंडों का शब्द से पृथक् अनुभव नहीं होता तो इस आधार पर शब्द के ध्वनि-परमाणु-संचय होने के सिद्धान्त का खण्डन नहीं किया जा सकता। अवयवों का अनुभव नहीं होना उसके अस्तित्व के अभाव का प्रमाण नहीं। चौथी आपत्ति के विरुद्ध जैन आचार्यों का तर्क है कि जैसे गन्ध के परमाणु नासिका-विवर में, किसी अन्य परमाणु-संघटन-भूत भौतिक पदार्थ से—नाक के बाल आदि से—संघर्ष किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं उसी तरह परमाणु-संचय होने पर भी शब्द श्रोता के कान में सहज गति से प्रविष्ट हो जाता है। यदि नासिका-विवर में गंध-परमाणु के संघर्ष-रहित प्रवेश का कारण उन अणुओं की सूक्ष्मता को माना जाय तो यही बात शब्द परमाणुओं के सम्बन्ध में भी सही है।[1] इस प्रकार जैन विचारकों ने अपनी दार्शनिक मान्यता के अनुरूप शब्द को परमाणुओं से संघटित जड़ भौतिक तत्त्व माना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि शब्द को चेतना से अभिन्न मानने वाले वैयाकरणों को यह अणुवादी सिद्धान्त मान्य नहीं। वैयाकरणों ने जिस आधार पर नैयायिकों और वैशैषिक विचारकों की शब्द-धारणा को अस्वीकार किया है, उसी आधार पर जैन आचार्यों के शब्द-सिद्धान्त को भी अमान्य बताया है।

शब्द-अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अणुवादी चिन्तन का निष्कर्ष यह होगा कि शब्द और अर्थ दोनों परस्पर स्वतन्त्र भौतिक तत्त्व हैं। व्यवहार में दोनों का सम्बन्ध जुड़ता है। अतः यह सम्बन्ध अनित्य है।

निष्कर्ष :—शब्द-अर्थ के सम्बन्ध-निरूपण के सन्दर्भ में भारतीय मनीषियों की विभिन्न दृष्टियों के विवेचन से प्राप्त निष्कर्ष संक्षेपतः इस प्रकार हैं :—

व्याकरण दर्शन के शब्दाध्यासवाद, शब्दपरिणामवाद तथा शब्द-विवर्तवाद में यत्किञ्चित् मतवैविध्य से स्फोट-रूप शब्द-अर्थ में नित्य अभेद सम्बन्ध माना गया है। अनित्य ध्वनि या वर्ण उस नित्य शब्द-स्फोट को व्यक्त करते हैं जहाँ शब्द-अर्थ का भेद नहीं। शैवागम तथा तन्त्र शास्त्र में भी ऐसी ही मान्यता व्यक्त की गयी है।

---

१. द्रष्टव्य—प्रमाणनय तत्त्वावलोक IV पृ० ९ सं० मोतीलाल, पूना।

बौद्ध विचारकों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अयथार्थ और बुद्धि-कल्पित माना है। वे न तो शब्द की तात्त्विक सत्ता मानते हैं और न अर्थ की। अतः उनके सम्बन्ध की तात्त्विक सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। बौद्ध शाब्द-बोध को अनुमान-ज्ञान-मात्र मानते हैं।

इन दो विरोधी मतों के बीच वैशेषिक मतानुयायी शब्द और अर्थ में अग्नि और धूम के सम्बन्ध की तरह आवश्यक सम्बन्ध मानते हैं, जो सम्बन्ध शब्द से अर्थ के अनुमान में सहायक होता है। बौद्ध और वैशेषिक अर्थ को अनुमान रूप मानने में एकमत हैं, पर बौद्धों की तरह वैशैषिक-मतानुयायी शब्द और अर्थ दोनों की यथार्थ सत्ता का निषेध नहीं करते।

मीमांसक शब्द की अर्थबोधक शक्ति को शाश्वत और शब्द में अन्तर्निहित मानते हैं तथा समय या लोकव्यवहार-जन्य संकेत को सहायक शक्ति मानते हैं। नैयायिक शब्द में अर्थबोध की सहज शक्ति नहीं मानते, दोनों में केवल संकेत का सम्बन्ध मानते हैं, जो लोक में भाषा के व्यवहार से आता है। उनकी दृष्टि में यह सम्बन्ध अनित्य और सामयिक है। अणुवादी जैन आचार्यों की धारणा भी इससे मिलती-जुलती ही है।

शब्दशक्ति—शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण की दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र का शब्दशक्ति विवेचन विशेष महत्त्व रखता है। इस विवेचन में विभिन्न दार्शनिक चिन्तन के सार का समन्वय कर तात्त्विक तथा व्यावहारिक; दोनों दृष्टियों से भाषा के विविध प्रयोगों की अर्थबोध-प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। काव्यशास्त्र के आचार्य शब्द-अर्थ में नित्य, और अनित्य, सहज और कृत्रिम, अभेद और भेद मानने वाली दो परस्पर विरोधी दृष्टियों से परिचित थे, फिर भी उनकी दृष्टि मुख्यतः उस अखण्ड भाषा-तत्त्व के व्यक्त तथा लोक और काव्य में विभिन्न भंगिमाओं के साथ प्रयुक्त रूप पर ही टिकी है।

शब्द-ब्रह्म या परा वाक् की अखण्ड मूल सत्ता में शब्द-अर्थ का कोई विभाग नहीं। वह अखण्ड चित् सत्ता विकास-क्रम में शिव-तत्त्व तथा शक्ति-तत्त्व में परिणत होती है। शक्ति-तत्त्व वाणी का मूल रूप है और शिव-तत्त्व अर्थ का।[1] इस प्रकार शब्द-अर्थ में अद्वैत सम्बन्ध मानने वाले विचारकों की दृष्टि में तत्त्वतः भाषा अखण्ड है। शब्द, अर्थ और शब्द की अर्थबोधक शक्ति में तात्त्विक दृष्टि से कोई विभाग नहीं, फिर भी भाषा के व्यक्त और लोक व्यवहृत रूप में व्यावहारिक दृष्टि

---

१. शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥ वायु पुराण

से शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध का ज्ञान कराने वाली शक्ति का अलग-अलग स्वरूप-निरूपण किया जा सकता है। इस विचार के विपरीत शब्द-अर्थ में द्वैत या भेद सम्बन्ध मानने वाली दृष्टि शब्द, अर्थ तथा दोनों के बीच अनित्य या व्यवहार-जनित सामयिक सम्बन्ध में तात्त्विक भेद देखती है। शब्द को अर्थ का नाम अथवा उसका ध्वनि-प्रतीक मानने वाली दृष्टि भाषा, उससे बोध्य अर्थ और भाषा की अर्थ-बोधक शक्ति में ऐसा ही भेद देखती है। इस दृष्टि के अनुसार परस्पर स्वतन्त्र शब्द और अर्थ का भाषिक व्यवहार में सम्बन्ध घटित हो जाता है, जो सम्बन्ध अनित्य होता है। हम इन दोनों मान्यताओं का मूल्यांकन कर चुके हैं। काव्यशास्त्रीय चिन्तन के सन्दर्भ में शब्द-शक्ति की उदार समन्वयात्मक धारणा को स्पष्ट करने के लिए उक्त दो ध्रुवीय मान्यताओं का निर्देश आवश्यक था।

समग्र भाषिक अर्थ-बोध को दृष्टि में रख कर साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने शब्द के तीन प्रकार माने हैं—वाचक, लक्षक और व्यञ्जक। इस आधार पर अर्थ भी तीन प्रकार के माने गये हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। इन तीन प्रकार के शब्दों के तीन अलग-अलग अर्थों के बोध की क्रमशः तीन शक्तियों की कल्पना की गयी है, जो इस प्रकार हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। अभिधा शब्द की सहज शक्ति है। अतः उसे मुख्य वृत्ति भी कहते हैं। लक्षणा प्रत्यक्षतः अर्थगत होने पर भी अर्थ से अविनाभाव रूप से सम्बद्ध शब्द से भी परम्परया संसक्त होती है। अतः उसे शब्द पर आरोपित शक्ति माना गया है। लक्षणा को गौणी वृत्ति भी कहते हैं। व्यञ्जना में शब्द से प्रत्यक्षतः अकथित भाव, विचार आदि के बोध की असीम शक्ति रहती है। वह शक्ति सम्पूर्ण भाषिक सन्दर्भ में वक्ता के उद्दिष्ट अर्थ को श्रोता के मन तक संप्रेषित करने में समर्थ होती है। अतः अभिधा की तरह शब्द की मुख्य शक्ति नहीं होने पर भी, व्यञ्जना को काव्य के अर्थ-भावन में सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। व्यञ्जना शक्ति से बोध्य व्यंग्य अर्थ के सौन्दर्य की प्रधानता होने पर काव्य को ध्वनि काव्य कहते हैं और वैसे काव्य को उत्तम कोटि का काव्य माना जाता है। व्यञ्जना शक्ति का कार्य-क्षेत्र असीम है। अतः अभिधा और लक्षणा शक्तियों को जहाँ विधिमुखेन परिभाषित कर उनकी सीमा का निर्धारण कर दिया गया है, वहाँ व्यञ्जना के स्वरूप को निषेध-मुखेन निर्दिष्ट कर उससे असीम अर्थ के बोध की संभावना स्वीकार कर ली गयी है।

एक सम्प्रदाय में व्यञ्जना शक्ति और व्यंग्य अर्थ का इतना महत्त्व स्वीकार किये जाने पर भी दूसरे सम्प्रदाय के विचारकों ने व्यञ्जना के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। इस तरह व्यञ्जना शक्ति सर्वाधिक विवादग्रस्त चर्चा का विषय बनी रही है। यह सही है कि रसवादी और ध्वनिवादी चिन्तन में

सबल युक्तियों से व्यञ्जना-विरोधी मान्यताओं का खण्डन कर उसके महत्त्व की स्थापना का जो सार्थक प्रयास हुआ उससे व्यञ्जना-विरोधी मान्यताएँ महत्त्वहीन बन गयी हैं; फिर भी भाषातात्त्विक विवेचन में उनका महत्त्व सर्वथा समाप्त नहीं हुआ है। अर्थबोध के रहस्य का उद्घाटन करने में उन मान्यताओं का परीक्षण भी वाञ्छनीय है।

अभिधा—अभिधा शब्द की मुख्य शक्ति है, जिससे शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है। यह साक्षात् संकेतित अर्थ ही शब्द का मुख्य अर्थ है।[1] मुख्य शक्ति अर्थात् मुख्य व्यापार का अर्थ स्पष्ट करते हुए काव्यप्रकाश की नागेश्वरी टीका में कहा गया है कि किसी अन्य वृत्ति पर आश्रित नहीं रहने वाले व्यापार को मुख्य व्यापार कहा जाता है।[2] तात्पर्य यह कि शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ मुख्य अर्थ है और उस मुख्य अर्थ का बोध कराने वाली मुख्य शक्ति अभिधा कहलाती है।

शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का अभिप्राय किसी शब्द के उस अर्थ से है जो भाषिक व्यवहार में जन-मानस द्वारा स्वीकृत हो जाता है। भाषा से अर्थ-बोध के रहस्य का उद्घाटन करते हुए महाभाष्यकार ने एक तथ्य का निर्देश किया है कि भाषा के सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक हो सकते हैं।[3] इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर भी भाषिक व्यवहार में शब्द के अर्थबोध के स्वरूप के स्पष्टीकरण में यह समस्या उपस्थित होती है कि जब तक किसी शब्द का कोई विशिष्ट अर्थ किसी भाषा-समुदाय के लोगों के समष्टि मानस के द्वारा स्वीकृत नहीं हो जाय तब तक भाषा में उसका प्रयोग सम्भव ही नहीं होगा। भाषा वह सामाजिक निधि है, जिसमें भाषा-समुदाय के सभी व्यक्तियों का सहभाग रहता है और इस प्रकार वह उस भाषा-समुदाय में मूर्त-अमूर्त वस्तु, भाव-विचार आदि के बोध के लिए व्यवहृत होती है। शब्द में नियत अर्थ के बोध की शक्ति नहीं हो तो भाषिक व्यवहार संभव ही नहीं होगा। वक्ता जिस अर्थ का बोध कराने के लिए जिस शब्द का प्रयोग करता है उस शब्द से उसी अर्थ का ग्रहण श्रोता को होता है। इसी लिए भाषा के माध्यम से विचार-विनिमय संभव होता है। अतः सभी शब्दों के सभी अर्थों का वाचक होने का सिद्धान्त भाषा-तत्त्व के गहन रहस्य को उद्घाटित करने की दृष्टि से चाहे जितना महत्त्व रखता हो, भाषा के व्यवहार-पक्ष को समझने में विशेष उपादेय नहीं। यह तो

१. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।
—मम्मट, काव्यप्र० का० ११।

२ × × मुख्यः वृत्त्यन्तरानुपजीवको व्यापारः वृत्तिः सा अभिधा इत्युच्यत इत्यर्थः।
—वही, नागेश्वरी टीका, पृ० १३।

३. सर्वे सर्वार्थवाचकाः। —पतञ्जलि, महाभाष्य।

ठीक है कि भाषा के प्रथम ज्ञान अर्जन के समय व्यक्ति को आप्तजन किसी शब्द का जो अर्थ बता दें, वही उसकी दृष्टि में उस शब्द का अर्थ हो जायगा, पर यह भी आवश्यक है कि उस शब्द का वही अर्थ भाषा-समुदाय के अन्य लोग भी समझते हों जो अर्थ उस व्यक्ति को बताया गया है। अतः मूलतः भाषा के सभी शब्द सभी अर्थों के वाचक बनने की क्षमता रखने पर भी भाषिक व्यवहार में नियत अर्थ के वाचक बन जाते हैं। प्रत्येक शब्द विशिष्ट अर्थ का संकेत ग्रहण कर लेता है और उसका व्यवहार-क्षेत्र सीमित और निर्दिष्ट हो जाता है। कुछ शब्दों की सर्वार्थ-बोधकता की वह अपरिमेय शक्ति अर्थपरिवर्तन की विभिन्न दिशाओं में—अर्थ-संकोच, अर्थ-विस्तार और अर्थादेश में—कभी-कभी प्रकट होती है, जब कालक्रम से एक समय किसी शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ उस शब्द से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर अन्य शब्द से सम्बन्ध जोड़ लेता है अथवा इसके विपरीत, यह कहा जाय कि, शब्द ही एक समय अपने साक्षात् संकेतित अर्थ को छोड़ कर किसी विशिष्ट अर्थ-रूप के साथ अपना संकेत-सम्बन्ध जोड़ लेता है। अर्थविस्तार की प्रक्रिया में तो अर्थ अपने वाचक से सम्बन्ध नहीं तोड़ता, भले ही उसका वाचक शब्द उससे सम्बद्ध रह कर भी कुछ अन्य अर्थों से सम्बन्ध जोड़ ले, पर अर्थ-संकोच और अर्थादेश की प्रक्रियाओं में शब्द-अर्थ के उभय पक्ष में सम्बन्ध को तोड़ने और नया सम्बन्ध जोड़ने का क्रम चलता है। अर्थ-संकोच की प्रक्रिया में जब शब्द अपने अनेक अर्थों में से किसी एक ही अर्थ से नियत सम्बन्ध स्थापित कर अन्य अर्थों से नाता तोड़ लेता है तब वे अर्थ भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए अन्य शब्दों का सहारा ले लेते हैं। अर्थादेश की प्रक्रिया में शब्द-अर्थ के सम्बन्ध के त्याग-ग्रहण की उभय-पक्षीय प्रवृत्ति सबसे स्पष्ट रहती है। एक समय का शब्दविशेष का साक्षात् संकेतित अर्थ जब कालक्रम से उस शब्द से सम्बन्ध तोड़ कर अलग हट जाता है तब वह शब्द अन्य अर्थ का संकेत ग्रहण कर लेता है और वह अर्थ भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए दूसरे शब्द से—कभी-कभी उस पूर्व-सम्बन्धी शब्द के विरोधी शब्द से—सम्बद्ध हो जाता है। बहुधा यह प्रक्रिया शब्द के पक्ष में इस रूप में घटित होती है कि उसके साक्षात् संकेतित अर्थ के साथ जब कोई गौण अर्थ उसके सामने उपस्थित होने लगता है तब वह शब्द उस गौण अर्थ की ओर आकृष्ट होकर उसे अपना लेता है और साक्षात् संकेतित मुख्य अर्थ की उपेक्षा कर देता है। मूल वैदिक भाषा के देवता अर्थ के वाचक 'असुर' शब्द ने किस प्रकार राक्षस अर्थ का संकेत प्राप्त कर लिया और उस मूल अर्थ ने असुर के विरोधी जान पड़ने वाले 'सुर' शब्द का निर्माण कर उसके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया, इससे भाषाशास्त्र के सभी पाठक परिचित हैं। अर्थ-परिवर्तन में भाषा-समुदाय के लोगों के मनोभाव की कैसी भूमिका होती है, इसका विवेचन प्रकृत विषय नहीं। यहाँ हमारा उद्देश्य

केवल यह निर्देश करने का था कि मूलतः सभी शब्दों में सभी अर्थों के बोध की सम्भावना तो रहती है, पर एक समय में शब्द किसी नियत अर्थ का ही बोध कराता है, जो उसका मुख्य या साक्षात् संकेतित अर्थ माना जाता है।

प्रश्न है कि शब्द में संकेत अर्थात् नियत अर्थ के बोध की शक्ति कैसे आती है? दूसरे शब्दों में, हम किसी शब्द का किसी विशिष्ट अर्थ में ही प्रयोग क्यों करते हैं और श्रोता उस शब्द का वही अर्थ कैसे ग्रहण करता है? इस प्रश्न का उत्तर अलग-अलग सम्प्रदाय के विचारकों ने विविध रूपों में दिया है। ईश्वर को समग्र सृष्टि के कार्य-व्यापार का संचालक मानने वाले विचारकों की धारणा है कि शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष का बोध हो, यह ईश्वर की इच्छा है। ईश्वर की यह इच्छा ही शब्द का संकेत है।[1]

भाषा को सतत विकास-प्रक्रिया का प्रतिफलन मानने वाले विचारक इस सिद्धान्त से सहमत नहीं। संकेत को ईश्वरेच्छा-रूप मानने में कई कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि भाषा का कोई एक ही स्थिर रूप सम्पूर्ण विश्व में प्रयुक्त नहीं होता जिसके अर्थ को उस पर ईश्वर की इच्छा से आरोपित माना जा सके। दूसरी बात यह कि किसी एक ही भाषा के शब्दों में कालक्रम से होने वाला अर्थ-परिवर्तन शब्द के संकेत के ईश्वरेच्छारूप होने की मान्यता का अपलाप करता है। ईश्वर की इच्छा से शब्द का संकेत निर्धारित होता, तो उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन कैसे सम्भव होता! अतः व्यवहारवादी दृष्टि से भाषा के लोक-व्यवहार में ही शब्द के संकेत के निर्धारण का सिद्धान्त माना गया है। जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है, और भाषा-समुदाय का समष्टि मानस किसी शब्द का जो अर्थ स्वीकार कर लेता है, वही उस शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ माना जाता है। भाषा के विकास-क्रम में शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध ऐसे अलक्ष्य भाव से घटित होता है कि यह निर्देश करना असम्भव होता है कि किस शब्द ने कब किसी अर्थ का संकेत प्राप्त किया। ध्यातव्य है कि शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध—शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष के बोध का संकेत—सनातन नहीं होता। कालक्रम से होने वाले अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया में शब्द का संकेत बदल भी सकता है। अतः शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का तात्पर्य इतना ही समझा जाना चाहिए कि किसी समय किसी शब्द का लोक मानस के द्वारा स्वीकृत जो अर्थ होता है उसे ही शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ माना जाता है।

भाषा-व्यवहार में लोग कई रूपों में शब्द के संकेत का ज्ञान अर्जित करते हैं। कभी जब भाषा के ज्ञाता अल्पज्ञ को किसी शब्द का अर्थ बता देते हैं तब

---

१. अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपो सङ्केतः।

उसे उस शब्द के संकेत का ज्ञान हो जाता है। ध्यातव्य है कि बाल्यकाल में सभी अपने माता, पिता या अन्य बड़े लोगों से शब्द का अर्थ सीखते हैं। सीखने की एक प्रत्यक्ष प्रक्रिया तो यह है कि लोग बच्चों को कुछ शब्दों के अर्थ, लौकिक वस्तु-सन्दर्भ में, निर्देश कर बता देते हैं; पर एक अप्रत्यक्ष प्रक्रिया—संकेत-ज्ञान अर्जित करने की प्रत्यक्ष विधि से अधिक व्यापक प्रक्रिया—दूसरों के भाषिक व्यवहार से अन्वय-व्यतिरेक या आवाप-उद्वार की पद्धति से संकेत के ज्ञान अर्जन की प्रक्रिया है। जब भाषा के ज्ञाता आपस में भाषा का प्रयोग कर कुछ विधि-निषेध की चर्चा करते हैं और कोई उस भाषिक निर्देश के अनुरूप किसी कार्य में प्रवृत्त या निवृत्त होता है तो भाषा का अल्प ज्ञान रखने वाले उस भाषिक निर्देश और उससे कार्य-विशेष में किसी की प्रवृत्ति-निवृत्ति को समझ-परख कर शब्द-विशेष का विशिष्ट अर्थ निर्धारित कर लेता है। गाय को बांधो, गाय को ले जाओ, गाय को खाना दो, जैसे प्रयोगों में एक पशुविशेष के प्रति किसी श्रोता की विविध क्रियाओं में प्रवृत्ति को देख कर उन क्रिया-पदों के संकेत को समझा जा सकता है। वाक्य में प्रयुक्त होने वाले या, तो, भी, किन्तु, और आदि पदों का संकेत-ज्ञान भाषा-व्यवहार में ही अर्जित किया जाता है।

शब्द के संकेतग्रह के आठ साधनों की चर्चा की गयी है। वे हैं—व्याकरण, कोष, उपमान, आप्त-वाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति या टिप्पणी तथा सिद्धपद की सन्निधि।[1] ध्यातव्य है कि संकेतग्रह के इन आठ साधनों में प्रधानता भाषा के लोक-व्यवहार-पक्ष की ही है।

व्याकरण में किसी भाषा के व्यवहृत शब्द-रूपों को ही प्रमाण मान कर उनकी व्युत्पत्ति दी जाती है और विविध शब्दों की समान व्युत्पत्ति-प्रक्रिया के आधार पर कुछ सामान्य नियम निर्धारित किये जाते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति का ज्ञान उसके मुख्य अर्थ को समझने में सहायक होता है।

शब्द-कोश किसी शब्द के संकेतित अर्थ का ज्ञान देने में सहायक होता है। वस्तुतः शब्द का कोशार्थ-निर्धारण भी भाषा में उसके प्रयोग-सन्दर्भों के आधार पर ही होता है। जो शब्द जिस अर्थ में या जितने अर्थों में भाषा में प्रयुक्त होता है उस अर्थ या उन विविध अर्थों का निर्देश कोशकार उसके पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख कर अथवा विवरणात्मक पद्धति से किया करता है। किसी शब्द के अर्थ की जिज्ञासा होने पर लोग बहुधा कोश का सहारा लिया करते हैं।

उपमान को ज्ञान का एक प्रमाण माना जाता है। भाषिक अर्थबोध में—

---

२. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्य व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ के ज्ञान में—कहीं-कहीं उपमान भी साधक बनता है। उपमान परिचित वस्तु के सहारे अपरिचित वस्तु के ज्ञान का साधन होता है। हिन्दी भाषा के बैगनी, गुलाबी, नारंगी आदि विभिन्न रंगों के बोधक शब्दों तथा अंगरेजी के Bottlegreen, orange colour, feather brown आदि शब्दों के नियत अर्थ उपमान के सहारे ही लोग सही-सही समझ सकते हैं। उपमान नियत अर्थ के ज्ञान का एक साधन बनता है।

आप्तवाक्य अर्थात् भाषा के प्रामाणिक ज्ञाता का कथन शब्द के अर्थ के ज्ञान का एक साधन है। वस्तुतः बाल्यकाल में सभी इसी पद्धति से शब्द के अर्थ का ज्ञान अर्जित करते हैं। आप्तजन किसी शब्द का प्रत्यक्षतः अर्थ बतावें अथवा व्यवहार या ग्रन्थ-रचना में शब्दों का विशिष्ट अर्थों में प्रयोग करें, हम उनसे शब्द के अर्थ का ज्ञान अर्जित करते हैं। शब्द के संकेत-ग्रहण में आप्त-वाक्य के इस महत्त्व को दृष्टि में रख कर ही नैयायिकों ने आप्तोपदेश को शब्द-प्रमाण का लक्षण माना है—आप्तोपदेशः शब्दः (न्यायमञ्जरी)।

भाषा का व्यवहार संकेत-ग्रह का प्रधान साधन है। शब्द स्वयं भाषिक व्यवहार से ही अर्थ-विशेष के बोध की शक्ति अर्जित करता है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भाषिक प्रयोग में आने के पहले किसी शब्द की अर्थ-निरपेक्ष सत्ता होती है, क्योंकि शब्द के स्वरूप के निर्माण-क्रम में ही कोई अर्थ उसके एक घटक के रूप में उससे सम्पृक्त हो जाता है, पर इस तथ्य को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि भाषिक व्यवहार में शब्द का अर्थ-विशेष के साथ सम्बन्ध बदलता भी रहता है। भले ही किसी भाषा के कुछ सीमित शब्दों में ही अर्थ-परिवर्तन की यह प्रक्रिया घटित होती हो, पर अर्थ-परिवर्तन का यह तथ्य, शब्द की विकास-यात्रा में, संकेत-ग्रहण के मूल में भाषिक व्यवहार के महत्त्व को सिद्ध करता है। भाषा का ज्ञान अर्जित करने वाले की दृष्टि से संकेत-ग्रह पर विचार करें, तो व्यवहार ही संकेत-ग्रह का प्रधान साधन सिद्ध होता है। भाषिक व्यवहार में आवाप-उद्धार अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक से हम शब्द के संकेतित अर्थ का ज्ञान अर्जित करते हैं। इसीलिए पतञ्जलि ने व्यवहार को ही संकेत-ग्रह का मुख्य साधन माना है।[1] ध्यातव्य है कि लोक-व्यवहार में प्रचलित भाषा के शब्द के संकेत-ग्रह में ही इस साधन की अधिक उपादेयता है। अपने समाज में अप्रचलित किसी विदेशी भाषा के शब्द का अथवा अपने ही समाज की किसी प्राचीन भाषा के शब्द का संकेतित अर्थ

---

१. लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म-नियमः क्रियते।—पतञ्जलि, महाभाष्य पस्पसाह्निक, १, १,

जानने में व्यवहार की अपेक्षा व्याकरण, कोश आदि साधन अधिक सहायक होते हैं। लोक-व्यवहार में प्रचलित तथा अप्रचलित भाषाओं को सीखने की प्रक्रियाएँ कुछ भिन्न होती हैं। अप्रचलित भाषा को सीखने के लिए पहले उसके व्याकरण का ज्ञान अर्जित करना आवश्यक होता है, जबकि प्रचलित भाषा लोग उसके व्याकरण के ज्ञान के अभाव में भी सीख लेते हैं। इस प्रकार भाषा के शब्द अपनी विकास-यात्रा में भाषिक व्यवहार से ही नियत समय में किसी नियत अर्थ का संकेत प्राप्त करते हैं, जिस अर्थ में काल-क्रम से परिवर्तन की संभावना भी बनी रहती है। यह परिवर्तन भी व्यवहार से ही घटित होता है। भाषा का ज्ञान अर्जित करने वाले भाषा के लोक-व्यवहार से एक नियत समय में किसी शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का ज्ञान प्राप्त करते हैं। संकेतग्रह में अर्थात् शब्दविशेष के नियत अर्थ के ज्ञान में व्यवहार कितना महत्त्वपूर्ण साधन है, यह इस तथ्य से समझा जा सकता है कि शास्त्रकारों ने एक मत से शब्द के व्युत्पत्ति-निमित्त से उसके प्रवृत्ति-निमित्त को अधिक बलशाली माना है। शब्द के व्युत्पत्ति-नियम और प्रयोग-नियम में अन्तर हो सकता है।[1] जहाँ किसी शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ में उस शब्द का प्रयोग भाषा में होने लगा हो और वह प्रयोग लोक-मानस के द्वारा स्वीकृत हो गया हो, वहाँ लोक व्यवहृत अर्थ ही उस शब्द का प्रामाणिक अर्थ माना जायगा।[1] स्पष्ट है कि व्याकरण आदि की तुलना में व्यवहार संकेतग्रह का अधिक सशक्त साधन है। व्याकरण, कोश आदि भाषा-व्यवहार का अनुगमन करते हैं, व्यवहार उनसे अनुशासित होकर भी उनके पीछे नहीं चलता।

वाक्यशेष संकेत-ग्रह के एक साधन के रूप में स्वीकृत है। यह साधन भाषा-व्यवहार के व्यापक संदर्भ में किसी शब्द के अर्थ-निर्धारण के तथ्य का संकेत देता है। किसी प्रसंग में वाक्य-परम्परा में प्रयुक्त किसी शब्द के नियत अर्थात् साक्षात् संकेतित अर्थ का ग्रहण होता है। यह साधन विशेष रूप से ऐसे शब्द के संकेत-ग्रह में सहायक होता है जिसके विविध अर्थों की संभावना रहती है। एक सन्दर्भ में एकाधिक वाक्यों में जब अनेक अर्थों की संभावना रखने वाला कोई शब्द प्रयुक्त होता है, तब उन वाक्यों के सहारे उस शब्द का नियत अर्थ ग्रहण हो जाता है। यों तो वैयाकरणों ने अर्थ-भेद से एक जान पड़ने वाले शब्द को भी भिन्न-भिन्न अनेक शब्द मानने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, पर उसका यौक्तिक महत्त्व जितना है उतना व्यावहारिक महत्त्व नहीं। इस सिद्धान्त के

---

१. अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तं अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्।

अनुसार अनेकार्थ-बोधक एक शब्द कोई होता ही नहीं। अर्थ के अनुरूप एक ही उच्चारण स्थान और प्रयत्न से उच्चरित समान स्वरूप वाले एक-से जान पड़ने वाले शब्द तत्त्वतः एक न होकर अनेक होते हैं। किन्तु, तथ्य यह है कि अर्थ-भेद से भिन्न-भिन्न होने पर भी रूपगत अभिन्नता के कारण ऐसे शब्द श्रोता के मन में अनेक अर्थों की संभावना जगा सकते हैं, जो संकेत-ग्रह का बाधक तत्त्व है। ऐसी स्थिति में वाक्यशेष संकेतग्रह में सहायक होता है।

वाक्यशेष के स्वरूप को एक उदाहरण लेकर स्पष्ट कर लेना वाञ्छनीय होगा। एक वाक्य में प्रयुक्त अनेकार्थक शब्द के अर्थबोध में सन्देह रह सकता है। ऐसी स्थिति में प्रसंगात् अन्य वाक्य में उस शब्द का प्रयोग होने पर अर्थ में निश्चयात्मकता आ जाती है। उदाहरणार्थ, 'यह टीका देखो' जैसे प्रयोग में टीका के अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं होता। उस शब्द के टिप्पणी तथा माथे पर लगाये जाने वाले तिलक; इन दोनों अर्थों के बोध की संभावना रहती है, पर इस टीका में विषय का विशद विवेचन किया गया है, ऐसे प्रयोग में टीका शब्द का संकेतित अर्थ, 'व्याख्या' या 'टिप्पणी' अर्थ, स्पष्ट हो जाता है। पद वाक्य का अंग बन कर ही भाषा में प्रयुक्त होते हैं। वाक्य-प्रयोग का सन्दर्भ शब्द के अनेक संभावित अर्थों में से एक विवक्षित अर्थ का बोध करा देता है। व्याकरण या भाषा की चर्चा के प्रसंग में धातु शब्द का प्रयोग होने पर सोना, चाँदी आदि धातु के अर्थ की संभावना भी मन में नहीं जगती, क्रिया-पद के विधायक मूल शब्द का ही अर्थ निश्चयात्मक रूप में बोध-गत होता है, पर सोना-चाँदी की दूकान में या भूविज्ञान की चर्चा के प्रकरण में किसी वाक्य में धातु शब्द का प्रयोग सुनकर विशेष प्रकार की भौतिक वस्तु के अर्थ का ही बोध होता है। वाक्य के अंग के रूप में प्रयुक्त होकर शब्द अपने अनेक संभावित अर्थों में से चूँकि वक्ता के उद्दिष्ट नियत अर्थ के बोध में सहायक होता है, इस लिए संकेत-ग्रह के इस साधक को वाक्यशेष कहा जाता है। इसे प्रकरण भी कहा गया है।

यह उल्लेख्य है कि अनेकार्थ-वाची शब्दों के सभी अर्थ साक्षात् संकेतित ही होते हैं। उदाहरण के लिए धातु या टीका शब्द के उक्त दोनों अर्थ साक्षात् संकेतित अर्थ हैं। इसलिए वैयाकरणों की दृष्टि में धातु जैसे अनेकार्थ-बोधक पद तत्त्वतः एक नहीं। व्याकरणिक धातु के अर्थ का बोधक धातु पद स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है तो भौतिक वस्तु-विशेष के बोधक धातु पद का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। दोनों में साम्य है तो केवल इतना कि वे दोनों समान उच्चारण-स्थान और प्रयत्न से उच्चरित होते हैं। टीका शब्द की स्थिति तो और स्पष्ट है। एक टीका पद स्त्री.लिंग में प्रयुक्त होकर पुस्तक की व्याख्या के अर्थ का बोध

कराता है और दूसरा टीका पद पुँल्लिग में प्रयुक्त होकर माथे के तिलक का बोध कराता है। लिंग-भेद दो टीका पदों के स्तन्त्र अस्तित्व का प्रमाण है। यदि प्रत्येक अनेकार्थ-वाचक पद को अर्थ के अनुरूप अनेक पद मानने के आग्रह से कुछ विद्वान असहमत भी हों तो इतना तो मानना ही होगा कि किसी एक शब्द से यदि अनेक अर्थों का प्रत्यक्षत: बोध होता है तो वे सभी अर्थ उस पद के साक्षात् संकेतित अर्थ ही होते हैं। वाक्यशेष या प्रकरण की उपादेयता यदि किसी एक पद के अनेक साक्षात् संकेतित अर्थों में से उस सन्दर्भ में वक्ता के अभिप्रेत किसी एक संकेत का बोध कराने में मानी जाय तो उसे संकेतग्रह का साधन मानने की अपेक्षा वक्ता के विवक्षित या अभिप्रेत अर्थ के ग्रहण का साधन कहना अधिक उपयुक्त होगा।

विवृति अर्थात् व्याख्या या भाष्य को संकेत-ग्रह का एक साधन माना जाता है। यह साधन विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों के संकेतित अर्थ के ग्रहण में सहायक होता है। उदाहरणार्थ ध्वनि शब्द सामान्य व्यवहार में जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है उससे विशिष्ट एक पारिभाषिक अर्थ में साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त होता है। किसी वस्तु से उत्पन्न कोमल-कठोर ध्वनि अर्थात् आवाज से काव्यशास्त्र के 'ध्वनि' पद का अर्थ विलक्षण है। बिना व्याख्या या परिभाषा के उस पद के संकेत का ज्ञान सम्भव नहीं। सभी शास्त्रों के कुछ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द होते हैं जिनके अर्थ उन शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य या लोक प्रचलित अर्थ से विशिष्ट होते हैं। उन विशिष्ट अर्थों का ज्ञान पदों की विवृति अर्थात् व्याख्या या परिभाषा के सहारे ही प्राप्त किया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि पारिभाषिक शब्द किसी विशिष्ट अर्थ के बोध का संकेत प्राप्त कर लेते हैं। विशिष्ट अर्थ से किसी पारिभाषिक शब्द के सम्बद्ध होने के रहस्य पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वैसे शब्दों में यह विशिष्ट अर्थ के बोध की शक्ति शास्त्रीय व्यवहार से ही आती है। एक विचारक किसी पारिभाषिक शब्द का जब पहले-पहल प्रयोग करता है तब दूसरों को उसका अर्थ बताने के लिए वह स्वयं उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। व्याख्या के अभाव में प्रथम प्रयुक्त पारिभाषिक पद का अर्थ दूसरों के लिए बोध-गम्य ही नहीं होगा। फिर शास्त्रीय प्रयोग में जब वह पद अनेक विचारकों द्वारा प्रयुक्त होने लगता है तब भी उस शास्त्र का आरम्भिक ज्ञान अर्जित करने वालों को वैसे पारिभाषिक पदों के अर्थ-बोध के लिए विवृति का सहारा लेना पड़ता है।

संकेत-ग्रह के साधन के रूप में 'सिद्ध पद की सन्निधि' का एक आशय यह

है कि वाक्य में प्रयुक्त कुछ सिद्ध पदों के साथ, जिनके संकेतित अर्थ से श्रोता सुपरिचित हो, यदि किसी एक अपरिचित शब्द का भी प्रयोग हो तो उसका अर्थ वह ग्रहण कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि कहा जाय कि 'सप्तच्छद पुष्प की सुरभि फैल रही है' तो ऐसे वाक्य में सप्तच्छद या सुरभि शब्द के अर्थ से अपरिचित व्यक्ति को भी ज्ञात पद के सान्निध्य से अज्ञात पद के संकेतित अर्थ का बोध हो सकता है। ध्यातव्य है कि ऐसे अज्ञात पदों का अर्थबोध शब्द-सन्दर्भ के आधार पर अनुमान-सिद्ध ही होगा। सिद्ध पद की सन्निधि का दूसरा आशय है कि कुछ नियत अर्थ वाले पदों के साथ प्रयुक्त होने पर किसी अनेकार्थवाची पद के एक नियत संकेत का ग्रहण श्रोता को हो जाता है। उदाहरणार्थ 'कलम' शब्द के दो अर्थ हैं—लेखनी और विशेष प्रकार का धान। 'कागज और कलम' जैसे पदों को एक साथ सुनने पर कलम शब्द के लेखनी पद-वाच्य अर्थ का ही निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इस प्रकार सिद्ध पद की सन्निधि अर्थात् ज्ञात पद का साहचर्य किसी अनेकार्थवाची पद के अनेक अर्थों में से नियत अर्थ के ग्रहण में सहायक होता है। हम यह निर्देश कर चुके हैं कि अनेकार्थवाची पद के सभी अर्थ साक्षात् संकेतित ही होते हैं। अतः उनमें से किसी एक नियत अर्थ का बोध कराने में सहायक साधन को संकेत-ग्रह का साधन मानने की अपेक्षा वक्ता के अभिप्रेत अर्थ के बोध का साधन मानना अधिक युक्तिसंगत होगा।

संकेत-ग्रह के उपरिविवेचित आठ साधनों के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा में शब्द-विशेष का प्रयोग अर्थ-विशेष का बोध कराने के लिए किया जाता है। वक्ता अपने मन के बोध को शब्दों में बाँध कर व्यक्त करता है। वह अर्थ-विशेष के लिए शब्द-विशेष के प्रयोग को जानता है, तभी किसी अर्थ का बोध कराने के लिए किसी विशिष्ट शब्द का प्रयोग करता है। श्रोता उन शब्दों का संकेतित अर्थ ग्रहण करे, इसमें संकेतग्रह के उक्त साधन सहायक होते हैं।

भाषा लोक-व्यवहार में निरन्तर विकसित होती रहती है और इस विकास-प्रक्रिया में ही कोई शब्द किसी निश्चित अर्थ का वाचक बनता है। इस विकास-क्रम में शब्द के संकेतित अर्थ में परिवर्तन की प्रक्रिया भी अलक्ष्य भाव से घटित होती रहती है। अतः एक समय में किसी शब्द के संकेतित अर्थ के ग्रहण में ही उक्त आठ साधन सहायक होते हैं।

विषय के स्पष्टीकरण की सुविधा की दृष्टि से ही संकेत-ग्रह के साधन के उक्त आठ प्रकार की कल्पना का महत्त्व माना जा सकता है। तत्त्वतः भाषिक

व्यवहार ही संकेत-ग्रह का मुख्य साधन है। बाल्यकाल में जो आप्त-जन शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान देते हैं, उन्होंने स्वयं भी भाषिक व्यवहार से ही संकेत का ज्ञान अर्जित किया है व्याकरण, कोश आदि का निर्माण भी भाषिक व्यवहार को ही प्रमाण मान कर किया जाता है।

संकेतग्रह के उक्त साधनों के उपयोग पर विचार करने के क्रम में व्यक्ति की योग्यता के स्तर-भेद पर भी ध्यान देना आवश्यक है। एक स्तर के लोग व्याकरण, कोश आदि को प्रमाण मान कर संकेत-ग्रह में उनसे सहायता ले सकते हैं तो दूसरे स्तर के लोग व्याकरण के नियमों में तथा कोशार्थ में परिष्कार भी कर सकते हैं। हाँ, शब्दार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय देने की, व्याकरण के नियमों में परिष्कार करने की तथा साधिकार विवृति प्रस्तुत करने की योग्यता प्राप्त करने के पूर्व हर व्यक्ति को बाल्यकाल से शब्दार्थ का ज्ञान अर्जित करने में आप्तोपदेश, व्यवहार-संदर्भ में अन्वय-व्यतिरेक, व्याकरण, कोश आदि का ही सहारा लेना पड़ता है।

इस प्रकार संकेतग्रह के साधनों के सहारे शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का जो बोध होता है उस बोध को उत्पन्न करने वाली शब्द-निष्ठ शक्ति को अभिधा शक्ति कहा गया है। अर्थ-बोधक शब्द शक्तियों में अभिधा को मुख्य शक्ति माना गया है। अभिधावृत्तिमातृका में मुकुल भट्ट ने अभिधा को प्रधान या मुख्य शक्ति बताते हुए कहा है कि जैसे मानव व्यक्तित्व में मुख सभी अवयवों में प्रधान होता है और सब से पहले उसी पर दृष्टि जाती है वैसे ही शब्द के सभी अर्थों में पहले अभिधाशक्ति से बोध्य वाच्य अर्थ का ही बोध होता है। अतः मुख की तरह प्रधान होने के कारण वाच्य अर्थ को मुख्य अर्थ माना जाता है।[1] वाच्यार्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति को भी इसी लिए मुख्य शक्ति माना गया है।

वाच्य अर्थात् साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति जिन शब्दों में रहती है उन्हें वाचक शब्द कहते हैं, जिनके तीन प्रकार होते हैं—रूढ, यौगिक और योगरूढ।

रूढ—रूढ शब्द ऐसे वाचक शब्दों को कहा जाता है जिनका अर्थ पद-विभाग

---

१. : स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते, तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते। तस्मान्मुखमिव मुख्यः।
—मुकुल भट्ट, अभिधावृत्तिमातृका—पृ १

के द्वारा उपलब्ध नहीं होकर एक अखण्ड शक्ति से समुदाय रूप में ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि रूढ शब्दों के अर्थ का उस शब्द की व्युत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रकृति—प्रातिपदिक या धातु—तथा प्रत्यय में, दूसरे शब्दों में कहें तो, अर्थ-तत्त्व तथा सम्बन्ध-तत्त्व में अलग-अलग विभाजित कर रूढ पदों के अर्थ को नहीं समझा जा सकता। सम्पूर्ण व्युत्पन्न पद एक विशिष्ट अर्थ का वाचक बन जाता है, जिस अर्थ का उसके मूलभूत प्रातिपदिक या धातु से कोई सम्बन्ध नहीं होता। पेड़, पौधा, आदि रूढ शब्दों के अर्थ-बोध के लिए उनके प्रकृति-प्रत्यय के अन्वेषण की आवश्यकता नहीं। अप्पयदीक्षित ने रूढि का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि अखंड शक्ति-मात्र से एक विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन की शक्ति को रूढि कहते हैं।[1]

यौगिक—जो शब्द अवयव-शक्ति से किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हों उन्हें यौगिक शब्द कहा जाता है। ऐसे शब्दों के अर्थ व्युत्पत्ति-लभ्य होते हैं। इन पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विभाग किया जा सकता है और प्रकृति अर्थात् अर्थ तत्त्व से बोध्य तथा प्रत्यय से द्योत्य अर्थ के योग के रूप में सम्पूर्ण व्युत्पन्न पद का अर्थ समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ राम शब्द का पद विभाग करने पर √ रम् धातु और घञ् प्रत्यय के योग अर्थ के रूप में उस शब्द का पूर्ण अर्थ गृहीत होता है। भूपति, सुरसरि, रमणीय, कमनीय आदि शब्द यौगिक हैं जिनके अलग-अलग खंडों के अर्थ एक साथ मिल कर पूर्ण अर्थ का बोध कराते हैं। किसी भी भाषा के अधिकांश शब्द यौगिक ही होते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति ढूँढी जा सकती है और जिनके खंडों का अर्थ भी निर्दिष्ट किया जा सकता है। योग शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए अप्पय दीक्षित ने यह मान्यता व्यक्त की है कि केवल अवयवशक्ति-सापेक्ष रहने वाला और इस प्रकार पद के एक पूर्ण अर्थ का बोध कराने वाला तत्त्व योग कहलाता है।[2]

योगरूढ—योगरूढ शब्दों के अर्थबोध में रूढ तथा यौगिक; इन दोनों प्रकार के वाचक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रियाओं का मिश्रण रहता है। ऐसे शब्द को योगरूढ कहते हैं जिनके अर्थ-बोध में रूढ शब्दों की तरह समुदायशक्ति की भी अपेक्षा हो और यौगिक शब्दों की तरह अवयवशक्ति भी अपेक्षित हो। अप्पय दीक्षित ने इस तथ्य को दृष्टि में रख कर यह मन्तव्य व्यक्त

---

१. : अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः।—अप्पयदीक्षित, वृत्ति-वार्तिक, —पृ. १

२. : अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः—वही, पृ. २

किया है कि अवयव-शक्ति और समुदाय शक्ति; इन दोनों की अपेक्षा रख कर किसी पद के अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शक्ति योगरूढि कहलाती है।[1] तात्पर्य यह कि योगरूढ पदों का विभाग कर उनके अलग-अलग अर्थों का पता तो लगाया जा सकता है, पर पद-विभाग से उपलब्ध होने वाला समग्र अर्थ उस पद का साक्षात् संकेतित अर्थ हो यह आवश्यक नहीं। गणपति का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ तो होगा किसी गण का स्वामी, पर सभी गण के नायकों को गणपति या गणनायक नहीं कहा जा सकता। वह पद गणेश नामक देवता के अर्थ में ही रूढ हो गया है। इसी प्रकार पंकज शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है—पंक से उत्पन्न, पर पंक से उपजने वाले सेंवार आदि को पंकज नहीं कहा जा सकता। वह शब्द कमल के अर्थ में रूढ हो गया है। ध्यातव्य है कि गणपति तथा पंकज शब्द की व्युत्पत्ति से क्रमशः गणेश और कमल का अर्थ भी प्राप्त होता है और अन्य अर्थ भी। ये शब्द अपने अनेक व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों में से एक-एक विशिष्ट अर्थ में ही केन्द्रित रह गये हैं। इस प्रकार योगरूढ पद अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों में से ही किसी विशिष्ट अर्थ के वाचक बनते हैं।

वाचक शब्द के रूढ, यौगिक तथा योगरूढ रूपों के अनुसार उनके अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति के भी क्रमशः तीन रूप माने जाते हैं—रूढि, योग तथा योगरूढि।

अभिधा शब्द-शक्ति के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों के अलग अलग विचार हैं। कुछ विचारकों की मान्यता है कि शब्द के इस एक व्यापार से ही उसके समग्र अर्थ का बोध हो जाता है। जैसे वाण आदि अस्त्र एक ही शक्ति से प्रयोक्ता के हाथ से चल कर शत्रु का वर्म-भेदन करता हुआ उसके प्राण ले लेता है उसी प्रकार अभिधा संकेतित अर्थ का बोध कराती हुई वक्ता के समग्र अभिप्रेत अर्थ का भी बोध करा सकती है।[2] पर अधिकांश विचारकों की दृष्टि में अभिधा शक्ति का क्षेत्र निर्धारित है। वह शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने के बाद विरत हो जाती है। फिर उस शब्द से साक्षात् संकेतित अर्थ के अतिरिक्त जिन अर्थों का बोध होता है वह अन्य शक्तियों—लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियों का कार्य-क्षेत्र है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के क्रम में कहा गया है कि अभिधा विशेषण-रूप अर्थ का बोध करा लेने के बाद ही अपनी शक्ति खो बैठती है और फलतः विशेष्य-रूप अर्थ का बोध वह नहीं करा सकती।[3] वैसे अर्थ के बोध के लिए अन्य शक्तियों का सहारा लेना आवश्यक होता

---

१. अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः। वृत्तिवा० पृ० ३
२. सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः अभिधा ....
३. विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।

—काव्यप्रकाश में उद्धृत, पृ. १५

है। यह विचार शब्द से जाति तथा उसके साथ अविनाभाव रूप से सम्बद्ध व्यक्ति के बोध की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के प्रसंग में व्यक्त किया गया है। जो विचारक जाति को शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ और उससे सम्पृक्त व्यक्ति को आक्षिप्त अर्थ मानते हैं, उनकी धारणा है कि अभिधा शक्ति जाति-रूप विशेषण का ही बोध करा सकती है, व्यक्ति-रूप विशेष्य तक उसकी गति नहीं। अतः व्यक्ति का बोध उपादान लक्षणा का क्षेत्र मना जाना चाहिए। हम इस मत की समीक्षा कर चुके हैं। सभी पदों में जाति तथा व्यक्ति रूप अर्थ के बोध के लिए दो शक्तियों की कल्पना आवश्यक नहीं। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा उद्देश्य केवल यह निर्देश करना है कि एक ओर जहाँ अभिधा को असीम शक्ति मान कर वक्ता के समग्र अभिप्रेत अर्थ के बोध में समर्थ मान लिया गया है, वहाँ दूसरी ओर उसे केवल विशेषण-बोध तक सीमित कर विशेष्य अर्थात् व्यक्ति-रूप अर्थ के बोध के लिए अन्य-शक्ति-सापेक्ष बना दिया गया है। ये दोनों विचार अतिगामी हैं। तथ्य यह है कि भाषा के पदों के कुछ नियत संकेत होते हैं जो वे पद भाषा के लोक-व्यवहार में घटित होनेवाली विकास-प्रक्रिया में अर्जित करते हैं। अभिधा शक्ति शब्द के उसी साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है। उस संकेत-सीमा के बाहर शब्द से जिन अर्थों का बोध होता है, उनकी बोध-प्रक्रिया के लिए लक्षणा या व्यञ्जना शक्ति का सहारा लेना पड़ता है।

अभिधा शक्ति से बोध्य साक्षात् संकेतित वाच्य अर्थ के सन्दर्भ में एक विवाद-ग्रस्त समस्या यह रही है कि शब्द का संकेत कहाँ होता है? दूसरे शब्दों में, शब्द के मुख्य अर्थ का स्वरूप क्या होता है? इस समस्या पर प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में विस्तार से विचार किया जा चुका है। व्यक्ति को शब्द का साक्षात् संकेतित अर्थ मानने वाले सिद्धान्त का सबल युक्तियों से खण्डन कर जब उसकी उपाधि में—जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा में—शब्द का संकेत मानने का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ तब मतान्तर इस प्रश्न को लेकर हुआ कि इन चार उपाधियों में से किस में शब्द का संकेत माना जाय? इस प्रश्न को लेकर प्रतिष्ठित प्रस्थानों में चार प्रमुख हैं—जात्यादिचतुष्टयवाद, जातिवाद, तद्वानवाद और अपोहवाद या तद्भिन्नभिन्न-वाद। इन सभी मतों का विश्लेषण और मूल्यांकन हम कर चुके हैं।

लक्षणा :—भाषा के प्रयोग-वैचित्र्य पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि जो पद जिस अर्थ का वाचक होता है, अर्थात् जिस पद में विशिष्ट अर्थ के बोध का संकेत रहता है, केवल उसी अर्थ में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता, कभी-कभी उससे भिन्न अर्थ का बोध कराने के लिए भी उस पद का प्रयोग किया जाता है। यह प्रवृत्ति काव्य-रचना में विशेष रूप से पायी जाती है, पर भाषा के लोक-व्यवहार

में भी यह प्रवृत्ति अनेकत्र देखी जा सकती है। जब शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ से कुछ विशिष्ट अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग होता है तब अभिधा शक्ति उसके अर्थ-बोध में असमर्थ हो जाती है, और लक्षणा अथवा व्यञ्जना शब्द-शक्तियों के सहारे उस शब्द से वक्ता के विवक्षित अर्थ का बोध होता है।

लक्षणा शब्द-शक्ति का स्वरूप और कार्य-क्षेत्र परिभाषित और नियत है। इसकी परिभाषा में कहा गया है कि मुख्य अर्थ अर्थात् अभिधा शक्ति से बोध्य संकेतित अर्थ में बाधा होने पर जो शक्ति उस अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की, रूढि अथवा प्रयोजन से प्रतीति कराती है, उस आरोपित शक्ति को लक्षणा कहते हैं।[1]

लक्षणा की इस परिभाषा का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। लक्षणा को शब्द पर आरोपित शक्ति माना गया है। यह विशेषता शब्द की मुख्य या सहज शक्ति से लक्षणा शक्ति का भेद स्पष्ट करती है। शब्द की आरोपित शक्ति होने के कारण ही लक्षणा को गौणी वृत्ति भी कहते हैं। इसे आरोपित या गौणी शक्ति मानने का कारण यह है कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति मुख्यार्थ-बोध-सापेक्ष होती है। लक्षणा शक्ति के द्वारा मुख्य अर्थ से उपलक्षित अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। यदि शब्द के मुख्य अर्थ का ज्ञान किसी को नहीं हो तो वह उस शब्द के लक्ष्य अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकता। इस प्रकार लक्षक शब्द और उसके लक्ष्य अर्थ के बीच शब्द के वाच्य अर्थात् मुख्य अर्थ के आ जाने से एक व्यवधान रहा करता है। दूसरी बात यह कि लक्षणा शक्ति का सीधा सम्बन्ध मुख्य अर्थ के साथ रहता है। अतः प्रत्यक्षतः वह अर्थ-निष्ठ वृत्ति है, शब्दनिष्ठ नहीं। चूँकि शब्द अर्थ से अविभाज्य रूप से सम्पृक्त रहते हैं, इसलिए अर्थ-निष्ठ लक्षणा वृत्ति परम्परया शब्द-निष्ठ भी मान ली जाती है।[2] इस प्रकार साक्षात् रूप से शब्द के मुख्य अर्थ से सम्बद्ध लक्षणा शक्ति प्रकारान्तर से उस मुख्य अर्थ के वाचक शब्द पर भी आरोपित हो जाती है और उस शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराती है। लाक्षणिक प्रयोग की अर्थबोध-प्रक्रिया का एक उदाहरण लेकर इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। जब किसी वीर पुरुष को लक्ष्य कर यह कहा जाता है कि 'यह शेर है' 'तब इस

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥
—मम्मट, काव्यप्रकाश का० ९.

२. सा हि लक्षणा आरोपिता शब्दे कल्पिता साक्षात् सम्बधेन मुख्यार्थनिष्ठा परम्परासम्बन्धेन तु शब्दनिष्ठा क्रिया व्यापाररूपा चेति कारिकार्थः।—काव्यप्रकाश, नागेश्वरी टीका पृ० १४

वाक्य के प्रत्येक पद के साक्षात् संकेतित अर्थ का भी बोध होता है और उन पदों से लक्षित अन्य अर्थ का भी। 'शेर' शब्द का संकेतित अर्थ पशु-विशेष और 'यह' पद से निर्दिष्ट एक आदमी और दोनों के साथ प्रयुक्त सत्ता बोधक 'है' पद का अर्थ; इन तीनों पदों के मुख्य अर्थ का बोध होने पर ही उन अर्थों में बाधा अर्थात् अन्वय के अभाव का बोध होता है और तब शेर शब्द के वाच्य अर्थ को विस्तार देकर लक्षणा शक्ति 'शेर के समान शक्तिशाली' अर्थ का बोध कराती है। कथन की अनन्विति में अन्वय स्थापित कर लक्षणा कथन को सार्थक और संगत बनाती है। स्पष्ट है कि लक्षणा प्रत्यक्षतः शब्द के मुख्य अर्थ पर आश्रित व्यापार है जो उस अर्थ के वाचक पद पर परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध से आरोपित होता है।

एक समस्या यह है कि जब लाक्षणिक प्रयोग में भी प्रत्येक पद के मुख्य अर्थ का अबाधित बोध होता ही है तब मुख्य अर्थ की बाधा को लक्षणा शब्द-शक्ति की प्रवृत्ति का हेतु मानने का क्या अर्थ होगा? भाषा-तात्त्विक दृष्टि से किसी पद का साक्षात् संकेतित अर्थ कभी बाधित नहीं होता। बाधा होती है, वाक्य में प्रयुक्त पदों के मुख्य अर्थों के पारस्परिक अन्वय में। अतः लक्षणा के लक्षण में उल्लिखित 'मुख्य अर्थ में बाधा' का अभिप्राय होगा—मुख्य अर्थ के अन्वय में बाधा।

इस सन्दर्भ में एक और समस्या पर विचार कर लेना अपेक्षित है। कहीं-कहीं प्रयुक्त पदों के मुख्य अर्थ में बाधा नहीं होने पर भी लक्षणा शक्ति प्रवृत्त होती है और उन अबाधित या परस्पर अन्वित पदार्थों से सम्बद्ध अन्य अर्थ की प्रतीति कराती है। अनेक ऐसे लाक्षणिक प्रयोग किसी भाषा में देखे जा सकते हैं जिनके मुख्य अर्थ में तो कोई बाधा नहीं है फिर भी लक्षणा शक्ति के सहारे उस अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध होता है। एक उदाहरण का उल्लेख इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए पर्याप्त होगा। जब कोई किसी से कहता है कि 'देखना, बिल्ली दही नहीं खा जाय' तो इस कथन में वह बिल्ली का उल्लेख उपलक्षण के रूप में करता है। श्रोता उस कथन का यह अर्थ समझ लेता है कि कहने वाला बिल्ली, कुत्ता आदि पशुओं से तथा कौआ, चिड़िया आदि पक्षियों से भी दही की रक्षा करने कहता है। एक बिल्ली शब्द से विभिन्न पशु-पक्षियों का अर्थ-बोध लक्षणा शब्द-शक्ति के सहारे होता है। अभिधा उन अर्थों का बोध कराने में असमर्थ है, क्योंकि वह अपने संकेत—एक विशिष्ट जन्तु के अर्थ—की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती। अब प्रश्न यह है कि जब उक्त कथन में बिल्ली शब्द के मुख्य अर्थ में अर्थात् उस मुख्य अर्थ के अन्वय में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती, तब लक्षणा की उक्त परिभाषा के अनुरूप, वहाँ लक्षणा शक्ति की प्रवृत्ति कैसे सम्भव मानी जायगी? पर यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि वैसे स्थल में भी लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। अतः मुख्यार्थ की बाधा का अर्थ

किञ्चित परिष्कार के साथ माना गया है—तात्पर्यार्थ-मात्र में बाधा। उक्त कथन में बिल्ली शब्द का मुख्य अर्थ तो बाधित नहीं है, पर वक्ता के तात्पर्य में बाधा अवश्य है। उस बिल्ली शब्द के प्रयोग में वक्ता का तात्पर्य है विभिन्न पशु-पक्षियों का बोध कराना, जो अभिधा व्यापार की क्षमता से बाहर होने के कारण बाधित है, और फलतः लक्षणा शक्ति प्रवृत्त होकर बिल्ली पद के साक्षात् संकेतित अर्थ से सम्बद्ध अन्य विवक्षित अर्थों का भी बोध करा देती है।

इतने परिष्कार के साथ लक्षणा शक्ति का लक्षण इस प्रकार बनता है:—मुख्य अर्थ में अथवा केवल तात्पर्यार्थ में किसी प्रकार की बाधा अर्थात् अनन्विति होने पर, मुख्यार्थनिष्ठ तथा परम्परया उसके वाचक शब्द पर आरोपित जो गौणी शक्ति, रूढ़ि-वश अथवा विशिष्ट प्रयोजन-वश, उस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराती है, उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा शक्ति में निम्नलिखित तीन तत्त्व होते हैं—

(क) मुख्य अर्थ में अथवा तात्पर्य-मात्र में बाधा।
(ख) मुख्यार्थ का योग, (जिससे अन्यार्थ की प्रतीति होती है।)
(ग) रूढ़ि अथवा प्रयोजन।

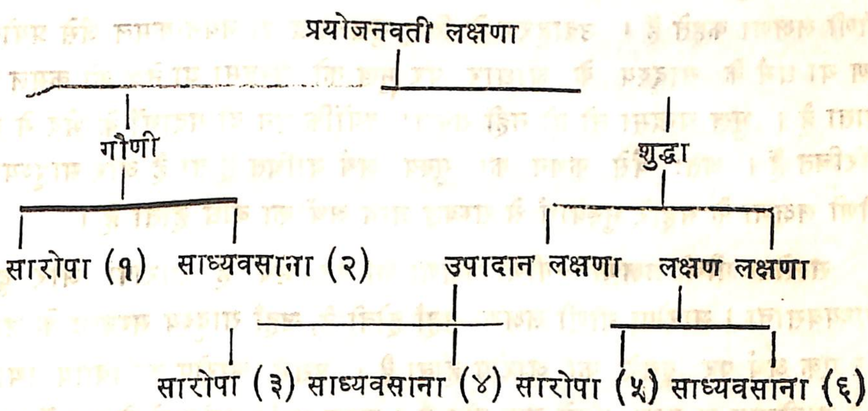
मुख्य अर्थ में अथवा तात्पर्यार्थ में बाधा होने पर ही अर्थबोध के लिए लक्षणा शब्द शक्ति का सहारा लिया जाता है। अतः मुख्यार्थ या तात्पर्यार्थ की बाधा को लक्षणा का प्रवृत्तिनिमित्त कहा जाता है। अबाधित मुख्य अर्थ का बोध अभिधा शक्ति ही करा देती है। अतः वैसी स्थिति में लक्षणा शक्ति की प्रवृत्ति नहीं होती। उस अर्थ में बाधा या अनन्विति ही लक्षणा की प्रवृत्ति का हेतु है।

मुख्य अर्थ के योग को लक्षणा का प्रयोजक माना जाता है। प्रयोजक का अर्थ है—किसी विशिष्ट प्रयोजन या उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाला। शब्द के मुख्य अर्थ का योग होने के कारण ही उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ के बोध के लिए लक्षणा शक्ति का प्रयोग किया जाता है। शब्द के लाक्षणिक अर्थ के मूल में उसका मुख्य अर्थ अन्तर्निहित रहता है।

रूढ़ि तथा प्रयोजन को लक्षणा का सार्थकता-सम्पादक कहा गया है। रूढ़ि का अर्थ है लोक-व्यवहार की प्रसिद्धि। कुछ प्रयोग लोक-व्यवहार में रूढ़ या प्रसिद्ध हो जाने के कारण लक्ष्यार्थ के बोध के लिए प्रयुक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त विशेष प्रयोजन या उद्देश्य से भी पदों का उनके मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ में प्रयोग किया जाता है। अधिकांश मुहावरों का लाक्षणिक प्रयोगभ ाषा-व्यवहार की रूढ़ि पर आधृत रहता है, तो गौणी या सादृश्यमूला लक्षणा पर आधृत अनेक आलंकारिक प्रयोग विशेष प्रयोजन से प्रेरित होते हैं। ये रूढ़ियाँ तथा प्रयोजन

ही लाक्षणिक प्रयोग को सार्थक बनाते हैं—लक्षणा शक्ति को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

लक्षणा के भेद :—लक्षणा की सार्थकता रूढ़ि अथवा प्रयोजन के आधार पर प्रयुक्त होकर किसी शब्द के मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराने में होती है। इस आधार पर लक्षणा के दो मुख्य भेद माने गये हैं--रूढ़िमूला लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। प्रयोजन अर्थात् किसी विशिष्ट अर्थ के बोध के उद्देश्य से प्रयुक्त होने वाली प्रयोजनवती लक्षणा को गौणी अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध पर आधृत तथा शुद्धा अर्थात् सादृश्य को छोड़ अन्य किसी भी सम्बन्ध पर आधृत; इन दो वर्गों में विभाजित किया गया है। गौणी लक्षणा के दो प्रकार स्वीकृत हैं—(क) सारोपा और (ख) साध्यवसाना। शुद्धा लक्षणा के चार प्रकार माने गये हैं। उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा भेदों से शुद्धा के दो रूप कल्पित कर पुनः उन दोनों के सारोपा और साध्यवसाना; ये दो-दो भेद किये गये हैं। इस प्रकार प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा के चार भेद हो जाते हैं। शुद्धा के ये चार प्रकार हैं—(१) प्रयोजनवती शुद्धा उपादान लक्षणा सारोपा (२) प्रयोजनवती शुद्धा उपादान लक्षणा साध्यवसाना (३) प्रयोजनवती शुद्धा लक्षण-लक्षणा सारोपा और (४) प्रयोजनवती शुद्धा लक्षण-लक्षणा साध्यवसाना। प्रयोजनवती लक्षणा के उक्त छह भेदों को निम्नांकित तालिका के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—



आचार्य मम्मट तथा उनके अनुयायियों के मतानुसार किये गये प्रयोजवती लक्षणा के भेदों के निम्नलिखित छह रूप बनते हैं---

१. प्रयोजनवती गौणी लक्षणा सारोपा।
२. प्रयोजनवती गौणी लक्षणा साध्यवसाना।
३. प्रयोजनवती शुद्धा उपादान लक्षणा सारोपा।
४. प्रयोजनवती शुद्धा उपादान लक्षणा साध्यवसाना।

५. प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा सारोपा और

६. प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा साध्यवसाना।

प्रयोजनवती लक्षणा का तात्पर्य है ऐसी लक्षणा से, जिसके प्रयोग के मूल में कोई निश्चित प्रयोजन या उद्देश्य हो। विशिष्ट फल के उद्देश्य से इस लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रयोजनवती लक्षणा का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—गंगायां घोषः। ऐसे प्रयोग में अर्थात् वक्ता के इस कथन में कि 'मेरा घर गंगा में है' अभिधा शक्ति से बोध्य मुख्य अर्थ में बाधा या अनुपपत्ति आती है। गंगा का अर्थ है—जल-प्रवाह रूप एक विशेष नदी, जिसमें घर का होना असंगत प्रतीत होता है। अतः गंगा शब्द के अर्थ से सम्बद्ध उसके तट-रूप अर्थ का बोध लक्षणा शक्ति से होता है। यह लाक्षणिक प्रयोग सप्रयोजन है। गंगा में जैसी शीतलता और पावनता होती है, वैसी ही शीतलता-पावनता इस घर के आस-पास भी है, यह बोध कराने के उद्देश्य से ही गंगा के बहुत निकट घर है, कहने की जगह 'गंगा में घर है' ऐसा प्रयोग किया जाता है।

प्रयोजनवती लक्षणा के गौणी तथा शुद्धा; ये दो भेद होते हैं। इन दोनों में प्रयोजन समान रूप से रहते हैं। गौणी का अर्थ है—सादृश्य सम्बन्ध पर आधृत। जिस प्रयोजनवती लक्षणा का आधार सादृश सम्बन्ध हो अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध होता हो, उसे प्रयोजनवती गौणी लक्षणा कहते हैं। उदाहरण के लिए मुख-चन्द्र या नयन-कमल जैसे प्रयोग में गुण या धर्म के सादृश्य के आधार पर मुख को चन्द्रमा या नेत्र को कमल कहा जाता है। मुख चन्द्रमा तो हो नहीं सकता, क्योंकि उन दो पदार्थों के भेद से सभी परिचित हैं। अतः वैसे कथन का मुख्य अर्थ बाधित होता है और सादृश्यमूला गौणी लक्षणा के सहारे मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध होता है।

सारोपा गौणी लक्षणा—गौणी लक्षणा का एक भेद है सारोपा और दूसरा साध्यवसाना। सारोपा गौणी लक्षणा वहाँ होती है, जहाँ सादृश्य सम्बन्ध के आधार पर एक अर्थ पर दूसरे का आरोप होता है। इसमें आरोप का विषय तथा उस पर आरोप्यमाण वस्तु; दोनों उक्त होते हैं। रूपक आदि अलंकारों के मूल में सारोपा प्रयोजनवती गौणी लक्षणा ही रहती है। सारोपा लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट ने कहा है कि इसमें विषयी और विषय अर्थात् अप्रस्तुत और प्रस्तुत; दोनों उक्त होते हैं।[1] विश्वनाथ ने इसी तथ्य को इन शब्दों में प्रस्तुत

---

१. सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, का० १४

किया है—सारोपा लक्षणा उक्त विषय का अन्य विषयी के साथ तादात्म्य-बोध कराती है।[1] तात्पर्य यह कि सारोपा लक्षणा में प्रस्तुत विषय और उस पर आरोपित होने वाला अप्रस्तुत विषयी; दोनों प्रधान या उक्त होते हैं और इस प्रकार लक्षणा-शक्ति से उन दोनों के तादात्म्य अर्थात् अभेद की प्रतीति होती है। इस लक्षणा पर आधृत रूपक अलंकार के किसी भी प्रयोग में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप और दोनों में तादात्म्य-प्रतीति का तथ्य देखा जा सकता है। 'यह लड़का शेर है' आदि कथन सारोपा गौणी लक्षणा का उदाहरण है जो लोक व्यवहार में बहुधा प्रयुक्त होता है।

साध्यवसाना गौणी लक्षणा :—साध्यवसाना लक्षणा में आरोप के विषय का कथन नहीं होकर केवल आरोप्यमाण वस्तु के कथन से विषय तथा विषयी के तादात्म्य का बोध होता है। अध्यवसाय का अर्थ होता है—विषय का निगरण कर विषयी के कथन से दोनों का अभेद-बोध। विषय के निगरण का तात्पर्य है, उसका अनुक्त होना या अप्रधान हो जाना। मम्मट ने इसीलिए यह कहा है कि जहाँ आरोप्यमाण या अस्तुत वस्तु आरोप के विषय को (प्रस्तुत वस्तु को) निगीर्ण अर्थात् आत्मसात् कर अन्यार्थ का बोध कराती हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।[2] यही लक्षणा अध्यवसान मूलक रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों के मूल में रहती है। ध्यातव्य है कि साध्यवसाना लक्षणा गौणी का भी एक भेद है और शुद्धा का भी। यदि अध्यवसान अर्थात् विषय का निगरण और विषयी के कथन से विषय और विषयी के अभेद की प्रतीति के मूल में सादृश्य-सम्बन्ध हो तो उसे साध्यवसाना गौणी लक्षणा कहेंगे और यदि सादृश्येतर कोई सम्बन्ध हो तो उसे साध्यवसाना शुद्धा कहा जायगा। साध्यवसाना गौणी का एक उदाहरण है—'धरती पर चाँद दिखायी पड़ रहा है।' ऐसे कथन में चाँद के समान सुन्दर मुखमडल के अर्थ का बोध गौणी साध्यवसाना लक्षणा कराती है।

शुद्धा लक्षणा के उपादान तथा लक्षण-लक्षणा भेद से पहले दो रूप माने गये हैं और फिर उन दोनों के सारोपा और साध्यवसाना भेद से दो-दो रूप कल्पित किये गये हैं। इस प्रकार शुद्धा लक्षणा के चार भेद स्वीकृत हैं, जिनके स्वरूप का संक्षिप्त परिचय अपेक्षित है। ये चारो भेद प्रयोजनवती के हैं। अतः प्रयोजन का तत्त्व समान रूप से शुद्धा के चारो भेदों में पाया जाता है।

---

१. विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्।
विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, २, ८

२. विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।
मम्मट, काव्यप्रकाश, का० १५

शुद्धा का अर्थ है—सादृश्य से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से सम्बद्ध। लक्षणा की परिभाषा में मुख्य अर्थ के साथ लक्ष्य अर्थ का सम्बन्ध, आवश्यक माना गया है। सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं—सादृश्य सम्बन्ध, आधाराधेयभाव सम्बन्ध, अङ्गाङ्गि-भाव सम्बन्ध, सामीप्य, तादर्थ्य, तात्कर्म्य आदि सम्बन्ध। इनमें से प्रथम अर्थात् सादृश्य सम्बन्ध गौणी लक्षणा का घटक है, शेष सम्बन्ध शुद्धा के विधायक हैं।

शुद्धा उपादान लक्षणा सारोपा—उपादान का अर्थ होता है, लेना दूसरे से कुछ ग्रहण करना। उपादान लक्षणा में बाधित या असंगत अर्थ अपनी सिद्धि या संगति के लिए अपने मूल रूप को सुरक्षित रख कर दूसरे सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण करता है। मुख्य अर्थ के अन्वय में बाधा होने पर वह मुख्य अर्थ अपने अर्थ का त्याग किये बिना अन्य अर्थ को ग्रहण कर अपनी अन्विति सिद्ध करता है। पद के मुख्य अर्थ का त्याग नहीं होने के कारण उपादान लक्षणा को 'अजहत्स्वार्था' वृत्ति कहते हैं। यदि यह उपादान लक्षणा सादृश्येतर किसी सम्बन्ध पर आधृत हो और प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत; दोनों अंगों का उल्लेख कर एक पर दूसरे का आरोप किया गया हो तो उस उपादान लक्षणा को शुद्धा सारोपा कहा जायगा। उदाहरणार्थ जब बन्दूकधारियों को आते देख कोई किसी से कहता है कि 'देखो, ये बन्दूकें इधर ही आ रही हैं' तो इस कथन में शुद्धा सारोपा लक्षणा के सहारे ही अर्थगत संगति बैठती है। बन्दूक के साथ आना क्रिया की संगति नहीं। अतः अन्य अर्थ का उपादान कर उस पद का अर्थ हो जाता है—बन्दूकधारी, जिससे वह पद क्रिया पद के साथ अन्वित हो जाता है। बन्दूक और उसे धारण करने वाले व्यक्ति में सादृश्य सम्बन्ध नहीं, सादृश्येतर धार्य-धारक सम्बन्ध है। अतः शुद्धा लक्षणा है। आरोप का विषय 'ये' सर्वनाम से तथा आरोप्यमाण वस्तु बन्दूक पद से कथित है। दोनों के उक्त होने से सारोपा है।

शुद्धा उपादान लक्षणा साध्यवसाना—सारोपा शुद्धा उपादान लक्षणा से साध्यवसाना शुद्धा उपादान लक्षणा का अन्तर केवल इतना है कि इसमें सारोपा की तरह आरोप के विषय और आरोप्यमाण; इन दोनों अंगों का कथन नहीं होकर केवल आरोप्यमाण विषयी अर्थात् अप्रस्तुत का कथन होता है और उसी से आरोप के विषय की तथा आरोप्यमाण और आरोप के विषय के बीच अभेद सम्बन्ध की प्रतीति हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि केवल इतना कहा जाय कि 'बन्दूकें आ रही हैं' तो यह शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा का उदाहरण होगा। यहाँ बन्दूक और उसे धारण करने वाले में सादृश्येतर धार्य-धारक सम्बन्ध होने से शुद्धा, बन्दूक से मुख्य अर्थ के साथ धारण करने वाले के अर्थ का ग्रहण होने से उपादान

तथा केवल आरोप्यमाण के कथन से आरोप के विषय का बोध होने से साध्यवसाना लक्षणा है।

शुद्धा लक्षण लक्षणा सारोपा—लक्षण लक्षणा को 'जहत्स्वार्था' वृत्ति भी कहते हैं। इस लक्षणा में मुख्य अर्थ के अन्वय में बाधा होने पर मुख्य अर्थ अपने आप को छोड़ कर अपने से सम्बद्ध अन्य अर्थ के रूप में बोध-गत होता है। अन्यार्थ बोध के लिए स्वार्थ का समर्पण इसका लक्षण है—'परार्थं स्वसमर्पणम्'। इस लक्षण लक्षणा के साथ यदि प्रस्तुत-अप्रस्तुत; दोनों का शब्दतः कथन हो और दोनों में सादृश्य से इतर कोई सम्बन्ध हो तो लक्षण लक्षणा का सारोपा शुद्धा रूप बनेगा। उदाहरणार्थ—शोषण पर आधृत पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में यदि पूँजीपतियों को लक्ष्य कर कहा जाता है कि 'आज ये विषधर सोने के घड़ों पर कुण्डली मार कर बैठे हैं' तो इस कथन में विषधर शब्द अपने मुख्य अर्थ को छोड़ निर्मम पूँजीपतियों के अर्थ का बोध लक्षण-लक्षणा से कराता है। 'ये' सर्वनाम पद से निर्दिष्ट पूँजीपति तथा उन पर आरोपित विषधर; दोनों का कथन होने से यहाँ सारोपा लक्षणा है और दोनों में समान कर्म का—कष्ट देने के समान कर्म का—सम्बन्ध होने से तात्कर्म्य सम्बन्ध होने के कारण शुद्धा लक्षणा है।

शुद्धा लक्षण-लक्षणा साध्यवसाना—ऊपर के उदाहरण में आरोप के विषयभूत पूँजीपति के बोधक 'ये' सर्वनाम पद का शब्दतः कथन न होकर आरोप्यमाण विषधर पद के प्रयोग-मात्र से ही यदि उस आरोप-विषय के अर्थ का बोध कराया जाय तो वहाँ साध्यवसाना शुद्धा लक्षण-लक्षणा होगी। 'आज के समाज में अनेक विषैले नाग सोने के कलश दबाये बैठे हैं' ऐसे कथन में विषैले नाग पद स्वार्थ का त्याग कर क्रूर शोषक पूँजीपति के अर्थ का बोध कराते हैं, जो लक्षण लक्षणा का आवश्यक लक्षण है। केवल आरोप्यमाण नाग के कथन से आरोप के विषयभूत पूँजीपति का बोध होने से साध्यवसाना तथा तात्कर्म्य सम्बन्ध पर आधृत होने के कारण शुद्धा लक्षणा है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा के उक्त छह भेद कर यह मान्यता व्यक्त की है कि प्रयोजनवती लक्षणा के सभी रूपों में व्यंग्य अर्थ अवश्य रहता है; क्योंकि उनमें निहित प्रयोजन का बोध व्यञ्जना व्यापार से ही होता है। व्यंग्य अर्थ की दृष्टि से प्रयोजनवती लक्षणा के उक्त छह रूपों की दो स्थितियाँ हो सकती हैं—कहीं व्यंग्य गूढ रह सकता है और कहीं अगूढ या प्रकट। व्यंग्य के इन दो भेदों से प्रयोजनवती लक्षणा के बारह प्रकार हो जाते हैं। फिर धर्मगत अर्थात् धर्म या विशेषण पर आश्रित तथा धर्मी या विशेष्य पर आधृत भेद से भी लक्षणा के उक्त सभी रूपों के दो-दो प्रकार कल्पित किये जा सकते हैं।

मम्मट ने रूढिमूला लक्षणा के भेदोपभेद कल्पित नहीं किये थे। उस व्यंग्य-रहित रूढि-लक्षणा का आधार केवल लोक-प्रसिद्धि है। लोक-व्यवहार में कुछ ऐसे लाक्षणिक प्रयोग प्रचलित हो जाते हैं जिनके पीछे कोई प्रयोजन नहीं होता। 'अमेरिका धनी देश है', 'भारत सुसंस्कृत है', 'बिहार पिछड़ा राज्य है' 'कलिंग साहसी है' जैसे कथन में विभिन्न देश के बोधक नाम पदों के साथ जो विधेय प्रयुक्त हैं, उनकी संगति उन देशों में रहने वाले लोगों के साथ ही हो सकती है। अतः वे देश-बोधक नाम-पद लक्षणा शक्ति के सहारे देश के निवासी' अर्थ का बोध कराते हैं। देश-वासी के अर्थ में देश के बोधक पद का प्रयोग रूढ है। अतः ऐसी लक्षणा को रूढिमूला लक्षणा कहते हैं।

मम्मट के उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदि ने रूढि-लक्षणा के भी अनेक भेदोपभेद किये हैं। उन्होंने प्रयोजनवती शुद्धा लक्षणा के चार भेदों की तरह ही गौणी लक्षणा के भी चार भेद कल्पित किये हैं। मम्मट ने गौणी के दो ही भेद माने थे—सारोपा और साध्यवसाना, पर विश्वनाथ ने इनके उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा भेद से चार भेद कर लिये हैं। इस प्रकार उनके मतानुसार गौणी लक्षणा के चार भेद होते हैं (१) गौणी उपादान लक्षणा सारोपा (२) गौणी उपादान लक्षणा साध्यवसाना (३) गौणी लक्षण-लक्षणा सारोपा और (४) गौणी लक्षण-लक्षणा साध्यवसाना। इन्हीं वर्गों में विभक्त शुद्धा के चार भेद और गौणी के इन चार भेदों को मिला कर विश्वनाथ के अनुसार प्रयोजनवती लक्षणा के मुख्य आठ भेद हो जाते हैं। ये आठ गूढ व्यंग्य तथा अगूढ व्यंग्य भेद से सोलह और पुनः पदगत तथा वाक्यगत भेद से बत्तीस हो जाते हैं। ये बत्तीस भेद धर्मगत तथा धर्मिगत होने के आधार पर चौंसठ हो जाते हैं। इस प्रकार विश्वनाथ ने प्रयोजनवती लक्षणा के कुल चौंसठ भेद कल्पित किये हैं।

रूढि मूला-लक्षणा के भी विश्वनाथ ने सोलह प्रकार कल्पित कर लिये हैं। गौणी और शुद्धा भेद से दो प्रकार, फिर उपादान लक्षणा और लक्षण-लक्षणा भेद से चार प्रकार और अन्ततः चारों के सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से आठ मुख्य प्रकार माने गये हैं। रूढिमूला लक्षणा के ये आठ प्रकार पद-गत तथा वाक्यगत भेद से सोलह हो जाते हैं। इस प्रकार विश्वनाथ आदि की दृष्टि में, प्रयोजनवती लक्षणा के चौंसठ तथा रूढि-लक्षणा के सोलह भेदोपभेदों को मिला कर लक्षणा अस्सी प्रकार की हो जाती है।

लक्षणा शक्ति के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि अभिधा की तरह लक्षणा का भी कार्य-क्षेत्र नियत है। यह मुख्य अर्थ से सम्बद्ध कुछ अधिक अर्थ का बोध कराती है और इस तरह भाषा की अर्थ-बोध-क्षमता को कुछ विस्तार देती है।

पर अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों से भाषिक अर्थ-बोध का सम्पूर्ण रहस्य स्पष्ट नहीं हो पाता। अतः अभिधा तथा लक्षणा शक्तियों से बोध्य अर्थ के अतिरिक्त जिन अर्थों का बोध भाषा से होता है उनके साधक के रूप में व्यञ्जना शक्ति की कल्पना की गयी है।

व्यञ्जना :—व्यञ्जना शक्ति असीम है। अभिधा और लक्षणा शक्तियों की तरह इसके कार्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित नहीं है। यह वह शक्ति है, जो शब्द से अकथित अर्थ का भी बोध करा सकती है। अभिधा एक सीमा तक पहुँच कर रुक जाती है। लक्षणा का व्यापार वहाँ से आरम्भ होता है और वह उससे सम्बद्ध कुछ आगे तक के अर्थ का बोध करा लेने के बाद विरत हो जाती है। अभिधा से बोध्य अर्थ में अन्वय की बाधा नहीं हो तो लक्षणा की प्रवृत्ति ही नहीं होगी, पर व्यञ्जना की प्रवृत्ति सर्वत्र हो सकती है। अभिधा व्यापार के साथ भी उसका कार्य आरम्भ हो सकता है और लक्षणा शक्ति के साथ भी। यहाँ से आरम्भ होकर व्यञ्जना अर्थ-बोध की अपरिमेय दूरी तक पहुँच सकती है। जैसे उँगली की पहुँच सीमित होती है—वह कुछ फीट की दूरी तक ही जा सकती है—पर उसका इंगित सीमाहीन दूरी तक जा सकता है, उसी प्रकार भाषा के शब्द अभिधा और लक्षणा शक्तियों के सहारे नियत दूरी तक ही अर्थ-बोध करा सकते हैं, पर व्यञ्जना शक्ति का सहारा लेकर वे बोध की सीमातीत दूरी तक इंगित कर सकते हैं। मानव-हृदय की अतल गहराई में छिपे भावों के उद्‌घाटन में व्यञ्जना शक्ति ही शब्द को समर्थ बनाती है। इसीलिए काव्य में व्यञ्जना व्यापार को सर्वाधिक महत्त्व मिलता रहा है।

अन्य शक्तियों से व्यञ्जना शक्ति का श्रेय इस बात में भी है कि जहाँ अभिधा केवल शब्दनिष्ठ होती है और लक्षणा प्रत्यक्षतः अर्थनिष्ठ होकर उसके वाचक शब्द पर परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध से आरोपित होती है, वहाँ व्यञ्जना शब्द-निष्ठ भी होती है और अर्थ-निष्ठ भी। इससे व्यञ्जना वृत्ति की व्यापकता और भाषिक बोध में उसकी उपादेयता समझी जा सकती है।

व्यञ्जना के स्वरूप की व्यापकता और उसके कार्य-क्षेत्र की असीमता के कारण ही शायद उसे विधिमुख परिभाषा में बाँधने का प्रयास नहीं किया गया है। अभिधा और लक्षणा की परिभाषाएँ विधिमुखेन दी गयी हैं, पर व्यञ्जना के लक्षण में उसके अपरिमेय स्वरूप की ओर निषेधमुखेन संकेत-मात्र किया गया है। असीम को विधि-मुख से परिभाषित करना सम्भव नहीं। दर्शन में ब्रह्म के व्यापक स्वरूप को विधिमुख से परिभाषित नहीं कर 'नेति नेति' जैसे वाक्य से निषेधमुखेन निर्दिष्ट मात्र किया गया है। व्यञ्जना शक्ति शब्द की अनन्त कला का—व्याकरण दर्शन

की शब्दावली में, शब्दब्रह्म की असीम लीला का—उद्घाटन करती है। शब्दब्रह्म के चिद्विलास को वह शक्ति प्रकट रूप में प्रस्तुत नहीं करती, मन में उसकी प्रतीति-मात्र जगाती है। व्यञ्जना शक्ति से बोध्य व्यंग्य अर्थ की इस विशेषता को दृष्टि में रख कर उसे प्रतीयमान अर्थ, सूच्य अर्थ, आक्षेपार्थ आदि भी कहा गया है।

शब्द की एक ही मुख्य शक्ति से—अभिधा से—शब्द के समग्र अर्थबोध के सिद्धान्त की पुष्टि में जो यह युक्ति दी गयी थी कि जैसे धनुष से छूटा हुआ बाण एक ही शक्ति से दूरी को पार कर लक्ष्य तक पहुँचता है, फिर शत्रु के कवच को तोड़ता हुआ उसके शरीर के भीतर प्रवेश करता है और उसके प्राण ले लेता है, उसी प्रकार शब्द की एक ही शक्ति उसके संकेतित अर्थ का भी बोध करा सकती है और उसके व्यंग्य अर्थ का भी, उसकी व्यर्थता सिद्ध करने के लिए शब्द, बुद्धि और कर्म की समान गति का उल्लेख करते हुए यह तर्क दिया गया है कि इन तीनों में व्यापार के विराम की स्थिति आ जाने पर वह व्यापार निष्क्रिय हो जाता है, उससे अन्य फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक बार उच्चरित शब्द एक शक्ति से एक ही अर्थ का बोध कराता है और तब उसकी वह शक्ति क्षीण हो जाती है। उस शक्ति से बोधगत अर्थ से भिन्न अर्थ के बोध के लिए फिर स्वतन्त्र शक्ति सक्रिय होती है। अभिधा और लक्षणा शक्तियों से बोध्य अर्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना शक्ति की कल्पना आवश्यक है।

व्यञ्जना की परिभाषा में कहा गया है कि जब अभिधा और लक्षणा शब्द-शक्तियाँ क्रमशः वाच्य और लक्ष्य अर्थ का बोध करा लेने के बाद विरत हो जाती हैं तब जो शक्ति अन्य अर्थ का बोध कराती है उसे व्यञ्जना शक्ति कहते हैं। यह शक्ति शब्द में भी रहती है और वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थों में भी।[1]

व्यञ्जना शब्द में प्रयुक्त 'वि' उपसर्ग 'विशिष्ट' अर्थ का द्योतक है। अञ्जन शब्द के साथ प्रयुक्त होकर वह उपसर्ग ज्ञान-दृष्टि के सामने विशेष प्रकार के अर्थ को उद्घाटित करने का अर्थ देता है। भाव-बोध को व्यक्त करने में व्यञ्जना ही समर्थ होती है, अतः काव्य में इसका विशेष महत्त्व है, पर भाषा के लोक-व्यवहार में भी व्यंग्य अर्थ का सर्वथा अभाव नहीं होता। वाग्विदग्ध वक्ता सामान्य व्यवहार में भी व्यंग्य का प्रयोग करते ही हैं और श्रोता व्यञ्जना वृत्ति के सहारे ही उस अभिप्रेत व्यंग्य अर्थ को ग्रहण करता है।

---

१. विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः।
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च॥
—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, २, १२।

व्यञ्जना के भेद :—शब्द-निष्ठ और अर्थ-निष्ठ होने के आधार पर व्यञ्जना के मुख्य दो भेद माने गये हैं—शाब्दी व्यञ्जना और आर्थी व्यञ्जना। शब्द-तत्त्व की दृष्टि से शब्द और अर्थ परस्पर अविभाज्य रूप से सम्पृक्त रहते हैं। दोनों की एक-दूसरे से स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। जो शब्दनिष्ठ होगा उसका अर्थ से सम्पर्क रहेगा ही और इसी प्रकार जो अर्थ-निष्ठ होगा वह किसी-न-किसी रूप में शब्द से भी अवश्य सम्पृक्त होगा। ऐसी स्थिति में व्यञ्जना का शाब्दी और आर्थी वर्गों में विभाजन केवल प्रधानता के आधार पर किया गया है। प्रधानतः शब्द पर आधृत और परम्परया उसके अर्थ से सम्पृक्त व्यञ्जना को शाब्दी तथा इसके विपरीत मुख्य रूप से अर्थ पर आश्रित तथा परम्परा-सम्बन्ध से उसके बोधक शब्द से सम्बद्ध व्यञ्जना को आर्थी व्यञ्जना कहा जाता है। जहाँ पर्याय-वाची दूसरे शब्द के आ जाने से व्यञ्जना का अस्तित्व मिट जाय वहाँ व्यञ्जना के विशिष्ट शब्द पर ही आश्रित होने के कारण शाब्दी तथा पर्यायवाची किसी भी शब्द का प्रयोग होने पर भी जहाँ उसका अस्तित्व बना रहे वहाँ मुख्यतः अर्थ पर आश्रित होने के कारण व्यञ्जना को आर्थी माना जाता है। स्वरूप विश्लेषण की व्यावहारिक सुविधा के लिए ऐसे विभाजन का महत्त्व है।

शाब्दी व्यञ्जना के पुनः दो वर्ग माने जाते हैं—अभिधामूला व्यञ्जना और लक्षणामूला व्यञ्जना। अभिधामूला व्यञ्जना के अनेकार्थक शब्दों में नियत अर्थ लाने वाले संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध आदि चौदह तत्त्वों के आधार पर चौदह उपभेद कल्पित हैं। लक्षणामूला व्यञ्जना के उतने ही भेद माने गये हैं जितने भेद प्रयोजनवती लक्षणा के मान्य हैं। रूढ़ि लक्षणा तो व्यंग्य-रहति होती है, पर प्रयोजनवती लक्षणा के सभी रूपों में व्यंग्य अवश्य रहता है। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के मम्मट के द्वारा कल्पित बारह भेद तथा विश्वनाथ के द्वारा कल्पित चौंसठ भेद लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना के भी भेद हैं।

आर्थी व्यञ्जना वक्ता, विषय, काकु, देश काल आदि के वैशिष्ट्य के आधार पर मुख्यतः दस प्रकार की होती है। इन दस भेदों के तीन-तीन उपभेद हो जाते हैं—वाच्य-सम्भवा अर्थात् वाच्य अर्थ पर आधृत, लक्ष्य-सम्भवा अर्थात् लक्ष्य अर्थ पर अवलम्बित और व्यंग्य-सम्भवा अर्थात् व्यंग्य अर्थ पर आश्रित। इस प्रकार आर्थी व्यञ्जना के कुल तीस भेद हो जाते हैं। इस प्रसंग में व्यञ्जना के सभी भेदों का विस्तृत विवेचन अभिप्रेत नहीं। उनके स्वरूप का संक्षिप्त निर्देश ही यहाँ अभीष्ट है।

शाब्दी व्यञ्जना—शब्द पर आश्रित व्यञ्जना शाब्दी व्यञ्जना कहलाती है। यह पर्याय-परिवर्तन को सहन नहीं कर सकती। शब्द-विशेष पर आश्रित रहने के

कारण उस शब्द के हटते ही यह व्यञ्जना भी समाप्त हो जाती है। उसी अर्थ का बोध कराने वाला कोई दूसरा शब्द भी उस आधारभूत शब्द की जगह आ जाय तो भी शाब्दी व्यञ्जना काम नहीं करती। वाचक शब्द पर आश्रित व्यञ्जना को अभिधामूला तथा लक्षक शब्द पर आधृत व्यञ्जना को लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना :—इसकी परिभाषा में कहा गया है कि अनेकार्थक शब्दों का 'संयोग', 'वियोग', आदि के आधार पर एक अर्थ निर्धारित हो जाने पर जिस शक्ति से अन्य (व्यंग्यरूप) अर्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं।[1]

अनेक अर्थों के वाचक शब्द का जब वक्ता प्रयोग करता है तब उस प्रयोग के सन्दर्भ में संयोग, विप्रयोग, साहचर्य आदि के आधार पर उसका कोई एक अर्थ नियमित हो जाता है, फिर भी उस नियमित एक अर्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थों की प्रतीति व्यञ्जना शक्ति से होती है। विशिष्ट सन्दर्भ में अनेकार्थक शब्दों के एक-एक अर्थ को नियन्त्रित करने वाले निम्नलिखित चौदह तत्त्व प्रधान हैं—(१) संयोग, (२) वियोग, (३) साहचर्य, (४) विरोध, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिंग, (८) अन्य पद की सन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) काल, (१३) व्यक्ति और (१४) स्वर आदि।[2] आदि कह कर एकार्थ-नियन्त्रक अन्य गौण तत्त्वों की भी सम्भावना स्वीकार की गयी है। चेष्टा आदि को भी एक अर्थ के निर्धारण में सहायक माना जा सकता है।

संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के एक अर्थ में नियन्त्रित होने का एक-एक उदाहरण द्रष्टव्य है। हरि के विष्णु, सिंह, वानर आदि अनेक अर्थों में से शंख-चक्र के संयोग से विष्णु रूप अर्थ नियत हो जाता है। इसी प्रकार अशंखचक्र हरि में शंख और चक्र का विप्रयोग भी उसी अर्थ को नियन्त्रित करता है। राम-लक्ष्मण प्रयोग में लक्ष्मण का साहचर्य दशरथ-सुत राम अर्थ को निर्धारित करता है, परशुराम, बलराम आदि अर्थ का व्यावर्तन कर देता है। राम-रावण जैसे प्रयोग

---

१. अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साभिधाश्रया ॥

—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, २, १४।

२. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिःस्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥ —मुक्तावली ।

में भी दशरथ-पुत्र राम अर्थ ही दोनों के प्रसिद्ध विरोध के कारण ज्ञात होता है। अर्थ या प्रयोजन के आधार पर एकार्थ-नियन्त्रण का उदाहरण है—मुक्ति पाने के लिए स्थाणु की उपासना करो। ऐसे कथन में स्थाणु का शिव रूप अर्थ ही ग्रहण किया जाता है, वृक्ष के ठूँठ का अर्थ नहीं। प्रकरण या प्रसंग से भी एक अर्थ नियत होता है, जैसे—अध्ययन कक्ष में बैठा हुआ कोई व्यक्ति किसी से कहे कि 'कलम ले आओ' तो कलम शब्द का लेखनी अर्थ ही श्रोता समझेगा। लिंग अर्थात् विशिष्टता सूचक चिह्न से एक अर्थ के नियमन का एक उदाहरण है—कुपित मकरध्वज। क्रोध का चिह्न उस शब्द से बोध्य कामदेव में ही हो सकता है, समुद्र में नहीं। अतः लिंग या चिह्न के कारण वह शब्द अपने समुद्र-रूप अर्थ को छोड़ कर कामदेव के अर्थ में ही नियन्त्रित हो जाता है। अन्य पद की सन्निधि से अर्थ के नियत होने का उदाहरण 'कर सों सोहत नाग' जैसे कथन में देखा जा सकता है। 'नाग' और 'कर'; दोनों अनेकार्थक शब्द हैं। कर की सन्निधि नाग शब्द के साँप आदि अर्थों का व्यावर्तन कर केवल हाथी रूप अर्थ का निर्धारण कर देती है और नाग पद की सन्निधि से कर का अर्थ सूँड़ ही बोधगत होता है, हाथ आदि नहीं। सामर्थ्य का अर्थ है किसी कार्य को सम्पादित करने की शक्ति। इससे किसी पद के अनेक अर्थों में से एक अर्थ के नियन्त्रण का यह उदाहरण देखा जा सकता है—'मधुमत्त कोकिल' जैसे प्रयोग में कोयल को मत्त करने की सामर्थ्य रखने वाली वसंत ऋतु का ही बोध मधु शब्द से होता है, जो उसके शराब, शहद, वसंत ऋतु आदि अनेक अर्थों में से एक है। औचित्य भी शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ के निर्धारण में सहायक होता है। जो जिसके अनुरूप हो उसे उचित कहते हैं और उचित के भाव को औचित्य कहा जाता है। पदार्थों के सम्बन्ध की योग्यता भी औचित्य के अन्तर्गत आती है। 'हरि के चढ़ते ही उड़े सब द्विज एकै साथ' जैसे कथन में पेड़ पर चढ़ने का औचित्य 'हरि' शब्द के सिंह, विष्णु आदि अर्थों में नहीं, केवल वानर रूप अर्थ में ही है और उड़ने का औचित्य द्विज शब्द के ब्राह्मण आदि अर्थ में नहीं, केवल पक्षी रूप अर्थ में ही है। अतः यहाँ औचित्य से हरि का एक अर्थ—वानर अर्थ—तथा द्विज का पक्षी अर्थ नियत हो जाता है। देश अर्थात् स्थान-विशेष के साथ सम्पर्क के कारण अनेकार्थक पद का एक अर्थ-विशेष निर्धारित हो जाता है। जैसे—'ब्रज के राम' का अर्थ देश-सम्बन्ध से बलराम ही होता है, अयोध्या के दशरथपुत्र राम या परशुराम नहीं। कालविशेष में प्रयुक्त अनेकार्थक शब्द समय के सम्बन्ध से अपने अर्थों में से किसी एक नियत अर्थ का बोध कराता है। उदाहरण के लिए, यदि यह कहा जाय कि कुवलय प्रभात काल में विकसित होता है तो श्रोता कुवलय का अर्थ कमल समझेंगे और यह कहा जाय कि 'रात में

विकसित कुवलय का सौन्दर्य दर्शनीय होता है', तो वे कुवलय शब्द का कुईं अर्थात् कुमुद अर्थ ग्रहण करेंगे। दोनों अर्थों का वाचक होने पर भी वह शब्द काल-सम्बन्ध से एक नियत अर्थ का बोध कराता है। 'उस तालाब में अभी कुवलय खिले होंगे' यह बात रात में कही जाय तो कुवलय कुमुद का बोधक होगा और दिन में कही जाय तो वह कमल का अर्थ देगा। शब्द की वाचकता के नियमन के सन्दर्भ में 'व्यक्ति' से तात्पर्य शब्द के स्त्रीलिंग पुँल्लिग आदि लिंग का है। स्त्रीलिंग में प्रयुक्त टीका शब्द पुस्तक की व्याख्या का ही बोध कराता है जबकि पुँल्लिग में प्रयुक्त टीका शब्द से केवल तिलक शब्द का बोध होता है। ऐसे शब्दों को परस्पर स्वतन्त्र शब्द मानना ही युक्तिसंगत होता, पर रूपगत साम्य के कारण उन्हें अनेकार्थवाची एक पद मान लिया गया है और अलग-अलग लिंग को अलग-अलग अर्थ का नियामक कल्पित कर लिया गया है। वैदिक भाषा में स्वर अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित (उच्चस्वर आदि) भी अनेकार्थक पद के एक अर्थ के नियमन में सहायक होता है। आधुनिक भाषाओं में स्वर की यह भूमिका प्रायः समाप्त हो गयी है। चेष्टा से वक्ता किसी प्रयुक्त पद में नियत अर्थ देने का प्रयास करता है। चेष्टा या भंगिमा का उपयोग प्रायः ऐसे पद के नियत अर्थ के बोध में होता है जिसके अर्थ का स्वरूप अनियत होता है। उदाहरणार्थ 'इतना बड़ा' कहने के समय वक्ता जब हाथ का संकेत देता है तब उससे 'इतना' का नियत अर्थ श्रोता को गृहीत होता है।

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना की अर्थ-बोध-प्रक्रिया पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेकार्थक पद संयोग आदि उक्त साधनों से एक अर्थ में नियन्त्रित होकर अभिधा शक्ति के सहारे प्रधान रूप में एक अभिप्रेत अर्थ का ही बोध कराता है, पर उस पद के अन्य संकेतित अर्थ सर्वथा लुप्त नहीं हो जाते। वे गौण पड़ कर भी मुख्य अर्थ के साथ व्यञ्जना शक्ति से अन्य अर्थ की छाया उपस्थित करते हैं। विदग्ध वक्ता अनेकार्थवाची पद की इस शक्ति—एक सन्दर्भ में अनेक अर्थों में से एक अर्थ का स्पष्ट रूप में तथा अन्य अर्थ का छाया रूप में बोध कराने की शक्ति—के द्वारा वाच्यार्थ-बोध के साथ व्यंग्य अर्थ की प्रतीति कराता है। यह व्यंग्य अर्थ केवल आभासित या प्रतीयमान होता है। यही इसका सौन्दर्य है।

श्लेष अलंकार में भी एक श्लिष्ट—अभंग या सभंग—पद अनेक अर्थों का बोध कराता है पर उससे अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना का भेद यह है कि जहाँ श्लेष में अनेकार्थवाची पद के अनेक अर्थ अभिधा शक्ति से ही बोध्य होते हैं, वहाँ इस व्यञ्जना में संयोग आदि से एक अर्थ में नियन्त्रित होकर अनेकार्थक पद अभिधा

शक्ति से एक ही अर्थ का बोध कराता है और फिर व्यञ्जना शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है।

काव्य-रचना में शब्द-सिद्ध कवि अनेकार्थवाची पदों में निहित सम्भावनाओं का उपयोग करते हुए एक सन्दर्भ में किसी विशिष्ट अर्थ में उनका नियन्त्रित प्रयोग कर उनसे अन्य अर्थों का सयत्न आभास जगाते हैं। अनेकार्थक पद के नियत एक अर्थ का बोध तो अभिधा शक्ति से होता है, पर उससे आभासित होने वाले अन्य अर्थ का बोध शाब्दी व्यञ्जना कराती है। काव्य में इसके असंख्य उदाहरण मिलते हैं। यहाँ एक ही उदाहरण प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा—

मुखर मनोहर श्याम रँग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारो झमकि **बनमाली** रसरूप॥

यहाँ 'बनमाली' अनेकार्थक पद है। उसका एक अर्थ है मेघ और दूसरा कृष्ण। 'बरसत' क्रियापद के अर्थ के साथ अन्वय की सामर्थ्य मेघ में ही होने से यहाँ बनमाली मेघ अर्थ में नियन्त्रित होकर अभिधा शक्ति से मेघ के झूम-झमक कर बरसने का अर्थ-बोध कराता है, साथ ही व्यञ्जना शक्ति से कृष्ण की प्रमुदित लीला के अर्थ की भी प्रतीति कराता है। यह शाब्दी व्यञ्जना का उदाहरण है क्योंकि व्यंग्यार्थ 'बनमाली' शब्द पर आधृत है। यदि बनमाली की जगह उसी अर्थ का बोधक 'घनमाला' शब्द रख दिया जाय तो मुख्य अर्थ तो वही रहेगा, किन्तु 'घनमाला रसरूप' से कृष्ण की लीला के अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी।

लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना—प्रयोजनवती लक्षणा के सभी रूपों में लक्षणा मूला शाब्दी व्यञ्जना निहित रहती है। जिस प्रयोजन से लक्षणा-शक्ति का प्रयोग होता है उस प्रयोजन-रूप अर्थ का बोध व्यञ्जना शक्ति से ही होता है, अभिधा या लक्षणा शक्ति से नहीं। अतः प्रयोजनवती लक्षणा के सभी भेदोपभेदों को ही लक्षणा-मूला व्यञ्जना के भी भेदोपभेद माना जाता है। प्रयोजनवती लक्षणा के भेदोपभेदों का विवेचन किया जा चुका है। प्रयोजनवती लक्षणा के एक उदाहरण पर विचार करें तो प्रयोजन के बोध में व्यञ्जना की अनिवार्य भूमिका स्पष्ट हो जायगी। गंगा तट पर घर है या गंगा के बहुत निकट घर है कहने की जगह जब कहा जाता है कि 'गंगा में ही घर है' तो इस कथन का एक विशेष प्रयोजन होता है—गंगा-जैसी पवित्रता और शीतलता का घर में होना सूचित करने का प्रयोजन। उक्त कथन में अभिधा शक्ति से बोध्य गंगा के जल-प्रवाह-रूप अर्थ और घर के मुख्य अर्थ के अन्वय में बाधा होने पर लक्षणा शक्ति की प्रवृत्ति होती है और वह गंगा पद के मुख्य अर्थ के साथ सामीप्य सम्बन्ध से सम्बद्ध 'तट' के अर्थ का बोध कराती है। इस प्रकार लक्षणा शक्ति से उस कथन का एक अन्वित अर्थ होता है—

गंगा के तट पर घर है। लक्षणा शक्ति इतना बोध करा लेने पर विरत हो जाती है। वक्ता के उक्त कथन में निहित प्रयोजन का—गंगा-सी शीतलता, पावनता आदि का बोध कराने के प्रयोजन का बोध व्यञ्जना शक्ति कराती है। लक्षणा पर आश्रित होने के कारण ऐसी व्यञ्जना को लक्षणामूला शाब्दी व्यञ्जना कहते हैं।

आर्थी व्यञ्जना—वक्ता, बोद्धव्य यानी प्रतिपाद्य विषय, काकु अर्थात् ध्वनि-विकार, वाक्य, वाच्य अर्थात् शक्य अर्थ, अन्य अर्थात् वक्ता और प्रतिपाद्य से भिन्न वाक्य और वाच्य अर्थ की सन्निधि अर्थात् सामीप्य, प्रस्ताव अर्थात् प्रकरण, देश और काल आदि के वैशिष्ट्य से जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं। उस शक्ति से आभासित होने वाले व्यंग्य अर्थ को ग्रहण करने की विशिष्ट शक्ति अर्थ के ग्राहक में भी अपेक्षित मानी गयी है। इस आर्थी व्यञ्जना को अर्थ का—वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य अर्थ का—अन्यार्थ प्रत्यायक व्यापार माना गया है।[1]

वक्ता, बोद्धव्य या प्रतिपाद्य, काकु आदि के वैशिष्ट्य के आधार पर आर्थी व्यञ्जना के मुख्य दस भेद होते हैं। फिर प्रत्येक के वाच्यसंभवा, लक्ष्यसंभवा तथा व्यंग्यार्थसंभवा भेद से तीन-तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार आर्थी व्यञ्जना के तीस भेद माने गये हैं।

आर्थी व्यञ्जना के दस भेदों का स्वरूप भेदक के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। काव्य में वक्ता स्वयं कवि हो सकता है या कवि-कल्पित पात्र। बोद्धव्य का अर्थ है प्रतिपाद्य। जिस पात्र का चित्रण कवि करना चाहता है, वह बोद्धव्य होगा। काकु का अर्थ है—कंठध्वनि का भेद। कथन का अर्थ कंठ-ध्वनि के भेद से बहुत बदल जाता है। वाक्य और वाच्य-अर्थ का स्वरूप स्पष्ट ही है। अन्य सन्निधि से तात्पर्य वक्ता और बोद्धव्य से भिन्न किसी और की सन्निधि का है। इसे वाक्य और वाच्य के साथ अन्य-सन्निधि भी कहा गया है। प्रस्ताव का अर्थ है—प्रकरण या प्रसंग। देश या स्थान, काल अर्थात् समय तथा बोलने वाले की चेष्टा का अर्थ है उसकी विशिष्ट भंगिमा। इन सबका वैशिष्ट्य व्यंग्य अर्थ की प्रतीति में सहायक होता है। ध्यातव्य है कि आर्थी व्यञ्जना की बोध-प्रक्रिया में पहले किसी उक्ति के वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य अर्थ का ग्रहण होता है, फिर उन अर्थों से

---

१. वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

—मम्मट, काव्यप्रकाश, ३, २१-२२

वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। इस दृष्टि से व्यंग्यार्थसंभवा आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप विचारणीय है। इस व्यञ्जना के मूल में आधार रूप से व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ ही रहता है। वह आधारभूत व्यंग्य अर्थ वक्ता आदि के वैशिष्ट्य से निरपेक्ष रूप में भी रह सकता है, पर आर्थी व्यञ्जना शक्ति से प्रतीत होने वाले व्यंग्य-संभव व्यंग्यार्थ के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं—एक यह कि उसके मूल में कोई व्यंग्य अर्थ रहे और दूसरी यह कि उसकी प्रतीति वक्ता आदि उक्त दस नियामकों में से किसी एक के वैशिष्ट्य से होती हो।

आर्थी व्यञ्जना के इन तीस भेदों का सोदाहरण विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा। इस सन्दर्भ में हमारा उद्देश्य शब्दशक्तियों का तात्त्विक विवेचन कर भाषा की अनन्त छटा का, अर्थ-बोध में उसकी अपरिमेय कला का, निर्देश-मात्र करना है। इस दृष्टि से व्यञ्जना शक्ति अन्य शक्तियों से अधिक स्वतन्त्र है और भाषिक बोध को विस्तार देने में सबसे अधिक समर्थ है।

व्यञ्जना शक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना को अनावश्यक मान कर उसका खंडन करने वाले विचारकों में से कुछ ने अभिधा नामक एक ही शक्ति को समग्र भाषिक बोध में समर्थ मानने के लिए उसके व्यापक स्वरूप की कल्पना कर ली है, तो दूसरों ने उसे लक्षणा में अन्तर्भुक्त मान लिया है। कुछ विचारकों ने उसे अनुमान में अन्तर्लीन मान लिया है, तो कुछ ने उसके स्थान पर दूसरे व्यापार की ही कल्पना कर ली है। इतना होने पर भी भारतीय साहित्य-शास्त्र में व्यञ्जना शक्ति का महत्त्व कम नहीं हुआ। यहाँ व्यञ्जना-विरोधी मान्यताओं का संक्षेप में मूल्यांकन कर लेना वाञ्छनीय होगा।

भट्टलोल्लट आदि अभिधावादी आचार्यों की मान्यता है कि अभिधा ही अपने दीर्घ, दीर्घतर व्यापार से भाषा में प्रयुक्त शब्द के समग्र अभिप्रेत अर्थ का बोध करा सकती है। अतः शब्दार्थ-बोध के लिए अन्य शक्तियों की कल्पना आवश्यक नहीं। शब्द जिस अर्थ का बोध कराने के उद्देश्य से प्रयुक्त होता है, वही उसका अर्थ होता है—यत्परः शब्दः स शब्दार्थः—और अभिधा उस सम्पूर्ण अभिप्रेत अर्थ का बोध करा सकती है। जैसे धनुष से छोड़ा हुआ बाण एक ही शक्ति से दूरी तय करने, कवच का भेदन करने तथा शत्रु के हृदय में प्रवेश कर उसका प्राण हरण करने के अनेक कार्य सम्पादित करता है वैसे ही शब्द एक ही अभिधा शक्ति से प्रत्यक्ष अर्थ और उसमें छिपे अन्य अर्थ का भी बोध करा सकता है।

यह उल्लेख्य है कि अभिधावादी शब्दार्थ की अनेक परतों की सत्ता तो मानते

हैं, पर उनके बोध के लिए अलग-अलग शक्तियों की कल्पना आवश्यक नहीं मानते। जिस उद्दिष्ट अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह उसका अर्थ होता है, यह मान्यता सही ही है, पर इस सिद्धान्त की सार्थकता विधि-वाक्य में मुख्यतः क्रिया के विधान के सन्दर्भ में है। उक्त सिद्धान्त का सार है कि जिस अप्राप्त अंश का ज्ञान कराने में किसी विधि-वाक्य का तात्पर्य रहता है वही उस विधि वाक्य का अर्थ होता है। यह सिद्धान्त शब्दार्थ की विभिन्न परतों के उद्घाटन के लिए विभिन्न शब्द-शक्तियों की कल्पना की व्यर्थता सिद्ध नहीं करता।

शब्द के वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ को अभिन्न तो माना नहीं जा सकता। संख्या, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, व्यपदेश, कार्य और विषय; इन आठ दृष्टियों से दोनों की भिन्नता दिखायी गयी है। वाच्यार्थ का एक नियत स्वरूप होता है, जबकि व्यंग्यार्थ वक्ता, प्रतिपाद्य आदि के वैशिष्ट्य से विविध प्रकार का हो सकता है। एक ही शब्द अनेक व्यंग्यार्थ का बोध करा सकता है। दोनों अर्थों में स्वरूपगत भेद भी हो सकता है। कहीं वाच्यार्थ विधि-रूप हो तो उसका व्यंग्य निषेध-रूप भी हो सकता है, और कहीं ठीक इसके विपरीत स्थिति भी हो सकती है। कालगत भेद भी वाच्य और व्यंग्य अर्थों का अलग-अलग अस्तित्व सिद्ध करता हैं। पहले वाच्य का बोध, फिर व्यंग्य का बोध—यह काल का क्रम दोनों बोधों में रहता है। संलक्ष्य क्रम में तो यह भेद स्पष्टतः लक्षित होता है। असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य में भी यह भेद अलक्षित भाव से रहता ही है। वाच्य शब्द पर आश्रित रहता है, व्यंग्य शब्द और अर्थ, दोनों पर, यह दोनों का आश्रय-भेद है। व्यंग्य अर्थ वर्ण, पदांश, संघटना आदि पर भी आश्रित हो सकता है। वाच्यार्थ-बोध में निमित्त व्याकरण, कोश आदि होते हैं, पर व्यंग्यार्थ-बोध के निमित्त प्रकरण, तथा ग्रहीता की सहृदयता आदि हैं। दोनों के अलग-अलग व्यपदेश भी उनका पार्थक्य सिद्ध करते हैं। वाच्य केवल बौद्धिक ज्ञान उत्पन्न करता है, जबकि व्यंग्य अनुभूति जगाता है। यह दोनों का कार्य-भेद है। दोनों के विषय भी अभिन्न नहीं। अतः वाच्य और व्यंग्य अर्थों का भेद अनुभवसिद्ध है। जब अर्थ-बोध की अलग-अलग परतों के रूप में वाच्य और व्यंग्य की अनुभवसिद्ध सत्ता को अभिधावादी भी स्वीकार करते ही हैं, तब एक ही शक्ति के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार की कल्पना कर व्यञ्जना शक्ति के खंडन के आग्रह में विशेष औचित्य नहीं जान पड़ता। तात्त्विक दृष्टि से भले ही भाषा और भाषिक बोध की एक अखण्ड सत्ता मानी जाय—जैसी स्फोट दर्शन में मानी गयी है—पर भाषा के व्यवहारगत स्वरूप और उसकी बोध-प्रक्रिया के विश्लेषण में अलग-अलग तीन शक्तियों की कल्पना का कम महत्त्व नहीं।

मीमांसा-मत के अनुसार शब्द-बोध में व्यञ्जना शक्ति की कोई उपयोगिता नहीं। अन्विताभिधानवादी मीमांसक अभिधा शक्ति से ही वाक्य में परस्पर अन्वित अर्थों का बोध मानते हैं। अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की दृष्टि में अभिधा से ज्ञात पदों के अलग-अलग अर्थ तात्पर्य-शक्ति से—योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति के कारण एक वाक्य में परस्पर अन्वित होकर वक्ता के पूर्ण बोध को व्यक्त करते हैं। अतः वक्ता के अभिप्रेत सम्पूर्ण अर्थ का बोध अभिधा और तात्पर्य वृत्तियों से ही होता है, व्यञ्जना शक्ति की, अर्थ-बोध में कोई भूमिका नहीं रह जाती। मीमांसकों की मान्यता है कि शब्द कारण है और अर्थ कार्य। व्यंग्य अर्थ भी कार्य है, जिसका कारण शब्द ही होता है। अतः शब्द के अर्थरूप कार्य में साधक अभिधा ही समग्र व्यंग्य अर्थ के बोध में भी साधक हो सकती है, उसके लिए अन्य साधक की कल्पना आवश्यक नहीं। यह युक्ति बहुत सबल नहीं। व्यंग्य अर्थ के बोध में शब्द को केवल ज्ञापक हेतु माना जा सकता। शब्द का वाच्य अर्थ के साथ जैसा कारण-कार्य सम्बन्ध होता है, ठीक वैसा ही व्यंग्य अर्थ के साथ नहीं। अतः व्यंग्य अर्थ के बोध में व्यञ्जना वृत्ति के अस्तित्व की कल्पना समीचीन ही है।

महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' में व्यंग्य अर्थ को अनुमान का विषय मान कर उसके बोध के लिए व्यञ्जना शक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व के खण्डन का प्रयास किया है। न्याय की पद्धति पर वे यह मानते हैं कि शब्द की एक मात्र शक्ति मुख्य शक्ति अर्थात् अभिधा है। वे प्रतीयमान अर्थ की सत्ता तो मानते हैं, पर उसकी सिद्धि अनुमान से मानते हैं। उस अर्थ की सिद्धि के लिए वे व्यञ्जना नामक स्वतन्त्र शक्ति की कल्पना को अनावश्यक मानते हैं। उनकी युक्ति है कि प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ अनिवार्यतः वाच्य अर्थ से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार के नियत व्यंग्य-व्यञ्जक-सम्बन्ध की व्याप्ति होने के कारण अनुमान की प्रक्रिया में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है। अनुमान में व्याप्तिमान और नियत-धर्मी में रहने से तीन लिंग से लिंगी का जो ज्ञान होता है, उससे व्यंग्य-व्यञ्जक भाव भिन्न नहीं।

इस मान्यता का व्यञ्जनावादियों ने खण्डन किया है। विधि रूप कथन से जहाँ निषेध व्यञ्जित होता है, वैसा उदाहरण लेकर महिमभट्ट ने प्रतीयमान निषेधरूप अर्थ के अनुमान में वाच्य को जो हेतु मान लिया है, उसे मम्मट ने हेत्वाभास सिद्ध किया है और यह मान्यता व्यक्त की है कि समग्र भाषिक उक्तियों में व्यंग्यार्थ के मूल में निहित शब्द तथा वाच्य आदि अर्थों को नियत हेतु सिद्ध करना सम्भव नहीं। अतः व्यंग्य अर्थ की सिद्धि के लिए व्यञ्जना शक्ति की कल्पना आवश्यक है।

कुछ विचारकों ने अभिधा शक्ति से बोध्य वाच्य अर्थ से भिन्न समग्र संभावित अर्थों के बोध की शक्ति लक्षणा में मान कर उसी में व्यञ्जना को अन्तर्भुक्त मान लिया है। उनकी युक्ति है कि व्यंग्यार्थ की सारी प्रकृति लक्ष्यार्थ से अभिन्न है। उदाहरणार्थ मुख्य अर्थ में बाधा होने पर ही लक्ष्यार्थ का भी बोध होता है और व्यंग्यार्थ का भी। यदि एक वाच्य अर्थ के आधार पर अनेक व्यंग्य अर्थ बोधगत हो सकते हैं तो एक वाच्य से अनेक लक्ष्य अर्थों का भी बोध हुआ करता है। फिर, यदि वाच्य अर्थ का बोध शब्दनिष्ठ अभिधा शक्ति से होता है तो लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों का बोध समान रूप से शब्द और अर्थ; दोनों पर आश्रित शक्ति से होता है। इसके अतिरिक्त, प्रकरण आदि समान रूप से लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ की सिद्धि में सहायक हैं। ऐसी स्थिति में प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि के लिए लक्षणा से स्वतन्त्र व्यञ्जना नामक वृत्ति की कल्पना की क्या आवश्यकता है?

व्यञ्जना शक्ति की लक्षणा से स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए लक्ष्य अर्थ से व्यंग्य अर्थ का वैशिष्ट्य बताते हुए व्यञ्जनावादियों ने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं—(क) एक उक्ति के लक्ष्य अर्थ यदि अनेक भी हों तो वे सार्वत्रिक रूप से नियत सम्बन्ध वाले ही होते हैं, पर व्यंग्य अर्थ नियत सम्बन्ध, अनियत सम्बन्ध तथा सम्बद्ध सम्बन्ध अर्थात् परम्परित सम्बन्ध वाले हो सकते हैं। अतः लक्ष्य और व्यंग्य की प्रकृति परस्पर भिन्न है। वाच्य से अनियत सम्बन्ध वाले व्यंग्य का बोध लक्षणा शक्ति नहीं करा सकती। (ख) लक्षणा अभिधा की पुच्छभूत शक्ति है। उसे अभिधा से सम्बद्ध उससे आगे के अर्थ-बोध में सहायक माना जाता है। लक्षणा की प्रवृत्ति वहीं होती है जहाँ मुख्य अर्थ के अन्वय में बाधा हो। उसमें मुख्य अर्थ का योग और उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध होता है, तथा लक्षणा रूढिगत या प्रयोजन-मूला हो सकती है। व्यञ्जना की प्रवृत्ति की ऐसी सीमा नहीं, फिर व्यञ्जना रूढि पर आश्रित नहीं होती और इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह कि लक्षणा के आधारभूत प्रयोजन की प्रतीति स्वयं लक्षणा शक्ति से नहीं हो सकती। उसके लिए व्यञ्जना शक्ति का सहारा लेना आवश्यक होता है। अभिधामूला व्यञ्जना को लक्षणा से अभिन्न मानने में कोई युक्ति नहीं होगी। प्रयोजनवती लक्षणा में भी व्यंग्यार्थ का बोध लक्ष्यार्थ के बोध के बाद होता है। अतः लक्षणा और व्यञ्जना की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मानी ही जानी चाहिए।

निष्कर्ष यह कि भाषिक बोध के व्यापक स्वरूप और उसकी अलग-अलग कोटियों के विश्लेषण में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना; इन तीन शक्तियों की पकल्ना कर आचार्यों ने अर्थ-बोध की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण का वैज्ञानिक आधार दिया है। यह ठीक है कि किसी प्रयुक्त वाक्य के पदों से ही अर्थ के विभिन्न स्तरों

का ज्ञान हमें होता है, पर यह भी सही है कि हम उसके अर्थ-बोध की एक कोटि से दूसरी और तीसरी कोटि तक पहुँचते हैं। अर्थ की विविध कोटियों के स्वरूप-विश्लेषण और उनकी बोध-प्रक्रिया के उद्घाटन में तीन शक्तियों की कल्पना से स्पष्टता और वैज्ञानिकता ही आयी है। शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने में इन शक्तियों के स्वरूप की विशेष उपादेयता है।

पाश्चात्य दर्शन में शब्द-अर्थ का सम्बन्ध-निरूपण—पाश्चात्य दार्शनिकों एवं तर्कशास्त्र के विचारकों ने ज्ञान-मीमांसा के सन्दर्भ में शब्द और अर्थ के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या पर विचार किया है। शब्द-अर्थ की समस्या दार्शनिक चिन्तन का एक आवश्यक अंग है। शब्द तत्त्व-निरूपण का माध्यम है। अतः तत्त्व-निरूपण में शब्द की शक्ति-सीमा के मूल्यांकन की दृष्टि से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध दार्शनिक मीमांसा का एक महत्त्वपूर्ण विषय बन गया है।

भारतीय दार्शनिकों की तरह ग्रीक दार्शनिकों के भी शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में दो सम्प्रदाय रहे हैं। एक सम्प्रदाय के विचारक शब्द और अर्थ में आन्तरिक तथा नित्य सम्बन्ध मान कर उनके स्वरूप पर विचार कर रहे थे, तो दूसरी ओर दूसरे सम्प्रदाय के विचारक शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लोकव्यवहार से आरोपित बाह्य, और अनित्य मान कर चल रहे थे। उन दो परस्पर विरोधी मतों में से कौन ऐकान्तिक रूप से मान्य है, यह निर्णय करना सरल नहीं है। भाषा के स्वरूप की व्यापकता, शब्दार्थ-सम्बन्ध की अनेकरूपता तथा शब्द और अर्थ की अनन्तता की दृष्टि से उक्त दोनों मतों में आंशिक सत्य के दर्शन हो सकते हैं। आज के भाषावैज्ञानिक चिन्तन में भाषा के स्वरूप की समग्रता में उसके अध्ययन-विश्लेषण पर बल दिया जाता है। भाषिक संरचना और उससे व्यक्त अर्थ की पूर्णता की कल्पना में सबसे बड़ी बाधा यह है कि मानव-मस्तिष्क की सीमा के कारण उससे निर्मित भाषिक रूप सर्वथा पूर्ण नहीं हो पाता। इसीलिए प्रो० एन्ट्विस्ले (Prof. Entwistle) ने Aspects of Language नामक अपनी पुस्तक में भाषा के स्वरूप की अपरिमेयता की ओर लक्ष्य कर कहा है कि मैं न तो भाषा के स्वरूप को पूर्णतः व्यवस्थित ही पाता हूँ और न पूर्णतः अव्यवस्थित ही। भाषा की इस अपरिमेय प्रकृति ने ही दार्शनिक चिन्तन के क्षेत्र में अनेक परस्पर विरोधी मतवादों को जन्म दिया है। सभी मतों को अपनी पुष्टि के लिए भाषा के व्यापक स्वरूप से कुछ उपयुक्त उदाहरण मिल जाते हैं। इस प्रसंग में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार का मूल्यांकन अभिप्रेत है।

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण के प्रसंग में सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि अर्थ के वाचक शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई तथा अर्थ से

उसका सम्बन्ध कैसे हुआ ? शब्द और अर्थ में बाह्य और अनित्य सम्बन्ध मानने वाले ग्रीक दार्शनिकों की दृष्टि में शब्द लोकव्यवहार से निर्धारित ध्वनि-प्रतीक है जो अर्थ के साथ सम्बद्ध हो जाता है। इसके विपरीत शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध मानने वाले ग्रीक दार्शनिकों ने यह युक्ति दी है कि शब्द या ध्वनि और अर्थ में एक आन्तरिक सम्बन्ध रहता है भले ही कालक्रम में उस आन्तरिक सम्बन्ध की आभा धूमिल पड़ गयी हो। बहुत-से शब्दों में समान मूल (धातु आदि) को देख कर, समान अर्थ के बोधक अनेक शब्दों को या पर्यायवाची शब्दों को देख कर तथा श्रुतिसमभिन्नार्थक शब्दों या अनेकार्थवाची शब्दों को देखकर यह युक्ति दी गयी है कि किसी समय किसी ध्वनि का किसी अर्थ के साथ आन्तरिक सम्बन्ध रहा होगा जो सम्बन्ध कालक्रम से धूमिल पड़ता गया है। आज के भाषाविज्ञानी भी जब सभी भाषाओं में Transparent और opaque (पारदर्श और अपारदर्श) शब्दों की सत्ता मानते हैं तो उस मान्यता में शब्द और अर्थ के आन्तरिक तथा बाह्य दोनों सम्बन्धों की स्वीकृति निहित रहती है।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करते हुए दोनों में भेद के सिद्धान्त की स्थापना की थी। वे शब्द का सम्बन्ध अर्थ के वैशिष्ट्य के बोध से मानते थे। कुछ भारतीय मनीषियों ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि शब्द की मुख्य शक्ति अर्थात् अभिधा से वस्तु के गुण आदि का ही बोध होता है। उदाहरणार्थ घड़ा कहने से एक विशेष वस्तु के आकार-प्रकार, वर्ण आदि का ही बोध होता है, उनसे भिन्न या उनके आश्रयभूत विशेष्य का नहीं। प्लेटो शब्द को वस्तु या विचार के वैशिष्ट्य का ही बोधक मानते थे।

शब्द और अर्थ को—नाम और वस्तु को—परस्पर भिन्न मानने में प्लेटो की युक्ति यह थी कि जहाँ नाम या वस्तु के बोधक शब्द सीमित हैं, वहाँ वस्तुएँ असंख्य और असीम हैं। एक संज्ञा अनेक वस्तुओं का बोध करा सकती है।[1] भारतीय वैयाकरणों ने अनेकार्थवाची एक शब्द को भी अनेक अर्थों के अनुरूप अनेक माना है और यह युक्ति दी है कि ऐसे शब्द में तात्त्विक अनेकता में भी एकत्व का भान केवल इसलिए होता है कि उनके उच्चारण का स्थान-प्रयत्न समान होता है। पर प्लेटो एक शब्द से अनेक अर्थ के बोध को शब्द के परिमित तथा अर्थ के अपरिमित होने का प्रमाण मानते हैं। इसके विरुद्ध एक अर्थ के लिए अनेक शब्दों के प्रयोग का भी उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह कि प्लेटो की दृष्टि में शब्द और अर्थ की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता

---

1. प्लेटो, ऑन सॉफिस्टिकल रिफ्युटेशन।

है। शब्द अर्थ की अभिव्यक्ति के साधन हैं। अर्थ को प्लेटो अधिक महत्त्व देते हैं। शब्द अर्थ की तुलना में गौण हैं। अर्थ अपरिमित हैं। उनकी अभिव्यक्ति के साधनभूत शब्द परिमित हैं।

अरस्तू ने भी, प्लेटो की तरह, वस्तु या अर्थ को उसके वाचक शब्द या नाम से भिन्न माना है। उनकी मान्यता है कि नाम यथार्थ का ज्ञान कराने में असमर्थ है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रतीक रूप में उसके प्रयोग के समय घटित होता है। तात्पर्य यह कि शब्द और अर्थ में तात्त्विक भेद है, फिर भी जब भाषिक प्रयोग में अर्थविशेष के लिए शब्दविशेष का व्यवहार होता है, तब दोनों का सम्बन्ध घटित होता है। शब्द अर्थ को प्रतीकित करने वाला ध्वनि-प्रतीक है। अतः प्रतीक रूप में उसके प्रयोग के समय उससे द्योतित होने वाले अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध घटित होता है। वह सम्बन्ध तात्त्विक, नित्य और आन्तरिक नहीं; व्यावहारिक, सामयिक और बाह्य होता है। लाक्षणिक प्रयोग में—रूपक आदि में—एक वस्तु को दूसरी वस्तु के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है। इसे अरस्तू इस बात का प्रमाण मानते हैं कि शब्दविशेष के साथ अर्थविशेष का नित्य या अव्यभिचारी सम्बन्ध नहीं। भाषा के व्यवहार में शब्द में होने वाले अर्थपरिवर्तन को—जो कुछ अंश में आलंकारिक प्रयोग आदि के कारण घटित होता है—शब्द और अर्थ के अनित्य एवं व्यभिचारी सम्बन्ध का प्रमाण माना जा सकता है।[1]

शब्द तथा वाक्य के अर्थ-बोध के स्वरूप पर विचार करते हुए अरस्तू ने यह निष्कर्ष दिया है कि शब्द किसी साधारण अर्थ से युक्त रहता है; पर जब वही वाक्य का अंग बन जाता है तब वह अनेक अर्थों से युक्त हो जाता है।[2] स्पष्टतः यह विचार वाक्यार्थ को शब्दार्थों का योग मात्र नहीं मान कर, अपने में पूर्ण एक अखण्ड अर्थ मानने वाले अन्विताभिधानवादी भारतीय विचारकों के मत के निकट है। अरस्तू के इस विचार का महत्त्व इस दृष्टि से भी परखा जा सकता है कि आधुनिक भाषाविज्ञान में जो एक सम्प्रदाय के विचारक किसी शब्द के अर्थ का निर्धारण सन्दर्भविशेष में उसके प्रयोग के आधार पर ही सम्भव मानते हैं, उसका संकेत अरस्तू के इस विचार में निहित था। भारतीय विचारकों ने शब्द के संकेतग्रह के आठ साधनों में से एक साधन वाक्यशेष या प्रकरण को माना था। इस अंश में अरस्तू के विचार भारतीय विचारकों के विचार से मिलते-जुलते हैं, यद्यपि वाक्यशेष के साथ व्यवहार, आप्तवाक्य, उपमान, विवृति, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, व्याकरण

---

१. अरस्तू, ऑन इन्टरप्रिटेशन्स।
२. वही।

तथा कोष, इन सात साधनों को भी शब्द के संकेतग्रह में सहायक मान कर भारतीय विचारकों ने कुछ अधिक व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है।

स्टोइक दार्शनिकों ने भी शब्द को ऐसा ध्वनि-संकेत माना है, जो किसी वस्तु की ओर निर्देश करता है। वे शब्द से निर्दिष्ट वस्तु के साथ-साथ तात्पर्य को भी उसका अर्थ मानते हैं। सेक्सटस इम्पिरिकस के अनुसार 'अभिधा-चिह्न सामान्य तथा विशिष्ट; दो अर्थों से युक्त होता है।' इस प्रकार एक ओर शब्द तथा दूसरी ओर उससे निर्दिष्ट वस्तु तथा तात्पर्य के सम्बन्ध का निरूपण स्टोइक दार्शनिकों को अभिप्रेत है। उन्होंने ध्वनि-संकेत, उससे निर्दिष्ट वस्तु तथा तात्पर्य में भेद माना है। इन सब की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मान कर उन दार्शनिकों ने शब्द या ध्वनि-संकेत को वस्तु तथा तात्पर्य के द्योतन में सहायक माना है। इस प्रकार उनकी यह धारणा भी स्पष्ट हो जाती है कि अर्थ—वस्तु या तात्पर्य—प्रधान है, शब्द गौण। अतः उनका अध्ययन मुख्य रूप से अर्थ से सम्बद्ध है, शब्द के स्वरूप से नहीं।[1]

मेलांक्थस का मत है कि शब्द में अभिव्यक्ति पाने के पूर्व भी अर्थ की सत्ता रहती है। स्पष्टतः यह मत शब्द की पूर्वसत्ता मानने का विरोधी है। मेलांक्थस शब्द और अर्थ में अभेद सम्बन्ध भी नहीं मानते। अर्थ अभिव्यक्ति पाने के लिए शब्द के रूप में ढलता है। शब्द के रूप में ढला हुआ वह अर्थ ही शाब्दबोध का विषय बनता है। इस तथ्य को व्यक्त करने के लिए मेलांक्थस ने कहा है कि 'हम शब्दों को नहीं सुनते। जिन्हें हम पृष्ठों पर अंकित देखते हैं, उन शब्दों को भी नहीं सुनते। हम उन शब्दों को सुनते हैं, जिनकी पूर्व-सत्ता है, जो सरलतर हैं और इसलिए जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।[2] इस तरह इस विचार का सार यह है कि अर्थ की सत्ता शब्द से पूर्ववर्ती है। शब्द के रूप में ढल कर वह बोध का विषय बनता है। हम उस अर्थवान शब्द को सुनते और समझते हैं, जिसका अस्तित्व हमारे मन में पहले से रहता है। अर्थ के इस भाषिक व्यवहार में शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध घटित होता।

हॉब्स आदि मानवतावादी दार्शनिकों ने शुद्ध अर्थ के अन्वेषण के उद्देश्य से शब्द के स्वरूप का अध्ययन किया है। हॉब्स की धारणा है कि चूँकि ईश्वर ने सर्वप्रथम शब्द और उसके अर्थ की व्यवस्था की थी, इसलिए शब्द का अर्थ नियत और अपरिवर्तनीय होना चाहिए। ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में स्वनिर्मित प्राणियों

---

१. बोड़ेंस्की, हिस्ट्री ऑफ फॉर्मल लॉजिक।
३, वही, पृ० ३०५-४०

को आदम के सामने लाकर उनका नामकरण करने को कहा था। आदम के मुँह से जिस प्राणी को देख कर जो शब्द अनायास उच्चरित हो गया वही उस प्राणी का नाम हो गया। ईश्वर की प्रेरणा से की गयी शब्द-अर्थ की इस व्यवस्था में यदि कहीं कोई परिवर्तन होता है, तो उसका कारण मनुष्य की भ्रान्ति को ही माना जाना चाहिए। हॉब्स शब्द में कालक्रम से होने वाले अर्थ-परिवर्तन से परिचित थे, पर वे उस परिवर्तन को सामाजिक, सांस्कृतिक, मानसिक अनिवार्यता से घटित सहज विकास की प्रक्रिया नहीं मान कर, मानव की भ्रान्ति से उत्पन्न अशुद्ध प्रयोग-मात्र मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने बहुत आगे बढ़ कर इसे राजा का दायित्व मान लिया कि वह शब्द-अर्थ की व्यवस्था को बनाये रखे और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या अशुद्धि न आने दे। यदि कुछ शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी दो मत हों तो राजा उस विरोध को दूर कर एक उचित अर्थ का निर्धारण करे।[1] भारतीय विचारकों ने भी श्रुति की परम्परा में भाषा के शुद्ध अनुकरण पर बल दिया था, जिससे उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सके, पर शुद्ध अनुकरण का दायित्व उसका व्यवहार करने वाले भाषिक समुदाय पर ही था, राजा या किसी एक व्यक्ति पर नहीं। उस सतर्कता के बाद भी भाषा में परिवर्तन की सहज गति रुक नहीं सकी, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

प्राचीन युग के विचारक राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। शायद इसीलिए हॉब्स ने शब्दार्थ-विषयक ईश्वरीय व्यवस्था की रक्षा का सम्पूर्ण दायित्व राजा पर दे दिया था। शब्द में अर्थ-बोध की शक्ति को ईश्वरेच्छा से आरोपित मानने का यह सिद्धान्त सर्वथा मौलिक नहीं। बाइबिल में इसी प्रकार का विश्वास व्यक्त किया गया है। भारत के अनेक प्राचीन विचारकों ने भी शब्द के संकेत को ईश्वरेच्छा-रूप माना है। वस्तुतः पूरब तथा पश्चिम के प्राचीन विचारकों के चिन्तन की एक प्रमुख विशेषता ईश्वर की असीम शक्ति में आस्था थी, जिसके अनुसार सृष्टि की सभी व्यवस्थाओं के मूल में ईश्वर की इच्छा को हेतु माना जाता था। हॉब्स के मत का विशेष रूप से विचारणीय अंश यह है कि शब्दार्थ की व्यवस्था का कार्य राजा को करना चाहिए।

वैचारिक धरातल पर यह मत नितान्त निर्मूल जान पड़ता है। इसमें राजा के सीमाहीन अधिकार-क्षेत्र के समर्थन की गन्ध भी मिल सकती है। हॉब्स शायद अपनी इस सीमा से परिचित नहीं थे कि स्वयं उन्हें भी यह अधिकार नहीं था कि वे राजा को शब्दार्थ की व्यवस्था का अधिकार दें। वस्तुतः शब्द के अर्थ का

१. हॉब्स, लेवियाथन

निर्धारण लोक-व्यवहार से होता है और उसमें शब्द के सतत आदान-प्रदान से होने वाले विकास की प्रक्रिया का प्रतिफलन अर्थ-परिवर्तन के रूप में होता है। अतः न तो शब्दार्थ की नियत व्यवस्था से शब्द के अर्थ-विकास की प्रक्रिया को रोका जा सकता है और न उसके मूल में निहित सामाजिक, मानसिक आदि कारणों की उपेक्षा कर उसे भ्रमजनित अशुद्ध प्रयोग ही कहा जा सकता है। किन्तु, व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर शब्दार्थ के निर्धारण में राज्यसत्ता के प्रभाव को कुछ हद तक समझा जा सकता है। इस प्रसंग में महत्त्व इस बात का नहीं है कि राजा को शब्दार्थ के निर्धारण का अधिकार होना चाहिए या नहीं, महत्त्व इस बात का है कि प्रभुसत्ता शब्दार्थ को किसी अंश में प्रभावित करती है या नहीं। जब हम लोक-व्यवहार के प्रवाह में सहज भाव से शब्दविशेष के साथ अर्थविशेष के सम्बन्ध की कल्पना करते हैं तब शब्दार्थ के निर्धारण में व्यक्तिविशेष या संस्था-विशेष के योगदान को सर्वथा उपेक्षणीय नहीं मान सकते। एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का समुदाय कभी-कभी कुछ शब्दों का निर्माण करता है और उसके अर्थ का निर्धारण करता है। कृत्रिम भाषा में तो शब्दार्थ का निर्धारण व्यक्तियों के समुदाय के द्वारा एक निश्चित समय में हुआ करता है। शासकीय कार्य के लिए राज्यसत्ता समय-समय पर नवीन शब्दावली का निर्माण कराती है और उन शब्दों में अपनी व्यवस्था-नीति के अनुरूप अर्थवत्ता प्रदान करती है। शासकीय कार्य में प्रचलित हो जाने पर जनमानस उन शब्दों और उनके निर्धारित अर्थों को मान लिया करता है। कभी-कभी प्रभुसता के द्वारा निर्धारित शब्द-अर्थ नितान्त असंगत और भ्रामक होने पर भी जन सामान्य के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है, क्योंकि सत्ता के द्वारा स्वीकृत एवं प्रयुक्त शब्दावली में परिवर्तन करने में जनसामान्य असमर्थ होता है। विभिन्न देशों की सत्ता के द्वारा निर्मित शब्दावली तथा उसके निर्धारित अर्थों पर विचार करने से विसंगति के असंख्य उदाहरण मिल सकते हैं। हम यहाँ उदाहरण के रूप में भारत-सरकार की शब्दावली में से केवल एक शब्द के अर्थ पर विचार करें। जिला के प्रशासक पदाधिकारी के लिए जिलाधीश शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। जिलाधीश शब्द की व्युत्पत्ति तथा उससे प्राप्त अर्थ पर विचार करने से उस प्रयोग की विसंगति स्पष्ट हो जाती है। जनतान्त्रिक व्यवस्था में कोई अधीश नहीं होता, जनप्रतिनिधियों के द्वारा राज्य-कार्य का संचालन होता है। सरकारी कर्मचारी या पदाधिकारी लोक-सेवक माने जाते हैं। पर यह कैसी विडम्बना है कि लोक-सेवा के किसी सदस्य को एक क्षेत्र का सेवक नहीं कहकर वहाँ का अधीश कहा जाय! इस विसंगति के होने पर भी प्रभु-सत्ता के द्वारा एक विशिष्ट अर्थ में जिलाधीश शब्द के प्रयोग को स्वीकृति मिल जाने पर, वह शब्द जनसामान्य के द्वारा प्रयोग में स्वीकार कर लिया गया। शब्द अपने अर्थ को

कितना प्रभावित करता है, यह भी उस शब्द के प्रभाव में देखा जा सकता है। जिला के वे लोक-सेवक वास्तविक अर्थ में जिला के अधीश बन बैठे हैं और जन-सामान्य ने भी अपने उन सेवकों को उनकी उपाधि के अनुरूप अपना अधीश मान लिया है। स्पष्ट है कि विसंगतियों के होने पर भी कोई शब्द प्रभुसत्ता के द्वारा स्वीकृत हो जाने पर किसी अर्थ में चल पड़ता है।

धार्मिक सम्प्रदाय, राजनीतिक संस्था आदि के द्वारा भी किसी शब्द का किसी नवीन अर्थ में प्रयोग किया जाता है। बौद्ध सम्प्रदाय में भिक्षु या उसीसे विकसित भिक्खु शब्द को नयी अर्थवत्ता मिली। सामान्य भिखारी के अर्थ में प्राचीन काल से प्रयुक्त होने वाला वह शब्द बौद्ध सम्प्रदाय में सर्वस्व त्याग कर निःस्व बन जाने वाले तथा भिक्षामात्र वृत्ति पर जीवन-यापन करने वाले आदर्श संन्यासियों के लिए प्रयुक्त होने लगा। हॉब्स के विचार के अनुसार नये अर्थ में भिक्षु शब्द के प्रयोग को अशुद्ध या भ्रान्त प्रयोग माना जायगा, पर तथ्य यह है कि इस नये अर्थ में भिक्षु शब्द का प्रयोग सुचिन्तित है, जिसके मूल में बौद्ध विचारकों का जीवन-दर्शन निहित है।

निष्कर्ष यह कि हॉब्स के द्वारा प्रतिपादित भाषा की ईश्वरीय व्यवस्था का सिद्धान्त आज के बुद्धिवादी युग में मान्य नहीं हो सकता। उनका यह विचार भी उचित नहीं कि अर्थ-परिवर्तन सार्वत्रिक रूप से भ्रान्त या अशुद्ध प्रयोग है। उनका यह सुझाव, कि किसी शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में दो मत होने पर राजा को उचित निर्णय देना चाहिए, अवैज्ञानिक है। प्रभुसत्ता भले ही कुछ शब्दों के अर्थ की व्यवस्था राज्य के कार्य के लिए कर ले, पर जनसमुदाय के बीच प्रचलित भाषा के व्यापक स्वरूप को नियन्त्रित करना उसके वश की बात नहीं। कुछ शब्दों में नवीन अर्थवत्ता तो एक व्यक्ति, एक संगठन भी दे सकता है, पर इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि उस व्यक्ति या संगठन को समग्र शब्दसमूह के अर्थ-निर्धारण का अधिकार है, या मिलना चाहिए।

इन सीमाओं के होने पर भी हॉब्स के शब्दार्थ-चिन्तन की शक्ति यह है कि उन्होंने भाषा को मानसिक संलाप का शाब्दिक संलाप में रूपान्तरण मान कर भाषा के सूक्ष्म मानसिक स्वरूप पर भी विचार किया है। उस सूक्ष्म मानसिक रूप में ही अर्थ शब्द के रूप में ढलते हैं और तब ध्वनियन्त्र से उच्चरित होकर भाषा के व्यक्त रूप में आते हैं। भारतीय विचारकों ने व्यक्त या बैखरी भाषा के पूर्व की सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अवस्थाओं की कल्पना क्रमशः मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाक् के रूप में की है। हॉब्स का चिन्तन उतनी दूर तक नहीं जाने पर भी भाषा के मानस संलाप की स्थिति तक पहुँचा है। आज के मनोभाषा-

विज्ञानी भाषा के उसी मानसिक पक्ष पर विशेष रूप से विचार करते हैं, जबकि भाषाविज्ञानी भाषा के उच्चरित रूप का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं। भाषा के स्वरूप के अध्ययन की इन दोनों दिशाओं की ओर हॉब्स ने निर्देश कर दिया था। उनकी दृष्टि में शब्द का आन्तरिक अर्थ या संकेत ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। व्यक्त भाषा में शब्द किसी बाह्य वस्तु की ओर निर्देश करते हैं। इस प्रकार हॉब्स के विचार का महत्त्व इस दृष्टि से भी समझा जा सकता है कि वे शब्द, उसमें अन्त-र्निहित संकेत या अभिधेयार्थ तथा शब्द से निर्दिष्ट होने वाली बाह्य वस्तु की त्रयी की कल्पना कर लेते हैं। आगे चल कर आग्डेन और रिचर्ड्स ने शब्द, संकेत और शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु की त्रयी का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। हॉब्स के शब्दार्थ-चिन्तन में इस त्रयी का विचार अव्यक्त रूप में निहित था।

लॉक ने व्यावहारिक जगत में शब्द से बाह्य वस्तु का निर्देश मान कर शब्द में अर्थबोध की अन्तर्निहित शक्ति या अभिधा के अस्तित्व की कल्पना की है। अभिधा के कारण ही कोई शब्द किसी बाह्य वस्तु का निर्देश कर पाता है। इस प्रकार लॉक शब्द का मुख्य रूप से मानस प्रत्यय से सम्बन्ध मानते हैं और उसी के माध्यम से शब्द से बाह्य वस्तु का निर्देश स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार प्रत्यय सहज नहीं होते। वे मन की शिला पर क्रमशः बनते हैं। लॉक का कथन है कि ईश्वर ने मनुष्य को भाषा प्रदान की। मनुष्य के अवयव इस प्रकार बनाये गये कि वे उच्चरित ध्वनियों को रूपायित कर सकें। इसे ही शब्द कहते हैं।[1] तात्पर्य यह कि लॉक व्यक्त ध्वनि-समूह को शब्द मानते हैं। मनुष्य इस व्यक्त ध्वनि-समूहों का अर्थात् शब्दों का अपने मानस प्रत्यय के संकेत के रूप में प्रयोग कर सकता है, वह उन्हें अपने प्रत्ययों का प्रतिनिधि बना सकता है, यही मानवीय भाषा का पशुओं की उच्चरित ध्वनियों से भेद है।[2] इस प्रकार लॉक के विचार में, शब्द का पशु-पक्षी की ध्वनि से केवल यही भेद नहीं है कि शब्द व्यक्त ध्वनियों से बनते हैं, वरन् यह भी भेद है कि शब्द में नियत अर्थ के बोध की शक्ति रहती है। यदि शब्द में नियत अर्थ के बोध की शक्ति नहीं होती तो किसी भी शब्द का किसी भी अर्थ में प्रयोग हो जाता और सामान्य अभिधा के अभाव में भाषा विचार के आदान-प्रदान का माध्यम ही नहीं बन पाती। शब्द ऐसे ध्वनि-संकेत हैं, जिनका प्रयोग अनेक विशिष्ट वस्तुओं के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार शब्द से प्रथमतः प्रत्ययों का बोध होता है और तदनन्तर शब्द बाह्य वस्तु का निर्देश करते हैं। वक्ता अपने मानस प्रत्यय के प्रतिनिधि के रूप में शब्द का प्रयोग करता है

---

१. लॉक, एसे, ३, १, १,
२. वही, २, १, १,

और श्रोता उन शब्दों के वाच्य प्रत्ययों का बोध प्राप्त करता है। अतः शब्द में मानव के मन में निहित भाव, विचार, कल्पना आदि के बोध की भी शक्ति रहती है और नाम से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु के बोध की भी। इस युक्ति से लॉक ने यह मत प्रतिपादित किया है कि शब्द के वास्तविक अर्थ में और नाम से निर्दिष्ट अर्थ में भेद है। उसका वास्तविक अर्थ प्रत्यय-रूप है और नामार्थ बाह्य वस्तु-रूप। थॉमस रीड ने भी शब्द का अर्थ मानस प्रत्ययरूप ही माना है।

परवर्ती अनेक विचारकों ने लॉक के इस मत का खण्डन किया है। बर्कले ने यह युक्ति दी है कि प्रत्येक शब्द किसी प्रत्यय का प्रतिनिधि हो, यह आवश्यक नहीं। यह भी नहीं माना जा सकता कि जो नाम किसी प्रत्यय का प्रतिनिधित्व नहीं करते, वे भावात्मक विचार का बोध कराते हैं। कारण यह है कि शब्द भावात्मक प्रत्यय के प्रतिनिधि नहीं बन सकते।

लाइब्निज ने लॉक की मान्यता से असहमति प्रकट करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि किसी वस्तु का नामकरण उसकी समग्र विशेषताओं को ध्यान में रख कर नहीं किया जाता, क्योंकि वस्तुओं के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सर्वथा पूर्ण नहीं हुआ करता। हम क्रमशः वस्तुओं के नये-नये गुणों से भी परिचित होते जाते हैं। अतः नाम को वस्तु के प्रत्यय का पूर्ण प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। प्रत्यय की विविधता के कारण लाइब्निज शब्दबोध को प्रत्यय-रूप नहीं मानते।

शब्दार्थ को प्रत्ययरूप मानने पर भी एक कठिनाई यह रह जाती है कि वस्तु के रूप की विविधता की तरह ही प्रत्यय के विविध रूप हुआ करते हैं। प्रत्यय व्यक्ति-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। एक व्यक्ति के भी प्रत्यय सदा एक ही रूप के नहीं होते। काल-भेद से उसमें भेद हुआ करता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यय के किस रूप को शब्द का अभिधेय अर्थ माना जायगा? इस समस्या का समाधान इस युक्ति से किया जा सकता है कि शब्द प्रत्यय के सामान्य रूप का बोधक होता है। जिस प्रकार ध्वनि में व्यक्ति, देश, काल आदि के अनुरूप अनेकरूपता रहने पर भी उसके समाज-स्वीकृत मानक रूप का बोध व्यवहार में होता है, उसी प्रकार प्रत्यय-रूप पदार्थ की अनेकरूपता में भी उसके एक सामान्य रूप का बोध शब्द से होता है। वस्तुतः अर्थ चाहे प्रत्यय-रूप माना जाय या बाह्य वस्तु-रूप, उसकी एक व्यापक परिधि की कल्पना आवश्यक है। उस अर्थवृत्त में से एक सामान्य रूप का बोध शब्द कराता है, किसी विशिष्ट या नियत स्वरूप वाले प्रत्यय या बाह्य अर्थ का नहीं। लॉक ने भी अर्थ के असीम प्रसार को स्वीकार कर उसके प्रयोग को किसी व्यक्ति के द्वारा किसी विशिष्ट समय में किया गया विशिष्ट प्रयोग माना है।

अनेक भारतीय विचारकों ने भी शब्दार्थ को प्रत्ययरूप माना है। बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं मानने वाले शून्यवादी बौद्ध दार्शनिकों ने मानस वेदना को ही शब्द का अर्थ माना है। इसके औचित्य पर विचार किया जा चुका है।

बर्कले ने भी शब्दार्थ को मानस बोध के रूप में स्वीकार किया है और उससे साम्य के कारण जीवन के अनुभव को शब्दबोध का विषय माना है।[1]

कांट की मान्यता है कि प्रत्यय का निर्धारण परिभाषा के द्वारा होता है और प्रत्यय के माध्यम से हम वस्तु को, उसके समग्र गुणों के साथ, ग्रहण कर पाते हैं। अतः कांट केवल गणित की परिभाषा को प्रत्ययविधायक या नियतार्थबोधक मानते हैं। अन्य परिभाषाओं में वैसी नियतार्थबोधकता नहीं रहती। वे वस्तु की व्याख्या ही कर सकती हैं। अतः उनसे प्रत्यय के नियत या विशिष्ट स्वरूप का निर्माण सम्भव नहीं।[2]

जॉन स्टूअर्ट मिल ने नाम या संज्ञा-पदों के अर्थ को दृष्टि में रख कर शब्दार्थ-सम्बन्ध पर विचार किया है। अतः गुणवाची तथा संकेतवाची शब्दों के अर्थ का ही मुख्य रूप से अध्ययन उन्होंने किया है। उनके अनुसार गुणवाची शब्द किसी वस्तु का—गुण के आश्रयभूत पदार्थ का—निर्देश करते हैं और उस पदार्थ के विशिष्ट गुणों का बोध कराते हैं। संकेतवाची शब्द हमें कोई सूचना देते हैं। प्रत्यय की विशिष्टता पर मिल ने विशेष बल दिया है। विशिष्ट मानस प्रत्यय के साथ सादृश्य होने के कारण ही बाह्य वस्तुओं का शब्द से ग्रहण होता है।[3]

इस मत की सबसे बड़ी सीमा यह है कि इसमें केवल नाम या संज्ञापदों के ही अर्थ पर विचार किया गया है। भाषा के घटक क्रिया, विशेषण, उपसर्ग, प्रत्यय आदि पदों के अर्थ के साथ सम्बन्ध पर विचार नहीं किया गया है।

चार्ल्स सैंडर्स पर्स ने शब्द को मुद्रा के रूप में स्वीकार किया है, जो उनके अनुसार सांकेतिक व्यवहार के विनिमय का माध्यम है। पर्स ने शब्दार्थ-सम्बन्ध पर निरपेक्ष रूप में विचार नहीं कर सापेक्ष रूप में विचार किया है। शब्द अर्थ का प्रतिनिधित्व करने वाला संकेत-चिह्न है, जो सन्दर्भविशेष में व्यक्तिविशेष के लिए किसी विशेष वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। इस विचार में शब्द के अर्थ-परिवर्तन के तथ्य का भी स्पष्टीकरण हो जाता है। शब्द अपने अर्थ का सभी दृष्टियों से प्रतिनिधित्व नहीं कर एक प्रकार के प्रेषण के रूप में उसका प्रति-

---

१. बर्कले, प्रिन्सिपुल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज, पृ० ५८-६०
२. कांट, क्रिटिक ऑफ प्योर रिजनिंग, पृ० ६३०
३. जॉन स्टुअर्ट मिल, मेथड ऑफ लॉजिक, ३, ८, १.

निधित्व करते हैं। इसीलिए पर्स शब्द को 'प्रातिनिधिक की आधारभूमि' भी कहते हैं।[1] स्पष्ट है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध के निरूपण में पर्स की दृष्टि मनोवैज्ञानिक रही है।

मॉरिस ने अर्थ को मानस प्रत्यय तथा अवयवी की प्रतिक्रियाओं के साथ जोड़ने में विषय और सन्दर्भ के साथ अर्थ के सामञ्जस्य पर ध्यान देना आवश्यक माना है। उनकी दृष्टि में वक्ता के द्वारा निर्दिष्ट तथ्य केवल मूल्य है, जिसका प्रतिपादन व्यवहार के अनुकूल ही होना चाहिए।[2]

फ्रेग ने शब्दार्थ-सम्बन्ध के निरूपण-क्रम में शाब्दबोध और शब्द के अर्थ में भेद माना है। बोध एक सीमित ग्राहकता है। अर्थ में उस ग्राहकता को विस्तार मिलता है। उदाहरणार्थ २४ और ४२ संख्या के बोधक होने के कारण संख्यावाची नाम हैं, पर दोनों का अर्थगत बोध अलग-अलग है। फ्रेग ने बोध और प्रेषण में भी भेद माना है। कुछ प्रत्यय अनुभूतियों से समीकृत रहते हैं। इस प्रकार फ्रेग के अनुसार शाब्दबोध के तीन रूप हैं—प्रत्यय, बोध तथा प्रेषण। फ्रेग का कथन है कि कुछ शब्द अपने संकेत के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। व्यक्तिवाचक नाम जिस वस्तु का निर्देश करता है, वही उसका संकेतित अर्थ है। इन दोनों के बीच सम्बन्ध-रूप में अर्थ का अस्तित्व है। इस प्रकार नाम वस्तु को संकेतित करता है और अपने अर्थ को व्यक्त करता है। अतः शाब्दबोध बाह्य वस्तु या व्यक्तिरूप भी हो सकता है और प्रत्ययरूप भी।[3]

नामनिष्ठ प्रत्यक्षवादी (Nominalistic Positivist) दार्शनिकों के शब्दार्थ-चिन्तन में शब्द का व्यापक महत्त्व स्वीकार किया गया है। उन विचारकों की दृष्टि में शब्द की सत्ता अर्थसापेक्ष नहीं, अर्थ की सत्ता शब्दसापेक्ष है। भॉन न्यूरथ ने यह मान्यता व्यक्त की थी कि किसी कथन की यथार्थता-अयथार्थता के निर्णय के लिए दूसरे कथन से उसकी तुलना करनी चाहिए, अनुभव, बाह्य वस्तु या किसी अन्य पदार्थ से नहीं। तात्पर्य यह कि कथन की सत्ता वस्तु-निरपेक्ष भाव से भी मान्य है। न्यूरथ की यह मान्यता बहुत लोकप्रिय हुई और तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के शब्दार्थ-चिन्तन की आधारशिला बन गयी। रसेल आदि अन्य दार्शनिकों ने इस मत के खण्डन में भी युक्तियाँ दी हैं। इस प्रकार खण्डन और

---

१. पर्स, प्रोसिडिंग्स ऑफ द अमेरिकन एकेडमी ऑफ आर्ट्स एण्ड साइंस (२९५१)
२. चार्ल्स मॉरिस, साइन, लैंग्वेज एण्ड बिहेवियर।
३. फ्रेग, ट्रान्सलेशन

मण्डन की दृष्टि से तार्किक प्रत्यक्षवादी विचारकों की शब्दार्थ-मीमांसा बहुचर्चित हो गयी है।

कारनेप ने वस्तुगत रीति (Material mode) तथा आकारगत रीति (formal mode) में भेद किया है और दार्शनिकों का सम्बन्ध भाषा की आकारनिष्ठ रीति से माना है। उनकी मान्यता है कि इस आकारगत रीति में भाषा प्रतीकों के अर्थ का या अभिव्यक्ति के तात्पर्य का निर्देश नहीं करती, वरन् केवल प्रतीकों के प्रकार और क्रम का निर्देश करती है।[1]

अर्थ निरपेक्ष भाव से कथन के स्वरूप-मात्र पर विचार करने वाला कारनेप का यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका। मोरिज श्लिक (Moritz schlick) ने यह मान्यता व्यक्त की है कि शब्दार्थ-चिन्तन में वस्तुगत अर्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आयर (Ayer) ने भी भाषा में बोध या वस्तुगत अर्थ को अनुपेक्षणीय माना है।

न्यूरथ (Neurath) ने अपने तत्त्वचिन्तन के निष्कर्ष के रूप में कहा है कि हर व्यक्ति अपने आप से उतना ही भिन्न है, जितना भिन्न वह दूसरे व्यक्तियों से है। इसलिए एक ही व्यक्ति के दो कथन, उसी प्रकार एक-दूसरे से सम्बद्ध या असम्बद्ध होते हैं, जिस प्रकार दो व्यक्तियों के दो कथन एक दूसरे से सम्बद्ध या असम्बद्ध हो सकते हैं।[2] स्पष्ट है कि न्यूरथ का तत्त्वचिन्तन बौद्ध दार्शनिकों के तत्त्वचिन्तन से अभिन्न है। बौद्ध विचारक एक व्यक्ति के स्वरूप को क्षणमात्र भी स्थायी नहीं मानते। उनकी दृष्टि में व्यक्ति का रूप उसके पूर्व-क्षणों तथा आने वाले क्षणों के रूपों से सर्वथा भिन्न होता है। न्यूरथ के भाषा-दर्शन में प्रत्येक कथन की दूसरे कथन से स्वतन्त्र सत्ता मानने वाला यह सिद्धान्त भर्तृहरि के भाषादर्शन से भी प्रभावित है। डा० हेमन्त कुमार गांगुली की यह मान्यता उचित ही है कि न्यूरथ के द्वारा प्रतिपादित तार्किक प्रत्यक्षवादी दर्शन के स्वरूप का निर्माण अंशतः भर्तृहरि के चिन्तन तथा अंशतः बौद्ध चिन्तन के मिश्रण से हुआ है।[3] शाब्दबोध को

---

१. No reference is made to the meaning of the symbol or to the sense of the expression, but simply and solely to the kinds and order of the symbols with which expressions are constructed—Karnap, Logical Syntax of Language.

२. वाइनबर्ग (Weinburg) ने, एग्जामिनेशन ऑफ लॉजिकल पॉजिटिभिज्म में न्यूरथ के विचार की समीक्षा की है। —द्रष्टव्य—हेमन्त कुमार गांगुली, फिलॉसफी ऑफ लॉजिकल कन्स्ट्रक्शन

३. हेमन्त कुमार गांगुली, फिलॉसफी ऑफ लॉजिकल कन्स्ट्रक्शन

विकल्प-रूप या प्रत्यय-रूप मानने में भर्तृहरि और बौद्ध विचारकों का मत एक-दूसरे के निकट पहुँच जाता है। इसीलिए भर्तृहरि के मत पर "बौद्ध गंधी" होने का आक्षेप भी किया गया है। इन दोनों के मिलते-जुलते विचार का सार न्यूरथ के चिन्तन में उपलब्ध होता है।

विट्गेंस्टाइन की मान्यता है कि शब्द और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध रहता है उसके स्वरूप को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। शब्द-अर्थ के बीच की स्थिति वैसी ही होती है, जैसी प्रकृत वस्तु और उसके चित्र के बीच के सम्बन्ध की होती है। जैसे प्रकृत वस्तु और चित्र के सम्बन्ध को चित्रित नहीं किया जा सकता वैसे ही शब्द-अर्थ के सम्बन्ध के स्वरूप की व्याख्या नहीं की जा सकती।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में शब्दार्थ-सम्बन्ध की अनिर्वचनीयता का ऐसा ही सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। उनकी युक्ति थी कि शब्दार्थ-सम्बन्ध की जब व्याख्या की जाती है, तब वह सम्बन्ध भी सम्बन्धी के रूप में ही पर्यवसित हो जाता है। इस प्रकार वह विवेचन सम्बन्ध के स्वरूप का न होकर वस्तुतः सम्बन्धी के स्वरूप का ही हो जाता है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने भी इसी युक्ति से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अव्याख्येय माना है।

तार्किक प्रत्यक्षवादी विचारकों की मान्यता है कि जो शब्द को जानता है, वह उसके अर्थ को भी जानता है।[1] इस मान्यता का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। आपाततः यह मान्यता निराधार जान पड़ेगी, क्योंकि व्यक्ति असंख्य ऐसे शब्दों को जानता है, जिनके अर्थ का ज्ञान उसे नहीं रहता। वह उन शब्दों का अर्थ कोश में ढूँढता है, या आप्त जनों से उनका अर्थ पूछता है। तार्किक प्रत्यक्षवादियों की इस मान्यता का सार यह है कि शब्द और अर्थ एक ही साथ बोध के विषय बनते हैं। जो अर्थविशेष के लिए उसके वाचक शब्द के प्रयोग का ज्ञान रखते हैं, वे ही शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को जानते हैं। उन विचारकों ने शाब्दबोध को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष बोध से विलक्षण और अधिक व्यापक माना है। उनके अनुसार इन्द्रियों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे शब्द में कुछ अधिक बोधकता रहती है।

बौद्ध विचारकों ने भी यथार्थ वस्तु से प्राप्त ज्ञान और शाब्दबोध में भेद माना था। इन्द्रिय ग्राह्य वस्तुबोध से शाब्दबोध का स्वरूप भिन्न होता है। अतः बौद्धों का मत है कि यथार्थ वस्तु और शब्द में कोई सम्बन्ध नहीं। वस्तु का रूप असिद्ध

---

१. Know the name and you know the thing—There is perhaps more in a name than what is readily conceded by common sense—Weinberg, Exam. of Logical Positivism.

होने के कारण वस्तु को शब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता। भर्तृहरि ने एक उदाहरण देकर इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान और शाब्दबोध अभिन्न नहीं। आग के स्पर्श से उसकी दाहकता का जो बोध होता है उससे दाह शब्द को सुनकर होने वाला बोध भिन्न होता है।[1] तार्किक प्रत्यक्ष-वादियों के द्वारा शब्द के अर्थबोध को इन्द्रियग्राह्य ज्ञान से विशिष्ट स्वीकार किये जाने में उक्त भारतीय मतों की स्पष्ट प्रतिध्वनि है।

समस्या यह है कि क्या वस्तु के यथार्थ रूप को शब्द से अभिहित किया जा सकता है? जिस तथ्य को हम शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते, क्या उसका ज्ञान हमें हो सकता है? यदि हाँ, तो शब्द किस अंश में वस्तु के स्वरूप को व्यक्त कर सकता है? यदि यह कहा जाय कि शब्द और अर्थ एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं और शब्द से यथार्थ वस्तु का अभिधान नहीं होता, तो फिर हम किसी वस्तु के लिए भाषा का प्रयोग ही क्यों करते हैं? हम शब्दों का प्रयोग किसके लिए करते हैं और किसके आधार पर शब्दों की सार्थकता का निर्णय करते हैं? इस प्रकार यथार्थ वस्तु और उसके ज्ञान की समस्या शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या बन जाती है। इसीलिए दार्शनिकों ने भी ज्ञान-विवेचन के सन्दर्भ में शब्द-अर्थ के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया है।

भर्तृहरि ने इस समस्या के समाधान के लिए शब्द के अर्थ के रूप में विकल्प की कल्पना की थी। शब्दार्थ लोक-सिद्ध बाह्य वस्तु नहीं, मानस विकल्प है। उसी के बोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है और वही शब्द की अर्थवत्ता का निर्णायक है। बौद्ध दार्शनिकों ने भी बाह्य वस्तु की सत्ता को असिद्ध मान कर मानस वेदना को शब्द का अर्थ माना है। तार्किक प्रत्यक्षवाद के आधुनिक भाषा-चिन्तन में भी शब्दार्थ को मानस बोधरूप ही माना गया है।

भॉन न्यूरथ ने यह मान्यता प्रकट की है कि किसी उक्ति की यथार्थता के निर्णय के लिए उसकी तुलना दूसरी उक्तियों से ही की जानी चाहिए, अनुभूति, बाह्य जगत या किसी अन्य वस्तु से नहीं।[2] बाह्य जगत की वस्तुओं के स्वरूप के अस्थिर होने के कारण उससे मिलाकर उक्ति की सार्थकता का निर्णय नहीं किया जा सकता। दूसरी बात यह है कि सभी शब्दों के अभिधेय अर्थ की सत्ता लोक में

---

१. अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद्दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहाद्यर्थः प्रतीयते॥—भर्तृहरि, वाक्यप० २,४१९

२. statements are to be compared with Statements, not with experience, not with the given, not with anything else,—weinberg, Examination of Logical positivism,

हो ही, यह भी आवश्यक नहीं। 'नहीं' जैसे शब्द के अभिधेय अर्थ की सत्ता कहाँ मानी जायगी ? अतः न्यूरथ आदि तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों की मान्यता है कि किसी भी नयी उक्ति की अर्थवत्ता का निर्णय करने के समय हम किसी भाषा में जन-मानस द्वारा स्वीकृत समग्र सार्थक उक्तियों से उसकी तुलना करते हैं। यदि उन उक्तियों की समग्रता से नयी उक्ति का मेल हो तो वह सार्थक, अन्यथा, निरर्थक होती है। स्पष्ट है कि तार्किक प्रत्यक्षवादी अपने को शब्द-चिन्तन तक ही सीमित रखते हैं।

भर्तृहरि ने जब समग्र प्रत्ययों को भाषाबद्ध माना था, तो उसमें शब्द की व्यापकता का ऐसा ही सिद्धान्त स्वीकृत था, पर तार्किक प्रत्यक्षवाद का उक्त सिद्धान्त भाषा सीखने की प्रक्रिया की व्याख्या नहीं कर पाता। जब बच्चे शब्द-अर्थ और दोनों के सम्बन्ध को क्रमशः सीखते हैं तो उस क्रम में उक्तियों की समग्रता के साथ किसी नयी उक्ति का मेल बैठाने की बात स्पष्ट नहीं हो पाती।

प्रत्यक्षवादी (Positivist) विचारकों की मान्यता है कि लोकसिद्ध वस्तु या अर्थ से निरपेक्ष रूप में भी वाक्य-रचना सम्भव होती है। न्यूरथ ने तर्कशास्त्र और गणित के उदाहरण से यह सिद्ध करना चाहा है कि अभिधेय अर्थ से निरपेक्ष रूप में भी भाषिक प्रयोग सम्भव होता है। उन शास्त्रों के वाक्य किसी नियत बाह्य वस्तु का बोध नहीं कराते।

न्यूरथ ने यह युक्ति दी है कि वाक्य के सार्थक होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने अर्थ के रूप में किसी बाह्य वस्तु का ही बोध करावे। वाक्य का सार्थक होना उसकी तार्किक संगति पर निर्भर है।

इस प्रकार तार्किक प्रत्यक्षवादी चिन्तन का निष्कर्ष यह है कि किसी भी वाक्य का उद्देश्य अपने से भिन्न किसी वस्तुगत अर्थ का बोध कराना नहीं होता, उसका उद्देश्य केवल इतना है कि वह किसी अभिप्राय से युक्त हो, जिससे वह भाषा के परस्पर अन्वित वाक्यों की समग्रता में खप सके।

हीगेल ने भी कथन की अन्विति पर बल दिया था। रसेल ने न्यूरथ के अन्विति-सिद्धान्त की हीगेल के अन्वितिवाद से तुलना करते हुए दोनों के साम्य-वैषम्य का निर्देश किया है। हीगेल और न्यूरथ दोनों ही यह मानते हैं कि शब्दों का अपना स्वतन्त्र संसार है, जो अपने-आप में पूर्ण है। उससे पृथक् किसी लोक-सिद्ध वस्तु पर शब्दार्थ के रूप में विचार करने की आवश्यकता नहीं। सत्य पद-योजना-निष्ठ अवधारणा है, पदार्थनिष्ठ अवधारणा नहीं। दोनों मतों में यह साम्य होने पर भी वैषम्य यह है कि हीगेल के मतानुसार कथन का कोई एक ही रूप सही

हो सकता है—या तो वह सत्य होगा, या असत्य, पर न्यूरथ के मतानुसार कोई उक्ति सत्य और असत्य दोनों ही हो सकती है—एक दृष्टि से सत्य, दूसरी दृष्टि से असत्य—"यदि आप ऐसा समझते हैं तो यह ऐसा ही है।[1]"

तार्किक प्रत्यक्षवादी शब्द-चिन्तन के औचित्य का निर्णय करने के समय दो बातें मुख्य रूप से विचारणीय हैं। एक तो यह कि वाक्यों की परस्पर अन्विति पर बल देने वाले ये विचारक एक कथन के यथार्थ के निर्णय के लिए दूसरे कथन से उसकी तुलना आवश्यक मानते हैं। दूसरी बात यह कि वे उक्ति से भिन्न किसी बाह्य वस्तु पर विचार करने की आवश्यकता नहीं मानते।

यदि इन्द्रियगोचर पदार्थ का बोध कराने वाली उक्ति की यथार्थता के निर्णय को दृष्टि में रखकर प्रत्यक्षवादी विचारकों की उक्त मान्यता पर विचार किया जाय, तो एक आपत्ति यह होगी कि सभी उक्तियाँ अपनी यथार्थता के लिए अन्य उक्तियों पर निर्भर नहीं होतीं। अतः प्रत्येक उक्ति की यथार्थता के निर्णय लिए अन्य उक्ति से उसकी तुलना का मत मान्य नहीं। उदाहरण के लिए किसी घोड़े की ओर निर्देश कर किसी बच्चे से कहा जाता है कि 'यह घोड़ा है', तो यह कथन अपनी अर्थवत्ता के लिए किसी अन्य वाक्य की अपेक्षा नहीं रखता। यह नहीं कहा जा सकता कि इस वाक्य की सार्थकता के निर्णय के लिए 'घोड़ा हिनहिनाता है' या 'घोड़ा दौड़ता है', जैसे अन्य वाक्यों के साथ उसकी तुलना आवश्यक होती है। कथन की अन्य कथन के साथ ही (बाह्य अर्थ के साथ नहीं) तुलना से उसकी यथार्थता के निर्णय के सिद्धान्त में आपत्ति यह है कि 'घोड़ा हिनहिनाता है' तथा 'घोड़ा चिग्घाड़ता है' इन दो वाक्यों में एक को यथार्थ और दूसरे को अयथार्थ मानने का क्या आधार होगा? भारतीय विचारकों ने वाक्य-योजना में शब्द-विन्यास की योग्यता का विचार आवश्यक माना है। योग्यता के अभाव में घोड़ा चिग्घाड़ता है जैसे प्रयोग को असत्य माना जायगा। किन्तु प्रश्न यह है कि इस योग्यता का निर्णय किस आधार पर किया जाता है? भारतीय विचारकों के लिए इस प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं। उनका उत्तर होगा कि वस्तु जगत का सत्य योग्यता का निर्णय कर देता है। हम घोड़े की आवाज सुनते हैं और यह समझ लेते हैं कि चिग्घाड़ना शब्द उस ध्वनि को व्यक्त करने की योग्यता नहीं रखता, हिनहिनाना ही उसे व्यक्त कर

१, The Hegalian theory however differs from that of Neurath since it holds that only one body of mutually coherent propositions is possible So that every Proposition remains definitely true or false. Neurath on the Contrary takes the View of Pirandello. So it is, if you think so. Russil Meanig and Truth P, 40

सकता है और फलतः उसी में घोड़े के साथ प्रयोग की योग्यता है। पर, तार्किक प्रत्यक्षवादी विचारक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते। कारण यह है कि वे कथन की अर्थवत्ता के निर्णय के लिए लोकसिद्ध वस्तु से उसकी तुलना अपेक्षित नहीं मानते। उनके अनुसार एक उक्ति की तुलना दूसरी उक्ति से ही की जानी चाहिए, किसी अन्य वस्तु या अनुभूति से नहीं। यदि तार्किक प्रत्यक्षवादी यह कहें कि समाज के द्वारा स्वीकृत प्रयोग के आधार पर हम नये कथन की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय करते हैं तो उनकी मूल धारणा ही खण्डित हो जायगी, क्योंकि वे केवल शब्दों से संसार की सत्ता में विश्वास करते हैं, उनका प्रयोग करने वाले लोगों के समाज की सत्ता उनके विचार-क्षेत्र में नहीं आती। ध्वनि-अनुकरणात्मक शब्द के अर्थ का निर्णय लोक-सिद्ध वस्तु-स्थिति की अपेक्षा रखता ही है।

रसेल ने सत्य और यथार्थ के सम्बन्ध में प्रत्यक्षवादी विचारकों के दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "वे यह कहते सुने जाते हैं कि आरम्भ में केवल शब्द था, शब्द से अभिहित होने वाला पदार्थ नहीं था। यह एक विचित्र बात है कि प्राचीन तत्त्व-चिन्तन में यह प्रतिवर्तन अति अनुभववादी बनने के प्रयास से घटित हुआ है।"[1]

कार्नप ने भाषा के शुद्ध संरचनात्मक विश्लेषण की त्रुटियों को समझा और भाषा से निर्दिष्ट अर्थ के अध्ययन पर बल दिया। इस प्रकार उन्होंने भाषा की सत्ता के अन्तर्गत व्यक्ति, गुण, सम्बन्ध तथा उक्तियों का विवेचन किया है। कार्नप की मान्यता है कि भाषा की यह चतुर्विध सत्ता बाह्य संसार में नहीं होती। ये सत्ताएँ उस संसार का अवशेष हैं जो न तो बाहर है, न भीतर, फिर भी वह एक संसार है जो भाषा का निर्दिष्ट अर्थ होता है। तात्पर्य यह कि भाषा का निर्दिष्ट अर्थ न तो लोक-सिद्ध पदार्थ होता है और न मानस लोक के भाव या विचार ही। इन दोनों के बीच एक संसार की सत्ता होती है, जिसका निर्देश भाषा करती है।[2] दूसरे शब्दों में कहें तो भाषा से निर्दिष्ट होने वाला संसार 'विकल्प' का संसार है जो तार्किक दृष्टि से शुद्ध भाषा से सम्बन्ध रखता है, जिससे भिन्न किसी वस्तु की सत्ता नहीं। भर्तृहरि ने भी विकल्प को ही भाषा का अभिधेय माना था। विकल्प ही सत्य है। उससे भिन्न किसी वस्तु से भाषा का सम्बन्ध नहीं।

1. I Seem to hear them Saying—'in the beginning there was word', not 'in the beginning there was what the word means: It is remarkable that this reversion to ancient metaphysics Should have occurred in the attempt to be ultra empirical —Russell, Meaning and Truth P. 149
२. Carnap, Introduction to semantics.

भाषा की जिन चार सत्ताओं की कल्पना कार्नप ने की है उनमें से व्यक्ति, गुण तथा सम्बन्ध के विशिष्ट समुच्चय को वे वाक्य-संरचना के रूप में रहने वाले शब्द-चिह्नों के संघ का संवादी मानते हैं। चिह्नों के सरलतम समुदाय को वे परमाणु वाक्य (Atomic Sentence) कहते हैं। इससे सम्बद्ध एक मूल उक्ति (Primary proposition) होती है। यह मूल उक्ति भी एक सत्ता है, जिसकी तार्किक स्थिति अत्यन्त अस्पष्ट है।[1] यह एक ऐसी कल्पित सत्ता है जिसकी स्थिति भाषिक चिह्न अर्थात् शब्द तथा उससे निर्दिष्ट होने वाले वस्तुगत अर्थ के बीच मानी गयी है।

आण्विक वाक्य की यथार्थता-अयथार्थता के निर्णय के सम्बन्ध में कार्नप की मान्यता है कि यदि उस वाक्य में प्रयुक्त चिह्नों अर्थात् शब्दों की अपने अभिधेय अर्थ, यानी सत्ता के साथ संगति हो तो उसे यथार्थ वाक्य माना जाता है। उदाहरणार्थ 'जॉन खल्वाट है' यह वाक्य यथार्थ माना जायगा यदि उससे अभिहित जॉन नामक व्यक्ति वस्तुतः खल्वाट हो।

कार्नप की मान्यता है कि हम अपनी कल्पना में सभी सम्भावित आण्विक वाक्यों को लाकर उन्हें तार्किक संगति के आधार पर परस्पर सम्बद्ध कर लें तो हमें विविध आण्विक वाक्य-वर्ग उपलब्ध होंगे। ऐसे प्रत्येक वाक्य-वर्ग या वाक्य-संघ को कार्नप के अनुसार 'वस्तुस्थिति वर्णन' (State description) कहा जाता है। प्रत्येक स्टेट डिस्क्रिप्शन में व्यक्तियों के लोक की, उनके सभी गुणों तथा सम्बन्धों के सन्दर्भ में सम्भव स्थिति का पूर्ण वर्णन मिलता है। हेमन्त कुमार गांगुली ने कार्नप की 'वस्तुस्थिति वर्णन' की इस धारणा को लाइब्निज की 'सम्भावित विश्व' (Possible world) की धारणा तथा विट्गेन्स्टाइन की सम्भावित वस्तुस्थिति (Possible state of affairs) की धारणा के समकक्ष माना है,[2] जो उचित ही है।

कार्नप की यह मान्यता कि शब्द से अभिहित सत्ताएँ न तो बाह्य जगत में रहती हैं, और न मानस-लोक में, वे तर्क-सिद्ध विश्व में रहती हैं, उनके दार्शनिक विचार से मेल नहीं खाती। प्रत्यक्षवादी विचारक आत्मतत्त्व को अस्वीकार कर उसकी जगह वेदना-सन्तान की सत्ता मानते हैं। उनके मतानुसार शब्द उस वेदना का ही अभिधान कर सकता है। किन्तु बौद्ध विचारक पहले ही यह सिद्ध कर चुके थे कि वेदना-सन्तान को शब्द अभिहित नहीं कर सकते, केवल विज्ञान या विकल्प ही शब्द

---

१. Carnap, Introduction to semantics.

२. हेमन्त कुमार गांगुली, फिलॉसफी ऑफ लॉजिकल कन्सट्रक्सन।

का अभिधेय अर्थ हो सकता है। वस्तु की तरह वेदना का स्वरूप भी स्थिर नहीं। अतः शब्द वेदना के किसी नियत स्वरूप का बोधक नहीं हो सकता।

कार्नप के शब्दार्थ-चिन्तन के औचित्य की परीक्षा के लिए उनके तत्त्व-चिन्तन के निष्कर्ष पर दृष्टि रखना आवश्यक है। उन्होंने 'फिलॉसफी एण्ड लॉजिकल सिन्टेक्स' नामक पुस्तक में कहा है कि हम भौतिक जगत की यथार्थता के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं किन्तु उसे गलत नहीं मानते, वरन् अर्थहीन मानते हैं और इसी प्रकार उसके प्रतिकूल भावनावादी विचार को भी अस्वीकार करते हैं। हम न तो इन मतों की स्थापना करते हैं, न उनका प्रत्याख्यान करते हैं, हम इस प्रश्न को ही पूर्णतः अस्वीकार करते हैं।[1] किसी समस्या को अस्वीकार कर उसका समाधान पाने का यह अनोखा सिद्धान्त कार्नप ने प्रतिपादित किया है। इसकी समीक्षा करते हुए आयर ने कहा है कि आधुनिक प्रत्यक्षवादी विचारक इस बात के लिए सदा सचेत रहते हैं कि उन्हें आत्मनिष्ठ भावनावादी न समझ लिया जाय।

तार्किक प्रत्यक्षवादी विचारक वेदना-सन्तान से भिन्न किसी अन्य वस्तु के अस्तित्व की कल्पना आवश्यक नहीं मानते। वस्तुजगत की सत्ता या असत्ता का प्रश्न केवल अध्यात्म-विद्या का प्रश्न हो सकता है। इसे तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः कार्नप की मान्यता है कि हम उस प्रश्न को उठायें ही नहीं, और इस तरह यह समस्या ही समाप्त हो जायगी। किन्तु, किसी समस्या की ओर से दृष्टि हटा लेने भर से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। यह समस्या से पलायन की प्रवृत्ति है और यह तार्किक प्रत्यक्षवादी चिन्तन की सबसे बड़ी दुर्बलता है।

बाह्य जगत की सत्ता-असत्ता के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों ने भी अनेक प्रकार के मत व्यक्त किये हैं। अद्वैत वेदान्त दर्शन में वस्तु-जगत की सत्ता को शुक्ति में रजत के बोध की तरह भ्रमात्मक माना गया है। योगाचार बौद्ध मत के अनुसार जगत आन्तरिक वेदना-सन्तान का ही बाह्यीकृत रूप है, जैसे स्वप्न में आन्तरिक भावना ही बाह्य आकार ग्रहण कर लेती है। तार्किक प्रत्यक्षवादी विचारकों के अनुसार न तो बाह्य जगत की सत्ता ही तर्क से सिद्ध की जा सकती है और न उसकी असत्ता ही।

तार्किक प्रत्यक्षवादी विचारकों ने वस्तु-जगत के पदार्थ को शब्द का अभिधेय अर्थ नहीं मान कर जो शब्दार्थ के स्वतन्त्र लोक की कल्पना की है, उसका औचित्य विचारणीय है। शब्द लोक-सिद्ध वस्तुओं का ही निर्देश नहीं करते, अलोकसिद्ध वस्तुओं और विचारों का भी बोध कराते हैं। अतः लोकसिद्ध वस्तुओं को शब्द

---

१. कार्नप, फिलॉसफी एण्ड लॉजिकल सिन्टेक्स, पृ० २०

का अभिधेय अर्थ नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह कि वस्तु का कोई रूप स्थिर नहीं, जिसे शब्द का अभिधेय माना जा सके। वस्तुओं की तरह वेदनाओं का स्वरूप भी स्थिर नहीं। सभी व्यक्तियों की वेदनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। उनमें समानता हो सकती है, अभिन्नता नहीं। इसी प्रकार एक व्यक्ति की ही दो वेदनाएँ समान तो हो सकती हैं, अभिन्न नहीं। ऐसी स्थिति में वेदना के किसी रूप को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। शब्द अर्थ के प्रतीक हैं और प्रतीक बनने के लिए उनमें सर्वजन-बोधकता का धर्म होना आवश्यक है। तात्पर्य यह कि शब्द अर्थ का प्रतीक बन सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे अर्थ का प्रतिनिधित्व करता हो जो सामान्य रूप से श्रोता और वक्ता के बोध का विषय हो। ऐसा नहीं होने पर शब्द में अर्थ के बोध की शक्ति ही नहीं रह जायगी और उसका व्यवहार असम्भव हो जायगा। इसीलिए भाषावैज्ञानिक चिन्तन में शब्द से अर्थ के सामान्य का ग्रहण माना जाता है। रसेल ने शब्द को भी सामान्य ही माना है। एक व्यक्ति दो बार एक ही शब्द का उच्चारण नहीं कर सकता। वह समान ध्वनि-समूह का ही बार-बार उच्चारण कर सकता है। ध्वनि जिस रूप में उच्चरित होती है ठीक उसी रूप में श्रोताओं के कान तक नहीं पहुँचती। व्यक्ति-भेद से भी उच्चरित ध्वनि-समूह में भेद हुआ करता है, फिर भी शब्द को एक मानने का कारण यह है कि उन शब्दों के सामान्य रूप का ग्रहण हमें होता है। विविधताओं के बीच सामान्य ही एकान्विति लाता है। रसेल के अनुसार शब्द के सामान्य का और उससे अभिहित अर्थ के सामान्य का ग्रहण शब्दार्थ-बोध का निष्कर्ष है। नैयायिकों ने भी ध्वनि-समूह की जाति का ही ग्रहण स्वीकार किया था। वे जाति की स्वतन्त्र सत्ता मानते थे, पर रसेल की दृष्टि में जाति या सामान्य का अर्थ है समान ध्वनि-समूह के वर्ग में रहने वाला तत्त्व। क्रम से आने वाली ध्वनियों का समूह ही शब्द नहीं, शब्द का 'विकल्प' ही सार्थक शब्द माना जाता है। ख, ग क्रम से आने पर भी केवल दो ध्वनियों का समूह भर है, पर 'खग' एक सार्थक शब्द है, वह शब्द का ऐसा स्फोट है जिसमें अर्थ भी अविभाज्य रूप से मिला है।

अब प्रश्न यह है कि शब्द-अर्थ की विविधता के बीच जो 'सामान्य' बोध का विषय बनता है, उसका स्वरूप कैसा माना जायगा? उसका रूप भर्तृहरि के अनुसार 'विकल्प' का रूप है, जिसके बिना कोई ज्ञान सम्भव नहीं, जिसके अभाव में भाषा का व्यवहार सम्भव नहीं। यह अर्थ का सामान्य या 'विकल्प' ही तार्किक प्रत्यक्ष-वादी दार्शनिकों के द्वारा कल्पित अर्थ-लोक है। इस अर्थ-लोक में बाह्य जगत तथा मानस लोक के सभी तत्त्व अन्तर्लीन हैं।

मण्डन मिश्र ने कहा था कि अर्थ-बोध या मानव का सम्पूर्ण ज्ञान वाणी की शक्ति

ही है। वस्तु का ज्ञान शब्द-रूप में ही गृहीत होता है। शब्द जिस रूप में वस्तु का बोध करा सकता है, उसी रूप में उसका ग्रहण होता है। अतः वस्तु वाक्शक्ति या विकल्प का ही रूपान्तरण है। वस्तुजगत बोधगत पदार्थ या 'विकल्प' से भिन्न नहीं।[1]

हेलाराज ने शब्द-अर्थ के सामानाधिकरण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह दिखाया है कि शब्दार्थ-बोध में शब्द और अर्थ 'विकल्प' रूप में परस्पर मिश्रित रहते हैं। वही विकल्प ज्ञान का विषय बनता है। अर्थ-बोध में शब्द-बोध भी अन्तर्निहित रहता है। उस बोध में शब्द अपने को अर्थात्मना परिवर्तित कर देता है और इसी प्रकार अर्थ भी शब्दात्मना रूपान्तरित हो जाता है।[2]

भर्तृहरि ने कहा है कि वैदिक ऋषियों ने उसी विकल्प तत्त्व को सत्य माना है जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान (दृश्य और दर्शन) का सार एकाकार होकर मिला रहता है।[3] कुमारिल भट्ट ने भी समग्र मानव-व्यवहार को उस सत्ता से सम्बद्ध माना है जो विकल्प से उत्पन्न होने पर भी यथार्थ-सी लगती है।[4]

स्पष्ट है कि तार्किक प्रत्यक्षवादियों की स्वतन्त्र अर्थ-लोक की धारणा में भर्तृहरि तथा अन्य भारतीय दार्शनिकों की मान्यता से अद्भुत साम्य है।

हेमन्त कुमार गांगुली ने ठीक ही कहा है कि विट्गिस्टाइन आदि प्रत्यक्षवादी विचारकों की इस मान्यता में, कि भाषा की सीमा ही विश्व की सीमा है, भर्तृहरि के शब्द-दर्शन की प्रतिध्वनि है, भले ही दोनों के तत्त्व-चिन्तन में थोड़ा भेद हो।[5]

विट्गिस्टाइन के तत्त्व-चिन्तन में अनुभूति-मात्र की सत्ता मानी गयी है, जो उनके अनुसार निरन्तर संचरणशील मानसिक वेदनाओं का समूह मात्र है। भौतिक संसार उनके अनुसार, विकल्प ही है—विकल्प का ही बाह्यीकरण है। वह परस्पर स्वतन्त्र असंख्य अनुभूतियों का समूह है, जिनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध ढूँढने की आवश्यकता नहीं। यदि इस तत्त्व-दर्शन को मान लिया जाय, तो प्रश्न यह होगा कि विभिन्न व्यक्तियों के बीच अर्थ-बोध कराने की शक्ति भाषा में कैसे आ जाती है? ऐसी स्थिति में तो भाषा सब की अलग-अलग अनुभूतियों का ही अर्थ

---

१. वाक्शक्तिरेव वा चितिः।—मंडन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, पृ. १९
२. द्रष्टव्य भर्तृहरि, वाक्यपदीय ३,१४,९८-९९ पर हेलाराज की टीका।
३. यत्र द्रष्टा च दृश्यं च दर्शनं वा विकल्पितम्।
तस्यैवार्थस्य सत्यत्वं श्रितास्त्रय्यन्तवेदिनः॥ भर्तृहरि, वाक्यपदीय, ३,३,७२
४. कुमारिल भट्ट श्लोकवार्तिक, ३,८०
५. हेमन्त कुमार गांगुली, फिलॉसफी ऑफ लॉजिकल कन्स्ट्रक्शन पृ० ७७।

दे पाती और सब के बीच एक मानक अर्थ का निर्देश वह नहीं कर पाती, फिर भाषा का मानव-समाज में व्यवहार ही असम्भव हो जाता। विट्गिंस्टाइन के तत्त्व-चिन्तन में न तो भाषा का प्रयोग करने वाले के स्वत्व की स्वकृति है न उससे भिन्न श्रोता के अस्तित्व की स्वीकृति है, वहाँ केवल 'इदम्' के समूह की सत्ता स्वीकृत है जो न भौतिक है न मानसिक ही, वह शून्य में संचरित अनुभूतियों के अणुओं का समूह-मात्र है। स्पष्ट है कि इस तत्त्व-चिन्तन के अनुसार भाषा की व्यवहारक्षमता का, उसकी अर्थ-बोधकता का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं।

विट्गिंस्टाइन ने अपने अर्थ-दर्शन में यह माना है कि उक्ति किसी तथ्य का चित्र है। चित्र भी एक तथ्य है। उक्तिगत चिह्न या शब्द-चिह्न एक तथ्य है। इस प्रकार की मान्यता का अर्थ यह होगा कि किसी उक्ति से जो अर्थ का बोध होता है, वह एक तथ्य से दूसरे तथ्य का बोध है और अर्थ का यह सम्बन्ध दो तथ्यों के बीच चित्रोपेत सम्बन्ध है।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल ने प्रत्यक्षवादी विचारकों के मत की आलोचना करते हुए शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण नवीन दृष्टि से किया है। उन्होंने विट्गिंस्टाइन की पुस्तक की भूमिका में शब्द-अर्थ के सम्बन्ध की कुछ मूलभूत समस्याएँ उठायी हैं।[1] एक समस्या यह है कि जब हम किसी अर्थ का बोध कराने के लिए भाषा का प्रयोग करते हैं, तो उस समय हमारे मन में कौन-सी प्रक्रिया घटित होती है? दूसरी समस्या यह है कि शब्द, वाक्य तथा विचार में किस प्रकार का सम्बन्ध रहता है और वे क्या व्यक्त करते हैं? इसके अतिरिक्त सत्य का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों के प्रयोग की एक समस्या प्रस्तुत की गयी है, साथ ही यह प्रश्न भी उठाया गया है कि किसी तथ्य को अभिहित करने वाले मूल शब्द से भिन्न कोई दूसरा शब्द उसका प्रतीक बन सके इसके लिए उस शब्द के साथ उस तथ्य के कैसे सम्बन्ध की अपेक्षा होती है?

स्पष्ट है कि रसेल ने शब्द-अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध की समस्या पर मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, तार्किक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टियों से विचार करने की आवश्यकता पर बल दिया है। भाषा के प्रयोग के समय मस्तिष्क में घटित होने वाली प्रक्रिया का अध्ययन मनोविज्ञान का विषय है। सत्य का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का विचार दर्शन की समस्या है। शब्द के प्रतीक बनने का प्रश्न तार्किक है तथा शब्द, वाक्य और विचार के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण भाषाशास्त्रीय चिन्तन का क्षेत्र है।

---

१. विट्गिंस्टाइन लिखित ट्रैक्टेटस लॉजिको-फिलॉसोफिक्स की भूमिका।

रसेल ने नाम या संज्ञा को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। वे उसे अपूर्ण प्रतीक मानते हैं। अनेक ऐसी अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनमें प्राथमिक रूप में नामकरण की योग्यता नहीं थी। अतः रसेल ने यह स्पष्ट किया है कि तात्पर्यार्थ और नामकरण अभिन्न नहीं। तात्पर्यार्थ वस्तुओं के कथन को कहते हैं, उसके नामकरण को नहीं।

रसेल प्रत्यक्षवादी विचारकों के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं कि शब्द की अपने वाच्य अर्थ से पूर्व-सत्ता है। उनकी दृष्टि में शब्द अपने वाच्य अर्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं, अतः अर्थ की ही पूर्व-सत्ता मानी जानी चाहिए। शब्द उन विचारों के प्रतिनिधि होते हैं, जिन्हें अर्थ कहा जाता है। प्रत्येक कथन (Judgement) में कुछ ऐसा तथ्य होता है, जो उस कथन का विषय माना जाता है।[1] कथन की सार्थकता या यथार्थता का निर्णय उस अवधारणा के आधार पर होता है, जो तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का योग होती है। शब्द सार्थक होते हैं, इसलिए कि वे किसी वस्तु को प्रतीकित करते हैं। वाक्य में शब्दों के द्वारा संकेतित अर्थों का योग रहता है।

पद (Term) के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रसेल ने कहा है कि पद वह है जिससे कोई विषय या विचार किसी सत्य या असत्य वाक्य में व्यक्त होता है, वह विषय, व्यक्ति, वर्ग, सम्बन्ध, क्षण, संख्या, असंगत कल्पना या कोई भी अन्य वस्तु के रूप में हो सकता है, जो पद के रूप में उपस्थापित किया जा सकता हो।[2] प्रत्येक पद में ऐसे तथ्य रहते हैं जिन्हें किसी नाम से सम्बद्ध किया जा सके।[3] स्पष्ट है कि Term या पद की इस धारणा में ध्वनि-समूह के साथ उससे संकेतित अर्थ की अनिवार्य सत्ता की भी स्वीकृति है। विशिष्ट ध्वनियों का समूह और उनसे संकेतित अर्थ सम्मिलित रूप में पद कहे जाते हैं। इसीलिए रसेल ने पद को शाश्वत और अपरिवर्तनीय माना है। उसमें ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता जिससे उसका मूल स्वरूप ही नष्ट हो जाय या वह पद अन्य पद के रूप में बदल जाय।[4] पद के संकेत को रसेल ने दो प्रकार का माना है। वह वस्तु-रूप हो सकता है या प्रत्यय-रूप।[5]

पद को सनातन या अपरिवर्तनीय मानने में कई आपत्तियाँ हो सकती हैं। भाषा में काल-क्रम से होने वाले ध्वनि-परिवर्तन तथा अर्थ-परिवर्तन—अर्थसंकोच,

---

१. बी० रसेल, लॉजिक बुक १, पाठ १
२. बी० रसेल, द प्रिन्सिपुल्स ऑफ मैथेमेटिक्स, पृ० ४३-४४
३. वही, पृ० ४३-४४
४. वही, पृ० ४३-४४
५, वही, पृ० ४३-४४

अर्थविस्तार तथा अर्थादेश—की प्रक्रिया की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ध्वनि-परिवर्तन को तो मूल ध्वनियों का किञ्चित् विकार माना जा सकता है और कहा जा सकता है कि वह ऐसा परिवर्तन नहीं कि उससे मूल पद का स्वरूप ही नष्ट हो जाय या वह परिवर्तित पद मूल से सर्वथा भिन्न एक नवीन पद बन जाय। अर्थ-संकोच और अर्थविस्तार को भी मूल पद के अभिधेय अर्थ से सम्बद्ध माना जा सकता है। अर्थादेश में किसी पद के मूल अर्थ से भिन्न जो नवीन अर्थ उस पद के साथ सम्बद्ध हो जाता है. उसे भी रसेल पद के मूल अर्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं मानते। इस प्रकार उनकी दृष्टि में पद का जो मूल अभिधेय अर्थ होता है उसका उस वाचक पद के साथ शाश्वत सम्बन्ध रहता है।

इस मत में सबसे बड़ी आपत्ति एक अर्थ के वाचक अनेक पर्याय पदों तथा अनेक अर्थों के वाचक एक अनेकार्थवाची पदों को लेकर हो सकती है। यदि एक अर्थ का एक नियत वाचक पद माना जाय तो प्रश्न यह होगा कि पर्यायवाची अनेक पदों में से किस एक पद को उस अर्थ का मूल वाचक माना जायगा ? शेष पदों को उस अर्थ का मूल वाचक नहीं मानने का क्या आधार होगा ? इसी प्रकार अनेकार्थ-वाची पदों के सन्दर्भ में यह प्रश्न उठेगा कि किस अर्थ को उस पद का मूल अभिधेय माना जायगा और अन्य अर्थों को उसका मूल अभिधेय न मानने का क्या आधार होगा ?

रसेल ने इस सम्भावित शंका के समाधान के लिए यह युक्ति दी है कि वस्तुतः एक अर्थ का वाचक मूलतः एक ही पद होता है। पर्यायवाची अन्य शब्द उस अर्थ—वस्तु या प्रत्यय—के विशेषण के रूप में कभी प्रयुक्त हुए होंगे और धीरे-धीरे उसके वाचक शब्द के पर्याय बन गये होंगे। कुछ पर्यायवाची पद ऐसे भी हो सकते हैं जो किसी अन्य स्रोत से आकर किसी पद के पर्याय बन गये हैं। उनकी दृष्टि में एक वस्तु या प्रत्यय के लिए अनेक पदों का प्रयोग होने से भाषिक या धारणागत अद्वैत भंग होता है। अनेकार्थवाची पदों के सम्बन्ध में भी रसेल की धारणा है कि एक शब्द मूलतः एक वाच्य अर्थ से नित्य रूप से सम्बद्ध है। रसेल की यह धारणा उन भारतीय विचारकों की धारणा से मिलती-जुलती है जो यह मानते हैं कि अर्थ-भेद से शब्द भी भिन्न-भिन्न होते हैं। उनकी दृष्टि में अनेक अर्थों का बोध एक शब्द नहीं करा सकता। जिन्हें अनेकार्थवाची एक पद कहा जाता है, वे तत्त्वतः एक नहीं, अनेक पद होते हैं। उनके उच्चारण के स्थान-प्रयत्न की अभिन्नता के कारण उनकी अनेकता में एकता का आभास होता है। रसेल भी उच्चारण की समता को ही अभिन्नता की भ्रान्ति का कारण मानते हैं।

रसेल के इस चिन्तन में तार्किक संगति चाहे जितनी हो; इससे भाषा-बोध की व्यावहारिक कठिनाई दूर नहीं होती। यह निर्णय करना कठिन ही नहीं, असम्भव है कि पर्यायवाची शब्दों में से कौन उस अर्थ का मूल वाचक था और कौन-कौन शब्द विशेषण-रूप में प्रयुक्त होकर या अन्य स्रोत से सांवृतिक रूप में अर्जित होकर उसके पर्याय बने हैं। अनेकार्थवाची एक पद को अर्थभेद से भिन्न-भिन्न मानना और ध्वनि के उच्चारण-प्रयत्न की समता के कारण उनमें एकता की अयथार्थ प्रतीति की कल्पना भी क्लिष्ट कल्पना ही है और वह केवल तार्किक प्रक्रिया में उपादेय हो सकती है।

चर्च ने तार्किक प्रतीकवाद की सीमाओं का निर्देश करते हुए यह मान्यता व्यक्त की है कि लोक-व्यवहार की भाषा में गणितीय और यान्त्रिक तर्क विधि पर बल देने वाली इस चिन्तन-पद्धति का विशेष उपयोग सिद्ध नहीं होता।[1] व्यवहार की भाषा में अर्थ की विभिन्नता और अनिश्चितता पायी जाती है। जन-मानस में रहने वाली तार्किक भाषा तथा व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली भाषा के स्वरूप की तुलना, चर्च की दृष्टि में, आवश्यक है।

चर्च का विचार है कि किसी नाम या अंक में मूलतः एक संकेत-प्रक्रिया रहा करती है। यह संकेत-प्रक्रिया उस वस्तु या भाव का बोध-रूप होती है, जिसकी संज्ञा के रूप में विशिष्ट शब्द का प्रयोग होता है। किसी नाम से अभिहित होने वाली वस्तु के साथ उस नाम में बोध का तत्त्व भी निहित रहता है। इस बोध को ही अर्थ कहा जाता है। इस प्रकार किसी नाम से उसका संकेत अभिहित होता है और बोध भी व्यक्त होता है। उस बोध-रूप भावात्मक सत्ता को चर्च ने प्रत्यय माना है। स्पष्ट है कि प्रत्यय बनने के लिए वस्तु में शाब्दबोध की क्षमता आवश्यक मानी गयी है। भर्तृहरि ने भी प्रत्येक प्रत्यय को शब्द-ग्राह्य माना था। चर्च की मान्यता भर्तृहरि की उस मान्यता से मिलती-जुलती ही है।

चर्च ने शब्द के अभिधेय अर्थ के दो रूप स्वीकार किये हैं—संकेतार्थ और ज्ञापकार्थ। कुछ नाम एकाधिक वस्तुओं या धारणाओं का बोध कराते हैं। अतः उन अर्थों का वर्गीकरण आवश्यक माना गया है। चर्च यह मानते हैं कि बहुलांशतः एक प्रत्यय किसी एक ही वस्तु का प्रत्यय होता है, पर एक स्थिरांक में बोध का विस्तार निहित होता है जिसमें अनेक वर्ग समाहित होते हैं। विषय का यह विस्तार अर्थ के अपरिमेय विस्तार तथा प्रमाता की अनेकरूपता के कारण अनेक

१. चर्च, नेम इन लॉजिक, इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका

वर्गों में बँटा रहता है। इसीलिए चर्च ने विभिन्न कोटियों में विभक्त अर्थ के बोध-नियम, बोध-विस्तार तथा बोध-मूल्य के नियमों का समाहार प्रस्तुत किया है।

चर्च ने शब्द और अर्थ के नियमों को आदिम और व्युत्पन्न नियमों के रूप में बाँट कर उनके अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है। औपचारिक भाषा के आदिम रूप आदिम नियमों के तथा व्युत्पन्न भाषा के रूप व्युत्पन्न नियमों के आधार हैं। व्युत्पन्न नियम आदिम नियम के ही परिणाम हैं। इनके अतिरिक्त कुछ व्युत्पन्न-सम्भावना-नियमों की भी कल्पना की गयी है।[1] स्पष्ट है कि इस विवेचन में चर्च ने अर्थपरिवर्तन को मूल अर्थ से सम्पृक्त माना है। उस विकार में भी मूल की ही विकृति रहती है—मूल अर्थ से व्युत्पन्न अर्थ किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध अवश्य रहता है। वह मूल अर्थ अर्थ-संकोच, अर्थविस्तार तथा अर्थादेश में सम्बन्ध-सूत्र की तरह बना रहता है। चर्च ने वस्तुपरक दृष्टि से शब्द और अर्थ की समस्या पर विचार किया है। उनके शब्दार्थ-विवेचन में उनकी तर्कशास्त्रीय एवं भाषावैज्ञानिक दृष्टियाँ स्पष्ट हैं।

क्वीने ने शब्दार्थ की समस्या पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि व्यक्तिवाचक, गुणवाचक तथा भाववाचक आदि शब्दों से जिन वस्तुओं का बोध कराया जाता है, उनका भाषावैज्ञानिक विवेचन में कोई स्थिर स्वरूप नहीं माना जाता। हम अलग-अलग स्थितियों में उनके अलग-अलग अर्थ ग्रहण करते हैं। कोशकार शाब्दबोध के मानसिक पक्ष को महत्त्व न देकर शब्दार्थ को वस्तुगत तथ्य के समाहारमात्र के रूप में ग्रहण करता है। इस तरह वह शब्दार्थ की समस्या को पर्याय की समस्या बना देता है और पर्याय को विशेष सन्दर्भ से जोड़ कर एक शब्द के अर्थ से मिलते-जुलते अर्थ वाले शब्दों के अर्थ का भी विवेचन करता है। वैयाकरण विभिन्न सन्दर्भों में अर्थ के वैशिष्ट्य पर विचार नहीं कर केवल तात्पर्यार्थ का निरूपण करता है। वैयाकरणों का उद्देश्य केवल यह निर्धारित करना होता है कि शब्द का कौन-सा रूप तात्पर्यार्थयुक्त या सार्थक है, जबकि कोशकार, इससे आगे बढ़ कर, यह निर्धारित करना चाहता है कि शब्द के कौन-कौन रूप समानार्थक हैं।[2]

क्वीने ने शब्दार्थ के निर्धारण में उन परिस्थितियों या सन्दर्भों का विचार भी आवश्यक माना है, जिनमें शब्द प्रयुक्त होते हैं। परिस्थितियाँ अभिन्न नहीं होतीं, सदृश हो सकती हैं। उसी तरह अलग-अलग स्थितियों में प्रयुक्त पद का अर्थ अभिन्न

१. चर्च, द नीड फॉर ऐब्स्ट्रैक्ट इनटीटीज इन सीमेंटिक एनालिसिस, पृ०, १००-१०

२. डब्ल्यू० वी० क्वीने—फ्राम ए लॉजिकल प्वाइंट ऑफ भ्यू, ४७-४८।

नहीं होता। उनकी दृष्टि में वस्तु कोई ठोस सत्ता नहीं। वह भावात्मक भी होती है। गुण, अवस्था, संख्या-निश्चिति तथा वर्ग जैसी वस्तुओं की भावात्मक सत्ता-मात्र है।

किसी विशेष भाषा का व्यवहार करने वाला व्यक्ति अन्य भाषाओं के अर्थ-विधान को अपनी ही भाषा के अवयवों में सीमित कर देता है। कारण यह है कि उसकी अपनी भाषा के प्रयोग की जो स्थितियाँ होती हैं, वे ही उसके संस्कार में अवस्थित रहती हैं। अतः वह अपने संस्कार के अनुरूप अन्य स्थितियों में प्रयुक्त अन्य भाषाओं के अर्थ-विधान को भी परिवर्तित रूप में ग्रहण करता है। रिचर्ड वोन ने भी यह मान्यता व्यक्त की थी कि हमारी भाषिक धारणा परम्परा से स्वीकृत शब्दकोश के आधार पर निर्धारित होती है।[1] क्वीने इस मान्यता से सहमत हैं और शब्दार्थ-निर्धारण में सांस्कृतिक परिवेश के अध्ययन को आवश्यक मानते हैं।

बच्चे आरम्भ में जब कुछ शब्द सीखते हैं, उस समय वे उनके व्यावहारिक या परस्पर अन्वित होने के रहस्य को नहीं जानते। धीरे-धीरे वे विशिष्ट अर्थों में उन शब्दों के व्यवहार का ज्ञान अर्जित कर लेते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अर्थ-विशेष के लिए शब्द-विशेष का प्रयोग लोक-व्यवहार से निर्धारित होता है।

स्पष्ट है कि भाषा के अर्थविधान के अध्ययन में क्वीने की दृष्टि वस्तुनिष्ठ रही है। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि तार्किक वाक्यों में संस्कृति के आधार पर कोई भेद नहीं रहता, पर विभिन्न भाषाओं के व्यावहारिक वाक्यों के तुलनात्मक अध्ययन के समय वे उन भाषाओं के परिवेशगत या सांस्कृतिक भेद को ध्यान में रखना आवश्यक मानते हैं, जिनसे शब्दार्थ-धारणा प्रभावित होती है।

मनोविज्ञानियों का शब्दार्थ-सम्बन्ध निरूपण—मानव-मन के अध्ययन के क्रम में मनोविज्ञान के आचार्यों ने भाषा के अर्थबोध की प्रक्रिया का अध्ययन किया है। भाषा मनोस्नायविक तत्त्व है। अतः भाषिक व्यवहार में मस्तिष्क और शरीर के ध्वनि-यन्त्र सक्रिय होते हैं। अर्थ का मानस ग्रहण, उसका शब्द में रूपान्तरण तथा श्रोता तक विभिन्न उच्चरित शब्दों के माध्यम से उसका सम्प्रेषण भाषा-व्यवहार की सामान्य प्रक्रिया है। शब्द को सुनकर अर्थबोध की मानसिक प्रक्रिया घटित होती है। स्पष्ट है कि बोध शब्द का रूप ग्रहण कर व्यक्त होता है और शब्द कान में पड़ कर वैसा ही बोध उत्पन्न करता है। प्रश्न यह है कि शब्द और अर्थ का

१. रिचर्ड वोन- -पॉजिटिविज्म, ४६।

यह सम्बन्ध घटित कैसे होता है ? दार्शनिकों, भाषाशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिक विचारकों ने अलग-अलग पद्धति से इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने का प्रयास किया है। मनोविज्ञान तथा भाषाविज्ञान के मेल से इस समस्या पर विचार करने वाला एक नया शास्त्र सामने आया है, जो मनोभाषिकी या मनोभाषाशास्त्र (Psycho-linguistics) के नाम से प्रसिद्ध है। अर्थबोध के समय घटित होने वाली मानसिक एवं स्नायविक प्रक्रियाओं का अध्ययन तथा शब्द-अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का विश्लेषण मनोभाषिकी का प्रधान लक्ष्य है। इस उद्देश्य से मनोविज्ञानियों ने अनेक प्रयोग किये हैं और इस विषय में अलग-अलग निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, जो विचारणीय हैं।

अनेक प्रकार के विषयों (subjects) पर शाब्दबोध की प्रक्रिया का प्रयोग कर मनोविज्ञानियों ने व्यापक दृष्टि से भाषिक व्यवहार के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया है। उनकी प्रयोग-विधि से प्राप्त निष्कर्ष में मतवैभिन्न्य होने पर भी, प्रयोग-विधि की वैज्ञानिकता इस बात में है कि इसमें भाषा के विशेषज्ञ, अल्पज्ञ, एक भाषा के अधिकारी; किन्तु दूसरी नयी भाषा के ज्ञान से रहित, संस्कृत, असंस्कृत, मूक, बधिर, अन्ध आदि व्यक्तियों के शाब्दबोध की प्रक्रियाओं तथा उनके बोध के सूक्ष्म अन्तर को निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है और इस प्रकार शब्दार्थ के स्वरूप और उनके सम्बन्धों पर विभिन्न विचार-बिन्दुओं से दृष्टिपात किया जाता है। सामान्यतः लोग यह मान कर चलते हैं कि भाषा एक सामाजिक और सांस्कृतिक धरोहर है जिसमें उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति का भाग रहता है, पर इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अर्थबोध को सांस्कृतिक और मानसिक स्तर भी नियन्त्रित करता है। संस्कृत-असंस्कृत व्यक्तियों के भाषिक बोध में, दृष्टियुक्त और जन्मान्ध व्यक्तियों के शाब्दबोध में, सुनने वाले और जन्म से बधिर व्यक्तियों के बोध में, अपने भाव एवं विचार को वाणी में व्यक्त करने में समर्थ और मूक व्यक्तियों के शाब्दबोध में तथा विद्वान् और मूर्ख व्यक्तियों के अर्थबोध में कुछ अन्तर रहा ही करता है। शब्द इन विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों में अर्थबोध की कैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, इसका वैज्ञानिक प्रयोग भाषा में शब्दार्थ-सम्बन्ध की समस्या को सुलझाने में बहुत कुछ सहायक हो सकता है। शब्द-ज्ञान किस सीमा तक मानव के विचार और अनुभूति को प्रभावित करता है, इसके निर्धारण में भी यह प्रयोगविधि उपयोगी है।

शब्द-अर्थ के सम्बन्ध-निर्धारण में इस प्रकार के प्रयोग की कुछ सीमाएँ भी हैं। जिन शब्दों के निर्दिष्ट अर्थ की भौतिक सत्ता है, उनके बोध के स्वरूप का निर्धारण तो सम्भव है, पर जिन शब्दों के अर्थ की केवल भावगत सत्ता है, उनके बोध के

स्वरूप का निर्धारण तथा विभिन्न व्यक्तियों के बोध के अन्तर का निर्णय कठिन है। उदाहरण के लिए, विभिन्न संस्कार के व्यक्तियों के सामने बार-बार कुत्ता शब्द का उच्चारण कर उसके मन और स्नायु में होने वाली उस शब्द की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन तथा उनमें सूक्ष्म अन्तर का विश्लेषण सम्भव है, पर 'असत्', 'अभाव', 'अथवा' 'तो', 'या', 'किन्तु', 'और' आदि शब्दों के प्रति व्यक्ति की मानस-प्रतिक्रिया या उन शब्दों के अर्थ की बोध-प्रक्रिया का निर्धारण सम्भव नहीं। भौतिक वस्तु का निर्देश करने वाले शब्दों के अर्थ का एक मानक रूप लोगों के सामने रहता है और उसी के आधार पर बोध के याथातथ्य एवं उसके विचलन का निर्णय किया जा सकता है, पर भावगत सत्ता वाले अर्थ के बोधक शब्दों के मानक अर्थ के अभाव में बोध के स्वरूप और विचलन का निर्णय कठिन है।

इस प्रयोग की दूसरी सीमा यह है कि प्रयोग के विषय का शाब्दबोध मनोगत और अव्यक्त होने के कारण प्रयोगकर्ता की समझ में ठीक-ठीक नहीं आ सकता। जब वह विषय अपने बोध को भाषा या संकेत से व्यक्त करता है तब जितना वह व्यक्त कर सकता है, उसी के आधार पर प्रयोगकर्ता अपना निर्णय देता है। यह आवश्यक नहीं कि विषय अपने शाब्दबोध में घटित मानसिक प्रक्रियाओं को समग्रतः यथार्थ रूप में व्यक्त कर सकता हो। उदाहरणार्थ, किसी जन्मान्ध व्यक्ति के सामने लाल, हरा आदि रंगबोधक शब्दों का उच्चारण कर यदि उन शब्दों से उसके मन में घटित होने वाले बोध के स्वरूप का अध्ययन किया जाय तो यह निर्णय कथमपि नहीं किया जा सकता कि उसका बोध वस्तुजगत में उन रंगों को देखनेवाले व्यक्तियों के बोध से कितना सम-विषम है। शब्द अपने संकेतित अर्थ का मानस बोध ही उत्पन्न कराते हैं, किन्तु वह बोध उन शब्दों से निर्दिष्ट भौतिक वस्तुओं के ऐन्द्रिय बोध से सर्वथा अप्रभावित नहीं रहता। अतः किसी शब्द से निर्दिष्ट भौतिक पदार्थ के स्वरूप से परिचित व्यक्ति के मन में वह शब्द जैसा स्पष्ट बोध उत्पन्न कर सकता है, वैसा बोध उस पदार्थ से अपरिचित व्यक्ति के मन में नहीं जगा सकता। यह अनुभवसिद्ध है कि लोकसिद्ध पदार्थों के बोधक शब्द से किसी भौतिक पदार्थ के स्वरूप का मानस-प्रत्यक्षीकरण होता है—भले ही वह स्वरूप समान्य रूप में ही मन में आता हो। ऐसे शब्दों के अर्थ-बोध में ऐन्द्रिय बोध की सीमा का विचार शाब्दबोध के प्रयोग में आवश्यक है। हाँ, शाब्दबोध ऐन्द्रिय बोध तक ही सीमित नहीं। शब्द केवल लोकसिद्ध पदार्थों का ही बोध नहीं कराते, वे लोक में असिद्ध पदार्थों के भाव-अभाव का भी बोध कराते हैं। ऐसे शब्दों से उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रिया या शाब्दबोध का मनोवैज्ञानिक परीक्षण से स्वरूप-निर्धारण और भी कठिन है।

मनोवैज्ञानिक विचारकों ने उक्ति के अर्थबोध पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार किया है। फलतः भाषा के अर्थमूलक प्रभाव का यह अध्ययन चिह्न या शब्द तथा उसके अर्थ से सम्बद्ध मानवीय व्यवहार के विश्लेषण तक ही केन्द्रित है। स्पष्टतः यह अध्ययन वस्तुपरक है।

शब्द अर्थ का प्रतीक है। शाब्दबोध के विश्लेषण के क्रम में मनोवैज्ञानिक विचारक यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि ध्वनि-तरंगों की किसी स्वीकृत व्यवस्था से अर्थात् शब्द विशेष से किसी अर्थ का बोध कैसे होता है। मनोविज्ञान की शब्दावली में कहें तो, ध्वनि-तरंगों की नियत व्यवस्था के रूप में स्वीकृत शब्द किसी अर्थ के चिह्न या प्रतीक के रूप में अर्थबोध की समुत्तेजना (Stimulus) किन अवस्थाओं में बन जाता है, यही मनोभाषिक अध्ययन का प्रमुख विषय है।

अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक विचारकों ने अनेक मत व्यक्त किये हैं, जिनके औचित्य पर हमने अन्यत्र विचार किया है। अर्थ के स्वरूप-सम्बन्धी विचार पर शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक मान्यता आधृत है।

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विश्लेषण के क्रम में प्रायः सभी प्रमुख मनोविज्ञानियों ने शब्द और अर्थ के द्वैत को अपनी विचार-दृष्टि मे रखा है। शब्द अर्थात् ध्वनितरंगों की नियत व्यवस्था, जो अर्थबोध को जगाने में समुत्तेजना के रूप में स्वीकृत है—एक आवयविक घटना है, जब कि अर्थ, बोधरूप होने के कारण एक मानसिक घटना है। इन परस्पर भिन्न आवयविक एवं मानसिक घटनाओं में किन अवस्थाओं में कैसा सम्बन्ध घटित होता है, यही अन्वेषण शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक मनोवैज्ञानिक प्रयोग का उद्देश्य होता है। शब्द-अर्थ का यह द्वैत कहीं तो व्यक्त रहता है, पर कहीं अव्यक्त। जब शब्दविशेष का अर्थ व्यक्त न होकर शब्द के रूप में अर्थात् प्रतीक के रूप में ही अवभासित होता है, तो वैसी स्थिति में शब्द-अर्थ का द्वैत अव्यक्त रहता है। कुछ भारतीय वैयाकरणों ने भी शाब्दबोध के स्वरूप-निरूपण के क्रम में अध्यास की—शब्द और अर्थ में तात्त्विक भेद तथा प्रतीतिगत अभेद की—कल्पना की है। मनोवैज्ञानिक चिन्तकों की भी यही मान्यता है कि शब्द और अर्थ में द्वैत तो रहता ही है, भले ही वह व्यक्त हो या अव्यक्त। हम देख चुके हैं कि भारतीय दार्शनिकों के अनेक सम्प्रदाय में शब्दार्थ-द्वैतवाद के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है।

अनेक मनोवैज्ञानिक विचारकों ने यह मत व्यक्त किया है कि बोध का शब्द के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। शब्दज्ञान के अभाव में भी वस्तु का बोध होता ही है। इस प्रकार शब्द या चिह्न तथा उससे निर्दिष्ट की जाने वाली वस्तु के बोध का परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व है। अर्थबोध शुद्ध मानसिक घटना है। उसका शब्द

या चिह्न के साथ सम्बन्ध नित्य नहीं, वरन् आगमापायी होता है। यही कारण है कि उस सम्बन्ध में देश-काल के अनुसार परिवर्तन भी घटित होता रहता है। पावलव ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि शब्दविशेष का अर्थविशेष के साथ सम्बन्ध अवस्थापन (conditioning) के नियम से घटित होता है। उनके अनुयायियों ने, विशेषतः वाट्सन आदि व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक विचारकों ने, इसी दृष्टि से शब्द और उसके वाच्य अर्थ के बीच निहित सम्बन्ध के स्वरूप का परीक्षण किया है। सामान्य रूप से यह माना गया है कि जब भाषिक चिह्न अर्थात् शब्द का उससे निर्दिष्ट होने वाली वस्तु के साथ बारम्बार सम्बन्ध स्थापित होता है तब वह शब्द अर्थवत्ता प्राप्त करता है। भाषिक चिह्न सम्बद्ध उत्तेजना है और निर्दिष्ट वस्तु असम्बद्ध उत्तेजना की तरह है। असम्बद्ध उत्तेजनाएँ प्रतिस्थापित होकर अर्थ बन जाती हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुबोध की विविधता के बीच शब्द से होने वाले अर्थ-बोध में सभी श्रोता-वक्ता एक सामान्य अर्थ के धरातल पर आकर अर्थबोध कर सकते हैं। भाषिक चिह्न या शब्द अपने तात्पर्यार्थ के रूप में समान प्रतिक्रिया ही उत्पन्न करते हैं। इसी से भाषिक व्यवहार सम्भव होता है। सम्बन्ध-अवस्थापन वस्तुनिष्ठ होता है। अतः यह आवश्यक नहीं कि शब्द सदा समान प्रतिक्रिया ही उत्पन्न करे, फिर भी सीखने के क्रम में लोग विभिन्न प्रतिक्रियाओं का समाहार ग्रहण कर लेते हैं।

ध्यातव्य है कि जिन बोधगत वस्तुओं की भूतजगत में सत्ता है, या जो शब्द अपने निर्दिष्ट पदार्थ की लौकिक सत्ता-असत्ता के बोधक हैं, उन अर्थों और शब्दों के सम्बन्ध-निरूपण में शब्दार्थ-द्वैत का यह सिद्धान्त सरलता से समझा जा सकता है, पर **या**, **तो**, **भी**, **किन्तु**, नहीं, जैसे भावगत अर्थ के बोधक शब्दों तथा उनके वाच्य अर्थों के स्वरूप को अलग-अलग रख कर परखना कठिन है। वैसे शब्दों के अर्थबोध के स्वरूप को परखने में जो कठिनाई प्रयोग के समय प्रयोगकर्ता के सामने आयी उससे यह स्पष्ट है कि शब्द और उसके अर्थ को सभी स्थितियों में पृथक्-पृथक् कर लेना सरल नहीं। टिचनर (Titch er) के एक प्रयोग में यह पाया गया कि But शब्द को सुन कर प्रयोग के विषय के मन में बिम्ब के रूप में उस शब्द को सुनते ही शब्द का उच्चारण करने वाले के सिर के पिछले भाग का चित्र उभरा, ऐसा इसलिए हुआ था कि शब्द का उच्चारण करने वाला उसकी ओर पीठ कर बैठा था और उसके सिर का पिछला भाग ही उसे दिखाई पड़ रहा था। निश्चय ही But शब्द का सिर के पिछले भाग से कोई सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। तथ्य यह है कि शब्द वस्तु-जगत तक ही सीमित नहीं। उसका अर्थ लोकसिद्ध पदार्थों तक ही परिमित नहीं। वह मानव मन के समग्र लोकसिद्ध और लोकातीत बोध तथा कल्पना को आत्मस्थ कर सकता है।

पावलव के सम्बन्ध-अवस्थापन के सिद्धान्त में यह दिखाया गया है कि व्यवहार में अनेक असम्बद्ध उत्तेजनाएँ अन्तःसूत्रित रहती हैं। असम्बद्ध सहज क्रियाएँ अन्य सम्बद्ध सहज क्रिया के साथ मिल कर सामर्थ्यवान बनती हैं। उदाहरणार्थ भोजन-शक्ति में भोजन ग्रहण की जटिल प्रक्रिया अन्तर्निहित रहती है। इस सम्बन्ध-अवस्थापन (conditioning) के सिद्धान्त के अनुसार शब्द-अर्थ के सम्बन्ध की व्याख्या इस रूप में की जा सकती है कि अर्थबोधक शब्द एक समुत्तेजना है, जिससे स्थिति-विशेष में एक व्यवहार-प्रणाली उत्पन्न होती है। शब्द या चिह्न से उत्पन्न प्रतिक्रियाएँ परस्पर भिन्न होने पर भी, सतत व्यवहार में, सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रक्रिया से एक विशेष प्रकार की एकरूपता प्राप्त कर लेती हैं।

शब्द एक संकेत है, जिसे व्यवहार में अर्थ पर आरोपित कर लिया जाता है। सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रक्रिया से आवयविक घटना-रूप शब्द का मानसिक घटना-रूप अर्थ पर संकेत के रूप में आरोप सम्भव होता है। इस क्रम में सम्बन्ध-अवस्थापन की एकरूपता आ जाती है। इस मान्यता के अनुसार शब्द पर अर्थ का आरोप शब्द-अर्थ के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध पर आधृत नहीं, बल्कि विभिन्न शब्द-चिह्नों के सह-सम्बन्ध पर अवलम्बित रहता है। तार्किक प्रत्यक्षवादी विचारकों ने भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की अपेक्षा शब्द के अन्य शब्दों के साथ सम्बन्ध को अधिक महत्त्व दिया था। उस मत के औचित्य की परीक्षा हम कर चुके हैं। चिह्न के अन्य चिह्नों के साथ सह-सम्बन्ध की यह धारणा प्रत्यक्षवादी विचारकों की उक्त धारणा से मिलती-जुलती है।

व्यवहारवादी मनोविज्ञानियों की धारणा है कि एक व्यवहार में अनेक गुणों का समाहार रहता है, जिनके बोधक अनेक शब्द होते हैं। उनमें से कोई भी शब्द उस अर्थ का वाचक नहीं होता, फिर भी उन सभी शब्दों के सह-सम्बन्ध से उस व्यवहार के अर्थ का बोध सम्भव होता है। इस प्रकार व्यक्ति के व्यवहार में, सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रक्रिया से, अनेक शब्दों के सह-सम्बन्ध के कारण एक शब्द के अर्थ का सम्बन्ध हो जाता है। व्यवहारवादी अर्थ को व्यवहार के रूप में अर्जित सत्ता-मात्र मानते हैं। इसीलिए ओसगुड ने भाषिक व्यवहार में अर्थ-भेद को प्रतिनिधि की प्रक्रिया से सम्बद्ध मानकर उसे उन प्रक्रियाओं की संकलित सूचना कहा है।[1] भारतीय नैयायिकों ने शाब्दबोध के स्वरूप-विवेचन के क्रम में यह विचार व्यक्त किया था कि किसी शब्द के वाच्य अर्थ के रूप में वस्तु के वर्ग, आकार आदि गुणों का ग्रहण होता है, जिनके वाचक अलग-अलग शब्द होते हैं, फिर भी सभी गुणों के

---

१. सी० ई० ओसगुड, सूसी, पी० तन्नेनबाउ—दँ लॉजिक ऑफ सेमेंटिक डिफॅरेंसिएसन, साल सपोता सम्पादित, साइकोलिंग्विस्टिक्स।

समाहार के रूप में उस अर्थ का एक भिन्न वाचक शब्द से बोध होता है। उदाहरणार्थ, घड़ा शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है उसमें उसकी आकृति, वर्ण आदि गुणों का बोध भी अन्तर्निहित रहता है, जिनके लिए अनेक गुण-बोधक शब्दों का प्रयोग किया जा सकता है। व्यवहारवादी मनोभाषाशास्त्रियों की उक्त मान्यता इस मान्यता से मिलती-जुलती ही है, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि शब्द के साथ अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं, अर्थ पर शब्द का संकेत के रूप में आरोप अन्य शब्दों या चिह्नों के सह-सम्बन्ध पर आधृत रहता है, वरन् इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ के साथ भी सम्बन्ध रहता है—भले ही वह सम्बन्ध सामयिक और आरोपित हो—और, शब्द-चिह्न का अन्य शब्द-चिह्नों के साथ तथा अर्थ का विभिन्न गुण-रूप पदार्थों के साथ भी अन्तःसम्बन्ध रहता है।

ओसगुड की मान्यता है कि जिस प्रकार संवेग एक सम्बन्धपरक तथा प्रत्ययगत प्रक्रिया होता है, उसी प्रकार अर्थ भी सम्बन्धपरक एवं बोधपरक प्रक्रिया है। अनेक शब्द-चिह्नों के अर्थ वैयक्तिक अनुभव-रूप होने से व्यक्ति के वैशिष्ट्य के सूचक होते हैं। शब्द से व्यक्तिगत अर्थ का बोध उत्पन्न होता है। ऐसे व्यवहार-रूप अर्थ का बोध किसी भाषिक अर्थ तथा प्रयुक्त शब्द के साथ सहगामी बन कर ही हो पाता है। मानव के व्यवहार में अनेकरूपता होने पर भी भाषिक व्यवहार में अर्थ प्रातिनिधिक प्रक्रिया से एकरूपता ग्रहण कर मनोवैज्ञानिक अर्थ के रूप में व्यक्त होता है।

वाट्सन ने यह मान्यता व्यक्त की थी कि चिन्तन अव्यक्त भाषा का ही एक रूप है। चिन्तन के समय व्यक्ति के मन में अनुच्चरित भाषा का प्रवाह चलता रहता है। भाषा के बिना कोई चिन्तन सम्भव नहीं। भारतीय दार्शनिकों ने भी उच्चरित या वैखरी भाषा के पूर्व मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा वाक् के रूप में भाषा के सूक्ष्म सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम रूपों की सत्ता स्वीकार की थी। चिन्तन भाषा के सूक्ष्म-रूप के माध्यम से ही सम्भव होता है। जैकोब्सन, थोरसन, मैक्स आदि मनोवैज्ञानिक विचारकों ने चिन्तन के क्रम में घटित होने वाली स्नायविक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन कर यह निष्कर्ष दिया है कि चिन्तन-प्रक्रिया और उक्ति-प्रक्रिया में सहधर्मिता नहीं रहती।

वाट्सन ने विभिन्न प्रकार के पशुओं तथा अनेक वर्गों के मनुष्यों पर शाब्दबोध का प्रयोग कर यह निष्कर्ष निकाला कि भाषिक संकेत या तात्पर्य व्यवहारगत परिवर्तनों के साथ ही व्यक्त होता है। लोक-जीवन में हम ऐसी वस्तुओं का भी बोध ग्रहण करते हैं, जिनके वाचक शब्द से हमारा परिचय नहीं होता। ऐसे वस्तु-बोध का या उस वस्तु के प्रति हमारी प्रतिक्रिया का उस वस्तु के बोधक शब्द के अर्थ के

साथ कोई सम्बन्ध नहीं। साँप को देख कर भागने या उसे मारने की प्रतिक्रिया का साँप शब्द के अर्थ के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं। इसीलिए भाषिक व्यवहार में साँप शब्द को सुन कर ठीक वैसी ही प्रतिक्रिया घटित नहीं होती, जैसी साँप को देख कर होती है। स्मरणीय है कि भारतीय दार्शनिकों ने दाह आदि शब्दों के अर्थ बोध में तथा आग के स्पर्श से होने वाले दाह के अनुभव में भेद को स्पष्ट कर शाब्द बोध की वस्तुबोध से स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की थी। वाट्सन ने भी वस्तु के प्रति विभिन्न स्थितियों में होने वाली भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाओं को शब्द-निरपेक्ष मान कर सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रक्रिया से वस्तुबोध और शाब्दबोध में सम्बन्ध घटित होने के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनके मतानुसार किसी वस्तु का वाचक शब्द तथा उससे सम्बद्ध भाषिक गठन के साथ सम्बन्ध-अवस्थापन होने पर वह वस्तु विशिष्ट मनोवैज्ञानिक समुत्तेजना के साथ अर्थ-प्रक्रिया का रूप ग्रहण कर भाषिक प्रतिक्रिया व्यक्त करती है। वस्तु के शब्द के साथ स्थानान्तरण से सम्बन्ध-अवस्थापन की यह प्रक्रिया वैसी ही है जैसी किसी एक व्यवहार के दूसरे व्यवहार में स्थानान्तरण से सापेक्ष उत्तेजना की प्रक्रिया होती है। यह क्रियाओं का समाहार होता है, असम्बद्ध प्रतिक्रिया मात्र नहीं। इस प्रकार यह सिद्धान्त अर्थ को अस्थिर मान कर वातावरण की पूर्णता पर अर्थ की पूर्णता को आश्रित मानता है।

वाट्सन ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि अर्थ-बोध में अनेक अव्यक्त व्यवहार मिश्रित रहते हैं। उस बोध में विभिन्न स्नायविक एवं मानसिक प्रतिक्रियाओं का मिश्रण होने के कारण अर्थ-विश्लेषण में उन अव्यक्त प्रतिक्रियाओं को निर्दिष्ट कर पाना कठिन होता है।

भाषाविज्ञान में ध्वनि का उच्चारण करने वाले अवयवों के स्थान-प्रयत्न आदि का अध्ययन तो किया गया है, पर शब्द के अर्थ-बोध के क्रम में होने वाली स्नायविक एवं मानसिक प्रतिक्रियाओं का व्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया है। इन प्रतिक्रियाओं का समग्रता में अध्ययन करने के लिए जैकोब्सन ने 'मानसिक क्रियाओं का 'विद्युत-शरीर-क्रिया-विज्ञान' (Electro-physiology of Mental Activities) शीर्षक निबन्ध में अर्थ-बोध की मनो-स्नायविक प्रतिक्रियाओं के अध्ययन पर बल दिया है और इसके लिए उन्होंने प्रयोग में विषय के शरीर की मांसपेशियों में विद्युत का आवेश उत्पन्न कर उसके शाब्दबोध की प्रक्रिया का अध्ययन किया है। इस प्रयोग से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि शब्दार्थ एक अव्यक्त प्रतिक्रिया है जो शब्द से निर्दिष्ट होनेवाली वस्तु के माध्यम से व्यक्त होती है और सान्निध्य की प्रक्रिया से शब्दों से उसमें विस्तार आता है। प्रतिक्रियाएँ परस्पर भिन्न-भिन्न होती हैं, पर व्यक्त प्रतिक्रियाओं के माध्यम से व्यवहार का रूप ग्रहण कर एकरूपता प्राप्त कर लेती हैं।

बिम्बों के रूप में होने वाली प्रतिक्रियाओं का अध्ययन-विश्लेषण तो सरल है, पर उनसे भिन्न अव्यक्त प्रतिक्रियाओं का अध्ययन कठिन है। वैद्युतिक आवेश के समय विषय शाब्दबोध के क्रम में प्रयोगकर्ता के निर्देश का अनुगमन करता है, जिससे स्नायु की तीव्रता के रूप में प्रतिक्रियाएँ अतिप्लावित हो जाती हैं। उस अवस्था में प्रतिद्वन्द्वी प्रवृत्तियों के कारण गति और गतिप्रदर्शन के फल के रूप में भी क्रियातरंगें उत्पन्न होने लगती हैं। अतः शाब्दबोध में विषय की अव्यक्त प्रतिक्रियाओं का निश्चयात्मक निर्देश कठिन होता है।

जैकोब्सन के इस प्रयोग की एक सीमा यह थी कि उन्होंने विषय के शरीर में विद्युत-आवेश उत्पन्न कर केवल आदेशात्मक या निर्देशात्मक शब्दों का उच्चारण किया था और उन शब्दों के प्रति विषय की मनोशारीरिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करने का प्रयास किया था। अतः उन अर्थों से भिन्न अर्थ के बोधक शब्दों के बोध के समय मन और स्नायु में कैसी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, इसका समाधान जैकोब्सन के प्रयोग में नहीं मिल पाता। यह निर्धारित कर पाना भी कठिन है कि वस्तुविशेष के बोधक शब्द से कौन-सी मूल प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और सम्बन्ध-विस्तार की प्रक्रिया से कौन-कौन-सी सम्बद्ध प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हुईं। तात्पर्य यह कि शाब्दबोध की प्रक्रिया में उत्पन्न विभिन्न मनोदैहिक प्रतिक्रियाओं में से केन्द्रीय या मूल प्रतिक्रिया को रेखाङ्कित कर पाना सरल कार्य नहीं।

चार्ल्स ओसगुड ने शाब्दबोध की मनो-स्नायविक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करने के लिए जो प्रयोग किये हैं, उनमें उन्होंने अर्थ को मध्यवर्ती प्रतिक्रिया के रूप में माना है। उनकी दृष्टि में शब्दार्थ एक विशेष प्रकार की प्रतिक्रिया ही है। उनकी मान्यता है कि उत्तेजनात्मक वस्तुओं से जटिल व्यवहार का नियोजन होता है। यह नियोजन असम्बद्ध व्यवहार में सम्बन्ध-अवस्थापन की प्रक्रिया का ही स्वरूप है। शब्द को ओसगुड ने आपद्मूलक संघटनों से जुड़ा हुआ माना है। अतः उनका निष्कर्ष है कि अर्थ सहज भय-प्रतिक्रिया है, जो किसी भयावह स्थिति से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होती है। इस मत के औचित्य पर अर्थ के स्वरूप-निरूपण के सन्दर्भ में विचार किया जा चुका है।

ओसगुड के अनुसार भाषिक व्यवहार के लिए यह आवश्यक है कि शब्द किसी समाज में एक प्रकार के अर्थ का ही बोध करावे। वस्तुओं में पारस्परिक भिन्नता रहती है। वे अलग-अलग क्रियाओं में प्रवृत्त रहती हैं। वस्तुओं के रूप, क्रिया आदि में भिन्नता होने पर भी यदि व्यक्ति को अभिहित वस्तुओं के साथ सदृश व्यवहार के लिए प्रशिक्षित किया जाय, तो शब्द-चिह्न विभिन्न व्यक्तियों के मन में समान अर्थ का ही बोध कराने लगता है। मानव-व्यवहार को निर्धारित करने वाला इस प्रकार का पुनर्नियोजन मध्यस्थ पुनर्नियोजन के रूप में कार्य करता है। इसलिए

शब्दार्थ को सामाजिक दृष्टि से मध्यस्थता-प्राप्त धर्म माना गया हैं और उसका संस्कृति से अविभाज्य सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। ब्राउन ने भी यह माना है कि एक भाषिक परिवार में एक ही प्रकार का पुनर्नियोजन होता है। ओसगुड की दृष्टि में अर्थ किसी वस्तु का प्रतिनिधि न होकर उन क्रियाओं से सम्बद्ध होता है, जिनसे वस्तुएँ किसी रूप में संलग्न होती हैं।

ओसगुड ने इस मध्यस्थ प्रक्रिया की कुछ सीमाओं का अनुभव किया था और यह स्वीकार किया था कि बिम्बविधायी शब्दों के अर्थ का अध्ययन करने के समय तो यह मध्यस्थ प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है, पर भावात्मक एवं वर्णबोधक शब्दों के अर्थबोध के विश्लेषण में उसका स्पष्टीकरण नहीं हो पाता।

अलफ्रेड बिने ने अर्थबोध को मानसिक बिम्बग्रहण-रूप मान कर विभिन्न प्रकार के बिम्बों में आदर्श-निर्धारण की दिशा में प्रयत्न किया। किन्तु अपनी दो कन्याओं पर इस उद्देश्य से किये गये प्रयोग में उन्होंने पाया कि शब्द से उनमें बिम्ब-विधान की जगह विचार और चिन्तन ही व्यक्त हुआ।

वाट ने अपने प्रयोग में नियन्त्रित वाचिक सान्निध्य विधि का अनुसरण करते हुए प्रयोग के विषय को किसी शब्द के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को उस शब्द से सम्बद्ध अन्य शब्द के माध्य से व्यक्त करने का निर्देश दिया। उन्होंने प्रयोग की तैयारी, उत्तेजनाभूत शब्द तथा अपनी प्रतिक्रिया को व्यक्त करने के लिए अन्य शब्द के चयन और उनके प्रयोग आदि की अवस्थाओं में घटित होने वाली प्रतिक्रियाओं का अध्ययन कर यह निष्कर्ष प्राप्त किया कि उत्तेजनाभूत शब्द किसी-न-किसी रूप में प्रयोग के विषय के विचारों को क्रियाशील बनाते हैं और उनके विचार-प्रवाह में विभिन्न दिशाओं में उन्मुख अनेक प्रकार के शब्द भी व्यक्त होते हैं।

उडवर्थ ने शाब्दबोध के स्वरूप का अध्ययन करने के लिए प्रश्नों के प्रति व्यक्त उत्तर की प्रक्रिया का विश्लेषण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि उक्ति या अन्तर्मुखी सूचनाएँ बिम्बों से निकटतया सम्पृक्त होकर ही व्यक्त होती हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि प्रश्न का उत्तर देने वाला स्वयं ही बिम्बों को ग्रहण और व्यक्त करता हो। प्रश्नकर्ता के रूप में उडवर्थ ने अपने भीतर ही उनका प्रत्यक्षीकरण और प्रस्तुतीकरण किया है।

टिचनर ने शाब्दबोध के अध्ययन के लिए किये जाने वाले प्रयोग के सम्बन्ध में जिन मूलभूत सिद्धान्तों की स्थापना की उनसे परवर्ती मनोवैज्ञानिक विचारक बहुत प्रभावित हुए हैं। उनकी मान्यता है कि मानव-चेतना और सन्दर्भ से निरपेक्ष रूप में शब्दार्थ का अध्ययन-विश्लेषण सम्भव नहीं। मानव-चेतना के प्रत्येक खण्ड

के बोध, संवेदना, बिम्ब या प्रभाव के रूप में ही अर्थ के स्वरूप का विश्लेषण सम्भव है। बिम्ब को टिचनर ने एक विशिष्ट प्रकार की अनुभति के रूप में स्वीकार किया है, जो लॉक और मिल की बिम्ब-धारणा से किञ्चित् भिन्न है। टिचनर का विचार है कि किसी भाषिक प्रतीक का अर्थ उसके पर्यायवाची शब्द से निर्दिष्ट वस्तु के साहचर्य से ही गृहीत नहीं होता। किसी शब्दार्थ के साथ शब्द-प्रतीक के द्वारा निर्दिष्ट वस्तु के वैशिष्ट्य का सम्पर्क आवश्यक होता है। बिम्ब के स्वरूप का निर्माण घटनात्मक अनुभवों से निःसृत तत्त्वों से भी होता है। इस प्रकार बिम्ब का निर्धारण विस्तृत शब्दों के द्वारा सान्निध्य के कारण होता है। टिचनर के इस सिद्धान्त को क्लार्क, कॉस्मटोक, क्रॉसलैंड, गिलसन, ओकावे आदि विचारकों ने विकसित किया है।

टिचनर के अनेक शिष्यों ने बिम्बों को मानव चेतना का विषय स्वीकार किया है, किन्तु विशिष्ट बिम्ब के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में उन्होने टिचनर के मत से असहमति प्रकट की है। बिम्बों की विविधता के कारण शब्द के किसी एक निश्चित बिम्ब-रूप अर्थ का निर्धारण कठिन है। भाषा सामाजिक धरोहर है और उसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति का समान भाग रहता है। सबके मानस बिम्बों की विविधता के बीच व्यक्ति उसके किस मानक रूप को शब्दार्थ के रूप में ग्रहण करता है, इसका स्पष्टीकरण टिचनर का बिम्बार्थवादी सिद्धान्त नहीं कर पाता। अतः, पिलसवरी और मीडर ने यह मान्यता व्यक्त की है कि शाब्दबोध में बिम्ब को केन्द्रीय महत्त्व देना उचित नहीं। उनकी दृष्टि में अर्थ शब्द के प्रति स्वतः निर्दिष्ट स्नायविक प्रतिक्रिया-रूप है। चेतना में शब्द के प्रति बिम्बरूप में प्रतिक्रिया का होना आवश्यक नहीं। विलियम जेम्स ने भी यह विचार व्यक्त किया है कि भाषिक व्यवहार में बिम्ब का कोई महत्त्व नहीं, महत्त्व है सान्निध्य के कारण मानस-धारा में उत्पन्न उत्तेजना का। टिचनर ने भी पीछे चल कर अर्थ के साथ स्नायविक सम्बन्ध अवस्थापन का महत्त्व समझा और तदनुरूप अपने मत का परिष्कार किया। असंख्य शब्दों के अर्थबोध में बिम्बग्रहण नहीं होता, केवल तात्कालिक स्नायविक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है।

चार्ल्स मॉरिस तथा चार्ल्स स्टीवेंशन आदि व्यवहारवादी विचारकों ने अर्थ-बोध की प्रक्रिया को स्नायविक प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार किया है। ब्राउन की भी मान्यता है कि शब्द को सुन कर श्रोता जब अर्थग्रहण करता है, तो उस प्रक्रिया में उसकी स्नायु-प्रणाली में पुनरावेष्टन होता है।

ऑग्डेन और रिचर्ड्स ने अर्थ को मानस बोध का रूप स्वीकार कर शब्द-अर्थ के सम्बन्ध के विषय में यह मत व्यक्त किया है कि शब्द या भाषिक चिह्न तथा अर्थ

में कोई नियत पारस्परिक सम्बन्ध नहीं। समान प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले चिह्नों के लिए समान विशेषण का प्रयोग किया जाता है। इस क्रम में जिस भाषिक रूप का प्रयोग किया जाता है वह उन चिह्नों को एक अर्थ-सूत्र में आबद्ध कर देता है। एक कविता की विभिन्न छात्रों द्वारा की गयी अलग-अलग व्याख्या के आधार पर रिचर्ड्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि शब्द के अर्थ-बोध का कोई सामान्य स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता।

रिचर्ड्स का उक्त मत शब्द के वाच्य अर्थ के साथ लक्ष्य एवं व्यंग्य अर्थों को मिला देने से अस्पष्ट हो गया है। शब्द में किसी नियत अर्थ के बोध की मुख्य शक्ति तो मानी ही जानी चाहिए, जिससे कविता का अर्थ-बोध सम्भव होता है। उसके भावन में पाठकों के मानसिक स्तर के अनुसार जो भेद आता है, उसका कारण सन्दर्भ आदि के वैशिष्ट्य से अर्थबोध में आने वाला वैशिष्ट्य है। भारतीय विचारकों की दृष्टि इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट रही है। उन्होंने अभिधेय अर्थ का नियत रूप मान कर लक्षणा तथा व्यञ्जना शक्तियों से वक्ता, श्रोता, प्रसंग आदि के अनुरूप भिन्न-भिन्न रूपों में अर्थग्रहण की सम्भावना स्वीकार की है। रिचर्ड्स शब्द शक्तियों के स्वरूप पर अलग-अलग विचार नहीं कर पाये। इसीलिए उन्होंने बोध के सामान्यीकरण के सिद्धान्त का खण्डन किया। वस्तुतः बोधगत समता के अभाव में मानव समाज में भाषिक व्यवहार सम्भव ही नहीं होगा। शब्द एक सामान्य अर्थ का बोध सब को कराता है। इसीसे भाषिक व्यवहार में शब्द के माध्यम से विचार का आदान-प्रदान सम्भव होता है।

अर्थ को मानस प्रत्यय-रूप मानकर रिचर्ड्स ने काव्य के अर्थबोध में जो अनेक सम्भावनाओं को स्वीकृति दी है उसे उनकी एक उपलब्धि अवश्य माना जा सकता है, पर यह ऐसी उद्भावना नहीं जिससे पूर्ववर्ती सभी विचारक अपरिचित रहे हों। इस भाषिक बोध के रहस्य को भारतीय विचारक अनेकत्र निर्दिष्ट कर चुके थे। शब्दस्फोटवादी वैयाकरणों ने शब्द-अर्थ को मानस प्रत्यय के रूप में स्वीकार किया था और भारतीय साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने शब्द की लक्षणा एवं व्यञ्जना शक्तियों से प्राप्त होने वाले असीम अर्थों की सम्भावनाओं को स्वीकृति दी थी। अर्थ का मानस प्रत्यय-रूप होना शब्द के साथ उसके नियत सम्बन्ध को खण्डित नहीं करता।

मनोविज्ञानियों ने वस्तुबोध की विविधता में सामान्यीकरण की प्रक्रिया से शब्दार्थ के एक विशिष्ट स्वरूप के निर्धारण पर बल दिया है। किसी एक उत्तेजना से उत्पन्न प्रतिक्रिया स्थानान्तरित होकर जब अन्य उत्तेजना के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है, तब सामान्यीकरण सम्भव होता है। ट्राउगोट और फोदेयेबा ने यह सिद्ध

करने का प्रयास किया है कि शब्द-समुत्तेजनाओं के प्रति मुक्त सान्निध्य ही तीव्रतर होता है। राजरेन ने यह मान्यता व्यक्त की है कि ध्वनिगत समता वाले शब्दों की अपेक्षा अर्थगत समता रखने वाले शब्दों में सामान्यीकरण की प्रक्रिया की अधिक सम्भावना रहती है।

फ्रायड तथा उनके अनुयायी मनोविश्लेषणवादी विचारकों ने सान्निध्यगत प्रभावों के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। फ्रायड ने अर्थबोध को मनोगत मान कर मानव के शैशव काल से लेकर अवस्था की वृद्धि के साथ होने वाले मानसिक विकास या ह्रास के साथ उसकी अर्थबोध-प्रक्रिया के अध्ययन की उपादेयता की ओर ध्यान आकृष्ट किया। मानव-जीवन में मन के विकास और ह्रास का एक क्रम रहता है। शैशव से उसका क्रमिक विकास चलता है और वृद्धावस्था में ह्रासोन्मुख होकर वह पुनः शैशवकालीन अवस्था में पहुँचने लगता है। बीच में भी मन असामान्य दशा में आ सकता है। मन के विकास पर ही शब्दार्थ की ग्राहकता निर्भर रहती है। अतः मानसिक दशा से निरपेक्ष होकर शब्दार्थ के स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन, फ्रायड की दृष्टि में सम्भव नहीं। भाषिक व्यवहार में जो भूल होती है या शब्दार्थ के सम्बन्ध-बोध में स्खलन होने से किसी शब्द का उसके वाच्य से भिन्न अर्थ में प्रयोग हो जाता है, उसका कारण फ्रायड ने मानसिक विकार को माना है। मानसिक रोगियों के कथन का अध्ययन करते हुए उन्होंने उसके मन की अवस्था के साथ उस कथन का सम्बन्ध जानने का प्रयास किया है। मनोविश्लेषक की दृष्टि में मनोरोगी के द्वारा कथित शब्द का वही अर्थ नहीं होता, जो अर्थ हम सामान्य व्यवहार में ग्रहण करते हैं। वह उस कथन का महत्त्व नामकरण और निदान की दृष्टि से ही समझता है। रोगी जो कुछ कहता है वह झूठ भी हो सकता है। ऐसा कथन रोगी को मिथ्याभाषी सिद्ध नहीं कर उसके अचेतन मन में निहित किसी प्रलोभन को ही व्यक्त करता है। उक्ति-स्खलन को भी फ्रायड ने दमित इच्छाओं का परिणाम माना है। इस प्रकार उन्होंने प्रत्येक शब्द के अर्थ का सम्बन्ध मानव-मन में निहित व्यापक काम-भावना या इच्छा-शक्ति से जोड़ने का प्रयत्न किया है। मृत्यु शब्द का अर्थ उनकी दृष्टि में मृत्यु की इच्छा है, देहत्याग नहीं। शिशु के रुदन का अर्थ वे उसकी आवश्यकता की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण करते हैं। स्वप्न का विश्लेषण वे स्वप्नद्रष्टा के मन के अध्ययन के लिए करते हैं। इस तरह फ्रायड ने तीसरे कान से सुनाई पड़ने वाली एक विशिष्ट भाषा की कल्पना की है और कूट-पुस्तक में उस भाषा को रूपायित किया है। यह भाषा मानव चेतना को अभिव्यक्ति देती है और चेतना से ही गृहीत होती है। व्यक्ति अपने मन में निहित अर्थ को अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा वातावरण पर आरोपित कर वातावरण को नयी अर्थवत्ता प्रदान कर सकता है।

शिशु अपनी भूख को ऐसी ही क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा व्यक्त करता है। ऐसे अर्थ का विश्लेषण सान्निध्य की विधि से ही किया जा सकता है।

ध्यातव्य है कि भाषिक व्यवहार में भूल और स्खलन का कारण भारतीय विचारकों ने भी शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध के विषय में व्यक्ति की भ्रान्ति को ही माना है। उनकी मान्यता थी कि शाब्दबोध में तीन पक्ष होते हैं—शब्द का बोध, उसके अर्थ का बोध तथा दोनों के सम्बन्ध का बोध। इन तीनों का ज्ञान रहने पर ही शाब्दबोध सम्भव होता है। किसी भी एक अंग के ज्ञान में भ्रान्ति होने से शाब्दबोध भ्रान्त हो जाता है और परिणामस्वरूप लोग भाषिक प्रयोग में भूल करते है।

शब्दार्थ-सम्बन्ध-विषयक मनोवैज्ञानिक चिन्तन तथा इस दिशा में किये गये प्रयोग के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द-अर्थ में सम्बन्ध-अवस्थापन, सामान्यीकरण तथा सान्निध्य आदि की विधियों से शाब्दबोध की प्रक्रिया के अध्ययन के लिए विषयों पर किया जाने वाला प्रयोग, शाब्दबोध के समय विषयों के मन एवं स्नायुओं पर पड़ने वाले प्रभावों का ही स्पष्टीकरण मुख्य रूप से करता है। ऐसे प्रयोग से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के स्वरूप-निर्धारण की समस्या का समाधान नहीं हो पाता। अतः अर्थवैज्ञानिक दृष्टि से शब्दार्थ-सम्बन्ध के निरूपण में ऐसे प्रयोगों की अधिक उपादेयता नहीं। हाँ, शाब्दबोध के मनोस्नायविक प्रभाव के अध्ययन के माध्यम से अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि—शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में आधुनिक भाषाविज्ञान में अनेक ऊहापोह हुए हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान पाश्चात्य जगत की देन है। स्वभावतः ही भाषावैज्ञानिक विचारक पाश्चात्य दार्शनिकों के शब्दार्थ-चिन्तन से परिचित थे। इसलिए उन्होंने शब्द-अर्थ के स्वरूप तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विवेचन-क्रम में पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार पर भी दृष्टि रखी है, पर भारतीय विचारकों के शब्दार्थ-विषयक दार्शनिक चिन्तन से अपरिचित रहने के कारण वे इस विषय पर अपेक्षित व्यापकता से विचार नहीं कर पाये हैं। अतः आज भी इस विषय की पूर्णता के साथ मीमांसा करने के लिए भारतीय दार्शनिकों के एतद्विषयक चिन्तन के आलोक में आधुनिक भाषाविज्ञान में व्यक्त विचार का मूल्यांकन अपेक्षित है।

भाषाविज्ञान की एक प्रमुख शाखा के रूप में अर्थविज्ञान का विकास हुआ है। हम देख चुके हैं कि अर्थनिरपेक्ष रूप में भाषा के स्वरूप का अध्ययन पूर्ण नहीं हो

सकता। अर्थविज्ञान में शब्द और अर्थ के स्वरूप का विश्लेषण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण किया जाता है।

ध्यातव्य है कि भाषा के स्वरूप के दार्शनिक विवेचन तथा वैज्ञानिक विश्लेषण में दृष्टिकोण का कुछ मूलभूत अन्तर होता है। जहाँ दार्शनिक भाषा के मूल में निहित अज्ञात तत्त्व के अन्वेषण का प्रयास करते हैं, वहाँ भाषाविज्ञानी भाषा-विशेष के प्राप्त स्वरूप का विश्लेषण कर और अनेक भाषाओं की प्रकृति का तुलनात्मक अध्ययन कर किसी निष्कर्ष की स्थापना का प्रयास करते हैं। अतः भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करने वालों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अधिक यथार्थवादी या वस्तुवादी होता है। दार्शनिक चिन्तन किसी अज्ञात परोक्ष सत्ता में निहित विश्वास पर अवलम्बित हो सकता है, पर वैज्ञानिक विश्लेषण ज्ञात तथा प्रत्यक्ष वस्तु तक ही अपने को सीमित रखता है। यही कारण है कि भाषा-दर्शन में जहाँ भाषा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त स्थापित हुआ और कुछ विचारकों ने शब्द में निहित अर्थबोध की शक्ति को ईश्वरेच्छा से आरोपित माना, वहाँ अर्थविज्ञान में भाषा की उत्पत्ति तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध पर वस्तुपरक दृष्टि से ही विचार किया गया है। अर्थविज्ञान में भाषा के व्यक्त रूप में शब्द और अर्थ के स्वरूप का तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण किया जाता है, साथ ही कालक्रम से शब्द के अर्थ में होने वाले परिवर्तन के सांस्कृतिक, भौगोलिक, मानसिक आदि कारणों का अन्वेषण किया जाता है। शब्द के अर्थ की अनित्यता या परिवर्तनशीलता को दृष्टि में रखते हुए भाषाविज्ञानियों ने शब्दार्थ-सम्बन्ध को परम्परा-प्राप्त (conventional) और अनित्य माना है।

शब्दार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण में दार्शनिक पद्धति से अर्थवैज्ञानिक पद्धति में इस मूलभूत अन्तर के होने पर भी अर्थवैज्ञानिक चिन्तन दार्शनिक चिन्तन से अप्रभावित नहीं रह पाया है। परम्परागत दार्शनिक चिन्तन से अर्थवैज्ञानिक विचारक किसी-न-किसी रूप में प्रभावित अवश्य होते रहे हैं। अतः आधुनिक अर्थवैज्ञानिक विचार को भी परम्परागत दार्शनिक चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में पूर्णता से समझा जा सकता है।

शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करने के क्रम में अनेक अर्थवैज्ञानिक विचारकों ने उन विभिन्न दार्शनिक मतवादों को दृष्टि में रखा है जो शब्द-अर्थ के स्वरूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्रचलित थे। दर्शन के उन वादों ने दर्शन के क्षेत्र से प्रसृत होकर साहित्यिक मान्यताओं को भी प्रभावित किया था और इस प्रकार वे पाठकों के बहुत बड़े वर्ग में चर्चा का विषय

बन चुके थे। अतः इस समस्या पर एक नवीन वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने के लिए यह आवश्यक था कि इस सम्बन्ध में पूर्वप्रचलित दार्शनिक मान्यताओं का निर्देश किया जाय और उनके औचित्य का वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षण किया जाय।

स्टेफेन उलमान ने लैंग्वेज एण्ड स्टाइल नामक अपनी पुस्तक में शब्द-अर्थ के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्ध का अर्थवैज्ञानिक विवेचन करते हुए उसकी पृष्ठभूमि के रूप में पाश्चात्य दर्शन में प्रचलित शब्दार्थ-विषयक अनेक मान्यताओं का उल्लेख कर उनके औचित्य की परीक्षा की है। उन्होंने शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में साहित्य में चर्चित जिन विचारों का उल्लेख किया है, उनमें फ्रांसिस बेकन तथा परसी वेसी शेली के विचार द्रष्टव्य हैं। बेकन का कथन है कि 'मनुष्य यह समझता है कि भाषा पर उसके मस्तिष्क का अधिकार है, पर बहुधा ऐसा होता है कि भाषा का ही उसके मस्तिष्क पर अधिकार देखा जाता है।'[1] प्रोमेथियस अनबाउण्ड से शेली का यह विचार उद्धृत किया गया है कि उस प्रोमेथियस ने मनुष्य को वाणी दी और वाणी ने विचार को उत्पन्न किया।[2]

बेकन के उक्त कथन में यह मान्यता स्पष्ट है कि मनुष्य की सम्पूर्ण बोध-प्रक्रिया भाषा से ही नियन्त्रित होती है। शाब्दबोध या किसी भी प्रत्यय को इस मत के अनुसार सविकल्पक तथा भाषानुगत माना जायगा। भारतीय व्याकरण-दर्शन के सुविख्यात प्रतिष्ठाता भर्तृहरि ने भी ऐसी ही मान्यता व्यक्त की थी, जब उन्होंने कहा था कि संसार में कोई भी ऐसा प्रत्यय नहीं, जो भाषारहित हो। सभी प्रकार के प्रत्यय को भाषाबद्ध मानने में दो मत हो सकते हैं, पर इतना निर्विवाद रूप से सत्य है कि शब्द से होने वाले बोध में शब्द बोध के स्वरूप को प्रभावित करते हैं।

शेली की इस मान्यता में भी भारतीय वैयाकरणों के मत की प्रतिध्वनि है कि उसने वाणी को जन्म दिया और वाणी से अर्थ की उत्पत्ति हुई। वैयाकरणों ने शब्द-ब्रह्म को समग्र अर्थरूप विश्व का कारण माना था, किन्तु उपनिषदों में शब्दब्रह्म से भी अधिक व्यापक परमब्रह्म की सत्ता स्वीकार की गयी है। इस प्रकार दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में इस मान्यता का परीक्षण करने से यह निष्कर्ष

---

१. Men emagin that their minds have command of language but it often happens that language bears rule ovar their minds. Language and style, p. २०५

२. He gave man Speech and Speech created thought, which is the measure of the universe. Shelley, Prometheus unbound, Act II sene 4. 11

प्राप्त होता है कि मूल सत्ता परम ब्रह्म की है जिससे उसी के समान सूक्ष्म, व्यापक और नित्य शब्दब्रह्म का विकास हुआ है और संसार के सभी पदार्थ उसी शब्दब्रह्म से विकसित हुए हैं। मनुष्य को प्रोमेथियस से वाणी प्राप्त होने तथा वाणी से विचार के उत्पन्न होने की उक्त मान्यता में भारतीय विचारकों के इस मत की प्रतिच्छाया स्पष्ट है।

शेली के इस मत की आलोचना करते हुए एक आलोचक ने कहा था कि वाणी से विचार की उत्पत्ति मानना गाड़ी से घोड़े की, संकेत से सराय की तथा कार्य से कारण की उत्पत्ति मानने के समान हास्यास्पद है।[1] तात्पर्य यह कि उस आलोचक की दृष्टि में पहले अर्थ आता है और तब उस अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग होता है। इसके कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं। वक्ता किसी अर्थ को मन में ग्रहण करने के बाद उसके बोधक शब्द का प्रयोग करता है, अर्थात् वह अपने विचार को भाषिक रूप देकर व्यक्त करता है। शब्द वह ध्वनिसंकेत है जो किसी अर्थ को व्यक्त करने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त भाषा-प्रयोग की प्रक्रिया में हम यह भी देखते हैं कि नवीन-नवीन वस्तुओं के बोध के लिए नये-नये शब्दों का निर्माण किया जाता है। अतः शेली के विचार की आलोचना में शब्द से विचार और विचार में आने वाले अर्थात्मा विश्व की उत्पत्ति को गाड़ी से घोड़े की उत्पत्ति, संकेत से विश्रामगृह की उत्पत्ति तथा कार्य से कारण की उत्पत्ति की मान्यता के समान कहा गया है। ऊपर से यह आलोचना तथ्यपूर्ण लग सकती है, पर भाषा की समस्या इतनी सरल नहीं। शब्द और अर्थ में किसकी सत्ता पहले मानी जाय, यह निर्णय करना कठिन है। इसलिए शेली के उक्त मत की इस आलोचना की प्रत्यालोचना करते हुए उलमान ने कहा है कि आज हम निश्चय पूर्वक यह नहीं कह सकते कि शब्द और अर्थ में कौन घोड़ा है और कौन गाड़ी—किसकी सत्ता पहले है, किसकी पीछे। आज सामान्यतः सभी विचारक एक मत से यह मानते हैं कि भाषा हमारे विचारों को प्रभावित कर सकती है, वह उन्हें निश्चित रूप दे सकती है, उन्हें निर्धारित कर सकती है, उन्हें नियत दिशा प्रदान कर सकती है, उन्हें मर्यादित कर सकती है और कहीं-कहीं उन्हें विकृत भी कर सकती है। हाँ, विचार पर भाषा के इस प्रकार के प्रभाव का कोई ठोस उदाहरण ढूँढ़ना आसान काम नहीं है।

---

१. "Prometheus gave man speech and Speech created thought" which is exactly, in our opinion the cart creating the horse the sign creating the inn, the effet creating the cause—ullman Language and style में उद्धृत, पृ० २०६-७

उलमान की मान्यता है कि व्यक्तिवाचक संज्ञा को छोड़ शेष शब्द जाति या सामान्य का बोध कराते हैं। उनसे विशिष्ट व्यक्ति, गुण, क्रिया आदि का अलग-अलग ग्रहण नहीं होता, वरन् उनके समग्र समुदाय का बोध होता है। यदि शब्द न रहें, या शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध में व्याघात आ जाय तो उस जाति की धारणा, उस समग्र समुदाय का बोध भी शब्द के साथ ही समाप्त हो जायगा।[1]

जाति अमूर्त होती है और अमूर्त जाति या सामान्य का बोध शब्द पर ही निर्भर रहता है। यदि शब्द का अर्थ वस्तुजगत् का कोई विशिष्ट पदार्थ होता तो उसकी सत्ता शब्द-निरपेक्ष भाव से भी मानी जाती, पर तथ्य यह है कि शब्द वस्तु के सामान्य रूप का बोध कराते हैं, जिसकी सत्ता शब्द पर ही निर्भर रहती है। वस्तुविशेष या व्यक्ति को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। भारतीय भाषा-दर्शन में व्यक्ति को शब्द का अर्थ मानने वाले मत का युक्तिपूर्वक खण्डन किया जा चुका था! भारतीय व्याकरण-दर्शन में जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य को समग्रतः शब्दार्थ माना गया है। मीमांसकों ने केवल जाति को शब्दार्थ माना है। उलमान व्यक्तिवाचक संज्ञा को व्यक्तिबोधक मानते हैं और अन्य पदों को जाति, गुण, क्रिया आदि के सामान्य बोध का हेतु। शब्दार्थ के स्वरूप की समस्या पर हमने स्वतन्त्र अध्याय में विस्तार से विचार किया है। शब्द-अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के निरूपण के इस सन्दर्भ में उलमान की मान्यता का सार यह है कि अर्थ सामान्य-बोध-रूप होने के कारण शब्द पर आश्रित रहते हैं। ध्यातव्य है कि भारतीय वैयाकरणों ने भी शब्द और अर्थ के नित्य सम्बन्ध की कल्पना करते हुए समग्र अर्थ-बोध को शब्दबद्ध माना था। विशिष्ट मूर्त वस्तु को शब्द का अर्थ मानने वालों ने व्याकरण-मत का खण्डन करने के लिए यह युक्ति भी दी थी कि शब्द और अर्थ में अविनाभाव, नित्य या प्राप्ति रूप सम्बन्ध अनुभवसिद्ध नहीं है, पर इस आक्षेप की व्यर्थता इस बात से सिद्ध हो जाती है कि व्यक्ति या विशिष्ट वस्तु शब्द का संकेतित अर्थ नहीं, उसकी उपाधि संकेतित अर्थ होती है, जिसमें जाति, गुण, क्रिया तथा संज्ञा का बोध मिश्रित रहता है। मीमांसा तथा न्याय दर्शन के चिन्तन के आलोक में उलमान की मान्यता में एक परिष्कार अपेक्षित है कि सभी व्यक्तिवाचक पदों का अर्थ भी विशिष्ट व्यक्ति ही नहीं होता उन संज्ञा पदों से भी जाति या जाति-विशिष्ट व्यक्ति का ही ग्रहण होता है।

---

१. our words, except proper names stand for class concepts: they denote not single objects, qualities, events etc. but whole categories of these. If the word is lost, if the relation between name and sense is disrupted then the class concept our awareness of the category may Perish with it—वही, पृ० २०८

एडवर्ड सपीर (Sapir) ने अर्थ और अर्थबोध पर भाषा के प्रभाव की चर्चा करते हुए कहा है कि मनुष्य के समाज में जो भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है उसका मनुष्य के बोध पर अधिकार हो जाता है। 'यथार्थ शब्द' की रचना बहुत हद तक, जन समुदाय के भाषा-संस्कार पर अनजाने ही हो जाती है। बोध की साधारण प्रक्रिया भी शब्द से प्रभावित होती है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति विभिन्न प्रकार की रेखाएँ खींचता है तो उन्हें लोग सीधी, टेढ़ी, घुमावदार आदि के वर्ग में अलग-अलग इसीलिए समझ पाते हैं कि उन शब्दों में ही अलग-अलग वर्गों का बोध कराने की शक्ति है। हम देखते और सुनते हैं और उनका विशेष रूप में अनुभव करते हैं, क्योंकि हमारे समाज का भाषा-संस्कार वस्तुओं के बोध को एक विशेष रूप में पहले ही ढाल देता है।[1] तात्पर्य यह कि बाह्य वस्तु से वस्तु का बोध अभिन्न नहीं। शब्दबोध में वस्तु का स्वरूप भाषिक संस्कार से विशेष रूप में ढल कर बोध का विषय बनता है।

सपीर की इस मान्यता में शब्द की व्यापकता तथा उसके प्रभाव के प्रति अतिशय आग्रह है। निश्चय ही कुछ हद तक शब्द अर्थ के स्वरूप को निर्धारित करते हैं, पर रेखाओं की ऋजुता, वक्रता आदि के बोध का जो एक मात्र कारण शब्द में उन रूपों की अभिव्यक्ति की शक्ति को माना गया है, वह दूरगामी विचार है। भारतीय व्याकरण-दर्शन में भी सभी प्रकार के बोध को शब्दबद्ध या सविकल्पक माना गया था जिसे इस अर्थ में ही स्वीकार किया जा सकता है कि बाह्य वस्तु भी शब्दबद्ध होकर ही विचार का विषय बन सकती है। रेखाओं की वक्रता-ऋजुता आदि को वस्तुगत नहीं मान कर उसके बोध का श्रेय भाषा-संस्कार को देना कुछ अतिगामी विचार जान पड़ता है। क्या सरल रेखा का बोध अलग-अलग भाषिक संस्कार वाले व्यक्तियों को अलग-अलग रूप में होता है? इसके विपरीत तथ्य यह है कि किसी अविकसित भाषा में किसी वस्तु के बोधक शब्द का अभाव होने पर भी उस वस्तु का बोध होता ही है और फलस्वरूप उसको सही अभिव्यक्ति देने के लिए उपयुक्त शब्द का निर्माण होता है। यदि बोध भाषा-संस्कार तक ही सीमित होता तो भाषा में नये-नये शब्द की रचना का क्या प्रयोजन होता? प्रणय के प्रसंग में मानमनुहार को व्यक्त करने वाला शब्द अंग्रेजी भाषा में नहीं मिलता, तो क्या यह मान लिया जाय कि मानमनुहार शब्द से भारत में जिस अर्थ को अभिहित किया जाता है उस अर्थ का अनुभव कभी किसी अंग्रेजी भाषा-भाषी को होता ही नहीं? स्पष्ट है कि समग्र बोध को भाषानुगत तथा सविकल्पक सिद्ध

१. E. Sapir, selected writings, P, 162

करने के लिए जो विचार भारतीय वैयाकरणों ने व्यक्त किया था, वही सपीर की मान्यता में भी प्रतिध्वनित है। इस समस्या के समाधान के लिए यह आवश्यक है कि हम लोक-सिद्ध वस्तु और उसकी ओर निर्देश करने वाले शब्द के अर्थ के सम्बन्ध-भेद को स्पष्ट रूप से समझें। शब्द का अर्थ लोक सिद्ध विशिष्ट वस्तु नहीं, उसका प्रत्यय है जो शब्द से व्यक्त होता है और जिसकी सत्ता शब्द-सापेक्ष है। वस्तु की सत्ता शब्द-निरपेक्ष भी हो सकती है। प्रत्यय में वस्तु-बोध शब्द से प्रभावित हो सकता है, वस्तु का भौतिक रूप नहीं।

प्रत्येक भाषा में कुछ ऐसे शब्द होते हैं, जिन्हें दूसरी भाषा में अनूदित करना कठिन होता है। उन शब्दों के ठीक पर्यायवाची शब्द अन्य भाषाओं में नहीं मिलते। उदाहरण के लिए ईरानी आर्यभाषा परिवार के 'ईमान' शब्द का पर्यायवाची कोई एक शब्द न तो भारतीय आर्य भाषाओं में मिलता है और न भारोपीय भाषा परिवार की अन्य भाषाओं में ही। भारतीय आर्यभाषा के मानमनुहार शब्द का पर्यायवाची शब्द अंग्रेजी आदि में उपलब्ध नहीं। फ्रेन्च भाषा के esprit शब्द का पर्यायवाची शब्द यूरोप की किसी दूसरी भाषा में नहीं मिलता। कान्ट ने फ्रेन्च भाषा के ऐसे शब्दों की सूची में esprit शब्द को रखा है, जिनका दूसरी भाषाओं में अनुवाद करना कठिन है। ऐसे शब्द प्रायः बौद्धिक, नैतिक, मनोभावात्मक तथा सामाजिक तत्त्वों से सम्बद्ध होते हैं और जातिविशेष की विशिष्ट मनोवृत्ति को सूचित करते हैं। कान्ट ने फ्रेन्च भाषा के esprit आदि शब्दों के अन्य भाषाओं में अनुवाद की कठिनाई का कारण बताते हुए कहा है कि चूँकि इस प्रकार के कुछ शब्द लोगों के मन के रहने वाले पदार्थ को व्यक्त करने की अपेक्षा भाषाविशेष का व्यवहार करने वाले देश की अपनी एक विशिष्ट मनोवृत्ति को अधिक व्यक्त करते हैं, इसलिए उन्हें दूसरे देश की किसी भाषा में सरलता से अनूदित नहीं किया जा सकता।[1] यदि ऐसे शब्दों को दृष्टि में रख कर अर्थ के साथ उनके सम्बन्ध पर विचार किया जाय तो यह निष्कर्ष प्राप्त होगा कि शब्द का न केवल उसके संकेतित अर्थ से सम्बन्ध होता है, वरन् उस अर्थ के बोध की प्रक्रिया में मनुष्य के विशिष्ट मनोभाव से भी उसका अनिवार्य सम्बन्ध होता है। उस शाब्दबोध में मानव के संस्कार से निर्मित विशिष्ट भाव-बोध भी घुलामिला रहता है। तात्पर्य

---

१. The words esprit (instead of bon sens) frivolite, galanterie etc. cannot easily be translated into other languages, because they express the piculiar mentality of the nation using them, rather than the object which one has in mind when one is thinking; Kant, Anthropologie से उलमान की Language and style में उद्धृत, पृ० २१९.

यह कि वैसी दशा में शब्द का अर्थ वस्तुरूप ही नहीं रह जाता, अनुभूतिरूप भी हो जाता है।

ध्यातव्य है कि सभी शब्द किसी जाति या राष्ट्र की विशिष्ट मनोवृत्ति के सूचक नहीं माने जा सकते। भाषा में अधिकांश शब्द भाषिक आवश्यकता के कारण रहा करते हैं। वैसे शब्दों के पर्यायवाची शब्द सभी प्रकार की मनोवृत्तियों वाले समाज की भाषाओं में मिलते हैं। वस्तुतः उनके अर्थ वस्तुपरक होते हैं, आत्मानुभूतिपरक नहीं। अतः वैसे शब्दों के आधार पर किसी समाज के जन समुदाय की विशिष्ट मनोवृत्ति या सांस्कृतिक चेतना का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किसी प्राचीन भाषा के प्राप्त शब्द-प्रयोगों के आधार पर समाज की किसी लुप्त संस्कृति के स्वरूप के पुनर्निर्माण का प्रयास भाषाविज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा Linguistic Palaeontology में किया जाता है। वह शाखा इसीलिए अविकसित रह गयी है कि प्रत्येक उपलब्ध शब्द से सांस्कृतिक चेतना का निर्धारण करना सम्भव नहीं। उदाहरण के लिए किसी भाषा में ईर्ष्या, द्वेष, पाप, कलुष आदि के अर्थ का बोध कराने वाले शब्दों की सत्ता से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उस भाषा का प्रयोग करने वाली जाति में उन भावों की प्रधानता रही होगी। किस विकसित भाषा में इन भावों के बोधक शब्द नहीं रहते? उन शब्दों के आधार पर केवल इतना ही निष्कर्ष दिया जा सकता है कि उन शब्दों से अभिहित होने वाले अर्थ से उस भाषा का प्रयोग करने वाले लोग परिचित थे, उस अर्थ के प्रति उनकी प्रतिक्रिया चाहे जैसी रही हो। स्पष्ट है कि शब्द की सत्ता अनिवार्यतः उसके वाच्य-अर्थ की सत्ता सिद्ध करती है। शब्द का वह वाच्य वस्तुरूप भी हो सकता है और अपने-अपने संस्कार के अनुरूप विशेष प्रकार की अनुभूति से मिश्रित वस्तु-बोध-रूप भी।

भाषा-विशेष में प्रयुक्त ऐसे शब्द, जिनके पर्यायवाची शब्द सामान्यतः अन्य सभी भाषाओं में नहीं पाये जाते, उस भाषा का व्यवहार करने वाली जाति के विशिष्ट संस्कार को सूचित कर सकते हैं। इसी आधार पर ट्रियर (Trier) आदि विद्वानों ने शब्द-भाण्डार-क्षेत्र (lexical field) के सिद्धान्त की स्थापना की है, जिसमें मानव के विचार पर शब्द के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। ब्लूमफील्ड ने विभिन्न भाषाओं में विभिन्न रंगों के वाचक शब्दों की अर्थव्याप्ति के सम्बन्ध में यह विचार व्यक्त किया है कि भौतिक विज्ञान के ज्ञाता की दृष्टि में रंग-छटा विभिन्न प्रकार के आयाम की प्रकाशकिरणों की तरङ्गों की सतत शृङ्खला-मात्र है जो आयाम एक मिलिमीटर के चालीस से लेकर बहत्तर लाखवें भाग के बीच रहता है, पर भाषा उस शृङ्खला के अलग-अलग भागों को तथा उनकी निश्चित सीमा-रेखा को छोड़ कर

एक सामान्य रूप का ही बोध कराती है ।[1] ब्लूमफील्ड की यह भी मान्यता है कि सभी भाषाओं में रंग के वाचक जो शब्द हैं वे रंग के एक-समान श्रेणी विभाग का ही बोध नहीं कराते ।[2] जिस व्यक्ति की अपनी मातृभाषा में जिस वर्ण-श्रेणी के बोधक शब्द रहते हैं, वह व्यक्ति उस वर्णश्रेणी के बोध से इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे वह वर्णश्रेणी ही एकमात्र स्वाभाविक रंग जान पड़ती है ।

पी हेनले (P. Henle) ने वर्ण-बोधक शब्दों के अर्थ-बोध की प्रक्रिया का निर्देश करते हुए यह मान्यता व्यक्त की है कि अपनी भाषा वर्णों के विभाग की जो पूर्व-सिद्ध पद्धति प्रस्तुत करती है वह यदि उस भाषाभाषी की वास्तविक वर्ण-दृष्टि को प्रभावित न भी करती हो, तो भी कम-से-कम उसके वर्ण-विभाग के बोध को अवश्य प्रभावित करती है । उन्होंने एक उदाहरण देकर इस तथ्य को स्पष्ट करना चाहा है कि जिस जाति की भाषा में मटमैला रंग और भूरा रंग के लिए एक ही शब्द है तथा हरा और नीला का बोध एक ही शब्द से कराया जाता है, उस जाति के लोग सम्भवतः उन वर्णों के भेद को स्पष्ट रूप से नहीं समझ पाते ।[3]

इस मान्यता पर विचार करने से यह कुछ अतिगामी मान्यता जान पड़ती है । निश्चय ही दो वस्तुओं के वर्णों के पारस्परिक पार्थक्य का बोध व्यक्ति को उन वर्णों के बोधक शब्दों के ज्ञान के अभाव में भी होता है, भले ही भाषा की असमर्थता के कारण एक ही शब्द से अनेक मिलते-जुलते वर्णों का निर्देश होने पर शाब्दबोध में वर्ण-विभाग स्पष्ट नहीं हो सके । वर्ण तथा वर्ण-विभाग के बोधक शब्द के ज्ञान से शून्य शिशु लाल, पीली, हरी, नीली वस्तुओं को देखकर एक सा ही बोध पाता होगा, यह मानने का सबल आधार नहीं है । यह अनुभवसिद्ध है कि वर्णविभाग के बोधक शब्द के अभाव में भी हमें वर्णभेद का बोध होता है । उदाहरणार्थ, वर्फ

---

१. Physicists view the colour spectrum as a contenuous scale of light waves of different lengths, ranging from 40 to 72 hundred thousandths of a millimetre, but languages make off different parts of this scale quite arbitrarily and without precise limits. —Bloomfield, Language P. 40

२ and the colour names of different languages do not embrace the same gradations. —वही, पृ. 40.

३. The navaho Indians have single terms for 'grey' and 'brown' and for 'blue' and 'green', it is, therefore, possible that they would not make the destinction.
—P. Henle, Language, Thought & culture.

दूध, कपड़ा आदि को जब हम उजला कहते हैं, तब उनके उजले वर्ण का एक ही समान प्रत्यय नहीं होता। वाचक शब्द के एक होने पर भी वाच्य वर्ण की विविधता का बोध होता है। अतः वर्णविभाग का बोध अनिवार्यतः वर्णविभाग-बोधक शब्द पर निर्भर नहीं माना जा सकता। यही बात स्वाद आदि के सम्बन्ध में भी है। एक ही मिठास शब्द ईख, गुड़, चीनी तथा विभिन्न प्रकार की मिठाइयों की मिठास का बोध कराता है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि मिठास के विभिन्न रूपों के बोधक शब्द के अभाव में सभी प्रकार की मिठास का बोध एक ही रूप में होता है। निश्चय ही सभी वस्तुओं की मिठास के पारस्परिक भेद से व्यक्ति परिचित रहता है, पर मिठास के उन भेदों को शब्द में कथमपि व्यक्त नहीं कर सकता। क्या इस प्रश्न का उत्तर कहीं मिल सकता है कि गुड़ की मिठास कैसी होती है और चीनी की मिठास से उसका क्या भेद है? इन्हीं कारणों से केवल जाति या सामान्य में शब्द का संकेत मानने वाले मीमांसकों ने यह मान्यता व्यक्त की है कि शब्द से अर्थ के सामान्य का ही ग्रहण होता है। उस सामान्य अवधारणा में अलग-अलग वस्तुओं के विशिष्ट रूपों का बोध अन्तर्निहित रह सकता है। शाब्दबोध और प्रत्यक्ष दृष्ट या किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य बाह्य वस्तु के प्रत्यय में यह अन्तर है कि ऐन्द्रिय बोध वस्तु के विशिष्ट रूप का तथा शाब्दबोध उसके सामान्य रूप का होता है। शब्द से जिस वर्ण आदि के समान्य का बोध होता है उसका अनेक विशिष्ट रूपों में ऐन्द्रिय बोध हो सकता है। शाब्दबोध और ऐन्द्रिय बोध के भेद पर ध्यान नहीं देने के कारण वर्ण-बोध को उसके वाचक शब्द की परिधि तक ही सीमित मान लिया गया है। हमारी धारणा है कि न तो वस्तु की बाह्य सत्ता का अभाव शब्द-राशि को सीमित कर सकता है और न वस्तु-विशेष के वाचक शब्द का अभाव उस वस्तु के ऐन्द्रिय बोध का अभाव कर सिद्ध सकता है। हाँ, वाच्य अर्थ और वाचक शब्द; दोनों की सत्ता रहने पर कुछ हद तक, दोनों का पारस्परिक प्रभाव दिखाया जा सकता है। बाह्य वस्तु की सत्ता का अभाव होने पर भी उसके वाचक शब्द की सत्ता रहती है। 'शशशृङ्ग' आकाशकुसुम, नहीं, अभाव आदि ऐसे ही शब्द हैं, जिनके वाच्य की वस्तु-जगत में सत्ता नहीं। इसी तरह वाचक शब्द के अभाव में भी वस्तु का ऐन्द्रिय बोध सम्भव है। गुड़ की मिठास की विशिष्टता का बोधक कोई शब्द नहीं, फिर भी उसकी विशिष्टता का ऐन्द्रिय बोध होता ही है।

शब्द और अर्थ का पारस्परिक प्रभाव विशेष रूप से अमूर्त भाव और विचार तथा उनके वाचक शब्द के सन्दर्भ में देखा जा सकता है। अमूर्त विचार भाषा में ही जीवित रहते हैं। ट्रियर (Trier) ने शब्द और विचार का सम्बन्ध दिखाते हुए यह निष्कर्ष दिया है कि आज clever (चालाक) शब्द से जिन विशिष्ट गुणों के समुदाय

को अभिहित किया जाता है, उनका वाचक एक भी शब्द बारह सौ ईस्वी की जर्मन भाषा में नहीं पाया जाता, जिससे यह पता चलता है कि उस समय के जर्मनी निवासी के लिए एक स्वतन्त्र अवधारणा के रूप में उस गुण-समुदाय की सत्ता नहीं थी।[1]

वस्तुतः कोई भी अमूर्त विचार भाषा के रूप में ढल कर ही जनसमुदाय के बीच आदान-प्रदान का विषय बनता है। उसकी बाह्य जगत में मूर्त सत्ता नहीं; अतः हर विचार को व्यक्त करने के लिए विशिष्ट शब्द की आवश्यकता होती है। वह शब्द विचार को अभिव्यक्त करने के क्रम में उसके स्वरूप को भी प्रभावित करता ही है। कारण यह है कि मानव के मानस लोक में रहने वाला अरूप विचार भाषा में जैसा रूप ग्रहण कर सकता है, वही रूप लोगों के बोध का विषय बनता है। यह भी ध्यातव्य है कि उस विचार की अभिव्यक्ति का साधन होने के कारण शब्द विचार का अनुगमन भी करता है। इस प्रकार शब्द अमूर्त विचार-रूप अर्थ को विशिष्ट आकार देकर उसे प्रभावित भी करता है और उसके अनुरूप ढल कर उससे प्रभावित भी होता है। दूसरे शब्दों में, शब्द और अर्थ परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

शब्द और अर्थ भाषा एवं संस्कृति के पारस्परिक प्रभाव के सम्बन्ध में हॉर्फ (Whorf) ने यह मान्यता व्यक्त की है कि यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि पहले भाषिक रूप बना या सांस्कृतिक आदर्श। मुख्य रूप से ये दोनों साथ-साथ विकसित हुए हैं और, इस क्रम में दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं।[2]

स्पष्ट है कि आधुनिक भाषाविज्ञानी शब्द और अर्थ पर परस्पर निरपेक्ष रूप में विचार नहीं कर दोनों की सापेक्ष सत्ता तथा उनके पारस्परिक प्रभाव पर समग्रतः विचार करते हैं। वस्तुतः अर्थनिरपेक्ष शब्द के स्वरूप का निर्धारण सम्भव नहीं और शब्द-निरपेक्ष अर्थ का पूर्णतया बोध भी सम्भव नहीं।

□

---

१. As Trier's researches have shown, a German 1200 had no single word for 'clever', the specific combination of qualities which we denote by that term simply did not exist for him as an independent concept. Ullmann, Language and slyb. P. 223-224

२. which was first language : patterns or the cultural norms ? In main they have grown up together. constantly influenc-ing each other.
वही

चतुर्थ अध्याय

वाक्य और वाक्यार्थ

समग्र भाषिक व्यवहार वाक्य रूप में ही परिचालित होता है। अर्थहीन वर्णों का विशिष्ट संघटन अर्थवान् शब्दों का निर्माण करता है, पर सार्थक होने पर भी सभी शब्दों में प्रयोग की योग्यता नहीं रहती। प्रयोग की क्षमता उनमें तब आती है, जब वे विभक्ति या प्रत्यय के योग से पद के रूप में व्युत्पन्न होकर किसी वाक्य का अंग बनने में समर्थ हो जाते हैं। प्रातिपदिक और धातु अर्थवान् तो होते हैं, किन्तु अपने अव्युत्पन्न मूल रूप में भाषा में प्रयुक्त नहीं हो पाते। यदि भाषिक व्यवहार की सार्थकता विचार के सम्प्रेषण या आदान-प्रदान में मानी जाय तो उस उद्देश्य को पूर्ण करने वाली भाषा की न्यूनतम मूल इकाई वाक्य को ही मानना होगा, जिसमें कोई विचार-खण्ड अपनी पूर्णता के साथ व्यक्त हो सकता है।

वाक्य तथा वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मत प्रकट किये गये हैं। कुछ विचारकों की दृष्टि में वाक्य पदों का समूह है और वाक्यार्थ पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों का योग। इसके विपरीत कुछ विचारकों ने वाक्य-स्फोट की स्वतन्त्र और अखण्ड सत्ता मानी और वाक्य तथा वाक्यार्थ को पद-पदार्थ का योग-मात्र मानने वाले मत का खण्डन किया। भारतीय दार्शनिकों की ये दो दृष्टियाँ अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद के सिद्धान्त में व्यक्त हुई हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान में भी वाक्यार्थ के स्वरूप का निरूपण एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है।

वाक्य का स्वरूप-निर्धारण भाषा-दर्शन की एक प्रमुख समस्या रही है। वाक्य की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। वाक्य की सार्थकता किसी बोध को पूर्णता के साथ व्यक्त करने में है। अतः वाक्यरचना के स्वरूप-विश्लेषण में वाक्यार्थ का विचार भी अपेक्षित है। वस्तुतः वाक्यार्थ वाक्य से व्यक्त होने वाला कोई स्वतन्त्र तत्त्व ही नहीं, वाक्य का एक घटक या नियामक तत्त्व भी है। अर्थ-निरपेक्ष होकर वाक्य के स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। कुछ पदों का समूह ही वाक्य नहीं बन जाता, उनमें अर्थगत अन्विति लाने के लिए क्रिया-पद का योग आवश्यक होता है और वाक्यार्थ की अन्विति या संगति के लिए योग्यता, आकांक्षा आदि का होना आवश्यक माना जाता है।

वाक्य तथा वाक्यार्थ के स्वरूप-विवेचन में यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि किसी एक वाक्य में कम-से-कम कितने पद हो सकते हैं और अधिक-से-अधिक कितने पद रह सकते हैं। वाक्य एकपदात्मक भी होते हैं, जैसे पद एकवर्णात्मक

भी हो सकते हैं। ध्यातव्य है कि एक वर्णात्मक सार्थक पद की किसी अर्थहीन वर्ण से विलक्षण सत्ता होती है, उसी प्रकार एक पूर्ण संबोध को व्यक्त करने वाले एकपदात्मक वाक्य की भी किसी एक पद से विलक्षण सत्ता मानी जाती है। इस प्रकार वाक्य का लघुतम रूप तो एक पदात्मक स्वीकार किया जा सकता है, पर उसके दीर्घतम रूप का निर्धारण करना कठिन ही नहीं असम्भव है। एक से लेकर कुछ सौ तक पदों वाले एक वाक्य के उदाहरण भाषा में पाये जा सकते हैं। कादम्बरी के वाक्य में पदों की लम्बी-लम्बी शृंखला देखी जा सकती है। आठ श्लोकों के कुलक में एक ही वाक्य का छन्दबद्ध विन्यास होता है, जिसमें शताधिक पद समन्वित रहते हैं। किन्तु वाक्यों में पदों के प्रयोग की एक अपरिलक्षित सीमा भी होती है। हजार-दो हजार पदों को एक वाक्य में विन्यस्त नहीं किया जा सकता। वाक्य की उस सीमा का निर्धारण मानव के बोध या स्मृति की सीमा से होता है। वाक्य के स्वरूप या वाक्यार्थ के बोध के लिए यह आवश्यक है कि उसका सम्पूर्ण स्वरूप अबाधित रूप में एक साथ मन से गृहीत हो। जब व्यक्ति वाक्य के आरम्भ से लेकर आगे आने वाले पदों को कहने-सुनने लगता है तो अन्त तक के क्रम में भी वह अपनी स्मृति से सम्पूर्ण पदों को संसक्त रूप में ग्रहण करता है। यही वाक्यार्थ-बोध की अखण्डता का रहस्य है। यदि बीच में स्मृति बाधित हो जाय और आदि-अन्त के बोध की संगति नहीं रह जाय तो वाक्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। मानव की स्मरण-शक्ति के सीमित होने के कारण वाक्य में अपरिमित पदों का प्रयोग नहीं किया जा सकता। कितने पदों तक का बोध मानव मन एक वाक्य में अपनी शक्ति से प्राप्त कर सकता है, इसका परिमापन असम्भव है। अलग-अलग व्यक्ति की स्मरण-शक्ति में भी न्यूनाधिक भेद हुआ करता है, फिर भी एक अनिर्दिष्ट सीमा के बाद मानवमात्र का मन वाक्य को पूर्णता में ग्रहण करने में असमर्थ हो जायगा। अतः मानव का बोध ही वाक्य की दीर्घता की एक सीमा अलक्ष्य भाव से निर्धारित करता है।

वाक्यार्थ के स्वरूप-विश्लेषण के लिए वाक्य के स्वरूप का निर्धारण आवश्यक है। ध्यातव्य है कि किसी भी भाषा के वाक्यों के स्वरूप की अनन्त सम्भावनाओं को देखते हुए विशिष्ट वाक्यों के स्वरूप का निर्धारण करना सम्भव नहीं। वाक्य के रूप सिद्ध नहीं, साध्य होते हैं। हम भाषा के पूर्व-निर्धारित वाक्यों का ही प्रयोग नहीं करते, नवीन वाक्यों का सृजन और प्रयोग भी करते हैं। ऐसे वाक्यों का प्रयोग हम कर सकते हैं जिनका पहले कभी किसी ने प्रयोग नहीं किया हो। दूसरी बात यह कि एक वाक्य में कुछ नये विशेषण आदि पदों को जोड़ कर वाक्य को विस्तार दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'यह लड़का है', 'यह लड़का

सुन्दर है', 'यह लड़का सुन्दर और सुशील है', 'यह लड़का सुन्दर, सुशील और मेधावी है' आदि वाक्य एक वाक्य के क्रमशः विस्तृत रूप हैं। इन वाक्यों के विस्तार की कोई अन्तिम सीमा निर्दिष्ट नहीं की जा सकती। मानव के बोध की सीमा वाक्य के विस्तार की जो सीमा निर्धारित करती है, वह अलक्ष्य ही होती है, जिसे निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। अतः, वाक्य के स्वरूप और विस्तार की सीमाहीन सम्भावनाओं को देखते हुए, विशिष्ट वाक्यों को परिभाषा-बद्ध करना सम्भव नहीं, फिर भी वाक्य के सामान्य स्वरूप को परिभाषित करने के जो प्रयास हुए हैं, वे वाक्य तथा वाक्यार्थ के स्वरूप-निरूपण में उपादेय हैं।

वाक्य वर्णसमूहात्मक पदों से घटित एक ऐसी भाषिक इकाई है, जो एक समन्वित विचार या भाव को उसकी पूर्णता में व्यक्त कर सकता है। यह उल्लेख्य है कि वाक्य तथा वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में वाक्यस्फोटवादी तथा पद-स्फोट-वादी वैयाकरणों की अलग-अलग धारणाएँ रही हैं। न्याय, मीमांसा आदि दर्शनों में भी इस विषय में अनेक ऊहापोह हुए हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान में वाक्य को एक पूर्ण और समन्वित विचार-खण्ड को व्यक्त करने वाले भाषिक तत्त्व के रूप में स्वीकार कर उसके स्वरूप का अध्ययन-विश्लेषण किया जाता है।

कुछ विचारकों ने वाक्य को परिभाषित करने के प्रयास में उसे पदों का समूह-मात्र मान लिया।[1] इस परिभाषा के अनुसार वाक्य पदों का समूह और वाक्यार्थ उस वाक्य के अंगभूत पदों के अर्थों का योग-मात्र होगा, पर यह परिभाषा निर्दोष नहीं। पहली बात तो यह कि वाक्य एकपदात्मक भी हो सकता है, ठीक उसी तरह, जिस तरह पद एक वर्ण का भी होता है। इस प्रकार एक वर्ण वाले पद का प्रयोग भी वाक्य के रूप में किया जा सकता है। यदि एक वर्ण का एक पद भी किसी विचार को पूर्णता के साथ व्यक्त कर सकता हो, तो उसे वाक्य माना जा सकता है और वाक्य के लिए पदों के समूह की अपेक्षा नहीं होगी। 'न'!, 'हाँ' आदि एकपदात्मक वाक्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं। वाक्य के स्वरूप-विधान के के लिए पद-समूह की अपेक्षा मानने वाले यह युक्ति दे सकते हैं कि 'न', 'हाँ' आदि एकपदात्मक वाक्य-से प्रतीत तो होते हैं, पर तत्त्वतः हैं वे पद-समूह रूप वाक्य ही। उनमें एक-एक पद उक्त हैं, शेष अनुक्त। उदाहरणार्थ, यदि किसी के यह पूछने पर 'चलोगे' कोई कहता है 'हाँ', तो ये प्रश्न और उत्तर के दोनों वाक्य, जिनमें एक-एक पद ही उक्त हैं, अन्य अनुक्त पदों की अपेक्षा रखते हैं। इसी प्रकार किसी को पुकारने में 'ऐ' कहना, साँप को देख कर चिल्ला कर केवल 'साँप' कह

---

१. पद समूहो वाक्यम्।

उठना, एकपदात्मक वाक्य के उदाहरण हैं। ये वाक्य अन्य कुछ अनुक्त पदों की अपेक्षा रखते हैं। कम-से-कम किसी एक क्रिया का आक्षेप से बोध अवश्य होता है, भले ही वह क्रिया-पद उक्त नहीं हो।

यदि इस तर्क को मान भी लिया जाय, तो पदसमूह को वाक्य मानने में सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि सभी पद-समूह वाक्य नहीं बन जाते। हाथी, घोड़ा, पेड़, आग, कुत्ता, नदी, आदमी; इन सात पदों के इस समूह को एक वाक्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पदों का यह समूह एक व्यवस्थित विचार-खण्ड को व्यक्त नहीं कर सकता।

पद-समूह मात्र को वाक्य मानने में उक्त कठिनाई को देखते हुए वैयाकरणों ने यह मान्यता व्यक्त की कि वाक्य के पदों का एक क्रियापद से अन्वित होना आवश्यक है।[1] इस मान्यता का स्पष्टीकरण अपेक्षित है। वाक्य के रूप में घटित होने के लिए पदों का किसी एक क्रिया से युक्त होना ही पर्याप्त नहीं। विभिन्न पदों के साथ एक या अनेक क्रियापदों का प्रयोग होने पर भी, यह सम्भव है कि, वे पद एक वाक्य का रूप ग्रहण नहीं कर सकें। उदाहरणार्थ. नदी, आकाश, रोया, हँसा, घोड़ा, बैल, बालक, पागल आदि शब्दों का समूह वाक्य नहीं, जबकि उन पदों में दो क्रियापद भी सम्मिलित हैं। अतः वाक्यविषयक इस मान्यता का सार यह है कि जब विभिन्न पद किसी क्रियापद से परस्पर अन्वित होकर एक विचार-खण्ड को पूर्णता में तथा संगत रूप में व्यक्त करने में समर्थ होते हैं तब वे वाक्य की संज्ञा पा सकते हैं।

पद-समूह की क्रियापद से अन्विति को वाक्य का स्वरूप मान लेने पर भी कई समस्याएँ सामने आती हैं। वाक्य में पदों का एक क्रम से विन्यास रहता है। अलग-अलग भाषाओं की प्रकृति के अनुरूप पदों के क्रम का अर्थ-बोध की दृष्टि से अलग-अलग महत्त्व होता है। स्थानप्रधान भाषा में वाक्य के पदों के क्रम में परिवर्तन होने से अर्थ में समूल परिवर्तन हो जाता है, जबकि अन्य भाषाओं में विभक्ति-प्रत्यय से शब्द के वाक्यगत सम्बन्ध का निर्धारण हो जाने के कारण, पदों के क्रम में परिवर्तन होने पर भी अर्थगत भेद नहीं होता। अंग्रेजी में Rama killed Ravana का जो अर्थ है, वह राम के स्थान पर रावण तथा रावण के स्थान पर राम शब्द को रख देने से, सुरक्षित नहीं रह जायगा। उसमें आमूल परिवर्तन हो जायगा और उस वाक्य के अर्थबोध की जो एक स्वीकृत परम्परा है उससे उस प्रकार का क्रम-परिवर्तन करना सम्भव भी नहीं होगा। यदि कोई वैसा करे तो

---

१. एक क्रियान्वितं वाक्यम्।

सुनने वाला उसे वक्ता की भ्रान्ति या उच्चारण-दोष समझ कर तुरत उसमें सुधार कर देगा। संस्कृत तथा उससे विकसित आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के वाक्यों में पदों के क्रम का अर्थगत विशेष महत्त्व नहीं। रामः रावणं जघान, जघान रामः रावणम्, रावणं रामः जघान आदि वाक्यों का अर्थ एक ही है, यद्यपि उनमें पदों का क्रम अलग-अलग है। ऐसी भाषाओं में भी क्रम-भेद का शैली की दृष्टि से कुछ अलग-अलग महत्त्व हो सकता है, पर अर्थबोध की दृष्टि से क्रम का विशेष महत्त्व नहीं। जो भी हो, वाक्य के स्वरूप तथा वाक्यार्थ के बोध के सम्बन्ध में मुख्य समस्या यह है कि किसी भी भाषा के किसी एक वाक्य में पदों का एक नियत क्रम से संघटन रहता है। वक्ता जब किसी वाक्य का प्रयोग करता है, तब श्रोता एक-एक पद को एक क्रम से सुनता जाता है। ऐसी स्थिति में उसे वाक्य के स्वरूप का कब और कैसे बोध होता है?

भर्तृहरि ने **वाक्यपदीय** में वाक्य-बोध की इस समस्या के सम्बन्ध में कई मतों की चर्चा की है। जब हम वाक्य में किसी क्रिया से समन्वित पदों को सुनते हैं तो क्रम से उच्चरित पदों का संस्कार हमारे मन पर पड़ता चलता है और अन्त में सभी पदों का संस्कार समन्वित रूप में गृहीत होता है। इसी लिए पदों का क्रम रहने पर भी एक पूर्ण निरवयव वाक्य का बोध सम्भव होता है। वाक्यगत पदों के क्रम का बुद्धि में समाहार हो जाता है और फलतः वाक्य की जाति या सामान्य का ग्रहण होता है।

पदों के क्रमिक विन्यास में कहाँ जाकर वाक्य के स्वरूप का बोध होता है, इस सम्बन्ध में विचारकों के अलग-अलग मत हैं। कुछ विचारकों का मत है कि वाक्य के प्रथम शब्द को सुनते ही वाक्य के स्वरूप का बोध हो जाता है। प्रश्न यह होगा कि यदि वाक्य का आदि पद ही वाक्य के स्वरूप का बोध करा दे, तो उस वाक्य के परवर्ती पदों का क्या प्रयोजन होगा? आदि पद से वाक्य के स्वरूप का बोध मानने वालों की मान्यता है कि वाक्य का ग्रहण तो आरम्भ के पद से ही हो जाता है, फिर अन्य पद वाक्य के उस बोध की ही पुष्टि करते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इस मत में सबसे बड़ी कठिनाई यह जान पड़ती है कि 'मैं जाऊँगा' जैसे वाक्य में 'मैं' पद को उसी वाक्य के स्वरूप का बोधक मानने का क्या आधार होगा? 'मैं' के बाद अनेक अश्रुत पदों के आने की सम्भावना हो सकती है। मैं नहीं जाऊँगा, मैं कहूँगा, आदि असंख्य ऐसे पद 'मैं' के साथ विविध वाक्यों में आ सकते हैं जिनका पहले से मानस ग्रहण सम्भव नहीं।

वाक्य के आदि पद से वाक्य के स्वरूप-बोध के सिद्धान्त की कठिनाई को देखते हुए कुछ विचारकों ने वाक्य के अन्तिम पद से वाक्य का स्वरूप-बोध माना है। इस मत के अनुसार क्रम से उच्चरित पदों का मन पर जो संस्कार रहता है, वह अन्तिम पद के संस्कार के साथ मिल कर वाक्यबोध के रूप में स्फुटित होता है। वस्तुतः वाक्यबोध की समस्या इतनी सरल नहीं। व्यवहार में हम देखते हैं कि कभी-कभी वक्ता जब वाक्य के कुछ शब्दों का उच्चारण कर बीच में रुक जाता है, तो श्रोता उसके अपूर्ण वाक्य को पूरा कर देता है। प्रश्न है कि वक्ता के द्वारा प्रयुक्त या प्रयुज्यमान वाक्य के अन्तिम पद को सुने बिना ही श्रोता को उसके वाक्य के स्वरूप का बोध कैसे हो जाता है? इतना ही नहीं, कभी-कभी श्रोता वक्ता के असंगत या अस्पष्ट वाक्य को सुन कर उसमें अपेक्षित सुधार भी कर देता है कि 'आप शायद ऐसा कहना चाहते हैं' या 'आपको ऐसा नहीं, ऐसा कहना चाहिए।' स्पष्ट है कि वाक्य के अन्तिम पद से वाक्य के स्वरूप का ग्रहण होने का सिद्धान्त समस्या का युक्तिपूर्ण समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाता। अन्तिम पद को सुने बिना ही श्रोता के द्वारा वक्ता के वाक्य की पूर्ति कर देना और कथित वाक्य के सभी पदों को सुन कर भी उसमें असंगति दिखा देना; ये दो ऐसे तथ्य हैं, जो इस सिद्धान्त की अपूर्णता सिद्ध करते हैं। कुछ पदों को सुन कर ही पूर्ण वाक्य को समझ लेने का कारण यह बताया जा सकता है कि श्रोता परिस्थिति आदि के आधार पर अनुक्त पदों का अनुमान कर लेता है, पर वाक्य की संगति-असंगति की समस्या का कोई समाधान यह सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं कर पाता।

एक मत के अनुसार परस्पर सापेक्ष पदों से वाक्य का स्वरूप घटित होता है। वाक्य का प्रत्येक पद उसके अन्य पदों से इस प्रकार सम्बद्ध रहता है कि सभी पदों से घटित वाक्य का एक अखण्ड इकाई के रूप में ग्रहण होता है। इस प्रकार, इस मत के अनुसार पदों की परस्पर सापेक्षता का बोध ही वाक्य के स्वरूप-बोध का रहस्य है।[1]

वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में जितनी भी दृष्टियाँ प्रस्तुत की गयी हैं, उनमें इस तथ्य को समान रूप से स्वीकार किया गया है कि केवल पदों का समूह या

---

१. आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृती॥
पदमाद्यं पदं चान्त्यं पदं सापेक्ष्यमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम्॥
—भर्तृहरि, वाक्यपदीय, २, १-२.

कुछ पदों का एक क्रम से विन्यास ही वाक्य के स्वरूप का विधान नहीं करता, उसके लिए पदों की परस्पर अन्विति या सापेक्षता आवश्यक होती है। प्रायः भाषा दर्शन में वाक्य के स्वरूप-विधान के लिए पदों की योजना में योग्यता, आकांक्षा तथा आसक्ति अर्थात् सन्निधि का होना आवश्यक माना गया है। इनकी सत्ता पदों के समूह को वाक्य का रूप प्रदान करती है और इनके अभाव में पद-समूह वाक्य नहीं बन सकता। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर वाक्य की संगति-असंगति का निर्णय किया जाता है। 'आग गर्म होती है', एक वाक्य है। इसमें गर्म होने और आग में समन्वय की योग्यता है, पर 'आग ठंढी होती है', वाक्य के रूप में स्वीकृत नहीं होता, यद्यपि इसमें भी पद-समूह का क्रमिक विन्यास है और एक क्रियापद का भी प्रयोग है। यहीं अर्थ पर वाक्य के घटक के रूप में विचार करना आवश्यक हो जाता है। योग्यता, अर्थ-सापेक्ष है। अर्थ की संगति की दृष्टि से ही पदों की अन्विति पर विचार किया जा सकता है। 'ठंढी होती है' की वर्फ के साथ प्रयोग-योग्यता है, क्योंकि दोनों में अर्थगत अन्विति है, जबकि आग के साथ उस पद-बन्ध में प्रयोग की योग्यता नहीं मानी जाती। स्पष्ट है कि वाक्य के रूप-विधान के लिए पदों का समूह, या उनके साथ किसी क्रियापद का प्रयोग ही पर्याप्त नहीं, उन पदों में क्रियापद से होने वाली अन्विति तथा परस्पर अन्वय की योग्यता का होना भी आवश्यक है, जिसका निर्णय अर्थगत संगति की दृष्टि से ही किया जा सकता है। अतः पद-समूह, उनकी एक क्रिया से अन्विति, पदों में परस्पर अन्विति की योग्यता तथा एक संगत अर्थ को वाक्य के स्वरूप का घटक माना जाना चाहिए।

अर्थगत संगति ही पदों की योग्यता का नियामक है। सामान्य भाषिक व्यवहार में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना को शीतल ही कहा जाता है और 'ज्योत्स्ना उष्ण है' जैसे प्रयोग को 'आग ठंढी है' की तरह ही, शायद, योग्यता के अभाव के कारण वाक्य के रूप में स्वीकार भी नहीं किया जा सके, पर जब उसी वाक्य का लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है, तब उस लक्ष्यार्थ की दृष्टि से उस वाक्य में अर्थगत संगति आ जाने से उष्ण और ज्योत्स्ना के बीच योग्यता मान ली जाती है और 'ज्योत्स्ना उष्ण है' जैसे प्रयोग को संगत वाक्य मान लिया जाता है। काव्य में सामान्य प्रयोग से ऐसा विचलन बहुधा देखा जाता है। सामान्य व्यवहार की दृष्टि से असंगत या अनन्वित पद-समूह को लाक्षणिक प्रयोग में संगत वाक्य मानने का कारण स्पष्ट है। मुख्यार्थ के बाधित होने पर भी उन पदों से बोधगम्य होने वाला गौण अर्थ उनमें अन्विति ला देता है। इससे यह स्पष्ट है कि अर्थ भी वाक्य के स्वरूप का नियामक है। अर्थगत अन्विति की उपेक्षा कर वाक्य के

स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस सन्दर्भ में वाक्य के नियामक योग्यता, आकांक्षा तथा आसत्ति के स्वरूप तथा वाक्य-निर्माण में उनके महत्त्व का परीक्षण वाञ्छनीय है।

योग्यता :—वाक्य का निर्माण करने वाले पदों में योग्यता का निर्णय उन पदों से विवक्षित अर्थ की बाधा-हीन अभिव्यक्ति के आधार पर किया जाता है। यदि पद-समूह से किसी विवक्षित अर्थ में कुछ बाधक तत्त्व आ जायँ तो उस पद-समूह में योग्यता का अभाव माना जाता है और वैसी स्थिति में पदों के उस समूह को वाक्य के रूप में घटित नहीं माना जाता। विवक्षित अर्थ में बाधा का निर्णायक मानव का लौकिक अनुभव होता है। लौकिक पदार्थ का जैसा अनुभव मानव के मन में रहता है उससे प्रतिकूल भाषिक अर्थ को ग्रहण करने में बाधा होती है और फलतः अनुभव-विरुद्ध अर्थ देने वाले पदों के समूह को वह योग्यता के अभाव के कारण संगत अर्थ के बोधक वाक्य के रूप में स्वीकार नहीं कर पाता। 'आग गर्म होती है' इस कथन से गृहीत होने वाला अर्थ अनुभवसिद्ध है, पर 'आग ठंढी होती है' इस पद-समूह से बोधगत होनेवाला अर्थ अनुभव-विरुद्ध है। अतः प्रथम पद-समूह को योग्यता के सद्भाव के कारण वाक्य और द्वितीय पद-समूह को योग्यता के अभाव के कारण अवाक्य या अपवाक्य माना जाता है।

वर्धमान ने न्याय कुसुमाञ्जलि की टीका में योग्यता को परिभाषित करते हुए यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि विशेष पद-समूह से विवक्षित अर्थ में सम्बन्ध के किसी बाधक तत्त्व का न होना योग्यता है।[1]

इस परिभाषा में पदों के अर्थ में बाधा-बोध के अभाव को योग्यता का स्वरूप माना गया है। स्वभावतः ही, वर्धमान की दृष्टि में, बाधा के बोध का अर्थ होगा अनुभव-विरुद्ध होना। इस प्रकार वर्धमान की योग्यता-परिभाषा का सार यह होगा कि पद-समूह के अर्थ में अनुभवसिद्ध सम्बन्ध का होना योग्यता है।

नागोजी भट्ट ने व्याकरण-सिद्धान्त-मञ्जूषा में वर्धमान की योग्यता-विषयक उक्त मान्यता का खण्डन करते हुए यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि एक साथ प्रयुक्त होने वाले पदों के अर्थ में सम्बन्ध की बाधा का ज्ञान होने पर भी अर्थ-बोध हो सकता है और वैसी स्थिति में, उस पद-समूह में योग्यता का अभाव मानने तथा उस पद-समूह को वाक्य न मानने का कोई कारण नहीं। लाक्षणिक प्रयोग के

---

१. योग्यता च बाधकमानाभावः।—न्याय कुसुमाञ्जलि, स्तवक ३, वर्धमान-कृत प्रकाश टीका।

असंख्य उदाहरण इस मान्यता की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'मुखचन्द्र' जैसे पदबन्ध में मुख और चन्द्रमा के भेद का बोध—दोनों के सम्बन्ध में बाधा-बोध—रहता है, फिर भी उस कथन का अर्थ-बोध होता ही है। उसमें योग्यता का सद्भाव माना जाता है।

अनुभव-विरुद्ध होना वाक्यार्थ-बोध में बाधक होना हो, यह भी सार्वत्रिक नियम नहीं। वाक्य का अर्थ यदि हमारे अपने अनुभव से विरुद्ध भी हो तो भी हम उस वाक्य का अर्थ-ग्रहण कर लेते हैं, उस वाक्य में प्रयुक्त पदों में योग्यता मान लेते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी व्यक्ति को किसी वस्तु को देख कर भ्रमात्मक ज्ञान—तद्भिन्न वस्तु की एककोटिक निश्चयात्मक प्रतीति—हो और वह अपने उस ज्ञान को व्यक्त करने के लिए किसी पद-समूह का प्रयोग करे, तो उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान रखने वाले को भ्रमात्मक ज्ञान के बोधक पदों के अर्थ में सम्बन्ध की बाधा का बोध रहने पर भी उसके वाक्य का अर्थग्रहण होगा ही और वह वक्ता के पदों को वाक्य के रूप में स्वीकार करेगा। चांदी को भ्रमवश सीपी समझने वाला उस ओर निर्देश कर कहता है—'यह सीपी है'। चांदी को चांदी समझने वाला व्यक्ति उसके कथन में अनुभव-विरुद्ध तत्त्व पाता है, उसे उस कथन में पदों के अर्थ से सम्बन्ध की बाधा का बोध होता है, फिर भी वह उसके द्वारा प्रयुक्त पदों को एक वाक्य के रूप में ग्रहण करता है और उस वाक्य का अर्थ समझ लेता है। इसके विपरीत जब उस भ्रान्त व्यक्ति के भ्रम को दूर करने के लिए कोई उससे कहता है 'यह सीपी नहीं, चांदी है', तब यह कथन उस व्यक्ति की भ्रान्ति के समय, उसके लिए अनुभव-विरुद्ध होता है, फिर भी वह उस कथन का अर्थ समझ लेता है।[1] रंगों के बोध में दृष्टि-दोष से भ्रमात्मक प्रतीति बहुधा हुआ करती है। वैसे व्यक्ति को यथार्थ ज्ञान कराने पर भी यथार्थ रंग का अनुभव नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, यदि वह नीले रंग को हरा देखता है, तो बार-बार यह कहने पर भी कि 'यह नीला है', वह यथार्थ रंग का अनुभव नहीं कर सकता, फिर भी वह अपनी दृष्टि के दोष को समझ कर कहने वालों के अपने अनुभव से विरुद्ध कथन का अर्थ ग्रहण कर लेता है। लोक-जीवन की अनुभूतियों के साथ अनुरूपता-अननुरूपता के आधार पर पद-समूह की योग्यता-अयोग्यता के निर्णय में इससे भी बड़ी आपत्ति यह होगी कि भाषा के सभी पद-समूहों या वाक्यों के अर्थ लोक-जीवन की अनुभूतियों से ही सम्बद्ध नहीं होते। ऐसी स्थिति में पदों की

---

१. नेदं रजतमिति भ्रमवतस्ततो निवृत्तौ आप्तेन 'इदं रजतमेव' इति प्रयुक्ते बाधज्ञानकाले एव ततो बोधात् प्रवृत्तिदर्शनाच्च—व्या. सि. मञ्जूषा, पृ० ५०७

योग्यता का निर्णय करने का आधार क्या होगा ? अनुराग का रंग लाल है', 'सत्त्व गुण उजला है' 'तमस् गुण काला है' जैसे वाक्यों की योग्यता अनुभव-सिद्ध नहीं है, फिर भी लोक मानस में स्वीकृत है। आत्यन्तिक अभाव के बोधक वाक्यों में भी योग्यता का निर्णय इन्द्रियानुभूति के आधार पर नहीं किया जा सकता। इन्हीं तथ्यों को दृष्टि में रखकर प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों ने यह माना है कि किसी नवीन कथन की तुलना भाषा में पूर्वस्वीकृत कथनों की व्यवस्था से ही की जानी चाहिए, लौकिक अनुभव से नहीं।[1] भाषिक अर्थ-तत्त्व के निरूपण में विट्गिंस्टाइन आदि की इस अतिगामी मान्यता से विरोध हो सकता है, पर यह तथ्य है कि समग्र भाषिक कथन के औचित्य या पदों की योग्यता का निर्णय लौकिक अनुभव के सन्दर्भ में नहीं किया जा सकता।

न्याय-मत के अनुयायियों ने इस आक्षेप के उत्तर में यह युक्ति दी है कि मुख और चन्द्रमा में भेद-बुद्धि रहने पर भी मुखचन्द्र जैसे कथन में आहार्य ज्ञान से अर्थबोध होता है। आहार्य ज्ञान से बाधक-बोध का अभाव होने से उन पदों में योग्यता का सद्भाव हो जाता है। अनुमान आदि में बाधक-ज्ञान से सम्बन्ध-ज्ञान में अवश्य ही बाधा हो जाती है।[2]

मञ्जूषा की कुञ्चिका टीका में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि आहार्य प्रत्यक्षीकरण मानव के संस्कार या उसके मन में निहित वासना के अनुरूप होता है। उसका बाह्य वस्तु या स्थिति से विशेष सम्बन्ध नहीं होता। अतः बाह्य-वस्तु में विरोध के रहने पर भी आहार्य ज्ञान बाधित नहीं होता।[3] दृष्टि-दोष के कारण किसी व्यक्ति को यदि उजली चीज पीली दिखाई पड़ती है, तो उस समय भी उसे यह ज्ञान रहता है कि यह वस्तु वस्तुतः उजली है। ऐसी स्थिति में उस व्यक्ति के संवेदनात्मक ज्ञान या इन्द्रियानुभूति और बौद्धिक बोध में विरोध रहता है, फिर भी इन्द्रियानुभूति से भिन्न वस्तु के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान उसे हो सकता है। दिग्भ्रम का उदाहरण भी इस तथ्य की पुष्टि के लिए प्रस्तुत किया जा सकता है।

---

१. Judgements are to be Compared with Judgements; not with experience not with the given not with anything else.

२. यत्तु बाधकालेऽपि आहार्यप्रत्यक्षोदयात् × × × × पृथगेव हेतुरिति।
—वै० सि० म० पर कुञ्चिका पृ० ५०९

३. बाधकालेऽपि आहार्यप्रत्यक्षोदयात् × × × आहार्यः शाब्दबोधो भवत्येव इति भावः।—वही, पृ० ५०९

दिशा-भ्रम के कारण व्यक्ति कभी-कभी पूरब दिशा को दक्षिण आदि के रूप में ग्रहण करने लगता है, पर उगते हुए सूर्य को देख कर उसे अपने भ्रम का बोध होता है। उस स्थिति में भी उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति यथार्थ ज्ञान से भिन्न रहती है। वह बुद्धि से पूरब, दक्षिण आदि दिशाओं का यथार्थ निर्णय तो कर लेता है, पर प्रत्यक्ष अनुभूति उससे भिन्न प्रकार की ही रह जाती है। शाब्दबोध में भी सम्बन्ध-ज्ञान की ऐसी ही स्थिति रहती है। अर्थ के अत्यन्त असत्य या असिद्ध होने पर भी शब्द उसका बोध करा सकता है। अब प्रश्न यह है कि क्या 'पानी से सींचो' और 'आग से सींचो', इन दोनों कथनों में 'सींचो' क्रिया के साथ 'पानी' और 'आग' का सम्बन्ध एक-सा ही है? यदि ऐसा हो, तो दोनों वाक्य श्रोता में एक-सी प्रतिक्रिया उत्पन्न क्यों नहीं करते?

वैयाकरणों की मान्यता है कि शाब्दबोध और बाह्य वस्तु-बोध को एक साथ मिलाना उचित नहीं।[1] दोनों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। वर्ग में कोई अध्यापक कहता है कि 'गाड़ी आ रही है' तो इस कथन की यथार्थता का निर्णय इस आधार पर नहीं किया जाता कि वस्तुतः गाड़ी आ रही है या नहीं। बाह्य वस्तु के अभाव में भी वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। आकाशकुसुम आदि असत् वस्तु के बोधक शब्दों के साथ अन्य शब्दों के प्रयोग की योग्यता का निर्णय इन्द्रिय-बोध के सन्दर्भ में नहीं किया जा सकता। सम्बन्ध की बाधा का बोध शाब्दबोध में बाधक नहीं होता। यही नहीं, सम्बन्ध की बाधा का बोध प्रत्यक्ष तथा अनुमान ज्ञान में भी सर्वथा बाधक नहीं होता।[2] कभी-कभी तो अनुमान ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधित होकर भी प्रामाणिक ज्ञान सिद्ध होता है। लकड़ी में पलीता जला कर जब उसे खूब तेजी से घुमाया जाता है, तब वह चक्राकार दिखाई पड़ने लगता है। उस अलातचक्र का प्रत्यक्ष ज्ञान वस्तुतः अयथार्थ ज्ञान होता है। उस चक्राकार अलात को देखकर जो पलीता लगे हुए दण्ड का अनुमानजन्य ज्ञान होता है, वही यथार्थ ज्ञान होता है। उस अनुमान में प्रत्यक्ष ज्ञान बाधक अवश्य होता है फिर भी अनुमान की सिद्धि हो जाती है। अतः यह नहीं माना जा सकता कि बाधा-

---

१. × × न च 'वह्निना सिञ्च' इत्यादितः प्रवृत्तिरपि स्यात् × × × तदुक्तं 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति। —व्या० सि० मं० पृ, ५१२

२. वस्तुतो बाधज्ञानं न क्वापि ज्ञाने प्रतिबन्धकम्। × × × यथा 'गेहे घटोऽस्ति' गेहे घटो नास्ति' इति परस्पर-विरुद्धे द्वाभ्यां प्रयुक्ते। —वही, पृ० ५१२

बोध के रहने पर ज्ञान सर्वथा असिद्ध हो जाता है ।[1] शाब्दबोध में भी शब्दार्थ के सम्बन्ध के बाधा के बोध के रहने पर भी वाक्यों के अर्थ का ग्रहण हो ही सकता है, भले ही उस अर्थ में कुछ असंगति जान पड़े ।

नैयायिकों का तर्क है कि पदों के सम्बन्ध में बाधा के बोध से यदि शब्द के अर्थग्रहण में बाधा न भी हो, तो भी वैसे वाक्यों में योग्यता का अभाव होने के कारण असंगति तो होती ही है और वह असंगत वाक्य श्रोता के मन में क्लेश उत्पन्न करता है । अतः संगत वाक्य की योजना के लिए पदों की योग्यता पर विचार करना आवश्यक है ।

वैयाकरणों की मान्यता है कि शाब्दबोध के लिए पदों की योग्यता आवश्यक शर्त नहीं । उसके अभाव में भी पद-समूह के अर्थ का बोध हो सकता है, और उस पद-समूह को वाक्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । वाक्य के पद-समूह से बोध-गम्य अर्थ की संगति-असंगति का प्रश्न पदों के अर्थ में सम्बन्ध-असम्बन्ध का प्रश्न नहीं है । उसका सम्बन्ध व्यञ्जना व्यापार से है, जिस पर शब्द की मुख्य शक्ति से स्वतन्त्र विचार होना चाहिए । मुख्य शक्ति से बोधगम्य अभिधेय अर्थ के संदर्भ में यह तथ्य है कि योग्यता वाक्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है । उसके अभाव में भी वाक्यार्थ-बोध सम्भव है ।[2]

वस्तुतः वाक्य में प्रयुक्त पदों में योग्यता अर्थात् उनके अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में बोध-बुद्धि के अभाव की धारणा इस मान्यता पर अवलम्बित है कि समग्र भाषिक बोध को लौकिक वस्तु-बोध के सन्दर्भ में परखा जा सकता है, पर तथ्य यह है कि भाषिक बोध की प्रकृति लौकिक बोध की प्रकृति से किञ्चित् भिन्न है । समग्र भाषिक बोध के औचित्य का परीक्षण लोकानुभव के साथ उसकी तुलना कर नहीं किया जा सकता । योग्यता के अभाव में, अर्थात् सम्बन्ध के बाधित रहने पर भी कुछ वाक्य अर्थबोध करा सकते हैं । अतः योग्यता को वाक्य-विधान का अनिवार्य तत्त्व नहीं माना जा सकता । एक समन्वित अर्थ की बोधकता ही वाक्य के स्वरूप का नियामक है, जो पदों में योग्यता का अभाव रहने पर भी सम्भव होती है ।

---

१. किञ्च आशुसंचारात् अलातचक्रं प्रत्यक्षेण दृश्यते; × × एवमन्यत्रा-प्यूह्यम् ।—वही पृ० ५१२-१३ तुलनीय—
अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात् ।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकार निरूपणा ॥—वाक्य १ पृ० १३०

२. न च गालिदानादिस्थलेऽपि बाधज्ञानेन × × × अप्रामान्यज्ञानमिति स्पष्टम् काव्यप्रकाशादौ ।—वै० सि० मं०, पृ० ५१६

आकांक्षा :—पद-समूह में आकांक्षा की सत्ता वाक्य-विधान के लिए आवश्यक मानी गई है। आकांक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद रहा है। इस संदर्भ में आकांक्षा के स्वरूप तथा वाक्य-निर्माण में उसके महत्त्व का प्रतिपादन अपेक्षित है।

मञ्जूषा में नागोजी भट्ट ने आकांक्षा को वाक्यार्थ-बोध का अनिवार्य साधक माना है और उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि पद-समूह में से एक पद के अर्थ का ज्ञान हो जाने पर उस अर्थ से अन्वित होने योग्य अर्थ की जिज्ञासा आकांक्षा कहलाती है। यह आकांक्षा वस्तुतः प्रमाता में रहा करती है। वाक्य को सुनने वाले की एक मानसिक स्थिति, जिसमें एक पद के अर्थ के साथ अन्वित होने वाले अन्य पदार्थ की जिज्ञासा रहती है, आकांक्षा का स्वरूप है, फिर भी प्रमातागत वह जिज्ञासा—एक पदार्थ के साथ अन्वित होने लायक अन्य पदार्थ के ज्ञान की अभिलाषा—आकांक्षा के विषयभूत अर्थ पर आरोपित हो जाती है।[1] इस प्रकार नागोजी भट्ट की दृष्टि में आकांक्षा की वास्तविक सत्ता प्रमाता के मन में रहती है और वाक्यगत पदों के अर्थ में उसकी सत्ता आरोपित होती है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी पदों से बोधगम्य अर्थों की पारस्परिक व्यपेक्षा के रूप में आकांक्षा के स्वरूप की व्याख्या कर आकांक्षा के सम्बन्ध में इसी प्रकार की धारणा व्यक्त की है।[2]

न्याय कुसुमाञ्जलि में उदयन ने आकांक्षा के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है। उनकी दृष्टि में आकांक्षा स्वयं साध्य है, उसे साधन नहीं माना जा सकता। आकांक्षा के स्वरूप का निर्धारण करते हुए उदयन ने उसे ऐसा तत्त्व माना है, जो श्रोता के मन में जिज्ञासा उत्पन्न करता है। आकांक्षा जिज्ञासा के प्रति योग्यता है। श्रोता किसी शब्द से जो अर्थग्रहण करता है और उस गृहीत अर्थ से जिस

---

१. वाक्यसमयग्राहिका चाकांक्षा। साचैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोगस्यार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा 'अस्यान्वय्यर्थः कः'—इत्येवंरूपा पुरुषनिष्ठैव तथापि तस्या-कांक्षाविषयेऽर्थे आरोपः।—वै० सि० मञ्जूषा, पृ० २९७

२. परस्परव्यपेक्षायाम् सामर्थ्यमेक इच्छन्ति। का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा ? न ब्रूमः—शब्दयोरिति। किं तर्हि ? अर्थयोः। इह राज्ञः पुरुषः इत्युक्ते राजा पुरुष-मपेक्षते ममायमिति पुरुषोपि राजानमपेक्षते अहमस्येति।

अन्य अर्थ का आक्षेप होता है, उन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध के होने पर श्रोता के मन में उससे उत्पादित संसर्ग का बोध, जिसका प्रागभाव रहता है और अविनाभाव सम्बन्ध से एक पदार्थ के साथ प्रथम बार आक्षिप्त अन्य अर्थ के सम्बन्ध का बोध होता है, आकांक्षा है।[1] इस प्रकार आकांक्षा में—जिज्ञासा के प्रति योग्यता में—दो बातें अपेक्षित मानी गई हैं :—

(१) किसी शब्द से बोधगम्य और उससे आक्षिप्त अर्थों में अविनाभाव सम्बन्ध । और—

(२) उससे श्रोता में उत्पाद्य सम्बन्ध-बोध का प्रागभाव ।

कुसुमाञ्जलि के टीकाकार वर्धमान ने सम्बन्ध के प्रागभाव में आकांक्षा के सद्भाव के तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि प्रातिपदिक में संसर्ग-ज्ञान का प्रागभाव नहीं रहता, अतः उसमें आकांक्षा की सत्ता नहीं रहती।[2]

न्याय कुसुमाञ्जलि के टीकाकार वर्धमान की मान्यता है कि वक्ता के विवक्षित अर्थ के सम्बन्ध की अपूर्ति को ही आकांक्षा का स्वरूप माना जाना चहिए। कथन का अपर्यवसान ही आकांक्षा है। अपर्यवसान का अर्थ है अपने अन्वय का बोध कराने के लिए अन्य पर अवलम्बित होना। जिसके बिना कोई पद अपने अर्थ के अन्वय का बोध न करा सके वह उसका अपर्यवसान माना जायगा। इस प्रकार कथन का अपने अन्वय का बोध कराने के लिए अन्य पद पर आश्रित रहना आकांक्षा है। संज्ञा, विभक्ति, धातु, आख्यात, क्रिया तथा कारक पद एक-दूसरे के बिना अपने अर्थ के अन्वय का बोध कराने में असमर्थ होते हैं। अन्वयबोध के लिए उन पदों का परस्पर आश्रित होना ही अपर्यवसान या आकांक्षा है।[3]

---

१. आकांक्षापदार्थस्तर्हि कः। जिज्ञासां प्रति योग्यता। सा च स्मारित-तदाक्षिप्तयोरविनाभावे सति श्रोतरि तदुत्पाद्यसंसर्गावगमप्रागभावः।—उदयन, न्याय-कुसुमाञ्जलि, बोधिनी टीका, पृ० १२२.

२. द्रष्टव्य, कुसुमाञ्जलि की वर्धमानकृत टीका ।

३. अत्राहुः। अभिधानापर्यवसानम् आकांक्षा। येन विना यस्य न स्वार्थान्वयानुभावकत्वम् तस्य तदपर्यवसानम्। नाम-विभक्ति-धात्वाख्यात-क्रिया-कारक-पदानां परस्परं विना न स्वार्थान्वयानुभावकत्वम्।—न्याय कुसुमाञ्जलि पर वर्धमान की प्रकाश टीका, पृ० ६७। ('प्रकाश' पर रुचिदत्तकृत मकरन्द टीका भी द्रष्टव्य)।

जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में इस विवेचन का सार प्रस्तुत करते हुए यह मान्यता व्यक्त की है कि आकांक्षा धातु, प्रातिपदिक तथा विभक्ति-प्रत्यय के बीच आनुपूर्वी धर्म है। जिस प्रकार के शब्दों में जैसे अर्थों के अन्वय-बोध के अनुकूल पारस्परिक आकांक्षा रहती है, उस अर्थ में उन्हीं शब्दों का समूह वाक्य के रूप में स्वीकृत होता है।[1]

उदयन ने शाब्दबोध को अनुमान-रूप मानने वाले वैशेषिक मतानुयायियों की मान्यता का खण्डन करते हुए यह युक्ति दी है कि आकांक्षा को विशेषण-विशेष्य का सम्बन्ध मानने की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। आकांक्षा साधन नहीं। वह स्वयं साध्य है।[2] उसे अविनाभावरूप मानना भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि ऐसा मान लेने पर कुछ वाक्यों में भेद-निरूपण करना कठिन हो जायगा। उदाहरणार्थ 'नील कमल' जैसे प्रयोग में आकांक्षा का अभाव रहने पर भी वाक्यार्थ का बोध हो ही जाता है।[3]

कुछ विचारकों ने आकांक्षा को श्रोतागत जिज्ञासा का रूप माना था। इस मान्यता के विरुद्ध उदयन का तर्क यह है कि श्रोता के मन में शब्दों को सुनकर अनन्त जिज्ञासाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, जिनकी पूर्ति किसी भी वाक्य से सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में आकांक्षा की पूर्ति नहीं कर पाने के कारण किसी भी पद-समूह को वाक्य के रूप में स्वीकृति नहीं मिल सकेगी। उदाहरणार्थ, 'यह कपड़ा है', इस कथन को सुन कर कपड़ा के रंग, गुण आदि के सम्बन्ध में श्रोता के मन में अनेक प्रकार की जिज्ञासाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, जिनकी पूर्ति उक्त वाक्य से नहीं होती। यदि श्रोता की जिज्ञासा को वाक्य-विधायक आकांक्षा माना जाय, तो उक्त कथन से उसकी पूर्ति नहीं होने से, उसे वाक्य नहीं माना जायगा, पर तथ्य यह है कि उक्त पद-समूह को वाक्य माना जाता है। अतः आकांक्षा को श्रोतागत जिज्ञासा मानना उचित नहीं।[4]

---

१. यादृश शब्दानां यादृशार्थविषयिताकान्वयबोधं प्रति अनुकूला परस्पराकांक्षा तादृश शब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम्।—जगदीश, शब्दशक्ति प्रकाशिका, पृ० ६४

२. तत्र कोऽयमाकांक्षा नाम ? × × × × संसर्गस्वभावतया साध्यत्वात्।—न्यायकुसुमाञ्जलि ३ पृ० ४२३

३. नाप्ययमविनाभावः। नीलं सरोजं इत्यादौ तदभावेऽपि वाक्यार्थप्रत्ययात्।—वही ३, पृ० ४५४

४. नापि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा पटो भवतीत्यादौ शुक्लादि जिज्ञासायां रक्तः पटो भवतीत्यस्यैकदेशवत् सर्वदा वाक्यापर्य्यवसानप्रसंगात्।—वही ३ पृ० ४५४

यह युक्ति दी जा सकती है कि श्रोता के मन की सामान्य रूप से सभी जिज्ञासाओं को आकांक्षा नहीं मान कर एक विशेष अर्थ में श्रोता की जिज्ञासा को आकांक्षा कहा जा सकता है। पदार्थ की गुण-क्रिया आदि के सम्बन्ध में जो जिज्ञासाएँ श्रोता के मन में होती हैं, उन सब को आकांक्षा नहीं भी मानें, तो पद से उत्थापित विशिष्ट जिज्ञासा को आकांक्षा मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[1]

उदयन ने इस मान्यता के खण्डन के लिए अनेक युक्तियाँ दी हैं। पद से उत्थापित प्रत्यय या अवधारणा के सम्बन्ध में श्रोता की जिज्ञासा को आकांक्षा मानने में एक आपत्ति तो यह है कि उस प्रकार के शाब्दबोध में संसर्ग का ही बोध होता है, जिज्ञासा का बोध नहीं। प्रत्यय आकांक्षा से युक्त तो रहते हैं, पर श्रोता की जिज्ञासा का ज्ञान उसमें नहीं रहता।[2] उक्त मत में दूसरी आपत्ति यह होगी कि अनेक वाक्यों में पदों से बोधगम्य अर्थों के संसर्ग का ज्ञान पहले से नहीं रहा करता। यह राजा का पुत्र आ रहा है, लोगों को हटावें—ऐसे वाक्ययुग्म में यदि श्रोता एक अंश को नहीं सुन कर पूर्व वाक्यखंड और उत्तर वाक्यखंड के आधे-अधूरे शब्दों को सुनकर कुछ और ही अर्थ समझ लेता है तो इसे पदों से स्मारित अर्थों के संसर्ग से युक्त ज्ञान नहीं कहा जा सकता।[3] तीसरी आपत्ति यह है कि सभी वाक्यार्थों में जिज्ञासा का होना आवश्यक नहीं। अनेक ऐसे वाक्य होते हैं, जिनके अर्थबोध में श्रोता की किसी प्रकार की जिज्ञासा नहीं रहती। वैसे वाक्यों में आकांक्षा तो अनिवार्यतः रहती ही है, पर जिज्ञासा नहीं रहती। अतः श्रोता की जिज्ञासा को—चाहे वह पद-स्मारित विशेष जिज्ञासा ही क्यों न हो—आकांक्षा नहीं माना जा सकता।[4]

आकांक्षा के स्वरूप और वाक्य-विधान में उसके महत्त्व के इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि आकांक्षा वाक्य का अनिवार्य घटक तत्त्व है। उसकी सत्ता ही पद-समूह को वाक्य का रूप प्रदान करती है। उसके अभाव में गाय, हाथी, घोड़ा,

१. गुणक्रियाद्यशेषविशेषजिज्ञासायामपि पदस्मारितविशेषजिज्ञासा आकांक्षा। × × + इति न किञ्चिदनुपपन्नमिति चेत्।+ —वही, ३ पृ० ४५५

२. कथमेष निश्चयः साकांक्षा एव प्रत्येति न तु, ज्ञाताकांक्षा—इति चेत्— × × तथेहावपि अविशेषात् विशेषोपस्थानकाले संसर्गावगतिरेव जायते नतु जिज्ञासावगतिरिति।—वही ३ पृ० ४५८

३. यदा हि अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्—इति × × × न च स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकत्वमिति।—वही, ३ पृ० ४५८

४ न च सर्वत्र जिज्ञासानिबन्धनम्, अजिज्ञासोरपि वाक्यार्थोदयात्।—वही, ३ पृ० ४६०-६१

मनुष्य आदि पदसमूह को वाक्य नहीं माना जाता। आकांक्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरणों एवं नैयायिकों की अलग-अलग मान्यताएँ हैं। वैयाकरण आकांक्षा को प्रमाता के मन की जिज्ञासा मान कर उसे शब्द पर आरोपित धर्म मानते हैं, पर नैयायिकों की दृष्टि में आकांक्षा शब्द या शब्दार्थ-निष्ठ धर्म ही है। आकांक्षा के स्वरूप-निर्धारण के जितने प्रयास हुए हैं, उनमें जगदीश की वाक्य-परिभाषा में निर्धारित आकांक्षा का स्वरूप सर्वाधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है, जिसमें आकांक्षा को प्रातिपदिक, धातु तथा विभक्ति-प्रत्यय के बीच आनुपूर्वी धर्म माना गया है और शब्द-अर्थ के अन्वय-बोध की अनुकूलता के आधार पर उनकी पारस्परिक आकांक्षा का निर्धारण किया गया है। शब्द-अर्थ के अन्वय-बोध की अनुरूपता के निर्णय में प्रमाता की जिज्ञासा भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं, फिर भी प्रमाता की समग्र जिज्ञासा को वाक्यगत आकांक्षा मानने में विशेष युक्ति नहीं जान पड़ती।

प्रस्तुत सन्दर्भ में वाक्य के एक घटक के रूप में चर्चित आसत्ति के स्वरूप तथा वाक्य के स्वरूप-विधान में उसके महत्त्व का विवेचन वाञ्छनीय है।

आसत्ति—

आसत्ति का अर्थ है सन्निधि। वाक्य में आसत्ति की आवश्यकता मानने वालों की धारणा है कि परस्पर सम्बद्ध पदों का अव्यवहित प्रयोग होने पर ही वे पद वाक्य के रूप में घटित होते हैं। पदों में व्यवधान होने पर उनके अर्थ का बोध खण्डित हो जाता है और उस व्यवच्छिन्न बोध को एक वाक्य का बोध नहीं माना जा सकता। 'सोहन रोटी' कह कर वक्ता कुछ और बात करने लगे और कुछ देर के बाद वह कहे 'खाता है', तो इन दो व्यवच्छिन्न वाक्यांशों का एक साथ सम्बन्ध गृहीत नहीं हो सकेगा और फलतः वह व्यवच्छिन्न पद-समूह वाक्य का रूप ग्रहण नहीं कर सकेगा। अतः आसत्ति में बोध का अव्यवच्छेद या अव्यवधान आवश्यक माना गया है। इसके साथ ही आसत्ति के लिए एक और बात अपेक्षित मानी गयी है। वह यह है कि शब्द से विवक्षित अर्थ का ही कथन होना चाहिए। इसके अभाव में भी आसत्ति या प्रयुक्त पदों की अव्यवहित अन्विति का अभाव हो जाता है और पद-समूह एक वाक्य के रूप में गृहीत नहीं हो सकते। घोड़े की ओर निर्देश कर कोई किसी से कहे 'गाय को बांध दो' तो श्रोता को उन पदों में सम्बन्ध का बोध नहीं होगा और वह उस कथन का संगत अर्थ ग्रहण नहीं कर सकेगा। अतः संगत वाक्यार्थ बोध के लिए यह भी आवश्यक है कि विवक्षित अर्थ का शब्दतः कथन हो। इस प्रकार आसत्ति के लिए नैयायिकों ने दो बातें आवश्यक मानी हैं—(१) विवक्षित अर्थ का शब्दतः कथन और कथित शब्दों या शब्दार्थों में अव्यव-

हित सम्बन्ध ।[1] शब्द से बोधगम्य अर्थों के अव्यवहित सम्बन्ध-रूप आसत्ति को कुछ विचारकों ने वाक्यार्थबोध की आवश्यक शर्त माना है ।

नागोजी भट्ट की मान्यता है कि आसत्ति को वाक्यार्थबोध की आवश्यक शर्त मानना उचित नहीं । व्यवहित शब्दार्थ-सम्बन्ध का ग्रहण-अग्रहण श्रोता की बुद्धि की तीक्ष्णता-मन्दता पर निर्भर है । तीक्ष्ण बुद्धि के व्यक्ति पदार्थों के व्यवहित सम्बन्ध को भी ढूँढ निकालते हैं, जब कि मन्दबुद्धि व्यक्ति व्यवधान होने पर पदार्थों का अन्वय नहीं समझ पाते । ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होगा कि किस व्यक्ति के सम्बन्ध-बोध को आदर्श मान कर वाक्यार्थ-बोध में आसत्ति के योगदान का निर्णय किया जायगा ? मन्दबुद्धि की बोध-प्रक्रिया को आदर्श मान कर तो वाक्यार्थबोध के स्वरूप का निर्धारण किया नहीं जा सकता और तीक्ष्ण बुद्धि वालों के लिए पदों की आसत्ति का वाक्यार्थ ग्रहण में, कोई महत्त्व नहीं । जब वे पदों की आकांक्षा को समझ लेते हैं, तब पद अव्यवहित रूप में एक साथ रहें या अन्य कुछ पदों से व्यवहित होकर दूर-दूर रहें, वे सभी परस्पर साकांक्ष पदों का एक साथ अन्वय कर एक समन्वित वाक्यार्थ का बोध प्राप्त कर लेते हैं । अतः वाक्यार्थ-बोध में आसत्ति आवश्यक कारण नहीं ।[2] काव्य में बहुधा ऐसा होता है कि एक साथ समन्वित होने वाले पद अन्य पदों से व्यवहित होकर प्रयुक्त होते हैं । मन्दबुद्धि व्यक्ति के लिए, इसीलिए, पदों का अन्वय कर वाक्यार्थबोध ग्रहण करना कठिन हो जाता है, पर मेधावी व्यक्ति उन बिखरे पदों को उनकी आकांक्षा के आधार पर अन्वित कर सहज ही वाक्यार्थ का बोध प्राप्त कर लेते हैं । कालगत व्यवधान भी वाक्यबोध में सबके लिए समान रूप से बाधक सिद्ध नहीं होता । वाक्य के कुछ शब्दों का उच्चारण कर वक्ता कुछ समय के लिए अन्य कार्य में व्यस्त हो जाय या कुछ और

---

१. शब्दैः सन्निहितत्वेन बोधित्वं पदार्थानां सन्निधिरुच्यते । अतः सन्निहितत्वाभावात् शब्दबोधितत्वाभावाच्च द्वेधा सन्निध्यभावो भवति । तत्र भिन्नकालोच्चारितयोर्गामानय इत्यत्र पदयोः सन्निहितत्वाभावात् अनन्वयः । गाम् बधान—इत्यत्र बन्धनापेक्षस्य दृश्यमानस्य अश्वस्य शब्दबोधितत्वाभावादेव अनन्वयः । अतः शब्दप्रतिपन्नामेव अन्वयः इति नियमः सिद्धः ।—मानमेयोदय

२. आसत्तिरपि मन्दस्य अविलम्बेन शाब्दबोधे कारणम् । × × × अमन्दस्य तु आसत्यभावेऽपि पदार्थोपस्थितौ आकांक्षाज्ञानवतो बोधोऽविलम्बेनैव भवतीति न तद्बोधे तस्याः कारणत्वम् ।—नागोजी भट्ट, वै. सि. मंजूषा, पृ० ५२२

बात करने लगे तथा कुछ देर के बाद उस वाक्य को पूरा करे तो एक पूर्ण वाक्यार्थ का बोध इस बात पर निर्भर करेगा कि श्रोता में अवधान-शक्ति कितनी है। अवहित-चित्त व्यक्ति वाक्य के खण्डित होने पर भी पदों का एक वाक्य के रूप में सम्बन्ध समझ लेगा, जबकि चञ्चल-चित्त व्यक्ति सम्बन्ध ढूँढ़ कर वाक्य के स्वरूप तथा वाक्यार्थ का बोध प्राप्त नहीं कर सकेगा। रही बात विवक्षित अर्थ के शब्दतः कथन की, तो उसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कुछ अर्थों का शब्दतः कथन नहीं होने पर भी वाक्यार्थ में उनका अध्याहार हो जाता है और पूर्ण वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। घोड़े को दिखा कर 'गाय को बांधो' के कथन का जो उदाहरण आसत्ति का अभाव दिखाने के लिए दिया गया है, उसमें भी वाक्यार्थ का बोध बाधित नहीं होता। सुनने वाले को उस वाक्य के अर्थ का बोध तो होता ही है, भले ही घोड़े की ओर संकेत और उस वाक्य के प्रयोग में उसे असंगति का बोध होता हो। इस असंगति का बोध ही इस बात का प्रमाण है कि वक्ता उक्त वाक्य के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। बाह्य पदार्थ और वाक्यार्थ का पृथक्-पृथक् ज्ञान हुए बिना उनमें संगति-असंगति का बोध सम्भव नहीं। मूर्ख व्यक्ति की ओर संकेत कर जब कहा जाता है कि इस गधे को देखो, तो उसके अर्थ का बोध तो होता ही है। स्पष्ट है कि पदार्थ का शब्दतः कथन-रूप आसत्ति भी वाक्यार्थबोध का कारण नहीं मानी जा सकती।

आसत्ति को वाक्यार्थ-बोध का कारण मानने वाले मत के विरुद्ध महाभाष्य में यह युक्ति दी गयी है कि वाक्यार्थ-बोध के लिए यह आवश्यक नहीं कि पदों का अनुपूर्व क्रम से ही वाक्य में विन्यास किया जाय। यदि पदों में आकांक्षा हो, तो उनके विन्यास में आनुपूर्व्य या आसत्ति का अभाव होने पर भी दूर-दूर बिखरे हुए अर्थात् व्यवहित पदों का पारस्परिक आकांक्षा के आधार पर अन्वय कर लिया जाता है। उस स्थिति में भी आसत्ति को वाक्यार्थ-बोध की आवश्यक शर्त्त नहीं माना जा सकता, भले ही उसका अभाव वाक्यार्थ के ग्रहण में कुछ विलम्ब का कारण हो।[1]

पूर्वमीमांसा दर्शन में यह मान्यता व्यक्त की गयी है कि वाक्यार्थ-बोध में पदों के क्रम का—पदों की आसत्ति का—विशेष महत्त्व नहीं; महत्त्व है, परस्पर साकांक्ष अर्थों के क्रम का। अर्थों का आकांक्षाजन्य क्रम पदों में भी क्रम का निर्धारण कर देता है। कैयट ने महाभाष्य की 'प्रदीप' टीका में मीमांसकों की इस मान्यता को

---

१. अनानुपूर्व्येनापि सन्निविष्टानां यथेष्टमभिसंबन्धो भवति।—पतंजलि, महाभाष्य, १,१, ५८

उद्धृत कर वैयाकरणों के इस मत की पुष्टि की है कि आसत्ति को वाक्यार्थ बोध का आवश्यक हेतु नहीं माना जाना चाहिए।[1]

महाभाष्य की प्रदीप टीका में व्यक्त उक्त धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए उद्योतकार ने कहा है कि आसत्ति के अभाव में भी आकांक्षा के कारण पदार्थों में व्युत्पत्ति के अनुसार अन्वय-बोध हो जाता है। कथित पदों में क्रम का अभाव रहने पर भी वे पद वाक्य में क्रमबद्ध होकर बोधगत होते हैं। इसे राजपुरप्रवेश-न्याय से समझा जा सकता है। जैसे लोगों की क्रमहीन अव्यवस्थित भीड़ राजभवन में प्रवेश करने के समय द्वार पर एक कतार में व्यवस्थित होकर ही भीतर प्रविष्ट होती है वैसे ही क्रमहीन पद भी आकांक्षा के अनुसार एक क्रम में घटित होकर ही वाक्य के रूप में बोधगत होते हैं।[2] न्यायसूत्र के वात्स्यायन-भाष्य में भी यह धारणा व्यक्त की गयी है कि आसत्ति के अभाव में भी पदों के अर्थ आकांक्षा से परस्पर सम्बद्ध होकर वाक्यार्थ के रूप में गृहीत होते हैं।[3]

निष्कर्ष यह कि आकांक्षा ही वाक्य का अनिवार्य विधायक हेतु है, योग्यता और आसत्ति नहीं। योग्यता वस्तुगत औचित्यबोध में तो सहायक हो सकती है, भाषिक औचित्यबोध में नहीं। आसत्ति से वाक्यार्थबोध शीघ्र हो सकता है, पर योग्यता और आसत्ति के बिना भी वाक्यार्थबोध सम्भव है। संक्षेप में, आकांक्षा से परस्पर अन्वित तथा एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने वाले पदों का समुदाय ही वाक्य माना जाता है।[4]

वाक्यार्थ का स्वरूप :—वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों ने अनेक परस्पर विरोधी धारणाएँ व्यक्त की हैं। मीमांसा दर्शन में कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर के द्वारा प्रतिपादित अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद में वाक्यार्थ-विषयक दो विरोधी मान्यताएँ प्रसिद्ध हैं, जिनपर स्वतन्त्र अध्याय में विचार अपेक्षित है। न्याय दर्शन में इन दोनों मान्यताओं से भिन्न वाक्यार्थ-

१. पाठक्रमादर्थक्रमोबलीयान इति यथेष्टमत्राभिसम्बन्धः।—वहीं, प्रदीप टीका, पृ० ४५०

२. अर्थक्रमो नाम राजपुरप्रवेशन्यायेन स्वस्वाकांक्षितार्थान्वयक्रमः। एवं च कल्पितासन्नवाक्याद् बोधविषये तात्पर्यं नियामकमिति भावः। भाष्यात् तु आसत्त्यभावेऽपि पदार्थोपस्थितौ आकांक्षावशात् व्युत्पत्त्यनुसारेणान्वयबोधो लभ्यते।—वही, उद्योत टीका।

३. यस्य येनाभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥—न्या. सूत्र. १,२,९ पर
वात्स्यायन भाष्य।

४. वाक्यं नामैकविशिष्टार्थ प्रतिपादनपराणि पदान्येव। न्यायरत्नमाला, पृ० २९

धारणा व्यक्त की गयी है। वैयाकरणों ने वाक्यार्थ को प्रतिभा-रूप मान कर उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण शब्द और उनके अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मान कर वाक्य और वाक्यार्थ को ही भाषा की मूल और अखण्ड इकाई मानते हैं, जबकि शब्दस्फोटवादी अर्थात् पदस्फोट-वादी वैयाकरण शब्द और शब्दार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मान कर वाक्यार्थ के रूप में विभिन्न पदों के अर्थों का ही समायोजन स्वीकार करते हैं। अपोहवादी बौद्ध विचारकों ने पद के अर्थ के सन्दर्भ में अपने सिद्धान्त को समग्रतः घटित न होते देख, वाक्यार्थ का सहारा लिया और यह मत व्यक्त किया कि पद और उनके अर्थ की कोई सत्ता ही नहीं। वाक्यार्थ ही भाषा की मूल इकाई है और उसी सन्दर्भ में अपोहवाद या तद्भिन्न-भिन्नवाद या प्रसज्य प्रतिषेधवाद के औचित्य का मूल्यांकन किया जाना चाहिए। आधुनिक भाषा विज्ञान में वाक्य और वाक्यार्थ को भाषा की मूल और अखण्ड इकाई मान कर भाषिक बोध के स्वरूप का विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार, आज के भाषाविद्, अनजाने ही सही, वाक्यस्फोटवाद, अपोहवाद तथा अन्विताभिधानवाद में व्यक्त वाक्यार्थ-बोध-विषयक विचार का अनुसरण कर रहे हैं। स्पष्ट है कि वाक्य तथा वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय चिन्तन का महत्त्व आज के भाषावैज्ञानिक चिन्तन के सन्दर्भ में और भी बढ़ गया है।

वाक्य और वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में कई प्रश्न स्वभावतः उठा करते हैं—वाक्य में प्रयुक्त पदों तथा पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार बोधगत होता है? वाक्य के पदों में से किस पद का अर्थ प्रधान होता है? क्या वाक्य में उद्देश्य की प्रधानता होती है या क्रियापद की? फिर उस प्रधान पद से अन्य अनेक अप्रधान पद किस रूप में सम्बद्ध रहते हैं? वाक्य में प्रयुक्त विभिन्न पदों से बोधगत होने वाले अर्थों का स्वरूप क्या होता है और शब्दों के अपने-अपने संकेतित अर्थों से पृथक् वाक्य अपनी शक्ति से किस प्रकार के अर्थ का बोध कराता है?

वाक्य की रचना पदों के संघटन से होती है। किसी भी भाषा में पदों के कुछ रूप नियत होते हैं, जिनसे असंख्य वाक्यों का निर्माण सम्भव होता है। जैसे परिमित ध्वनियों से अपरिमेय पदों की रचना हो सकती है, वैसे ही कुछ नियत स्वरूप वाले पदों के विविध रूप में घटन से असंख्य वाक्यों का निर्माण सम्भव होता है।

वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण वाक्य के अंगभूत पदों की तात्त्विक सत्ता नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वाक्य की ही यथार्थ सत्ता है, पदों की सत्ता कल्पित-

मात्र होती है। इसके विपरीत, नैयायिक, मीमांसक आदि पद की वास्तविक सत्ता मानते हैं। इस समस्या पर हम पद और पदार्थ के सम्बन्ध का विवेचन करने के क्रम में विस्तार से विचार कर चुके हैं। जो हो, वाक्य पदों से घटित होते हैं। पद के कुछ संकेतित अर्थ हुआ करते हैं। वाक्यगत प्रत्येक पद अपनी-अपनी शक्ति से कुछ नियत अर्थ का ही अलग-अलग बोध करा सकते हैं। ऐसी स्थिति में समस्या यह है कि उन पदों के अर्थों में किस प्रकार का सम्बन्ध रहता है, जो उन पदों को एक वाक्य के रूप में घटित कर देता है?

वाक्यार्थ-बोध को नैयायिकों ने शाब्दबोध कहा है और उस बोध का हेतु पद या पदार्थ के ज्ञान को माना है। पद के ज्ञान के द्वारा ही पूर्ण वाक्यार्थ का ज्ञान सम्भव होता है।[1] यह व्यावहारिक तथ्य है कि जब तक वाक्य के अंगभूत प्रत्येक पद के अर्थ का बोध न हो जाय, तब तक वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि पूर्ण वाक्य के अर्थ का ग्रहण वाक्य के तत्तत् पदों के संकेतित अर्थ के ज्ञान पर निर्भर रहता है।

इस तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए कहा गया है कि पदों के द्वारा बोधगत होने वाले अर्थों की स्मृति के द्वारा जो घटना होती है उसीसे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है।[2] तात्पर्य यह कि पद एक क्रम से अलग-अलग अपने-अपने अर्थ का बोध कराते चलते हैं। वाक्य के अन्त तक पदों के अलग-अलग अर्थ के बोध का यह क्रम चलता रहता है। फिर, अन्त में सभी पदों से बोधगत अर्थों की एक साथ स्मृति होने से सभी क्रमिक अर्थ एक साथ सम्बद्ध होकर बोध का विषय बनते हैं। बोध का यही रूप वाक्यार्थबोध माना जाता है। इसीलिए तर्कसंग्रह में वाक्यार्थज्ञान को एक पद के अर्थ में अन्य पद के अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान कहा गया है।[3]

वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया यह है कि पहले वाक्य के घटक पदों का बोध होता है, फिर उन पदों की शक्ति का बोध होता है और तदनन्तर पद तथा उनकी शक्ति को एक साथ मिला कर उनके अर्थों की स्मृति होती है और इस प्रकार सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ का ग्रहण होता है। किसी वाक्य के विशिष्ट पदों के अर्थ का बोध खण्डशाब्दबोध कहलाता है। उन पदार्थों के खण्डशाब्दबोध से उत्पादित अखण्ड-

---

१. पदज्ञानकरणकं ज्ञानम्, वस्तुतस्तु पदज्ञानं करणम्।
—तर्कसंग्रह, न्या० बो० पृ० ३९।

२. पदजन्यपदार्थोपस्थितिजन्यबोधः।

३. एकपदार्थे अपरपदार्थसंसर्गविषयकं ज्ञानम्।—तर्कसंग्रह

शाब्दबोध अर्थात् अवयवातिरिक्त पूर्ण अर्थबोध ही वस्तुतः शाब्दबोध या वाक्यार्थ-बोध माना जाता है और खण्डशाब्दबोध का सहारा केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए लिया जाता है।

वाक्य के पूर्ण अर्थ के बोध में—अखण्ड शाब्दबोध में—वाक्यगत किस पद के अर्थ की प्रधानता होती है, इस सम्बन्ध में भारतीय विचारकों ने तीन प्रकार की मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। नैयायिकों की मान्यता है कि वाक्य में प्रथमा विभक्ति-युक्त पद अर्थात् कर्तृपद की प्रधानता होती है और अन्य पद के अर्थ उस कर्ता-पद के अर्थ को विशेषित करते हैं। वैयाकरणों की धारणा है कि वाक्य में क्रिया-पद की प्रधानता होती है। क्रिया-पद या आख्यात-शब्द में भाव की प्रधानता होने के कारण वे भावरूप अर्थ को वाक्य का मुख्य अर्थ मानते हैं और अन्य पदों के अर्थ को उस भावरूप अर्थ का पोषक स्वीकार करते हैं। मीमांसकों ने आख्यात-पद के अर्थ को वाक्य में प्रधान और अन्य पदों के अर्थ को उसका सहायक माना है।[1] वैयाकरण और मीमांसक वाक्य में क्रिया-पद की प्रधानता मानने में एकमत हैं, पर जहाँ वैयाकरण आख्यात पद में भाव की प्रधानता मान कर वाक्य में क्रिया-पद के भाव-रूप प्रधान अर्थ की ही प्रधानता स्वीकार करते हैं, वहाँ मीमांसक वाक्य में आख्यातार्थ को प्रधान मानने के क्रम में क्रिया-पद के भावना-रूप अर्थ को अर्थात् उत्पादक व्यापार-रूप अर्थ को प्रधान मानते हैं। इन तीन मतों के अनुसार किसी एक वाक्य के शाब्दबोध के स्वरूप पर विचार किया जाय तो वाक्य के अलग-अलग शब्द के अर्थ को प्रधान मानने के अनुरूप शाब्दबोध का स्वरूप अलग-अलग माना जायगा। उदाहरण के लिए यदि इस वाक्य के शाब्दबोध के स्वरूप पर विचार किया जाय कि 'मोहन राम की पूजा करता है' तो यह स्पष्ट है कि मोहन कर्ता है, राम कर्म और 'पूजा करता है' क्रिया। वाक्य में कर्ता की प्रधानता मानने वाले न्याय-मत के अनुसार इस वाक्य के शाब्दबोध का स्वरूप इस प्रकार का होगा—"कर्मभूत राम की प्रीति के अनुकूल कार्य करने वाला मोहन। व्याकरण-मत के अनुसार वाक्य में भाव की प्रधानता होगी और शाब्दबोध का स्वरूप होगा—"मोहन-रूप कर्ता में रहने वाला कर्मभूत राम की पूजा का भाव। मीमांसक-मत के अनुसार शाब्दबोध का स्वरूप होगा—"रामनिष्ठ प्रीत्यनुकूल मोहननिष्ठ भावना।

---

३. न्यायमते प्रथमान्तार्थमुख्यविशेषकशाब्दबोधोऽङ्गीक्रियते। वैयाकरणमते भावप्रधानमाख्यातमिति नियमेन भावार्थमुख्यविशेष्यकबोधोऽङ्गीक्रियते। मीमांसकमते चाख्यातार्थमुख्यविशेष्यकबोधोऽङ्गीक्रियते।— तर्क. संग्रह पृ० ६६.

इस प्रकार न्याय-मत के अनुसार प्रथमा विभक्तियुक्त कर्तृपद का अर्थ प्रधान तथा अन्य पद के अर्थ गौण या प्रकार होंगे। व्याकरण-मत के अनुसार धात्वर्थ प्रधान और मोहन तथा राम गौण होंगे। उक्त वाक्य में मोहन उद्देश्य या पूजा-रूप व्यापार का आश्रय तथा राम विधेय या उसके फल का आश्रय होगा। ये दोनों ही पूजा के धात्वर्थ के विशेषण होंगे। भाव की प्रधानता का अर्थ है—धात्वर्थ की प्रधानता। यास्क ने निरुक्त में यह सिद्धान्त स्थापित किया था कि क्रियापद या आख्यातपद में धात्वर्थ या भाव की प्रधानता होती है।[1] वैयाकरणों ने वाक्य में क्रिया-पद की प्रधानता मान कर शाब्दबोध में धात्वर्थ की प्रधानता का सिद्धान्त निरूपित किया। मीमांसकों ने भी वाक्य में आख्यातपद की प्रधानता मानी और आख्यात का अर्थ भावना अर्थात् उत्पादक व्यापार माना।

वैयाकरणों के मतानुसार धातु के दो अर्थ होते हैं—व्यापार और फल। इनमें से शाब्दबोध में व्यापार-रूप अर्थ प्रधान और फल-रूप अर्थ गौण होते हैं। धात्वर्थ का फल-रूप अर्थ-भाग अनुकूलत्व या जनकत्व के सम्बन्ध से व्यापार-रूप अर्थ का केवल विशेषण-भूत होता है। क्रिया-विभक्ति के अर्थों में से काल और आश्रय-रूप अर्थ भी व्यापार के विशेषण होते हैं, जबकि उसका वचन-रूप अर्थ आश्रय के अनुरूप होता है। इस प्रकार 'वह पकाता है' इस वाक्य का अर्थ होगा—एक व्यक्तिनिष्ठ, विक्लित्ति के अनुकूल वर्तमान कालिक व्यापार।"[2] कर्तृवाच्य में कर्तृपद से बोधगम्य अर्थ क्रिया-विभक्ति के आश्रय-रूप अर्थ—जो उद्देश्य या विधेय के रूप में हो सकता है—के साथ अभेद सम्बन्ध से रहा करता है। इस प्रकार 'मोहन पकाता है' का अर्थ होता है—'एक आश्रयनिष्ठ व्यापार, जो आश्रय मोहन से अभिन्न है। कर्म कारक को छोड़ शेष सभी कारकों का सम्बन्ध धातु के व्यापार-रूप अर्थ से होता है। वे व्यापार का वैशिष्ट्य बताते हैं, पर कर्म-कारक का सम्बन्ध धातु के फल-रूप अर्थ से होता है। इस प्रकार 'चैत्र पात्र में चावल पकाता है', इस वाक्य के शाब्दबोध का स्वरूप इस प्रकार का माना गया है—"पात्रनिष्ठ चावलनिष्ठ विक्लित्तिजनक चैत्र में अभिन्न रूप से आश्रित व्यापार।[3] नागेश ने व्यापार की जगह फल-रूप धात्वर्थ को प्रधानता देते हुए इस वाक्य के अर्थ का स्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया है—एक चैत्र नामक व्यक्ति में आश्रित वर्तमानकालिक भावना-जन्य चावल में आश्रित एक विक्लित्ति का

---

१. भावप्रधानमाख्यातम्।—यास्क, निरुक्त

२. एकाश्रयकः विक्लित्त्यनुकूलो वर्तमानकालिको व्यापारः।

३. स्थालीनिष्ठ तण्डुलनिष्ठः विक्लित्तिजनकश्चैत्राभिन्नाश्रयको व्यापारः।

फल जिसमें प्रधान हो, ऐसा बोध।[1] इस प्रकार नागेश की दृष्टि में, उक्त वाक्य के शाब्दबोध में फल की प्रधानता है, व्यापार की नहीं।

कर्मवाच्य में प्रयुक्त वाक्य का—जैसे उसके द्वारा चावल पकाया जाता है वाक्य का शाब्दबोध इस रूप में माना गया है—"चावल में अभिन्नतया आश्रित उसकी विक्लित्ति के अनुकूल व्यापार।"[2]

भाव वाच्य के प्रयोग में क्रिया-विभक्ति के वचन-रूप अर्थ का अंश धात्वर्थ से रखता है। कुछ लोग उसकी अनुकूलता नहीं भी मानते हैं।

वाक्यार्थबोध में सभी कारक व्यापार से अनुरूपता रखते हैं। फल की भी व्यापार के साथ अनुकूलता रहती है। क्रिया-विशक्ति का अर्थभूत वचन उद्देश्य या विधेय (कर्ता, कर्म) से अनुरूपता रखता है। कर्म फल के अनुकूल रहता है। क्रिया-विभक्ति से बोधगम्य कर्ता या कर्म (उद्देश्य या विधेय) कर्तृवाच्य में कर्ता-पद के द्वारा बोधगत होने वाले अर्थ के साथ अभेद सम्बन्ध से अनुरूपता रखता है।

वैयाकरणों ने धातु के अनेक अर्थ स्वीकार किये हैं। किसी भी क्रिया में व्यक्ति की आत्मा में स्थित प्रयत्न का अर्थ तो रहता ही है, साथ ही क्रिया के साधन-भूत अनेक बाह्य पदार्थों का भी बोध मिला रहता है। भर्तृहरि ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि क्रिया के साधनों का बोध क्रिया-पद के अर्थबोध के साथ अनिवार्यतः मिला रहता है, फिर भी वह पद साधन से पृथक् व्यापार आदि के अर्थ का—अवयवातिरिक्त अवयवी-रूप अर्थ का—ही बोध कराता है। पकाना क्रिया में वर्तन में वस्तु को रख कर आग पर चढ़ाना आदि साधनों का भी बोध मिला रहता है, पर वर्तन, पकाने वाली वस्तु, आग आदि उस पद का अर्थ नहीं, पकाने का व्यापार-मात्र उसका अर्थ है।

वाक्यगत विभिन्न शब्दों के अर्थबोध से घटित वाक्यार्थबोध या खण्डशाब्दबोध से घटित अखण्डशाब्दबोध की विशेषता यह है कि उसमें सभी पदों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध निहित रहता है। अलग-अलग पद अपने-अपने अर्थ का बोध कराते हैं और उन पदों के अर्थों से भिन्न उनके सम्बन्ध का बोध वाक्य के अर्थबोध का स्वरूप घटित करता है। वैयाकरणों ने वाक्यार्थ को प्रतिभा-रूप—चेतना का

---

१. एकचैत्राश्रयिका या वर्तमाना भावना तज्जन्यैकतण्डुलाश्रयिका एका विक्लित्तिरिति फलविशेष्यको बोधः।—नागेश,

२. तण्डुलाभिन्नैकाश्रयकविक्लित्त्यनुकूल व्यापारः।

आलोकरूप—माना है। अतः व्याकरण-सिद्धान्त के अनुसार वाक्यार्थ के स्वरूप को समझने के लिए 'प्रतिभा' के स्वरूप का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

प्रतिभा :—व्याकरण-दर्शन में अर्थ को शब्द-तत्त्व का विवर्त माना गया है। भाव, विचार तथा बाह्य वस्तु-रूप जो भी अर्थ है वह उसी अव्यक्त शब्द-तत्त्व का व्यक्त रूप माना गया है। वैयाकरणों की दृष्टि में, शब्द-तत्त्व नित्य और सत्य है, अर्थ असत्य और आभास-मात्र। इस प्रकार वाचक शब्द और वाच्य अर्थ में तात्त्विक अभेद मानकर वैयाकरणों ने दोनों के भेद को अज्ञान-जनित अवधारणा माना है।

प्रश्न यह है कि परस्पर-भिन्न इन्द्रिय-ग्राह्य वस्तुओं के बोधक शब्दों के अर्थ की समस्या का समाधान शब्दाद्वैत के सिद्धान्त से कैसे होगा ? वैयाकरणों की मान्यता है कि परस्पर भिन्न जान पड़ने वाले अर्थों के सन्दर्भ में भी वस्तुतः शब्दार्थ एक प्रतिभा-रूप आत्माभिन्न तथ्य ही होता है। अर्थ प्रतिभा या आत्मानुभव का प्रकाश-रूप होने के कारण एक और अखण्ड होता है। इसी मान्यता के आधार पर वैयाकरणों ने तात्त्विक दृष्टि से सभी शब्दों को सभी अर्थों का वाचक मान लिया है। व्यावहारिक दृष्टि से भले ही विशिष्ट शब्द अर्थ-विशेष का ही बोधक माना जाय, पर तात्त्विक दृष्टि से कोई भी शब्द किसी भी अर्थ का बोधक हो सकता है।

व्याकरण-दर्शन में इस सिद्धान्त की स्थापना की गयी है कि शब्द-ब्रह्म की सनातन सत्ता है। शब्द ब्रह्म चैतन्य-रूप है। उस अखण्ड चेतना-रूप शब्द-तत्त्व को खण्डित नहीं किया जा सकता। हाँ, चेतना के विषय की विविधता के अनुरूप वह एक ही चेतना अनेक रूपों में आभासित होती है। चेतना के विषय उसपर अपनी विविधता आरोपित कर देते हैं और फलतः एक चेतना अनेक रूपों में प्रतिभासित होने लगती है। विषयनिष्ठ वैविध्य के कारण चेतना में जान पड़ने वाली विविधता उसकी एकता के तथ्य को खण्डित नहीं कर सकती; एक ही अग्नि आश्रय-भेद से विभिन्न रूपों में व्यक्त हो तो उससे अग्नि की एकता खण्डित नहीं हो जाती।

किसी भाषिक उक्ति का अर्थ अखण्ड प्रतिभा-रूप माना गया है। शब्द-तत्त्व चेतना-रूप है और चेतना प्रकाश-स्वरूप। चेतना का वह प्रकाश ही प्रतिभा कहलाता है। अतः तत्त्वतः शब्द और प्रतिभा अर्थात् वाक्यार्थ अभिन्न हैं। इस प्रकार प्रतिभा को शब्द या वाक्य का अर्थ मानना शब्द को ही शब्द का अर्थ मानना होगा।

अब प्रश्न यह है कि क्या शब्द से भिन्न उसका कोई अर्थ नहीं होता ? क्या वाचक शब्द और उससे वाच्य अर्थ एक ही होता है ? उदाहरणार्थ क्या गाय शब्द से केवल ग्, आ, य ध्वनियों के एक नियत क्रम की व्यवस्था का ही बोध होता है, उससे भिन्न किसी प्राणी-रूप अर्थ का बोध नहीं होता ? यदि यह बात होती, तो 'गाय दूध देती है', 'गाय घास खा रही है', 'गाय मर गयी' आदि वाक्यों का क्या अर्थ होता ?

वैयाकरण इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भाषिक कथन का कुछ अर्थ होता है, जो उस उक्ति से निर्दिष्ट होता है और इसलिए उस उक्ति से भिन्न होता है। उक्ति शब्द-संरचना है, ध्वन्यात्मक पदों के विशिष्ट संघटन से निर्मित होती है और उसका अर्थ वस्तु-जगत का तथ्य, मानस-लोक का भाव-विचार आदि कुछ भी हो सकता है, जिसके बोध में उस उक्ति की सार्थकता होती है। भाषिक व्यवहार में हम यह देखते हैं कि असंख्य वाक्यों का सम्बन्ध लोक-व्यबहार से होता है। वे वाक्य लोक-सिद्ध वस्तुओं का बोध कराते हैं। उनके द्वारा मानव-मानव के बीच विचार और अनुभूति का आदान-प्रदान होता है। इसीलिए कुछ लोग शब्द से निर्दिष्ट बाह्य वस्तु को ही शब्द का अर्थ मान कर शब्द को विभिन्न वस्तुओं पर आरोपित नाम के रूप में स्वीकार करते हैं। वे सिद्ध अर्थ के बोध के लिए भाषिक प्रयोग को एक साधन या प्रतीक मानते हैं। इस प्रकार के मत की शक्ति-सीमा पर हमने अन्यत्र विस्तार से विचार किया है और यह देखा है कि भाषिक बोध की समस्या इतनी सरल नहीं कि सर्वत्र शब्द और अर्थ की परस्पर स्वतन्त्र सत्ता मान कर इस समस्या का समाधान किया जा सके।

प्रतिभा या चेतना को वाक्यार्थ का स्वरूप मानने पर भी कई समस्याएँ सामने आती हैं। स्वयं चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों की अलग-अलग मान्यताएँ रही हैं। अध्यात्मवादी चिन्तन में चेतना की वस्तु-निरपेक्ष सत्ता मानी जाती है, जिसकी भूतजगत् में अभिव्यक्ति-मात्र होती है। इसके विपरीत भौतिकवादी दर्शन में चेतना को वस्तुसापेक्ष माना जाता है। वह वस्तु से उत्पन्न होती है और वस्तु-बोध से विकसित होती है। बाह्य वस्तुओं के साथ तत्तत् ज्ञानेन्द्रियों का सम्पर्क होने पर मन में वेदना उत्पन्न होती है। उन वेदनाओं की सन्तान, उनकी अजस्र धारा ही चेतना का रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार चेतना वस्तु-सापेक्ष मानी गयी है। हमारे ऐन्द्रिय बोध बाह्य वस्तु की सत्ता की अपेक्षा रखते हैं। स्पष्ट है कि वस्तु की बोध से पृथक् सत्ता है, जो बोध के रूप में मन से गृहीत होती है। इस प्रकार भौतिकवादी चिन्तन के अनुसार वस्तु और बोध की अलग-अलग सत्ता है। वस्तु की सत्ता ही बोध के रूप में गृहीत होती है।

वैयाकरणों की धारणा है कि चेतना एक अखण्ड शाश्वत सत्ता है, जिसमें असंख्य अवधारणाएँ सन्निविष्ट हो सकती हैं। चेतना की यह अखण्डता इस बात का प्रमाण है कि वह इन्द्रियग्राह्य बाह्य वस्तुओं की खण्ड-वेदनाओं से निर्मित नहीं होती। नैयायिकों ने प्रत्ययों के अविसंवाद को एकता का रहस्य मान कर खण्ड-प्रत्ययों से एक अखण्ड चेतना के निर्माण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, पर वैयाकरण खण्डों से अखण्ड चेतना के निर्माण का सिद्धान्त नहीं मानते। अविसंवाद, आनुरूप्य, सन्निधि आदि ऐसे कारण हैं जो विभिन्न वेदनाओं या अवधारणाओं को एकत्र घटित तो कर सकते हैं, पर उनकी अखण्डता या एकता के रहस्य का स्पष्टीकरण नहीं कर सकते।

जहाँ अणुवादी नैयायिक खण्ड-प्रत्ययों से अखण्ड चेतना के स्वरूप-निर्माण के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं, वहाँ बौद्ध विचारक खण्ड वेदनाओं की अविच्छिन्न धारा के रूप में चेतना की सत्ता मान कर चेतना की अखण्डता ही नहीं मानते। भर्तृहरि ने इन मान्यताओं के विरुद्ध यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि चेतना की एकता या अखण्डता को अनेक विचार-खण्डों से घटित नहीं माना जा सकता। उस अखण्ड चेतना की अनादि सत्ता है, जिसकी पीछे चल कर अभिव्यक्ति हुई है।

डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने भर्तृहरि की प्रतिभा-धारणा और क्रोचे की सहजानुभूति (Intuition) धारणा की तुलना करते हुए दोनों को समान माना है।[1] भर्तृहरि ने प्रतिभा में तथा क्रोचे ने सहजानुभूति (Intuition) में वस्तु के चेतना से ग्रहण का सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया है।

प्रतिभा का सम्बन्ध कुछ विचारकों ने शब्द-तत्त्व की पश्यन्ती दशा से माना है। परा वाक् सर्वथा अव्यक्त है। उसका प्रथम उन्मेष पश्यन्ती के रूप में होता है और फिर मध्यमा तथा वैखरी अवस्थाओं में उसकी क्रमिक अभिव्यक्ति होती है। भाषा-दर्शन में, इसीलिए, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी रूपों में ही वाणी के स्वरूप का अध्ययन-विश्लेषण सम्भव होता है। परा वाणी का स्वरूप अनिर्वचनीय या अव्याख्येय माना गया है। पश्यन्ती शब्द-ब्रह्म की स्वानुभूति की दशा है, जिसमें चेतना शब्द-अर्थ का साक्षात्कार करती है। यही प्रतिभा का यथार्थ स्वरूप है। उक्ति का बोध इसी प्रतिभा के रूप में चेतनागत होता है। सहजानुभूति या चेतना का यह आलोक ही शाब्दबोध का स्वरूप माना गया है। तात्त्विक दृष्टि से वाणी की पश्यन्ती दशा में चेतना से गृहीत होने वाले शब्द-अर्थ के स्वरूप को प्रतिभा माना गया है, पर भर्तृहरि ने प्रतिभा शब्द का और अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग कर पशु-पक्षी तक की सामान्य अनुभूति को भी प्रतिभा कहा है।

---

१. डॉ० गौरीनाथ शास्त्री, फिलॉसफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग, पृ० २६३

निष्कर्ष यह कि भर्तृहरि आदि वैयाकरणों की दृष्टि में शब्दबोध प्रतिभा या अन्तश्चेतना का आलोक-रूप है, जिसमें शब्द और अर्थ का अन्तर्दृष्टि से साक्षात्कार होता है।

नैयायिकों की वाक्यार्थ-धारणा :—जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि पद अलग-अलग अर्थ का बोध नहीं कराते, भाषिक प्रयोग में वे एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर एक पूर्ण वाक्य के रूप में अर्थ का बोध कराते हैं। भाषिक व्यवहार वाक्य से ही चलता है, अलग-अलग असम्बद्ध पदों से नहीं। व्याकरण और कोष में पद के अपने अलग अर्थ का महत्त्व भले ही हो, भाषिक व्यवहार में पद एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर ही पूर्ण वाक्यार्थ के बोध में सार्थकता प्राप्त करते हैं। अतः पद में अर्थबोध की शक्ति के साथ ही पदान्तर के साथ सम्बन्ध के बोध की शक्ति भी अन्तर्निहित रहती है। पदों के अर्थ भाषा-व्यवहार में परस्पर सम्बद्ध होकर ही व्यक्त होते हैं।

इस अंश में जयन्त भट्ट की मान्यता अन्विताभिधानवादी मीमांसक प्रभाकर की मान्यता से मिलती-जुलती है, जो मान्यता भर्तृहरि की अखण्ड वाक्यस्फोटवादी मान्यता के निकट है, पर जयन्त भट्ट वाक्य में उसके अंगभूत पदों की भी अपनी स्वतन्त्र और यथार्थ सत्ता मानते हैं। न्याय-दर्शन में अणु की तात्त्विक सत्ता मानी जाती है और उन्हीं से पूर्ण का निर्माण माना जाता है। अतः नैयायिक वाक्य में उसके घटक पदों की तात्त्विक सत्ता स्वीकार करते हैं। वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण अखण्ड वाक्य की यथार्थ सत्ता मान कर उसमें पद, वर्ण आदि अंगों की कल्पित तथा अयथार्थ सत्ता मानते हैं। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर ने पद के अपने अर्थ के अस्तित्व को अस्वीकार तो नहीं किया, पर यह मान्यता व्यक्त की कि वे एक सम्बन्ध से जड़ कर ही वाक्य में व्यक्त और बोधगत होते हैं, इसलिए किसी एक पद के अर्थ को अन्य पद के अर्थों के साथ आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति से सम्बद्ध रूप में ही समझा जाना चाहिए।

जयन्त भट्ट ने प्रभाकर की इस मान्यता की आलोचना की है। वे प्रभाकर की इस मान्यता का तो समर्थन करते हैं कि पद में ही वाक्यीय सम्बन्ध के बोध की शक्ति अन्तर्निहित रहती है, पर पद में रहने वाली अर्थ-बोधक शक्ति और सम्बन्ध-बोधक शक्ति में वे भेद मानते हैं। शब्द में अर्थ-बोध की जो शक्ति रहती है, उससे सर्वत्र पद के एक नियत अर्थ का ही बोध होता है, पर सम्बन्ध-बोध की शक्ति परिवर्तित होती रहती है। अतः अर्थबोध की नियत शब्द-शक्ति में और सम्बन्ध-

बोध की अस्थिर शब्द-शक्ति में जयन्त अन्तर मानते हैं,[1] जिस तथ्य का स्पष्टीकरण अन्विताभिधानवादी नहीं कर पाये थे।

जयन्त भट्ट की मान्यता है कि यद्यपि भाषिक व्यवहार में पद विशिष्ट सम्बन्धों से बँध कर ही वाक्य-रूप में प्रयुक्त होते हैं, तथापि उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता होती है। पद में स्वतन्त्र रूप से प्रयोग की योग्यता भले ही नहीं हो, पर उसमें स्वतन्त्र रूप से अर्थबोध कराने की शक्ति रहा ही करती है। यह अर्थवत्ता पद को स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करती है। शब्दकोशीय अर्थ के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शब्द में निहित अभिधा शक्ति उसके नियत अर्थ का बोध कराती है। उस नियत या साक्षात् संकेतित अर्थ के बोध के लिए शब्द की सम्बन्ध-बोधक शक्ति की अपेक्षा नहीं होती, जिससे वाक्य और वाक्यार्थ के स्वरूप का घटन होता है।

वाक्य के स्वरूप-बोध के लिए जिस सम्बन्ध-ज्ञान की अपेक्षा होती है, उसकी सत्ता या उसके आश्रय के सम्बन्ध में विचारकों ने दो प्रकार की मान्यताएँ व्यक्त की हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि वाक्य में कुछ सार्थक पदों का प्रयोग होता है, जिनके अर्थ संकेतित और नियत होते हैं। वे संकेतित अर्थ पदों की अभिधा शक्ति से बोधगम्य होते हैं, पर उन पदों से भिन्न वाक्य में उनके सम्बन्ध-बोध के लिए किसी साधन का प्रयोग नहीं किया जाता। इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि वाक्य में जिन पदों या पदार्थों का बोध हमें होता है, उन्हीं में कहीं सम्बन्ध-बोध की शक्ति भी निहित रहती है। अब प्रश्न यह है कि सम्बन्ध-बोधक शक्ति की सत्ता किसमें मानी जाय—पदों में या उनके अर्थ में? कुमारिल भट्ट ने सम्बन्ध-बोध की शक्ति शब्द के अर्थ में मानी थी। जयन्त भट्ट का मत है कि वह शक्ति शब्द-निष्ठ मानी जानी चाहिए, जैसा कि अन्विताभिधानवादी प्रभाकर ने माना है। जयन्त भट्ट ने शब्दनिष्ठ इस सम्बन्ध-बोधक शक्ति को तात्पर्या शक्ति या तात्पर्या-वृत्ति कहा है।[2]

जयन्त की धारणा है कि किसी वाक्य के अंगभूत सभी पद परस्पर मिलकर पूर्ण वाक्यार्थ का स्वरूप-विधान करते हैं। वाक्यार्थ के रूप में घटित होने वाले

---

१. द्रष्टव्य, जयन्त भट्ट, न्यायमञ्जरी, प्रमाण प्रकरण, अन्विताभिधान खंडनम् पृ० ३६९-७०

२. पदानां हि द्वयी शक्तिरभिधात्री तात्पर्यशक्तिश्च तत्राभिधात्री शक्तिरेषां पदार्थेषूपयुक्ता तात्पर्यशक्तिश्च वाक्यार्थे पर्यवस्यतीति।—वही, पृ० ३५८

पदार्थों में से एक पद का अर्थ प्रधान होता है और अन्य पदों के अर्थ उस अर्थ के विशेषणभूत होते हैं। सभी पद अपनी अभिधा शक्ति से अपने-अपने संकेतित अर्थ का बोध कराते हैं और अपनी तात्पर्य-शक्ति से सम्बद्ध अर्थ का बोध उत्पन्न करते हैं। पदों में अन्तर्निहित यह तात्पर्य-शक्ति, वाक्यार्थबोध में, पदों की अभिधा शक्ति के साथ ही सक्रिय होती है और पूर्ण वाक्यार्थ-बोध होने तक क्रियाशील रहती है।[1]

सम्बन्ध-बोधक शक्ति को अर्थनिष्ठ मानने में जयन्त भट्ट की आपत्ति यह है कि ऐसा मानने के लिए अर्थ को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन मानना पड़ेगा और वैसी स्थिति में वाक्यार्थ शाब्दबोध नहीं माना जा सकेगा।[2] शबरस्वामी की मान्यता थी कि पद अपनी-अपनी अभिधा शक्ति से अपने संकेतित अर्थ का बोध करा लेने पर विरत हो जाते हैं और सम्बन्ध-बोध का काम पद के अर्थ करते हैं। जयन्त भट्ट की युक्ति है कि शब्द की अभिधा शक्ति उनके संकेतित अर्थ का बोध करा लेने पर अवश्य ही क्षीण हो जाती है, पर शब्द उसके बाद भी सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध कराने में सक्रिय रहते हैं। यह काम पद अपनी तात्पर्य-शक्ति से करते हैं। शब्द में सम्बन्ध-बोधक तात्पर्य-शक्ति के अन्तर्निहित होने के कारण ही वाक्यार्थबोध को शाब्दबोध कहा जाता है।[3]

शबर स्वामी ने यह युक्ति दी थी कि बड़े वाक्यों में पूर्व उच्चरित पदों का ज्ञान धुँधला पड़ जाता है और वैसी स्थिति में सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध उन पदों के अर्थ पर ही निर्भर माना जा सकता है। जयन्त भट्ट की मान्यता है कि इस प्रकार की युक्ति में कोई तथ्य नहीं। वाक्य और वाक्यार्थ पद तथा पदार्थ के संघटन से ही एक पूर्ण इकाई का रूप ग्रहण करते हैं, यह तथ्य शबर स्वामी को भी मान्य है। अतः पद के स्वरूप-बोध का धुँधला पड़ जाने की युक्ति आत्मघाती युक्ति ही होगी।[4]

पद के अर्थ में सम्बन्ध-बोध मानने के पक्ष में शबर स्वामी का एक तर्क यह था कि यदि वाक्य सुनने के समय श्रोता अवहित-चित्त नहीं रहे, उसका ध्यान बँटा हो, तो वह वाक्य में प्रयुक्त कुछ शब्दों को सुनकर भी उनका अर्थ नहीं समझता और उन पदों के अर्थ का बोध न होने से सम्पूर्ण वाक्य का अर्थबोध ही बाधित हो जाता है। अतः वाक्यार्थ के बोध का आधार पद के अर्थ को ही माना जाना चाहिए,

---

१. द्रष्टव्य—जयन्त, न्यायमञ्जरी,

२. वही,

३. वही,

४. वही, पृ० ३५८

पद को नहीं। इसके उत्तर में जयन्त भट्ट ने यह युक्ति दी है कि जब श्रोता किसी कारणवश वाक्य के किसी शब्द का अर्थ नहीं समझता तो वह वक्ता से पुनः उस शब्द को दुहराने का आग्रह करता है। उसका स्वाभाविक प्रश्न होता है—क्या कहा? स्पष्ट है कि श्रोता वाक्यार्थबोध के लिए वाक्य के अंगभूत पदों को समझने की ही अपेक्षा रखता है। यदि उसे शब्द स्मरण रहता और अर्थ स्मरण नहीं रहता तो वाक्यार्थबोध की बाधा को पदार्थबोध की बाधा पर आधृत मान कर वाक्य में सम्बन्धबोध की शक्ति अर्थनिष्ठ मानी जा सकती थी, पर तथ्य यह नहीं है। अनवहित-चित्त व्यक्ति को शब्द स्मरण रहे और अर्थ का स्मरण नहीं हो तो वह वक्ता से पुनः अपनी बात दुहराने का आग्रह नहीं कर उससे पद के अर्थ के सम्बन्ध में पूछेगा। अश्रुत पद को पुनः सुनकर वाक्य के स्वरूप का बोध प्राप्त करना इस बात का ही प्रमाण है कि सम्बन्ध-बोध की तात्पर्य-शक्ति शब्दनिष्ठ होती है।[1] वाक्यार्थबोध के लिए यह आवश्यक है कि वाक्य के अंगभूत पदों और उनके अर्थों का बोध प्रमाता के मन में रहे। पदनिष्ठ तात्पर्य-शक्ति से दीप दों एवं पदार्थों का एक समन्वित वाक्य और वाक्यार्थ के रूप में बोध होता है।

'न्यायकुसुमञ्जलि' में उदयन ने तात्पर्य शक्ति के शब्दनिष्ठ होने के पक्ष में यह युक्ति दी है कि वाक्यार्थ के रूप में पद के अर्थों या अन्य अर्थों का भी घटन अवश्य होता है, पर शब्द-निरपेक्ष होकर पदार्थों का वाक्यार्थ के रूप में घटन सम्भव नहीं। अतीत और भविष्यत् काल का निर्देश करने वाले पद के अर्थ में वाक्यार्थ बोध की कारणता नहीं मानी जा सकती। कारण यह है कि भूतकालिक प्रयोग में अर्थ की सत्ता के विनाश का बोध रहता है और भविष्यत् काल के अर्थ की वर्तमान में सत्ता होती ही नहीं। अतः वाक्यार्थ को पदों के अर्थ का योग-मात्र मानना युक्ति संगत नहीं, उसके लिए पद-निष्ठ तात्पर्यशक्ति की कल्पना भी आवश्यक है।[2]

तात्पर्य शक्ति को शब्दनिष्ठ सिद्ध करने के लिए उदयन ने दूसरी युक्ति यह दी है कि शब्दार्थ को ज्ञान का करण नहीं माना जा सकता। ज्ञान का करण ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जो विशिष्ट क्रिया के द्वारा ज्ञान उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञान के करण-भूत ज्ञानेन्द्रियों के बीच क्रिया की सत्ता रहा करती है। ज्ञान का करण उसके अव्यवहित पूर्व नहीं रहा करता। शब्दार्थ और वाक्यार्थ के बीच किसी क्रिया आदि का व्यवधान नहीं होने के कारण पद के अर्थ वाक्यार्थ के अव्यवहित पूर्ववर्ती होते हैं। अतः उनकी प्रकृति करण की प्रकृति से भिन्न होती है। वाक्यार्थ-ज्ञान

१. जयन्त, न्यायमञ्जरी, पृ० ३५९
२. उदयन, न्यायकुसुमांजलि, पृ० ७७

के अव्यवहित पूर्ववर्ती पदार्थ-ज्ञान को वाक्यार्थ ज्ञान का करण नहीं माना जा सकता —पदार्थ में सम्बन्ध-बोध से वाक्यार्थबोध उत्पन्न करने वाली तात्पर्यशक्ति की सत्ता नहीं मानी जा सकती। पद को ही वाक्यार्थ-बोध का करण माना जाना चाहिए क्योंकि करणभूत पद और कार्यभूत वाक्यज्ञान के बीच पद के अर्थ का व्यवधान रहता है। पद अपनी अभिधा शक्ति से पदार्थ का बोध कराते हैं और इसके फलस्वरूप सम्बन्ध-बोध से वाक्यार्थ-बोध उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होता है कि पद ही वाक्यार्थबोध के करण होते हैं—उन्हीं में सम्बन्ध-बोधक तात्पर्य-शक्ति अन्तर्निहित रहती है।[1]

अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट ने शब्द की गौणी वृत्ति अर्थात् लक्षणा-शक्ति को वाक्यार्थ-बोध का कारण माना था। नैयायिक इस मान्यता से सहमत नहीं। उनकी धारणा है कि लक्षणा शक्ति से बोधगम्य अर्थ किसी दूसरी उक्ति के वाच्य अर्थ से अभिन्न हुआ करता है। तात्पर्य यह कि जिस अर्थ का बोध किसी उक्ति में पद की अभिधा शक्ति से होता है, उसी का बोध अन्य उक्तियाँ पद की गौणी वृत्ति से करा सकती हैं। शब्द के मुख्य तथा गौण; दोनों प्रकार के अर्थ अन्य साधनों से—ऐन्द्रिय प्रत्यक्षीकरण, सहजानुभूति आदि से—प्राप्त वस्तु-बोध के प्रतिनिधि हुआ करते हैं। अतः नैयायिकों की दृष्टि में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में तात्त्विक भेद नहीं। जब वाच्यार्थ में तात्पर्य-शक्ति की सत्ता का सिद्धान्त खण्डित हो गया तो लक्ष्यार्थ में भी उसकी सत्ता का सिद्धान्त स्वतः खण्डित हो जाता है। ध्यातव्य है कि शब्दार्थ को अन्य पदार्थों का प्रतिनिधि मानने वाला यह वस्तु-निर्देश का सिद्धान्त आधुनिक अर्थवैज्ञानिक चिन्तन में प्रबल विरोध का विषय बन गया है। हम शब्द के वस्तु-निर्देश-सिद्धान्त के औचित्य की परीक्षा अन्यत्र कर चुके हैं। मीमांसकों के तात्पर्य-शक्ति-विषयक मत के खण्डन में नैयायिकों के द्वारा दी गयी इस युक्ति का आधार उनका शब्दार्थ-विषयक वस्तुनिर्देशात्मक सिद्धान्त है, जिसका औचित्य स्वयं विवाद का विषय है।

पदनिष्ठ सम्बन्ध बोधक शक्ति को जहाँ जयन्त भट्ट आदि ने तात्पर्य-शक्ति कहा था वहाँ अन्य नैयायिकों ने उसे संसर्ग-मर्यादा की संज्ञा दी। प्राचीन न्याय और नव्य न्याय में उस सम्बन्धबोधक शक्ति को पदनिष्ठ धर्म के रूप में ही स्वीकार किया गया है। नैयायिकों की धारणा का निष्कर्ष यह है कि पदों में वाक्यार्थ की उत्पादक शक्ति अन्तर्निहित रहती है जिसका बोध वाक्यार्थ का बोध होने के बाद ही होता है। वाक्य से स्वतन्त्र पद को देखने पर उस सम्बन्ध-शक्ति का बोध नहीं हो

---

१. उदयन, न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० ७७

सकता। पदगत सम्बन्ध-शक्ति और पद के अर्थ के बीच सम्बन्ध का वाक्यार्थ-बोध के पहले ज्ञान सम्भव नहीं। सम्बन्ध-शक्ति की मुख्य और गौणी वृत्तियों से स्वतन्त्र सत्ता है। अतः पद की मुख्य या गौणी वृत्ति से पदार्थ का बोध तो वाक्यार्थ-बोध के पूर्व ही हो जाता है, पर सम्बन्ध-शक्ति—तात्पर्य-शक्ति या संसर्ग-मर्यादा—का बोध वाक्यार्थ-बोध के उपरान्त ही होता है। पद की अभिधा शक्ति जहाँ उसके संकेतित अर्थ को प्रकाशित करने वाली शक्ति है, वहाँ तात्पर्य-शक्ति वाक्यार्थ-विधायिनी शक्ति है। इस प्रकार अभिधा शक्ति और सम्बन्ध-शक्ति में यह अन्तर है कि अभिधा का बोध पहले से रहता है, जबकि सम्बन्ध-शक्ति का बोध वाक्यार्थ-ज्ञान के उपरान्त होता है। दूसरी बात यह कि अभिधा शब्द के अर्थ का उद्घाटन करती है, जबकि सम्बन्ध-शक्ति वाक्यार्थ का सृजन करती है। ये दोनों शक्तियाँ—अर्थ-प्रकाशिनी अभिधा और अर्थविधायिनी तात्पर्य-शक्तियाँ—पद में ही निहित रहती हैं, पद के अर्थ में नहीं।

इस प्रकार सम्बन्ध-बोधक तात्पर्य-शक्ति के आश्रय के सम्बन्ध में मुख्य दो मत प्रचलित हैं। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की दृष्टि में यह शक्ति पद में रहती है। कुमारिल के मतानुसार यह शक्ति पद के अर्थ में रहती है। नैयायिकों ने पद के अर्थ में सम्बन्ध-शक्ति की सत्ता मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन कर इस शक्ति को पदनिष्ठ ही स्वीकार किया है। इन मतों में इस प्रश्न को लेकर जितना बड़ा विवाद रहा है, उतना महत्त्व वस्तुतः इस प्रश्न का है नहीं। उक्त दो मतों के बीच भेद भी बहुत बड़ा नहीं। साम्प्रदायिक पूर्वग्रह को हटा कर यदि तटस्थ भाव से इस समस्या पर विचार किया जाय तो सम्बन्ध-बोधक शक्ति के आश्रय के सम्बन्ध में इन विरोधी मतों में सामञ्जस्य स्थापित कर इस समस्या का एक सर्वमान्य समाधान ढूँढ़ा जा सकता है।

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की धारणा थी कि वाक्य का अंग बन कर भाषा में प्रयुक्त होने में ही पद की सार्थकता होती है। वे वाक्यार्थबोध की शक्ति को पदों में अन्तर्निहित मानते थे। इस प्रकार उनकी दृष्टि में, वाक्यार्थ के रूप में बोधगत होने वाले अन्वितार्थ का बोध कराने की शक्ति पदों में ही रहा करती है। उनकी मान्यता है कि पद की अभिधा शक्ति ही पद के संकेतित अर्थ का भी बोध कराती है और साथ ही पदों के अन्वितार्थ का भी बोध कराती है, जिससे पदों के परस्पर अन्वित अर्थ का एक पूर्ण वाक्यार्थ के रूप में ग्रहण होता है। पद की अभिधा शक्ति से अन्वित अर्थ का बोध मानने पर भी प्रभाकर ने यह स्वीकार किया है कि पद की अभिधा शक्ति से बोधगत होने वाला सम्बन्ध सामान्य रूप का होता है जिसके विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण पद के साथ प्रयुक्त होने वाले अन्य पदों के द्वारा होता

है। वाक्य का कोई एक पद स्वतन्त्र रूप से उस विशिष्ट सम्बन्ध का बोध नहीं करा सकता, जिसके साथ पदों के अर्थ का वाक्य में ग्रहण होता है। इस प्रकार वे प्रकारान्तर से यह मान लेते हैं कि पदों का वास्तविक अर्थ सम्बन्ध से भिन्न कुछ नवीन तथ्य होता है। अतः पद की एक ही अभिधा शक्ति से पद के संकेतित अर्थ तथा अन्वितार्थ या सम्बन्ध के बोध का सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। अन्विताभिधानवादी यह तो मान ही नहीं सकते कि वाक्य और वाक्यार्थ के बोध में पदों के परस्पर असम्बद्ध अर्थों का बोध मन में रहा करता है, जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध-विशेष का घटन होता है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर अभिहितान्वयवाद के सिद्धान्त से उसका कोई भेद ही नहीं रह जायगा।

अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि अर्थ-बोध और सम्बन्ध-बोध की दोनों शक्तियों को पद में एक साथ अन्तर्निहित मानना उचित नहीं। अर्थ-बोध की शक्ति शब्द में रहती है और सम्बन्ध-बोध की शक्ति अर्थ में। शब्द अपनी अभिधा शक्ति से अपने-अपने अर्थ का परस्पर-निरपेक्ष रूप में बोध कराते हैं और फिर वे अर्थ अपनी तात्पर्यशक्ति से पारस्परिक अन्वय का ज्ञान उत्पन्न कर एक समन्वित वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार कुमारिल के द्वारा प्रतिपादित पद से अर्थ के अभिधान का सिद्धान्त तथा प्रभाकर के द्वारा प्रस्तुत पद से अर्थ की स्मृति का सिद्धान्त एक-दूसरे से तत्त्वतः बहुत भिन्न नहीं। दोनों मतों में भेद इस बात में है कि जहाँ कुमारिल सम्बन्ध-बोध की शक्ति अर्थगत मानते हैं, वहाँ प्रभाकर उसे पदनिष्ठ ही मानते हैं। वाक्यार्थ बोध को परम्परा से जो शाब्दबोध कहा जाता रहा है, उससे प्रभाकर की तात्पर्य-शक्ति को पदनिष्ठ मानने वाली धारणा की ही पुष्टि होती है।

नैयायिकों ने भी प्रभाकर की तरह ही तात्पर्यशक्ति या संसर्ग-मर्यादा को पद-निष्ठ माना है, पर उन्होंने उसे अभिधा शक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया, जैसा कि प्रभाकर ने मान लिया है। नैयायिकों की दृष्टि में अभिधा पद के असम्बद्ध अर्थ का बोध कराती है। इस अंश में नैयायिकों के मत में कुमारिल की मान्यता की स्वीकृति है, पर न्याय-मत कुमारिल की इस धारणा को स्वीकार नहीं करता कि पद की गौणी वृत्ति से सम्बद्ध अर्थ का बोध होता है। नैयायिक सम्बन्ध-बोध के लिए पद की एक स्वतन्त्र शक्ति की कल्पना करते हैं। कुमारिल ने लाघव के लिए पद में एक साथ मुख्य और गौण वृत्तियों की सत्ता की कल्पना की, जिनमें से मुख्य वृत्ति से असम्बद्ध अर्थ का तथा गौणी वृत्ति से अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध माना पर नैयायिकों ने पद में अर्थबोधक मुख्य तथा गौण शक्तियों के साथ सम्बन्ध-बोध

के लिए एक तीसरी शक्ति की कल्पना की, जिसे उन्होंने तात्पर्यशक्ति या सम्बन्ध मर्यादा कहा। इस प्रकार सम्बन्धबोधक शक्ति को पदनिष्ठ मानने में नैयायिकों का अन्विताभिधानवादी प्रभाकर के मत से अविरोध है और अभिधाशक्ति से पद के असम्बद्ध अर्थ का बोध मानने में अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट से उनकी सहमति है। इतना साम्य होने पर भी दोनों से नैयायिकों के चिन्तन की भिन्नता इस बात में है कि वे पदनिष्ठ सम्बन्ध-बोधक तात्पर्यशक्ति की पदगत अर्थबोधक अभिधा शक्ति से स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं।

तथ्य यह है कि वाक्यार्थ में एक पूर्ण परिस्थिति का बोध होता है और उस परिस्थिति का बोध वाक्यार्थ-बोध के पूर्व शब्द के नियत संकेत से नहीं हो सकता। अतः जिस सम्बन्धबोधक शक्ति को प्रभाकर मुख्य और कुमारिल गौण मानते हैं, उसे वाक्यार्थ-बोध के पूर्व अज्ञेय ही माना जा सकता है। प्रभाकर ने सम्बन्ध-बोधक शब्द-निष्ठ शक्ति को अभिधा या मुख्य शक्ति कह कर भी अज्ञातपूर्व सम्बन्ध-रूप अर्थ का ही उत्पादक माना है। अतः सम्बन्ध-शक्ति के विषय में प्रभाकर तथा नैयायिकों के मत में कथन-मात्र का भेद है। प्रभाकर की अभिधा और नैयायिकों की तात्पर्यशक्ति में तात्त्विक भिन्नता नहीं। कुमारिल और नैयायिकों के सम्बन्ध-शक्ति-सिद्धान्त का मिलन-बिन्दु यह मत है कि स्मृति के द्वारा पदों के अभिहित अर्थ में सम्बन्ध का बोध होता है और फलतः एक पूर्ण वाक्यार्थ का ग्रहण सम्भव होता है।

प्रभाकर और नैयायिक पद की लक्षणा शक्ति या गौणी वृत्ति की सत्ता मानने में एकमत हैं, पर कुमारिल समग्र विवक्षित अर्थ के बोध की शक्ति अभिधा वृत्ति में ही मानते हैं। प्रश्न यह है कि क्या वक्ता के समग्र विवक्षित अर्थ का बोध अभिधा शक्ति से सम्भव है? अभिधा तो केवल पहले से संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकती है। वाक्यार्थ के रूप में घटित अर्थ, जो अज्ञातपूर्व होता है, पद की अभिधा शक्ति से कैसे बोधगत हो सकता है? अतः वाक्यार्थ-बोध के लिए अपेक्षित सम्बन्ध-ज्ञान के लिए पद की गौणी वृत्ति की आवश्यकता प्रभाकर को जान पड़ी। नैयायिकों ने मुख्य और गौणी वृत्तियों के साथ सम्बन्ध-बोध के लिए पद की तात्पर्य शक्ति या संसर्ग-मर्यादा नाम की एक तीसरी शक्ति की भी कल्पना की है।

कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि सम्बन्ध-बोध के लिए तात्पर्य-शक्ति नामक एक अलग शक्ति की कल्पना अनावश्यक है। वह काम गौणी वृत्ति ही कर देती है। मुख्य और गौणी वृत्तियों के साथ इस तीसरी शक्ति की कल्पना करने से वाक्यार्थ-बोध की अनपेक्षित दीर्घ प्रक्रिया माननी पड़ेगी। लक्षणा शक्ति से बोध्य अर्थ के

सन्दर्भ में यह माना जायगा कि पहले तो पद अलग-अलग अपनी अभिधा शक्ति से असम्बद्ध रूप में अपने-अपने अर्थों का बोध कराते हैं, फिर सम्बन्ध का बोध कराने वाली तात्पर्य-शक्ति उन पदों के बिखरे हुए अर्थों के बीच सम्बन्ध का बोध कराने के लिए सक्रिय होती है। ऐसी स्थिति में जब पदार्थों के बीच अयोग्यता या असंगति के कारण पारस्परिक सम्बन्ध घटित नहीं हो पाता, तो शब्द की लक्षणा शक्ति से उस अननुरूप अर्थ के स्थान पर अन्य अनुरूप अर्थ लाकर पदार्थों के बीच सम्बन्ध घटित कर लिया जाता है और अन्ततः पद में अन्तर्निहित सम्बन्ध-शक्ति विवक्षित वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करती है। इस प्रकार लाक्षणिक प्रयोग में वाक्यार्थ के ग्रहण तक चार सोपानों की कल्पना करनी होगी।

नैयायिकों ने वस्तुतः लाक्षणिक प्रयोग में विवक्षित अर्थ-बोध के तीन ही सोपान स्वीकार किये हैं—(क) अभिधा शक्ति से पदों के अर्थ का बोध, (ख) लक्षणा शक्ति से अन्यार्थ का बोध तथा (ग) तात्पर्यशक्ति से सम्बद्ध पदार्थों का वाक्यार्थ के रूप में बोध। कुमारिल की दृष्टि में लक्षणा शक्ति ही संगत अर्थ देकर बाधित मुख्यार्थ की समस्या का समाधान भी कर देती है और सम्बद्ध पदार्थों का विवक्षित वाक्यार्थ के रूप में बोध भी करा देती है। अतः सम्बन्ध-बोध के लिए किसी अतिरिक्त शक्ति की कल्पना को वे व्यर्थ मानते हैं।

लाक्षणिक या गौण अर्थ का मुख्य अर्थ के साथ सम्बन्ध पहले से ज्ञात रहता है। कुमारिल तथा उनके मतानुयायी गौणी वृत्ति से ग्राह्य अर्थ को वाक्यार्थ मानते हैं, जो वाक्यार्थ ज्ञान के अन्य किसी कारण से पहले से ज्ञात नहीं रहता। अतः गौणी वृत्ति को पहले से अज्ञात वाक्यार्थ का बोधक मानने का अर्थ होगा, उसमें अज्ञात-पूर्व अर्थ के उत्पादन की शक्ति मानना। यह कुमारिल की मूल धारणा के अनुरूप नहीं होगा। गौणी वृत्ति को वे पूर्व-ज्ञात अर्थ का प्रकाशक ही मानेंगे। ऐसी स्थिति में उसी गौणी वृत्ति में अज्ञातपूर्व वाक्यार्थ की उत्पादक शक्ति मान लेना युक्तिसङ्गत नहीं होगा। गौणी वृत्ति से पद के पूर्व-सिद्ध अर्थ का प्रकाशन होता है। अतः वाक्यार्थ के साध्य रूप अर्थ के उत्पादन के लिए उससे भिन्न एक उत्पादक शक्ति की सत्ता मानी ही जानी चाहिए। नैयायिकों ने इस समस्या के समाधान के लिए अभिधा और लक्षणा शक्तियों के साथ सम्बन्धबोधक तात्पर्यशक्ति की कल्पना की और उसे वाक्यार्थ की उत्पादक शक्ति माना। पूर्व-सिद्ध अर्थ को प्रकाशित करने वाली तथा साध्य अर्थ को उत्पन्न करने वाली दो स्वतन्त्र शक्तियों को एक ही गौणी वृत्ति मान लेना, नैयायिकों की दृष्टि में, अनुचित है।

कुमारिल की यह धारणा भी नैयायिकों को अमान्य है कि गौणी वृत्ति अर्थनिष्ठ होती है, जिससे सम्बद्ध वाक्यार्थ का बोध होता है। पद के मुख्य अर्थ में गौणी वृत्ति की सत्ता मानकर कुमारिल ने उसके पदनिष्ठ व्यापार होने के सिद्धान्त का खण्डन किया था। नैयायिकों ने लक्षणा शक्ति को पद-निष्ठ व्यापार सिद्ध करने के लिए यह युक्ति दी है कि मुख्यार्थ के बाधित होने पर गौणी वृत्ति से लक्ष्यार्थ का बोध होता है, इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि लक्ष्यार्थ का बोध कराने वाली गौणी-वृत्ति मुख्यार्थ से ही सम्बन्ध रखती है और उसका मुख्यार्थ के बोधक पद से सम्बन्ध नहीं रहता। जयन्त भट्ट ने यह युक्ति दी है कि शाब्दबोध के लिए पदों का ज्ञान आवश्यक है। भर्तृहरि ने समग्र बोध को शब्दबद्ध ही स्वीकार किया है। अतः वाक्यार्थ के बोध में भी पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराने वाली शक्ति को —चाहे उसे गौणी शक्ति कहें, या तात्पर्यशक्ति अथवा संसर्गमर्यादा—पद-निष्ठ व्यापार मानना ही अधिक युक्तिपूर्ण जान पड़ता है।

निष्कर्षतः न्याय-मत के अनुसार वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया के तीन चरण हैं। उसका प्रथम चरण है पद का बोध, द्वितीय चरण है अलग-अलग अर्थों का बोध और तृतीय तथा अन्तिम चरण है उन अर्थों के सम्बन्ध का बोध, जिसके फलस्वरूप वाक्यार्थ का ग्रहण होता है। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर ने शब्द की अभिधा शक्ति को वाक्यार्थबोध का आधार माना था। नैयायिकों ने उससे अंशतः सहमत होकर वाक्यार्थबोध में पद के सङ्केतित अर्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति और लाक्षणिक प्रयोग में गौणी वृत्ति का महत्त्व स्वीकार कर पदार्थों के बीच सम्बन्ध का बोध कराने वाली तात्पर्य-शक्ति या संसर्ग-मर्यादा नामक नवीन शक्ति की कल्पना की। डॉ० गौरीनाथ शास्त्री ने इसी आधार पर प्रभाकर के द्वारा स्वीकृत वाक्यार्थ-बोध-प्रक्रिया का न्याय-मत में विकास माना है,[1] पर तथ्य यह है कि वाक्यार्थ और पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध तथा वाक्यार्थ के स्वरूप के विषय में अन्विताभिधानवादी मीमांसक प्रभाकर और जयन्त भट्ट आदि नैयायिकों की दृष्टि में कुछ मूलभूत भेद हैं, जिसका प्रतिफलन वाक्यार्थबोध के लिए अलग-अलग शक्तियों को स्वीकृति में दिखायी पड़ता है। अन्वित पद-पदार्थ का ही वाक्य या वाक्यार्थ के रूप में बोध मनाने वाले अन्विताभिधानवादी वाक्य में पद और पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। अतः अभिधा शक्ति से ही पद के अर्थ का और सम्बन्ध का बोध मानते हैं, जबकि नैयायिक अलग-अलग पदार्थ से वाक्यार्थ का घटन मानने के कारण अभिधा से पद के संकेतिक अर्थ का बोध स्वीकार कर उन अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध-बोध के लिए एक स्वतन्त्र तात्पर्य-

१. डॉ० गौरीनाथ शास्त्री, फिलासफी ऑफ़ वर्ड एण्ड मीनिंग, पृ० २४४

शक्ति की कल्पना आवश्यक समझते हैं। अन्विताभिधानवाद के प्रतिष्ठाता प्रभाकर की वाक्यार्थ-धारणा का स्पष्टीकरण तथा अभिहितान्वयवादी चिन्तन के सन्दर्भ में उसका मूल्यांकन हम स्वतन्त्र अध्याय में करेंगे।

वेदान्त सिद्धान्त

वेदान्त दर्शन में केवल ब्रह्म की तात्त्विक सत्ता मान कर उपनिषद् के वाक्यों की सार्थकता उस परम तत्त्व के बोध में ही मानी गयी है। उपनिषद् के वाक्य ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या कर उसका ज्ञान कराते हैं, जो ज्ञान तात्त्विक, सत्य या यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु, समस्या यह है कि ब्रह्म को निर्गुण, अखण्ड और अनिर्वचनीय माना गया है। निर्गुण का निर्वचन, पूर्ण और अखण्ड का व्याख्यान सम्भव नहीं। व्याख्या गुणों की ही की जा सकती है। निर्गुण अव्याख्येय होता है। अतः उस परम सत्ता के शाब्दबोध की समस्या ने वेदान्त-मतानुयायियों का ध्यान आकृष्ट किया है और उन्होंने ब्रह्मविषयक अपनी मूल मान्यता के अनुरूप शाब्दबोध के स्वरूप का निर्धारण करने का प्रयास किया है।

शांकर अद्वैतवाद के अनुयायी विचारकों ने उपनिषद्-वाक्य को ब्रह्म का बोधक मानकर यह समस्या उत्पन्न कर दी थी कि वाक्य अनिर्वचनीय का निर्वचन, अव्याख्येय की व्याख्या, कैसे कर सकेंगे? विवरणाचार्य के मतानुयायी विचारकों ने इस कठिनाई से बचने के लिए ब्रह्म को प्रत्यक्षतः शाब्दबोध का विषय नहीं मान कर यह मान्यता व्यक्त की है कि ब्रह्म अनुभव-गम्य है और उपनिषद्-वाक्य उस तत्त्व के अनुभव को जगाते हैं। इस प्रकार ब्रह्म की अनुभूति ही उपनिषद्-वाक्यों का यथार्थ अर्थ है।

वेदान्त दर्शन में वाक्य को एक अखण्ड अर्थ का बोधक माना गया है। अखण्डार्थपरक वाक्य के अर्थ के स्वरूप-निरूपण के सन्दर्भ में एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वाक्यार्थ के रूप में स्वीकृत उस अखण्ड तत्त्व का कैसा स्वरूप माना जाय?

ब्रह्म को निर्गुण और अनिर्वचनीय मान कर उपनिषद् में उनके स्वरूप का विधि-मुखेन वर्णन नहीं कर निषेधमुखेन उसके स्वरूप का संकेत किया गया है। वाक्य का अर्थ विधिरूप ही होना चाहिए। अर्थ के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए जो अर्थ की परिभाषा दी जाती है, वह वस्तु के भावात्मक स्वरूप का विधिमुख से कथन ही होती है। 'यह ऐसा है' यही परिभाषा का स्वरूप है, 'यह ऐसा नहीं है,' यह परिभाषा का स्वरूप नहीं माना जा सकता। किसी वस्तु के विधिमुखेन

कथन में उससे भिन्न के निषेध का अर्थ भी निहित अवश्य रहता है, पर विधि-रूप अर्थ को ही कथन का अर्थ माना जाता है। निषेध-रूप गम्य अर्थ उस उक्ति का अर्थ नहीं, उक्ति के विधिरूप अर्थ का अर्थ माना जाता है, जो उक्ति के मूल-भूत विधिरूप अर्थ से तार्किक निष्कर्ष के रूप में गृहीत होता है। उक्ति से कथित अर्थ के अर्थ को उस उक्ति का ही अर्थ नहीं माना जाना चाहिए। अर्थ का अर्थ ज्ञान के अन्य करण से गृहीत होता है और यह मान्य सिद्धान्त है कि शब्द का अर्थ वह है जो शब्द से ही लक्ष्य हो, ज्ञान के अन्य करण से नहीं।

इस मान्यता के स्पष्टीकरण के लिए चाँद शब्द के अर्थबोध की प्रक्रिया का उदाहरण दिया गया है। चाँद शब्द का अर्थ नहीं जानने वाला बालक जब किसी से पूछता है कि चाँद शब्द का क्या अर्थ होता है, तब वह उस बालक को उस शब्द का अर्थ समझाने के लिए दूसरे शब्दों के सहारे चाँद पद के अर्थ को परि-भाषित करता हुआ कहता है कि 'सबसे बड़ा दिखाई पड़ने वाला नक्षत्र चाँद है।' स्पष्ट है कि बच्चे के उस प्रश्न में उसकी जिज्ञासा है कि वह कौन सा पदार्थ है जिसे चाँद शब्द से अभिहित किया जाता है? चाँद की उक्त परिभाषा को सुन कर वह बच्चा चाँद-पद-वाच्य वस्तु को पहचान लेता है और इस प्रकार चाँद शब्द का अर्थ समझ लेता है। उक्ति का अर्थ वह वस्तु है, जिसके सम्बन्ध में प्रश्नकर्ता की जिज्ञासा है। चाँद शब्द के अर्थभूत पदार्थ को दिखा देने से उस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है—चाँद शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

शब्द से वाच्य पदार्थ को प्रत्यक्ष देख कर उस शब्द के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने तथा परिभाषा के माध्यम से शब्द का अर्थ समझने की प्रक्रिया में थोड़ा भेद है। शब्द से वाच्य-अर्थ को प्रत्यक्ष देख कर होने वाले बोध में जो विशिष्टता रहती है वह परिभाषा के माध्यम से अर्थ के बोध में नहीं आ सकती। परिभाषा वस्तु के कुछ गुणों को ही उद्घाटित कर पाती है और इस प्रकार वस्तु के स्वरूप की एक सामान्य धारणा उत्पन्न कर सकती है। प्रश्न यह है कि क्या इन्द्रियगोचर बाह्य वस्तु को शब्द का अर्थ माना जा सकता है? यदि वस्तु को शब्दार्थ माना जाय तो चाँद का अर्थ स्पष्ट करने के लिए जो यह परिभाषा दी जाती है कि 'सबसे बड़ा प्रकाशवान नक्षत्र चाँद है', इसकी क्या सार्थकता होगी? परिभाषा की सार्थकता अज्ञातपूर्व नवीन तथ्य के उद्घाटन में होती है। चाँद की यह परिभाषा इन्द्रियानुभव से पहले से परिचित वस्तु का ही बोध कराती है। दूसरे शब्दों में, यदि उस वस्तु को ही शब्दार्थ माना जाय तो कहा जायगा कि यह परिभाषा पहले से ज्ञात शब्दार्थ का ही बोध कराती है और इस प्रकार इस परिभाषा की व्यर्थता सिद्ध होती है। अतः इस प्रकार की शब्दार्थ-परिभाषा की सार्थकता सिद्ध करने

के लिए, यह माना जाता है कि उक्ति शब्द और उससे बोधगम्य वस्तु के बीच के सम्बन्ध का बोध कराती है। अब समस्या यह है कि जब बालक यह प्रश्न करता है कि 'चाँद का अर्थ क्या है' तब क्या उसकी जिज्ञासा चाँद शब्द और उससे निर्दिष्ट वस्तु के बीच सम्बन्ध के ज्ञान के लिए रहती है या चाँद पद से वाच्य वस्तु-विशेष के लिए? निश्चय ही बालक उस पद से वाच्य वस्तु के विषय में जानना चाहता है, वस्तु और उसके वाचक पद के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में नहीं। ज्ञात वस्तु के बोध में परिभाषा की व्यर्थता की जो युक्ति दी गयी है उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि परिभाषा उस वस्तु के गुण आदि का बोध कराती है, जो अज्ञातपूर्व होते हैं। अतः अर्थबोध में परिभाषा की भी सार्थकता होती ही है। परिभाषा वस्तु के विशिष्ट गुणों के साथ उस वस्तु का ज्ञान कराती है। वह केवल शब्द के संकेतित अर्थ का ही बोध नहीं कराती उस अर्थ के अज्ञातपूर्व गुणों का भी बोध कराती है। किसी उक्ति में वस्तु को जो परिभाषित किया जाता है उससे वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है और उस उक्ति में विशेषण के रूप में प्रयुक्त पद-बन्ध तद्भिन्न तथ्य का निषेध करने में सहायक होते हैं और साथ ही परिभाषित तथ्य की प्रत्यभिज्ञा पर प्रकाश डालते हैं। निष्कर्षतः, परिभाषा का मुख्य उद्देश्य किसी तथ्य के यथार्थ स्वरूप का बोध कराना ही होता है। उस परिभाषा में विशेषण आदि के रूप में प्रयुक्त पदों से तद्भिन्न का निषेध तथा इन्द्रियानुभव से पहले से ज्ञात वस्तु का प्रकाशन आदि परिभाषा का अवान्तर, प्रासंगिक या गौण कार्य होता है।

ध्यातव्य है कि अर्थबोध की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए चाँद शब्द की अर्थ-बोध-प्रक्रिया का जो उदाहरण दिया गया है, वह ऐसे शब्द की अर्थबोध-प्रक्रिया का उदाहरण है जिसमें शब्द से निर्दिष्ट वस्तु की वस्तुगत मूर्त सत्ता है। उस वस्तु का एक ओर इन्द्रियानुभव से बोध होता है और दूसरी ओर उसके लिए चाँद शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इसमें शब्द को इन्द्रियगोचर पदार्थ के नाम के रूप में प्रयुक्त माना जा सकता है। इस प्रक्रिया को समग्र शब्दों की अर्थबोध-प्रक्रिया नहीं माना जा सकता। हम देख चुके हैं कि शाब्दबोध का वस्तुनिर्देश-सिद्धान्त अर्थबोध-प्रक्रिया की आंशिक व्याख्या ही कर पाता है। सभी शब्दों के वाच्य अर्थ के समानान्तर पदार्थ की लोकसिद्ध सत्ता नहीं होती। उन शब्दों के अर्थ शब्दनिष्ठ सत्ता के रूप में ही मानव के बोध का विषय बनते हैं। नहीं, भी, तो, आकाशकुसुम आदि शब्दों की अर्थबोध-प्रक्रिय चाँद आदि शब्दों की अर्थबोध-प्रक्रिया से भिन्न होती है।

वाक्य से वस्तु के बोध की प्रक्रिया का निर्धारण करने के क्रम में यह माना गया है कि यद्यपि वाक्य में अनेक पदों का प्रयोग होता है, जिनके अर्थ अलग-अलग

होते हैं, फिर भी सम्पूर्ण वाक्य की परिणति एक ही प्रधान पद के अर्थ-बोध में होती है। वाक्य में कर्तृपद की प्रधानता मानी जाय या क्रियापद की, इस सम्बन्ध में नैयायिकों, वैयाकरणों तथा मीमांसकों की अलग-अलग मान्यताओं की चर्चा की जा चुकी है। अब प्रश्न यह है कि यदि वाक्य के एक ही प्रधान पद के अर्थबोध में सम्पूर्ण वाक्य की सार्थकता मानी जाय, तो वाक्य में अन्य पदों के प्रयोग का प्रयोजन ही क्या रह जायगा ? उदाहरण के लिए यदि कर्तृपद की प्रधानता माना कर उसी के अर्थबोध को वाक्य का निष्क्रुष्टार्थ मान लिया जाय तो 'मोहन घर जाता है', 'मोहन पाठशाला जाता है' आदि वाक्यों में घर, पाठशाला आदि पदों से होने वाले वाक्यार्थ के भेद का क्या कारण माना जायगा ? प्रधान पद तो इन दोनों वाक्यों में समान है, फिर इन वाक्यों का अलग-अलग अर्थ कैसे समझा जाता है ? यही बात क्रियापद को प्रधान मान कर धात्वर्थ के बोध में वाक्य की सार्थकत मानने वाले मत के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

एक प्रधान पद के अर्थबोध में वाक्य की सार्थकता मानने वाले मत के पक्ष में यह युक्ति दी गयी है कि वाक्य का उद्देश्य मुख्य रूप से एक प्रधान पद के अर्थ का बोध कराना तो होता ही है, पर इससे वाक्य में अन्य पदों के प्रयोग की व्यर्थता सिद्ध नहीं हो जाती। वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों का अपना-अपना संकेतित अर्थ होता है और वाक्य के अवयवभूत सभी पदों के अर्थ प्रधान पद के अर्थबोध में योगदान देते हैं और इस प्रकार वाक्य के सभी पदों के अर्थ वाक्य के प्रधान अर्थ के बोध का साधन बन जाते हैं। उन सभी अप्रधान पदों के अर्थ प्रधान पद के अर्थ का नियामक बनते हैं। अतः वाक्य के अप्रधान पदों की भी प्रधान पद के अर्थ-बोध की दृष्टि से ही सार्थकता मानी जाती है।

उपनिषद्-वाक्यों में ब्रह्म के स्वरूप को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। उसके सम्बन्ध में वेदान्तमतानुयायी भाषा-चिन्तन में यह निष्कर्ष दिया गया है कि उपनिषद् के वाक्यों में ब्रह्म को सत्, चित्, आनन्द, अनादि, अनन्त, परमात्मा आदि कहा गया है। इस प्रकार के कथन की बोध-प्रक्रिया यह है कि ब्रह्म के लिए प्रयुक्त इन विशेषणभूत पदों के अर्थ अपने विपरीत अर्थ के निषेध का भी बोध कराते हैं। सत् से असत् के अभाव का. चित् से अचित् के अभाव का, आनन्द से निरानन्द के अभाव का, अनादि से सादि के निषेध का, अनन्त से सान्त के निषेध का तथा आत्मा से अनात्म के अभाव का बोध होता है। सत्, चित्, आदि शब्द अपने विरोधी अर्थों के निषेध के द्वारा ब्रह्म की निश्चयात्मक धारणा व्यक्त करते हैं। ब्रह्म का स्वरूप-निरूपण करने वाले वाक्यों में पदों की अनेकता होने पर भी ब्रह्म की एकता या अखण्डता की धारणा खण्डित नहीं होती। अनेक पद

अपने-अपने अर्थ के विरोधी अर्थों के निषेध का बोध कराते हुए एक ही ब्रह्म के बोध में परिणत होते हैं।

किसी तथ्य को कोई एक ही शब्द पूर्णता के साथ बोधगम्य नहीं बना सकता। उस तथ्य का बोध अतथ्य के निषेध के द्वारा ही सम्भव होता है और अतथ्य के निषेध के लिए वाक्य में अनेक पदों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार वाक्यगत अनेक पद उस एक तत्त्व की बोध-प्रक्रिया में साधक बन कर आते हैं। इसी में वाक्यगत सभी पदों की सार्थकता होती है। जब बोध-प्रक्रिया की परिणति तात्त्विक अर्थ के बोध में हो जाती है तब वाक्य के विभिन्न पदों से उत्पादित विधि-निषेधरूप अवधारणाएँ उस तात्त्विक अर्थ में मिलकर एकाकार हो जाती हैं। विभिन्न पदों की अवधारणाओं का उस अखण्ड वाक्यार्थबोध में पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं रह जाता। वाक्य का उद्देश्य एक अखण्ड और स्वतःपूर्ण अर्थ का बोध कराना होता है, जहाँ तक पहुँचने में विभिन्न पद और उनके अर्थ सहायक सोपान बनते हैं। अनेक पदों के विविध अर्थों के समुच्चय को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता। उन पदों के अर्थों को वाक्यार्थ से सम्बद्ध स्वतन्त्र सत्ता के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि पदार्थों को वाक्यार्थ से सम्बद्ध सत्ता मानें तो एक अखण्ड वाक्यार्थ की सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी और परिणामस्वरूप वाक्यार्थ बोध की समग्र प्रक्रिया ही व्यर्थ हो जायगी।[1]

वाक्यार्थ की बोध-प्रक्रिया का यह विवेचन वस्तु को परिभाषित करने वाले वाक्यों को ध्यान में रख कर किया गया है। सम्पूर्ण वाक्य से—वाक्य में प्रयुक्त अलग-अलग पदों के वैविध्यपूर्ण अर्थों से—एक फलितार्थ की इस धारणा के विरुद्ध यह युक्ति दी जा सकती है कि जिस वाक्य में वर्तमान तथा भविष्यत् अर्थों की संख्यात्मक एकता का निरूपण किया जाय अथवा वर्तमानकालिक दो वस्तुओं की संख्यात्मक एकता का प्रतिपादन किया जाय, वहाँ वाक्यार्थ को एकात्मक कैसे माना जा सकेगा? वेदान्तमतानुयायी ऐसे वाक्यों में भी अर्थ की एकता ही स्वीकार करते हैं। उनका तर्क है कि ऐसे वाक्यों के अर्थ में काल-जनित द्वैत का जो बोध होता है, वह अतात्त्विक है। वस्तुतः ऐसे वाक्य भी एक अखण्ड अर्थ का ही बोध कराते हैं। शाब्दबोध में देश-काल-जनित भेद नहीं होता। उदाहरण के लिए गाय शब्द का जो संकेतित अर्थ है उसमें देश-काल या परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता। शब्द से गृहीत होने वाला अर्थ बौद्धिक अमूर्तीकरण होता है, जो

---

१. तत्त्वप्रदीपिका, १११

देश-काल के सन्दर्भ से सर्वथा मुक्त होता है। अतः भूत, वर्तमान और भविष्यत् की एक वस्तु में संख्यात्मक एकता का प्रतिपादन अथवा एक ही काल की दो अवधारणाओं की संख्यात्मक एकता का निरूपण वाक्यार्थ के रूप में एक अखण्ड तत्त्व के ग्रहण के सिद्धान्त को खण्डित नहीं करता। वेदान्त दर्शन के अनुसार वाक्यार्थ उद्देश्य और विधेय का सम्बन्ध-मात्र नहीं, वाक्य की सार्थकता एक अखण्ड अर्थ-तत्त्व के बोध में ही होती है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि वाक्य के स्वरूप और उसके अर्थबोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों ने अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप अलग-अलग निष्कर्ष दिये हैं। वाक्य और वाक्यार्थ भाषिक व्यवहार और भाषिक बोध की मूल इकाई है; यह निर्विवाद तथ्य है, पर उस वाक्य और वाक्यार्थ के घटक पद-पदार्थ की भाषिक व्यवहार में क्या भूमिका होती है, यह विवाद का विषय रहा है। वाक्य के स्वरूप के सम्बन्ध में जितना सूक्ष्म विवेचन तथा जितने गहन ऊहापोह भारतीय वाङ्मय में हुए हैं वे आधुनिक भाषावैज्ञानिक चिन्तकों के लिए विस्मय-मिश्रित हर्ष के विषय हैं। वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया के विश्लेषण में आधुनिक भाषाविज्ञान—विशेषतः शैलीविज्ञान—की दृष्टि प्रायः व्यावहारिक रही है। वाक्यार्थ-बोध-सम्बन्धी सैद्धान्तिक तत्त्व-निरूपण की अपेक्षा भाषाविज्ञान तथा शैली-विज्ञान में भाषा-विशेष के वाक्य-प्रयोगों का विश्लेषण और उनकी अर्थच्छटाओं का उद्घाटन ही श्रेयस्कर माना गया है। फलतः आधुनिक भाषा-विज्ञान में वाक्य के घटक तत्त्वों के निर्धारण में भारतीय चिन्तन जैसी दार्शनिक गम्भीरता और जटिलता नहीं पायी जाती। आज का भाषाविज्ञान, मुख्यरूप से, भाषा-विशेष में प्रयुक्त वाक्यों को परम्परा-प्रदत्त भाषिक रिक्थ के रूप यथावत् स्वीकार कर उनका संरचनामूलक तथा अर्थमूलक विश्लेषण ही अपना दायित्व मानता है। वाक्य के स्वरूप तथा वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भारतीय भाषा-दर्शन की गहन चिन्ता-धारा इस क्षेत्र में भारतीय मनीषा का श्रेय सिद्ध करती है।

वाक्यार्थ की बोध-प्रक्रिया के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन की दो स्वतन्त्र दृष्टियाँ—अन्विताभिधानवादी तथा अभिहितान्वयवादी दृष्टियाँ—बहुचर्चित रही हैं। हम अगले अध्याय में इन दृष्टियों का मूल्यांकन करेंगे।

वाक्यार्थ-बोध : स्वरूप और प्रक्रिया

भाषा के अर्थबोध के सम्बन्ध में भारतीय भाषा-दर्शन का एक विवादास्पद प्रश्न यह रहा है कि सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को एक स्वतः-पूर्ण, निरवयव और अविभाज्य इकाई माना जाय या वाक्य के अवयव-भूत पदों के अलग-अलग अर्थों की स्वतन्त्र सत्ता मान कर पदों या पदार्थों की किसी शक्ति से एक वाक्यार्थ के रूप में उन अर्थों का घटन माना जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में विचारकों ने दो अलग-अलग मान्यताएँ व्यक्त की हैं। एक पूर्व-समन्वित पूर्ण अर्थ की वाक्य से अभिव्यक्ति मानने वाले अन्विताभिधानवादी विचारक उस अखण्ड वाक्यार्थ-बोध को ही भाषिक बोध की मूल इकाई मानते हैं और वाक्य के अवयवभूत पदों के अर्थों की तात्त्विक सत्ता नहीं मान कर वाक्य-विश्लेषण की सुविधा के लिए उसकी केवल कल्पित सत्ता स्वीकार करते हैं। वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की भी यही मान्यता है। इसके विपरीत पदों के संकेतित अर्थ की वाक्य में स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले अभिहितान्वयवादी विचारक पदों के अलग-अलग अर्थों को भाषिक बोध की मूल इकाई मान कर वाक्यार्थ के रूप में उन विभिन्न पदार्थों का ही तात्पर्य-शक्ति से घटन मानते हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में वाक्यार्थ पदार्थों का ही एक समन्वित योग होता है। पदस्फोटवादी वैयाकरणों की भी धारणा यही है कि पदों के अर्थ ही संकेत से नियत होते हैं और उन संकेतित पदार्थों का संघटन वाक्यार्थ के रूप में होता है।

इस में दो मत नहीं कि पदों के स्वरूप सिद्ध और उनके संकेत नियत होते हैं। वाक्य साध्य होते हैं; अतः सम्पूर्ण वाक्य का संकेतित अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता। वाक्य के अंगभूत पदों का ही पूर्व-संकेतित अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। पर, समस्या यह है कि पदों का भाषा में स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं किया जा सकता। वाक्य का अंग बन कर ही पद भाषा में प्रयुक्त हो सकते हैं। एक पद का भी जब हम भाषा में प्रयोग करते हैं, तब वह एकपदात्मक वाक्य के रूप में ही प्रयुक्त होता है। अतः पदों में अर्थवत्ता होने पर भी स्वतन्त्र रूप से प्रयोग-योग्यता नहीं होती।

भाषिक प्रयोग और अर्थबोध की प्रक्रिया पर प्रयोक्ता और प्रमाता—वक्ता और श्रोता—की दृष्टि से विचार करने पर भी समस्या के दो रूप सामने आते हैं। भाषा विचार-विनिमय का माध्यम है। वक्ता अपने किसी बोध को व्यक्त करने के लिए जिस भाषिक इकाई का प्रयोग करता है वह वाक्यरूप ही होती है। उस प्रक्रिया

में वाक्य के अंगभूत पदों का परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। सम्पूर्ण वाक्यार्थ को व्यक्त करने में ही उनकी सार्थकता होती है। पर, श्रोता की बोध-प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न होती है। वह वक्ता के वाक्य-प्रयोग में क्रम से उच्चरित एक-एक पद के संकेतित अर्थ का ग्रहण करता चलता है और अन्त में उन सभी पदों के अर्थों में पारस्परिक अन्विति देखकर एक सम्पूर्ण संघटित वाक्यार्थ का बोध प्राप्त करता है। भाषा-प्रयोग के पूर्व वक्ता के मन में शब्द-निबद्ध अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया भी कुछ इसी प्रकार की होती है। वक्ता पद-लब्ध अर्थों को अपनी बुद्धि में परस्पर अन्वित कर वाक्य के द्वारा व्यक्त करता है। अतः भाषिक अर्थ-बोध के सन्दर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण, गम्भीर और जटिल समस्या है कि वाक्यार्थ को पदार्थों का समुच्चय मान कर उन अर्थों को एक वाक्यार्थ का रूप प्रदान करने के लिए उन्हें परस्पर सम्बद्ध करने वाली किसी स्वतन्त्र पद-शक्ति की कल्पना की जाय या वाक्यार्थ को एक अन्वित अर्थ के रूप में भाषिक बोध की अखण्ड और मूल इकाई माना जाय? मीमांसा दर्शन के दो प्रस्थानों में इस समस्या के सम्बन्ध में अलग-अलग दृष्टि लेकर बहुत ऊहापोह किये गये हैं। ये प्रस्थान अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधान-वाद के नाम से विख्यात हैं। वाक्यार्थबोध-विषयक इन दो दृष्टियों का विवेचन-विश्लेषण अपेक्षित है।

अभिहितान्वयवाद

कुमारिल भट्ट ने वाक्यार्थ-बोध के स्वरूप के सम्बन्ध में अभिहितान्वयवादी दृष्टि का प्रवर्तन किया। उनकी धारणा थी कि वाक्यार्थ का बोध पदों की अन्तर्निष्ठ शक्ति से नहीं होता, विभिन्न पदों के अर्थों में अन्तर्निहित पारस्परिक सम्बन्ध-बोध की शक्ति से होता है। पदों में अर्थबोध की अभिधा नाम की जो शक्ति रहती है, वह पदों के संकेतित अर्थ का ही बोध करा सकती है। अभिधा शक्ति से लभ्य पदों के वे अर्थ परस्पर असम्बद्ध हुआ करते हैं। उन अलग-अलग पदार्थों को एक सम्बन्ध-सूत्र में पिरो कर एक वाक्यार्थ के रूप में बुद्धि-ग्राह्य बनाने वाली तात्पर्य-शक्ति पदों के अभिहित अर्थ में अन्तर्निहित रहती है। इस प्रकार कुमारिल के मतानुसार, किसी वाक्य में प्रयुक्त पद पहले अपनी-अपनी अभिधा शक्ति से अपने-अपने विच्छिन्न अर्थों का बोध कराते हैं और तदनन्तर वे पदार्थ अपनी अन्तर्निहित तात्पर्य-शक्ति से पारस्परिक अन्वय का बोध कराते हुए एक पूर्ण वाक्यार्थ-बोध में पर्यवसित होते हैं। किसी भी पद के संकेतित अर्थ में अन्य किसी भी अर्थ से अन्वित होने की शक्ति अन्तर्निहित रहती है। जब कुछ पदों का एक वाक्य में विन्यास किया जाता है तब उस वाक्य के अंगभूत पदों में से प्रत्येक पद का अर्थ वाक्यगत अन्य पदों के अर्थों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर परस्पर सम्बद्ध वाक्यार्थ का बोध कराता है। वाक्य में कुछ

पदों का विन्यास आकांक्षा, योग्यता तथा आसक्ति; इन वाक्यीय आवश्यकताओं के आधार पर होता है और इस प्रकार विन्यस्त पदों से होने वाला वाक्यार्थ-बोध सम्बन्ध-मूलक होने के कारण पदों के विच्छिन्न अर्थों के बोध से भिन्न प्रकार का होता है। वाक्य से स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त पद का जो अर्थ—कोशार्थ आदि—गृहीत होता है, उससे वाक्य में प्रयुक्त उसी पद का अर्थ अन्य-सापेक्ष होने के कारण, कुछ भिन्न रूप में बोधगत होता है। अवयवभूत पदार्थों के बीच सम्बन्ध या परस्पर-सापेक्षता का बोध ही विभिन्न पदों से एक वाक्य या विभिन्न पदार्थों से एक वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करता है। वाक्यार्थ-बोध में विविध पदों के अर्थों की परस्पर अन्विति या सापेक्षता के बोध के सिद्धान्त में दो मत नहीं हो सकते। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर तथा उनके मतानुयायियों ने भी वाक्य के अंगभूत पदों के अर्थों के बीच पारस्परिक अन्वय के बोध को वाक्यार्थ-बोध का रहस्य माना है। न्यायरत्नमाला में अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी भाषा-दृष्टियों में यह भेद बताया गया है कि यद्यपि दोनों मतों में समान रूप से वाक्य के अंगभूत पदों के अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध-बोध को वाक्यार्थ-बोध का स्वरूप माना गया है, फिर भी दोनों मतों में यह भेद है कि जहाँ अन्विताभिधानवादी अन्वित अर्थ को ही शब्द की अभिधा शक्ति से बोधगम्य मानते हैं, वहाँ अभिहितान्वयवादी शब्द की अभिधा शक्ति से असम्बद्ध या अन्यनिरपेक्ष पदार्थ का ही बोध स्वीकार करते हैं।[1]

समस्या यह है कि एक वाक्य के रूप में विन्यस्त पदों के अर्थों में पारस्परिक अन्वय या सापेक्षता का बोध कैसे उत्पन्न होता है? क्या सम्बन्ध-बोध की यह शक्ति तत्तत् पदों में अन्तर्निहित रहती है, या जाति आदि की तरह सम्बन्ध भी शब्द का संकेतित अर्थ होता है? अथवा सम्बन्ध-बोध की शक्ति शब्द-निष्ठ शक्ति न होकर कोई बाहरी शक्ति होती है जो विच्छिन्न पद-पदार्थों के बीच अन्वय स्थापित करती है?

इस समस्या के सम्बन्ध में अभिहितान्वयवादी विचारकों की दृष्टि अन्विताभिधानवादी विचारकों की दृष्टि से भिन्न है। अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट की मान्यता है कि वाक्य के अवयवभूत पद पहले अपनी-अपनी मुख्य शक्ति से अपने साक्षात् संकेतित अर्थों का बोध कराते हैं, जो अर्थ स्वतन्त्र और अन्य-निरपेक्ष होते हैं, और फिर वे अर्थ वाक्य के तीन तत्त्वों—आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति—के आधार पर पारस्परिक अन्वय स्थापित कर वाक्यार्थ के रूप में पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराते हैं।

---

१. द्रष्टव्य—पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थनिर्णय खंड, पृ० १०३

पद में अपने संकेतित अर्थ के बोध की शक्ति के साथ सम्बन्ध-बोध की भी शक्ति को अन्तर्निहित मानने में आपत्ति यह है कि वैसी स्थिति में प्रत्येक पद के अर्थ को अन्य पदार्थ-सापेक्ष मानना होगा, पर तथ्य यह है कि कोई एक पद स्वतन्त्र रूप से उच्चरित होकर भी अपने अन्य-निरपेक्ष अर्थ का बोध कराता ही है। कोश में एक पद के अर्थ का बोध अन्य पदार्थ से किसी प्रकार के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता। किसी उच्चरित पद का अर्थ अन्य अनुच्चरित पद के अर्थ के साथ अपने किसी प्रकार के सम्बन्ध का बोध नहीं कराता, यह इस बात का प्रमाण है कि शब्द में सम्बन्ध-बोध की नित्य शक्ति अन्तर्निहित नहीं रहती। गाय शब्द स्वतन्त्र रूप से जिस अर्थ का बोध कराता है उसके किसी गुण, क्रिया आदि के साथ नियत सम्बन्ध का बोध नहीं होता, पर 'गाय उजली है', 'गाय काली है', 'गाय बंधी है' आदि वाक्यों में गाय शब्द का अर्थ विभिन्न गुण, क्रिया आदि के वाचक पदों के अर्थो के साथ सम्बन्ध स्थापित कर विशिष्ट वाक्यार्थों का बोध उत्पन्न करता है। अतः अभिहितान्वयवादी आचार्यों की दृढ धारणा है कि सम्बन्ध-बोध की शक्ति पद-निष्ठ नहीं, पदार्थ-निष्ठ होती है।

जहाँ तक किसी वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थबोध की प्रक्रिया का सम्बन्ध है, अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी विचारकों की मान्यता में विशेष तात्त्विक भेद नहीं। वाक्य के अंगभूत पदों के अर्थों में सम्बन्ध-बोध को सभी विचारक वाक्यार्थ-बोध का स्वरूप मानते हैं। वाक्यार्थ का बोध परस्पर-निरपेक्ष पद नहीं करा सकते, सम्पूर्ण समन्वित वाक्य से ही वाक्यार्थ का बोध हो सकता है।[2] तात्त्विक दृष्टि से वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में एकमत होने पर भी उन दो प्रस्थानों के आचार्यों ने वाक्यार्थ-बोध तक पहुँचने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अलग-अलग और परस्पर-विरोधी मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं। अन्विताभिधानवादी सम्बन्ध-बोध परक वाक्यार्थ को परस्पर सम्बद्ध प्रत्ययों का, जो अनिवार्यतः सम्बन्ध के साथ ही व्यक्त होते हैं, समाहार-मात्र मानते हैं; जबकि अभिहितान्वयवादी उस सम्बन्ध परक वाक्यार्थ को वाक्य के अवयवभूत पदों से व्यक्त परस्पर स्वतन्त्र प्रत्ययों में तात्पर्य-शक्ति से स्थापित पारस्परिक अन्वय का फल स्वीकार करते हैं।

अभिहितान्वयवादी कुमारिल किसी भाषिक उक्ति की मूल इकाई पद और उसके अर्थ को मानते हैं, जबकि अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की दृष्टि में वाक्य और वाक्यार्थ ही भाषा की मूल और अखण्ड इकाई है। न्यायमञ्जरी में इन दोनों की वाक्यार्थ-धारणा के भेद-अभेद का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि भाषिक अर्थबोध में महत्त्वपूर्ण बात होती है व्युत्पत्ति। व्युत्पत्ति से ही शब्द अर्थ-

---

२. न्यायरत्नमाला पृ० १०४

विशेष का बोध कराता है। प्रश्न यह है कि क्या सम्पूर्ण वाक्य की एक वाक्यार्थ में व्युत्पत्ति मानी जाय या पद की पदार्थ में व्युत्पत्ति मानी जाय? अन्विताभिधान-वादी सम्पूर्ण वाक्य की वाक्यार्थ में व्युत्पत्ति मानते हैं और अभिहितान्वयवादी पद की पदार्थ में व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[1]

जैमिनीय सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने पद की अर्थ-बोधक शक्ति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि सभी पद अपनी शक्ति से अपने-अपने अर्थ का असम्बद्ध रूप में बोध करा देते हैं। अर्थ-बोध करा लेने पर पदों की शक्ति कृतकार्य होकर विरत हो जाती है। इससे आगे किसी प्रकार के सम्बन्ध आदि का बोध कराना पद-शक्ति का काम नहीं। जब पद के अर्थ बोधगत हो जाते हैं, तब वे अर्थ ही अपनी शक्ति से अपने पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराते हुए एक वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करते हैं।[2]

कुमारिल भट्ट ने वाक्यार्थबोध-प्रक्रिया के सम्बन्ध में शबर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की नींव पर ही अपने अभिहितान्वयवादी चिन्तन का प्रासाद खड़ा किया। उनकी धारणा है कि किसी वाक्य में पहले पद अपना-अपना अर्थ व्यक्त करते हैं। वाक्य के अंगभूत पदों और पदार्थों में जो संसर्ग का बोध प्रमाता को होता है, उस संसर्ग का बोध कराने की शक्ति पदों में नहीं रहती। संसर्ग-बोध ही वाक्यार्थ-बोध का स्वरूप है। अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि पद संसर्ग का बोध नहीं कराते और अपने-अपने अर्थ-मात्र का बोध करा लेने पर निवृत्त-व्यापार हो जाते हैं, तो वाक्य में संसर्ग का अपेक्षित बोध आता कैसे है? कुमारिल ने इस प्रश्न के उत्तर में यह युक्ति दी है कि संसर्ग-बोध सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ होता है, वाक्य के अवयवभूत विशिष्ट पदों का नहीं। वह संसर्गबोध वाक्यगत पदों से अभिहित पदार्थों में रहने वाली आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति के फल-स्वरूप उत्पन्न होता है। इस प्रकार संसर्ग वाक्य के अवयवभूत पदों का साक्षात् संकेतित अर्थ नहीं। पद तथा संसर्ग-बोध के बीच विशिष्ट अनन्यनिरपेक्ष पदार्थों का बोध रहा करता है, जो पदार्थ एक क्रम से बोधगत होते हैं। कुमारिल ने

---

१. अभेदं विचार्यम्। व्युत्पत्तिर्बलीयसी—न शब्दोऽर्थमवगमयति व्युत्पत्ति-मन्तरेण। व्युत्पत्तिश्च किं वाक्यस्य वाक्यार्थे पदस्य वा पदार्थे इति। यदि वाक्यस्य वाक्यार्थे व्युत्पत्तिस्तदन्विताभिधानम्। पदस्य पदार्थे व्युत्पत्तौ अभिहितान्वय—इति।—न्यायमञ्जरी, खंड १, पृ० ३६४

२. पदानि हि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्त-व्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अव-गताः सन्तो वाक्यार्थमवगमयन्ति। - जै० सू; शाबर भाष्य, १, १, २५

'घटमानय' अर्थात् घड़ा लाओ वाक्य का उदाहरण देकर उस वाक्य की अर्थबोध-प्रक्रिया पर विचार किया है। उस वाक्य में घड़ा शब्द एक मृन्मय पात्र के अर्थ का बोध कराता है। घड़ा शब्द की सार्थकता इतने में ही है। वह शब्द किसी प्रकार के सम्बन्ध के बोध की शक्ति नहीं रखता। घड़ा शब्द के वाच्य अर्थ के विविध अर्थों से असंख्य प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं। वह शब्द भला किस-किस सम्बन्ध को बतावे ! उस शब्द में एक अर्थ का संकेत है, जिसे बता कर वह शब्द अपना कार्य पूरा कर लेता है। इसी प्रकार 'लाओ' शब्द एक स्वतन्त्र अर्थ का—क्रिया-विशेष का—अन्य-निरपेक्ष अर्थ देता है। इस तरह उस वाक्य के दो पद अपने-अपने दो अर्थों का परस्पर निरपेक्ष रूप में बोध करा देते हैं और उनका काम पूरा हो जाता है। अब 'घड़ा' और 'लाओ' पदों के अलग-अलग अर्थ आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्तिवश एक-दूसरे के साथ संसर्ग का बोध उत्पन्न करते हैं। घड़ा शब्द के अर्थ-बोध के साथ एक आकांक्षा—एक जिज्ञासा—होती है, घड़ा क्या ? 'लाओ' पद का अर्थ उस आकांक्षा की पूर्ति करता है। फिर घड़ा के लाने में योग्यता भी है और दोनों का एक जगह कथन होने से उनमें आसत्ति भी है। इस प्रकार पदों से स्वतन्त्र रूप में अभिहित दो पदार्थ परस्पर सम्बद्ध होकर एक वाक्यार्थ के रूप में पर्यवसित होते हैं।

संसर्ग-बोधक शक्ति की पदनिष्ठ सत्ता के सिद्धान्त के खण्डन तथा उसकी पदार्थ-निष्ठ सत्ता की मान्यता के मण्डन में लाक्षणिक प्रयोग का उदाहरण देकर एक युक्ति यह दी गयी है कि लाक्षणिक प्रयोग में पदों तथा उनकी अभिधा शक्ति से निरपेक्ष रूप में भी लाक्षणिक अर्थों का वाक्यात्मक घटन हो जाता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोग में अर्थों का ही पारस्परिक सम्बन्ध घटित होता है, उनके वाचक पदों का नहीं। अतः पदार्थों में ही वाक्यीय अन्वय के बोध की शक्ति मानी जानी चाहिए, पदों में नहीं।

अन्विताभिधानवादियों की धारणा है कि, शब्द किसी-न-किसी क्रिया से सम्बद्ध अर्थ का ही बोध कराते हैं। इससे असहमत होकर कुमारिल ने यह मत व्यक्त किया कि विवरणात्मक वाक्यों में, जहाँ किसी क्रिया के सम्पादन का निर्देश नहीं होता, पदों से केवल अलग-अलग अर्थों की ही स्मृति होती चलती है और उन अर्थों से ही उनके एक वाक्यार्थ के रूप में संसर्ग का बोध उत्पन्न होता है।[1] शब्द से अर्थ के अभिहित होने का रहस्य यह है कि शब्द में अर्थ का संकेत रहता है—शब्द और अर्थ में एक नियत सम्बन्ध रहता है। यदि शब्द का सम्बन्ध अर्थ

---

१. द्रष्टव्य—पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थ निर्णय, पृ० १०९

से न मान कर सीधे वाक्यार्थ के ज्ञान से उसका सम्बन्ध मान लिया जाय तो यह मानना होगा कि शब्द अपने संकेतित अर्थ का बोध नहीं करा सकते। यह अनुभव-विरुद्ध और अयौक्तिक मान्यता होगी। अतः शब्द की अन्तर्निहित शक्ति से पदार्थों का बोध और पदार्थों की अन्तर्निहित शक्ति से वाक्यीय संसर्ग का बोध माना जाना चाहिए।

वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु में शाब्दबोध की अभिहितान्वयवादी दृष्टि के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी है कि यदि अर्थ ही पद-निरपेक्ष भाव से अपने पारस्परिक संसर्ग का बोध करा सकते हों तो वाक्यार्थ-बोध के लिए पदों के प्रयोग की आवश्यकता ही क्यों हो? दूसरी बात यह कि यदि शाब्दबोध या वाक्यार्थ-बोध को शब्द की अन्तर्निहित शक्ति से उत्पादित नहीं मान कर अर्थ की शक्ति से उत्पादित माना जाय तो उस ज्ञान को शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकेगा और उस ज्ञान के लिए पदार्थ-प्रमाण नामक एक अलग प्रमाण की कल्पना करनी पड़ेगी, जो मीमांसा दर्शन की ज्ञान-मीमांसा के स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। मीमांसकों ने ज्ञान के छह प्रमाणों में शब्द-प्रमाण की तो गणना की है, पर पदार्थ-प्रमाण की सत्ता स्वीकार नहीं की है। अभिहितान्वयवादी वाक्यार्थ-बोध-दृष्टि के अनुसार शाब्दबोध शब्द-प्रमाण से सिद्ध नहीं होगा और उसके लिए सातवें प्रमाण—पदार्थ प्रमाण—की कल्पना करनी होगी। कुमारिल मीमांसक हैं, जो ज्ञान के छह प्रमाण ही मानते हैं। अतः वाचस्पति मिश्र का आक्षेप है कि शाब्दबोध के सम्बन्ध में कुमारिल की यह अभिहितान्वयवादी दृष्टि मीमांसा दर्शन की मूल मान्यता के ही विरुद्ध पड़ती है।[1]

अभिहितान्वयवाद की संरक्षा में उक्त आक्षेप का उत्तर इस युक्ति से दिया जा सकता है कि यद्यपि अर्थों के संसर्ग-बोध से होने वाले वाक्यार्थ-बोध की शक्ति पदलभ्य अर्थों में ही रहती है, फिर भी पदों के संकेतित अर्थ के बोध के लिए पदों के प्रयोग की आवश्यकता बनी ही रहती है और इस प्रकार शाब्दबोध के शब्द पर आश्रित रहने के कारण उसे शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत ही माना जाता है। उसे सिद्ध करने के लिए शब्द-प्रमाण से पृथक् पदार्थ-प्रमाण नामक किसी सातवें प्रमाण की आवश्यकता नहीं। वाचस्पति मिश्र ने अभिहितान्वयवाद के खण्डन के लिए जो युक्ति दी है उसमें पद से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को तथा प्रत्यक्ष आदि से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को एक साथ मिला दिया गया है।

---

१. ननूक्तं न मानान्तरानुभूतानामर्थरूपाणां वाक्यार्थधीप्रसवसामर्थ्यमुपलब्धम्। उपलम्भे वा सप्तमप्रमाणप्रसङ्गः।—वाचस्पति मिश्र, तत्त्वबिन्दु, पृ० १२०

प्रत्यक्ष अनुभूत पदार्थों के सम्बन्ध-बोध में तथा पदों से ग्राह्य पदार्थों के संसर्ग-बोध में अभिहितान्वयवादियों ने भेद मान कर शाब्दबोध के स्वरूप पर भाषातात्त्विक दृष्टि से विचार किया है। शाब्दबोध या पदार्थों के संसर्गबोध से उत्पन्न वाक्यार्थ-बोध का साधन शब्द है, जबकि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से होने वाले पदार्थों के सम्बन्धबोध के साधन इससे भिन्न होते हैं। अतः अभिहितान्वयवादी विचारकों के भाषातात्त्विक चिन्तन पर यह आक्षेप युक्तिसंगत नहीं कि पदार्थ में संसर्गबोध की शक्ति मानने से वह बोध शब्द प्रमाण से सिद्ध नहीं होगा या वैसा मानने पर भाषिक सम्बन्ध-बोध प्रत्यक्ष आदि सम्बन्ध-ज्ञान से अभिन्न हो जायगा।

अन्विताभिधानवादी विचारकों की ओर से अभिहितान्वयवादी चिन्तन पर अलाघव का आक्षेप किया गया है और यह युक्ति दी गई है कि पद में विच्छिन्न अर्थों के बोध की शक्ति और पदार्थों में संसर्ग-बोध की शक्ति मानने से चिन्तन में व्यर्थ का गौरव आता है। अभिहितान्वयवादी एक ओर तो अलग-अलग अर्थों के बोध की शक्ति पदों में मानते हैं, दूसरी ओर संसर्गबोधक शक्ति की सत्ता पदार्थों में मानते हैं और तीसरी ओर वे फिर पदों में यह शक्ति मानते हैं कि पद अपने अर्थ को संसर्गबोध की क्षमता प्रदान करते हैं। इस प्रकार शाब्दबोध में उन्हें पद-पदार्थगत तीन शक्तियों की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है। अन्विताभिधानवादी चिन्तन पद की एक ही शक्ति मानने के कारण इस दोष से मुक्त है।[1]

अभिहितान्वयवादियों ने इस आक्षेप के उत्तर में यह युक्ति दी है कि वैज्ञानिक या शास्त्रीय चिन्तन में लाघव का होना सर्वत्र आवश्यक नहीं। तत्त्व-विश्लेषण में लाघव को काम्य तो माना जा सकता है और अनावश्यक गौरव को त्याज्य भी माना जा सकता है; पर लाघव चिन्तन का ऐसा तत्त्व नहीं, जिसके अभाव में तत्त्व-चिन्तन को गलत सिद्ध किया जा सके। शब्द से प्रथमतः विच्छिन्न और अन्य-निरपेक्ष अर्थ के बोध तथा तदन्तर पद के अर्थों की शक्ति से संसर्ग के बोध के सिद्धान्त में किसी को चिन्तनगत गौरव भले जान पड़े, पर कुमारिल की दृष्टि में शाब्दबोध की यही सही प्रक्रिया है। इसे सिद्ध करने के लिए कुमारिल

---

१. ....तिस्रः शक्तयः कल्पयेरन् द्वे वा। पदानां हि तावत् अर्थरूपाभिधानरूपा शक्तिः, तदर्थरूपाणामन्योन्यान्वय शक्तिः, तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामेव इति। स्मारकत्वपक्षे तूक्तं शक्तिद्वयम्। अन्विताभिधाने तु पदानामेकैव शक्तिः। तत्कल्पनालाघवात् एतदेव न्याय्यमिति।—वाचस्पति, तत्त्वबिन्दु, पृ० १२२—३.

ने मानसिक रोगी की शाब्दबोध-प्रक्रिया का उदाहरण दिया है। कोई मानसिक रोगी जब एक वाक्य के रूप में प्रयुक्त पद-समूह को सुनता है, तब अपने मानसिक असंतुलन के कारण वह सम्पूर्ण वाक्यार्थ का ग्रहण तो नहीं कर पाता, पर कुछ पदों के असम्बद्ध अर्थ को समझ लेता है। पद के असम्बद्ध अर्थ को समझ लेने पर वाक्यार्थ-बोध प्राप्त न कर सकने का रहस्य यह है कि उसमें आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति के आधार पर पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध-स्थापन की शक्ति नहीं रहती। अबोध बालक की शाब्दबोध-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। यह इस बात का प्रमाण है कि शब्द में सम्बन्ध-निरपेक्ष अर्थ को व्यक्त करने की ही शक्ति रहती है। उन अर्थों में सम्बन्ध का बोध आकांक्षा आदि के आधार पर उत्पन्न होता है। संसर्गबोध की यह शक्ति अर्थ-निष्ठ ही होती है, पद-निष्ठ नहीं। यदि संसर्गबोध की शक्ति भी अर्थबोध की शक्ति के साथ पद में ही रहती, तो मानसिक रोगी या शिशु को भी पदार्थ-ज्ञान के साथ ही सम्बन्ध-ज्ञान हो जाता और इस प्रकार उनके वाक्यार्थ-बोध में कोई बाधा नहीं होती। पर, ऐसा होता नहीं। पदों के अर्थों का ज्ञान होने पर भी वाक्यार्थ-बोध अनिवार्यतः नहीं हो जाता। अतः पद के अर्थ-बोध के लिए पद-निष्ठ शक्ति और वाक्यार्थ के रूप में पदार्थों के संसर्ग-बोध के लिए पदार्थ-निष्ठ शक्ति की अलग-अलग सत्ता माननी ही होगी। पद के अर्थों को ही वाक्यार्थबोध का अव्य-वहित पूर्ववर्ती कारण माना जा सकता है। पद और वाक्यार्थ के बीच पदार्थ का व्यवधान होने से शब्द का वाक्यार्थ के साथ दूर का ही सम्बन्ध मानना होगा। अन्वय-व्यतिरेक से भी पद के अर्थ के भाव-अभाव पर वाक्यार्थ का भाव-अभाव सिद्ध होता है।[2] अतः पदों में असम्बद्ध अर्थ के बोध की तथा पदार्थ में संसर्ग-बोध की अलग-अलग शक्तियाँ मानी गयी हैं, जिनसे वाक्यार्थ-बोध सम्भव होता है।

अभिहितान्वयवादियों ने यह युक्ति दी है कि जो अन्विताभिधानवादी लाघव के नाम पर पद और पदार्थ की अलग-अलग शक्तियों की कल्पना को अयौक्तिक सिद्ध करना चाहते हैं, वे स्वयं भी अलाघव के दोष से कहाँ बच पाये हैं? अन्विता-भिधानवाद के प्रवर्तक प्रभाकर ने शब्द की दो शक्तियाँ मानी हैं—एक अर्थबोधक शक्ति जिससे पद का संकेतित अर्थ जाना जाता है और दूसरी सम्बन्ध-बोधक शक्ति, जिससे पद के अर्थ, उनकी दृष्टि में, परस्पर अन्वित होकर ही वाक्यरूप में प्रयुक्त होते हैं। अभिहितान्वयवाद पर तीन शक्तियों की क्लिष्ट कल्पना का

---

१. अत्राभिधीयते—एष तावदौत्सर्गिको न्यायो यद् असति बलवद् बाधकोप-निपाते—सहकारिणि कार्ये च × × × प्रत्यध्यवस्यामः।—वाचस्पति मिश्र, तत्त्वबिन्दु, पृ० १११—१२.

आक्षेप किया गया है, पर स्वयं अन्विताभिधानवादियों को भी पद-निष्ठ उक्त दो शक्तियों के साथ एक तीसरी शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। अर्थ-बोधक तथा सम्बन्ध-बोधक शक्तियों को एक साथ पद-निष्ठ व्यापार मानने वाले अन्विताभिधानवादी वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया की व्याख्या इस प्रकार करेंगे :—जब हम किसी शब्दसमूह को सुनते हैं, या उसे स्मरण करते हैं तब सर्वप्रथम प्रत्येक शब्द से हमारी बुद्धि में उसके अन्य-निरपेक्ष अर्थ की स्मृति जगती है। फिर जब हम अपनी स्मृति में सभी श्रुत अथवा स्मृत शब्दों के अर्थों की खण्ड स्मृतियों को सामूहिक रूप में एक साथ लाते हैं तब वे शब्द अपनी अन्तर्निहित सम्बन्ध-बोधक शक्ति से अपने अर्थों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का बोध करा देते हैं। इस सन्दर्भ में एक तीसरी शक्ति की भी कल्पना अनिवार्य हो जायगी। वाक्यार्थ के रूप में संसर्ग-बोध का कारण समूहात्मक स्मृति-बोध को मानना होगा और उसी में वाक्यार्थ-बोध या संसर्ग-बोध की शक्ति माननी पड़ेगी। कार्य अपने पूर्ववर्ती कारण से शक्ति ग्रहण करता है। शब्द स्मृति का विषय नहीं। इसलिए इसमें स्मृति-समूह से उत्पन्न संसर्ग-बोध की शक्ति की सत्ता नहीं मानी जा सकती। संसर्ग-बोधक शक्ति को स्मृति-निष्ठ ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार अभिहितान्वयवादियों की युक्ति है कि अन्विताभिधानवादी अपने चिन्तन में लाघव का जो दावा करते हैं, वह निराधार है। कहने के लिए तो वे शब्दनिष्ठ दो ही शक्तियाँ मानते हैं—एक अर्थ-बोध की और दूसरी सम्बन्ध-बोध की, पर यौक्तिक आधार पर इन दो शक्तियों से ही सम्पूर्ण शाब्दबोध-प्रक्रिया की पूर्ण व्याख्या नहीं हो पाती और तर्क के आग्रह से स्मृति में भी सम्बन्ध-शक्ति की सत्ता माननी पड़ती है।[1] इस प्रकार अन्विताभिधानवादी दृष्टि से भी शाब्दबोध की प्रक्रिया में तीन शक्तियों की कल्पना करनी ही पड़ती है। फिर वे अभिहितान्वयवाद पर तीन शक्तियों की कल्पना के अलाघव का आरोप कैसे लगा सकते हैं?

इतना ही नहीं, अभिहितान्वयवादियों का प्रत्यारोप यह है कि सामान्य प्रयोग में तो अन्विताभिधानवादियों को हमारी ही तरह, तीन शक्तियों की कल्पना करनी ही पड़ती है, लाक्षणिक प्रयोग में शाब्दबोध के स्वरूप के स्पष्टीकरण में उन्हें एक चौथी शक्ति—लक्षणा वृत्ति—की भी कल्पना करनी पड़ती है। अभिहितान्वयवादी वाक्यार्थबोध को शब्द की मुख्य शक्ति से उत्पन्न नहीं मानने के कारण लाक्षणिक वाक्य के अर्थबोध में पृथक् शक्ति की कल्पना की जटिलता से बच जाते हैं। वे लाक्षणिक प्रयोग में अर्थ के बोधक उचित शब्द के अनुमान से वाक्यीय संगति का सिद्धान्त मानते हैं। अतः उनका दावा है कि उनके चिन्तन में अन्विताभिधानवादियों के चिन्तन से कम से कम एक शक्ति का लाघव अवश्य है।

१. द्रष्टव्य—तत्त्वप्रदीपिका, पृष्ठ १५१

लाघव की समस्या पर कुछ और उदाहरण लेकर विचार किया जा सकता है। पर्यायवाची शब्द, अनेकार्थवाची एक शब्द, श्रुतिसम-भिन्नार्थक शब्द श्लिष्ट पद आदि वाक्यार्थ-बोध के स्वरूप-विश्लेषण में कुछ नवीन समस्याएँ उपस्थित करते हैं। अभिहितान्वयवादी विचारकों का तर्क है कि ऐसे पदों से युक्त वाक्य के अर्थ-बोध के स्वरूप का विश्लेषण करने में अन्विताभिधानवादी उलझन में पड़ जाते हैं और लाधव के प्रति उनका मोह-भंग हो जाता है। उदाहरण के लिए अक्ष शब्द को लें, जिसके अनेक अर्थ होते हैं—पासा, पहिया, धुरी, आँख, विभीतक अर्थात् बहेड़े का पेड़ आदि। प्रत्येक पद में अर्थ-बोध और सम्बन्ध-बोध की दो शक्तियाँ मानने वाले अन्विताभिधानवादी उस शब्द के प्रत्येक अर्थ के लिए दो शक्तियाँ स्वीकार करेंगे। इस प्रकार यदि एक पद के पाँच अर्थ हों और प्रत्येक अर्थ के बोध के लिए पद की दो-दो शक्तियाँ मानी जायँ तो एक ही पद में दस शक्तियों की सत्ता की कल्पना करनी पड़ेगी। कुमारिल आदि अभिहितान्वयवादी पद में अर्थ-बोध की एक ही शक्ति मानते हैं। अतः अर्थानुरूप एक-एक शक्ति की सत्ता मानने से उन्हें पाँच अर्थों वाले एक शब्द में अर्थबोधक पाँच शक्तियों की ही कल्पना करनी पड़ेगी और इसके साथ प्रत्येक अर्थ में सम्बन्ध-बोधक एक-एक शक्ति की सत्ता मानने के कारण पाँच अर्थों में पाँच शक्तियों की सत्ता माननी पड़ेगी। इस प्रकार अभिहितान्वयवादी भी उस एक शब्द में दस शक्तियाँ ही मानेंगे। ऐसे अनेकार्थक पदों के अर्थबोध में—ऐसे पदों से युक्त वाक्य के अर्थबोध में तो दोनों प्रस्थानों के विचारकों को बराबर ही शक्तियों की कल्पना करनी होगी; अतः किसी चिन्तन में लाघव के न्यूनाधिक्य का प्रश्न नहीं उठता, पर पर्यायवाची शब्दों वाले वाक्यों के शाब्दबोध की प्रक्रिया का विश्लेषण करने में अभिहितान्वयवादी विचारकों की अपेक्षा अन्विताभिधानवादी विचारकों को ही अधिक शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ एक अर्थ के बोधक यदि पाँच पर्यायवाची शब्द हों तो प्रत्येक शब्द की दो शक्तियाँ मानने वाले अन्विताभिधानवादी के मतानुसार उस एक अर्थ और उसके सम्बन्ध का बोध कराने वाली दस शक्तियाँ हो जायँगी, जबकि प्रत्येक शब्द में अर्थ-बोधक एक शक्ति की सत्ता मानने वाले अभिहितान्वयवादियों के मतानुसार पाँच शब्दों की पाँच शक्तियाँ होंगी और सबका अर्थ एक होने के कारण अर्थनिष्ठ एक सम्बन्ध-शक्ति होगी। इस प्रकार पाँच पर्यायवाची शब्दों के अर्थ-बोध में अन्विताभिधानवादियों को दस शक्तियों की कल्पना करनी होगी, जबकि अभिहितान्वयवादी विचारकों को केवल छह शक्तियाँ माननी पड़ेंगी। अतः अन्विताभिधानवादी जिस दोष का—अलाघव या गौरव के दोष का—आरोप अभिहितान्वयवादी चिन्तन पर करते हैं, उस दोष से उनका चिन्तन स्वयं ग्रस्त है, बल्कि वह दोष उनके चिन्तन में अधिक मात्रा में है।

अभिहितान्वयवादी विचारकों की ओर से संसर्ग-बोध या वाक्यार्थ-बोध की शक्ति को पदार्थनिष्ठ मानने के पक्ष में सबसे प्रबल युक्ति यह दी गयी है कि पदों के अर्थ का बोध होने के ठीक बाद ही वाक्यार्थ-बोध होता है, अर्थात् पदार्थ ही वाक्यार्थ-बोध का अव्यवहित पूर्ववर्ती होता है और इसलिए पद के अर्थों को ही वाक्यार्थ-बोध का प्रत्यक्ष उत्पादक माना जा सकता है।[1]

शाब्दबोध-विषयक अभिहितान्वयवादी विचार के विरुद्ध एक आपत्ति यह की गयी है कि यदि यह मान लिया जाय कि पद अलग-अलग अन्य-निरपेक्ष अर्थों का ही बोध कराते हैं तो फिर उनमें पारस्परिक सम्बन्ध के ज्ञान को प्रमाण कैसे माना जायगा? असम्बद्ध पदार्थों में स्मृति से सम्बन्ध-स्थापन का जो सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद में प्रतिष्ठित किया गया है उस प्रक्रिया से होने वाले सम्बन्ध-बोध को सर्वथा निर्भ्रान्त और प्रामाणिक ज्ञान नहीं माना जा सकता। स्मृत अर्थों में किसी निर्भ्रान्त संसर्ग-बोध की नियत शक्ति नहीं होती। अतः कभी-कभी स्मृत अर्थों में ऐसे सम्बन्ध की भी कल्पना की जा सकती है, जो भ्रमात्मक ज्ञान का हेतु बन जाय। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति को एक महल की स्थान-काल आदि से असम्बद्ध स्मृति हो और वह उस स्मृत पदार्थ का सम्बन्ध ऐसे किसी स्थान से जोड़ दे, जिस स्थान से वस्तुतः उस महल का कोई सम्बन्ध नहीं हो, तो यह सम्बन्ध-बोध एक भ्रमात्मक ज्ञान का ही हेतु बनेगा। संसर्ग-बोध की शक्ति को शब्द की नियत शक्ति नहीं मान कर विच्छिन्न अर्थों के समूह की शक्ति मानने से इसी प्रकार के भ्रमात्मक शाब्दबोध के उत्पन्न होने की आशंका बनी रहेगी।[2]

इस आपत्ति के उत्तर में अभिहितान्वयवादी चिन्तन के पक्ष से यह युक्ति दी जा सकती है कि लौकिक ज्ञान का उक्त उदाहरण शब्द-ज्ञान की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर सकता। लौकिक बोध और शाब्दबोध की प्रकृति में जो भेद है उस पर ध्यान दिये बिना ही लौकिक अर्थों के सम्बन्ध-बोध की अनिश्चयात्मकता तथा अप्रामाणिकता का उदाहरण देकर पदों से बोधगम्य अर्थों की शक्ति से होने वाले संसर्ग-बोध या वाक्यार्थ-बोध को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। लौकिक अर्थबोध के सन्दर्भ में स्मृति में आये हुए पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध-बोध को भ्रमात्मक या अयथार्थ ज्ञान का भी जनक माना जा सकता है, क्योंकि वहाँ संसर्ग-बोध का कोई नियामक नहीं होता, पर शाब्दबोध में पदों से

---

१. द्रष्टव्य—पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थनिर्णय, पृ० ११९

२. यदपि मतम्—स्वार्थस्वरूपस्मृतयोऽपि हि वस्तुतस्तदर्थान्तरं × × × माहिष्मतया एवं घटयितुं ईशते, ईशाना वा भवन्त्यभ्रान्ताः।—तत्त्वबिंदु पृ० ११३

स्मृति में आने वाले विच्छिन्न अर्थों के समुदाय में अर्थनिष्ठ व्यापार से जो संसर्ग-बोध उत्पन्न होता है, वह सर्वथा प्रामाणिक होता है। कारण यह है कि पद के परस्पर निरपेक्ष अर्थों में सम्बन्ध-स्थापन का नियमन आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति से होता है।

लौकिक पदार्थों की स्मृति होने पर उन पदार्थों के बीच सम्बन्ध-स्थापन की अव्यवस्था और शाब्दबोध में पदों से पदार्थों की स्मृति होने पर उनके बीच अर्थ-शक्ति से ही सम्बन्ध-बोध की व्यवस्था के रहस्य को समझने के लिए ज्ञान-मीमांसा के इस मान्य सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए कि एक ही तत्त्व अलग-अलग सह-कारियों के योग से अलग-अलग कार्य उत्पन्न कर सकता है। एक उदाहरण से इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा सकता है। स्मृति पूर्वानुभूत अर्थात् अतीत काल में ज्ञात वस्तु का व्यवहित ज्ञान कराती है, पर जब पूर्वानुभूत वस्तु की स्मृति के साथ प्रत्यक्ष ज्ञान का मेल होता है, तब वह स्मृति प्रत्यभिज्ञा नामक एक स्वतन्त्र प्रमाण-ज्ञान उत्पन्न करती है। प्रत्यभिज्ञा में अव्यवहित रूप से इन्द्रियगोचर वस्तु को पहचानने में उसके पूर्व-प्राप्त ज्ञान की स्मृति साधक होती है। किसी जानी हुई वस्तु को पहचानने की प्रक्रिया यह है कि जब हम उस वस्तु का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त करते हैं तब उसके अतीत-कालीन ज्ञान की स्मृति हो आती है और वह स्मृति ही प्रत्यक्ष ज्ञान से मिल कर वस्तु की पहचान का साधक बनती है। स्पष्ट है कि एक ही स्मृति कहीं अतीतकालीन अनुभूति का परोक्ष ज्ञान कराती है और वही सहकारी कारण के भेद से अन्यत्र प्रत्यभिज्ञा का साधक बन जाती है। शाब्दबोध के सन्दर्भ में भी यह ध्यातव्य है कि पदों के माध्यम से स्मृतिगत होने वाले असम्बद्ध अर्थ भी अकांक्षा, योग्यता आदि सहायक कारणों के योग से अपने पारस्परिक सम्बन्ध का प्रामाणिक ज्ञान करा देते हैं। आकांक्षा आदि सहायक कारणों की सत्ता शब्दार्थ के संसर्ग-बोध को लौकिक ज्ञान में होने वाले वस्तुओं के संसर्गबोध से भिन्न स्वरूप प्रदान करती है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में तात्त्विक भेद होने के कारण लौकिक वस्तुओं के सम्बन्ध-बोध के दृष्टान्त से शब्द-ग्राह्य अर्थों के पारस्परिक संसर्गबोध को अर्थात् वाक्यार्थ-बोध को अप्रामाणिक बताने में कोई युक्ति नहीं।[1]

इस प्रसंग में अभिहितान्वयवादी मान्यता के विरुद्ध पुनः यह आपत्ति उठायी गयी है कि अलग-अलग पदों से स्मारित परस्पर स्वतन्त्र अर्थों को संसर्ग-बोध का साधक मानने पर अर्थ को ज्ञान के छह स्वीकृत प्रमाणों के अतिरिक्त, सातवाँ प्रमाण

---

१. तदप्यसाम्प्रतम्। मा नाम भूत ईदृशं स्मरणफलस्य संस्कार्यस्य सामर्थ्यं यत् अन्यथा प्रत्यभिज्ञानमपि नोपजायेत।

--वाचस्पति, तत्त्वबिन्दु, पृ० ११४-१६

मानना पड़ेगा, जो युक्तिसंगत नहीं। इसके उत्तर में अभिहितान्वयवादियों की युक्ति यह है कि श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या; ये छह एक ही शब्द-प्रमाण के विभिन्न पक्ष माने गये हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो वस्तुतः इनमें से तीन—श्रुति, वाक्य और समाख्या—को ही शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत माना जायगा, जिनका शब्द से सीधा सम्बन्ध है। लिंग, प्रकरण और स्थान (वचन) का सम्बन्ध शब्द के अर्थ से है, फिर भी इन तीनों को पदार्थ-प्रमाण के अलग वर्ग में नहीं रखा गया है। शब्द तथा उसके अर्थ से सम्बद्ध श्रुति, वाक्य आदि तथा लिंग, प्रकरण आदि को एक ही शब्द-प्रमाण के भीतर माना गया है। स्पष्ट है कि ज्ञान के पूर्व-स्वीकृत प्रमाण में भी शब्द और शब्दार्थ को अलग-अलग प्रमाण नहीं मान कर शब्द-प्रमाण में ही समाविष्ट माना गया है। ऐसी स्थिति में, पद-लभ्य असम्बद्ध अर्थों की शक्ति से उनमें संसर्ग-बोध मानने पर अर्थ-प्रमाण नामक एक स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना करनी पड़ेगी, ऐसा मानने का कोई आधार नहीं।[1]

अन्विताभिधानवादी यह युक्ति दे सकते हैं कि प्रकरण, लिंग आदि को शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत मानने का रहस्य यह है कि विधि-रूप सम्बन्ध-ज्ञान श्रुति से ही उत्पन्न होता है। वही श्रुति लिंग आदि तीन तत्त्वों और सम्बन्ध-बोध के मध्य में रहती है। इसलिए अर्थगत लिंग आदि तत्त्वों को भी शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत माना जाता है। शाब्दबोध की स्थिति इससे भिन्न होती है। उसमें पदार्थों की स्मृति या स्मृतिगत पदार्थों का ही संसर्ग-बोध होता है। अतः लिंग आदि को शब्द-प्रमाण मानने के आधार पर अर्थशक्ति से होने वाले बोध को शब्द-प्रमाण के भीतर नहीं माना जा सकता। इससे अन्विताभिधानवाद की इस मान्यता की ही पुष्टि होती है कि शब्द-बोध्य अर्थों के संसर्ग-बोध की शक्ति शब्द में ही मानी जानी चाहिए, अर्थ में नहीं। पदार्थ से होने वाले सम्बन्ध-बोध को यदि केवल इस आधार पर शब्द से बोध्य मान लिया जाय कि शब्द उन पदार्थों के बोधक हैं तो सभी प्रकार के अनुमान-ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान का ही अवान्तर भेद मानना होगा, जो युक्तिसंगत नहीं। धूम से वह्नि के अनुमान में धूम के चाक्षुष प्रत्यक्ष से वह्नि का अनुमान-ज्ञान प्राप्त होता है। फिर भी, प्रत्यक्ष साधन से साध्य उस अनुमान-ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत नहीं माना जाता। यही स्थिति शाब्दबोध की भी है। जिन अर्थों से संसर्गरूप वाक्यार्थ की सिद्धि होती है, उनके उत्पादक पद ही होते हैं। संसर्ग-बोध की शक्ति को पदनिष्ठ नहीं मान कर अर्थनिष्ठ मानने से यही दोष होगा।

---

१. न च पदार्थस्मृतीनां स्मृतानां वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वे सप्तमप्रमाणाभ्युपगमप्रसङ्गः। लिङ्गप्रकरणस्थानानामिव शब्दप्रमाणान्तर्भावोपपत्तेः।
—तत्त्वप्रदीपिका पृ० १४९, उसपर प्रसादिनी टीका भी द्रष्टव्य।

इसके उत्तर में अभिहितान्वयवादी चिन्तकों की ओर से यह स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया गया है कि हम पद के अर्थों का संसर्ग-बोध या वाक्यार्थ-ज्ञान से निकट का सम्बन्ध मानते हैं। हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करते कि अर्थबोध के उत्पादक पद होते हैं और इस प्रकार अन्ततः जो वाक्यार्थबोध उत्पन्न होता है उसका मूल कारण भी पद ही होते हैं। अतः वाक्यार्थ-बोध को हम शाब्दबोध ही मानते हैं और उसे शब्द-प्रमाण के अन्तर्गत मान कर उसके लिए अर्थ-प्रमाण जैसी किसी चीज की कल्पना की बात को व्यर्थ समझते हैं। हाँ, हमारी यह मान्यता अवश्य है कि संसर्ग-बोध के मूल हेतु शब्द और संसर्ग-बोध के बीच शब्दार्थ का व्यवधान रहा करता है। पहले शब्द, फिर शब्दार्थ और उसके बाद संसर्ग-बोध; यही क्रम होता है। शब्दार्थ का संसर्ग-बोध से नैकट्य होने के कारण हम संसर्ग-बोध की शक्ति अर्थ में मानते हैं।

अर्थ को सम्बन्ध-बोध का हेतु मानने से शब्द-प्रमाण की जगह एक अर्थ-प्रमाण की कल्पना की आवश्यकता पड़ने की जो बात कही गयी है, उसमें कोई सार नहीं। अर्थ शब्द का ही व्यापार है। अतः शब्द के व्यापारभूत अर्थ में संसर्ग बोध की शक्ति मानने से शब्द-प्रमाण की धारणा खण्डित नहीं होती। शाब्दबोध में मूल हेतुभूत शब्द और कार्यभूत संसर्ग-बोध के बीच शब्दार्थ का व्यवधान मानने से शब्द की कारणता में भी कोई बाधा नहीं आती। कारण और कार्य के बीच यदि कारण का अपना ही कोई व्यापार आता है तो उस व्यवधान से कारण की कारणता बाधित नहीं होती।[1] इस प्रकार अभिहितान्वयवादी चिन्तन का सार यह है कि शब्द अपने-अपने अनन्यसापेक्ष स्वतन्त्र अर्थों का बोध कराते हैं, जिनमें सम्बन्ध-बोध से वाक्यार्थ-ज्ञान उत्पन्न होता है। वाक्यार्थ-बोध के मूल हेतु हैं शब्द, पर दोनों के बीच शब्द के व्यापारभूत अर्थ का व्यवधान रहता है। वाक्यार्थ-बोध का शब्दार्थ से निकट का और शब्द से दूर का सम्बन्ध रहता है।

अर्थ में सम्बन्ध-बोध की शक्ति मानने वाले अभिहितान्वयवादियों के मत पर जो यह आक्षेप किया गया है कि प्रत्यक्ष दृष्ट हेतु से प्राप्त होने वाले ज्ञान को—अनुमान-ज्ञान को—प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रकार मान लेने के समान ही यह मत असंगत लगता है, उसकी असारता भी उक्त स्पष्टीकरण से सिद्ध हो जाती है। धूम आदि हेतु का प्रत्यक्षीकरण ही साध्य वह्नि आदि के अनुमान-ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं। उसके लिए व्याप्ति-ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। जिसे इस विश्वजनीन नियम का ज्ञान नहीं होगा कि 'जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ आग रहती है',

---

१. स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवति।—Col. Jacob, A Handful of popular Maxim में उद्धृत।

उसे धूम को देख कर आग का ज्ञान नहीं होगा। इससे यह सिद्ध है कि व्याप्ति-ज्ञान ही अनुमान-ज्ञान का निकटवर्ती हेतु होता है। प्रत्यक्ष दृष्ट धूम आदि हेतु और साध्य के बीच व्याप्ति-ज्ञान की तरह ही शाब्दबोध में हेतुभूत शब्द और कार्य-भूत संसर्ग-बोध के बीच शब्दार्थ का ज्ञान आवश्यक होता है और अनुमान-ज्ञान में व्याप्ति की तरह ही शाब्द ज्ञान में शब्दार्थ को निकटवर्ती हेतु माना जाता है।[1]

अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी विचारधाराओं में मुख्य मतभेद संसर्ग-बोधक शक्ति के स्वरूप को लेकर है। हम देख चुके हैं कि उस शक्ति को अन्विताभिधानवादी शब्द में निहित मानते हैं और अभिहितान्वयवादी शब्दार्थ में। दोनों विचारणाओं में यह भी अन्तर है कि जहाँ अन्विताभिधानवादी उस शक्ति को शब्द की मुख्य या अभिधा शक्ति मानते हैं, वहाँ अभिहितान्वयवादी उसे अर्थनिष्ठ गौणी वृत्ति या लक्षणा शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] अभिधा या मुख्य शक्ति से पूर्व-संकेतित अर्थ का उद्घाटन होता है, पर लक्षणा शक्ति पहले से अनिर्धारित या अज्ञात अर्थ का बोध कराती है। वाक्य का स्वरूप पहले से सिद्ध नहीं रहता—उसका अर्थ पूर्व-संकेतित नहीं रहता। वाक्य साध्य होते हैं और पदों के विन्यास-वैचित्र्य से उसके नवीन-नवीन रूपों की रचना की जा सकती है। इस प्रकार अनियत स्वरूप और अनिर्धारित संसर्ग वाले वाक्य के अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को अभिहितान्वयवादी पदार्थ की गौणी या लक्षणा शक्ति मानना ही युक्तिसंगत समझते हैं। उनके अनुसार, वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में, पद-समूह की अभिधा शक्ति से पदार्थों का अलग-अलग बोध होते ही उन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराने वाली अर्थगत गौणी वृत्ति सक्रिय होती है और इस प्रकार पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग-बोध के रूप में एक समन्वित और स्वतः पूर्ण वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न होता है।

शब्द से शब्दार्थ के बोध के स्वरूप के सम्बन्ध में अभिहितान्वयवादी कुमारिल की मान्यता है कि शब्द जाति-मात्र का बोध कराते हैं। जाति ही शब्द का संकेतित अर्थ है पर उस शब्द-बोध्य जाति के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाले व्यक्ति का भी बोध आक्षेप से हो जाता है। व्यक्ति-निरपेक्ष जाति का बुद्धि से ग्रहण कठिन है। अतः आक्षेप या लक्षणा शक्ति से व्यक्ति का भी बोध होता है। अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की इस धारणा का कुमारिल ने खण्डन किया है कि

---

१. मैवम्। अन्वयप्रतीतिं जनयतां पदानामवान्तरव्यापारत्वात् पदार्थस्मरणानाम्। × × × अचाक्षुस्थलेऽपि लिङ्गस्य बोधकत्वात्।
—तत्त्वप्रदीपिका, पृ० १५०

२. द्रष्टव्य—पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थनिर्णय, पृ० १२५.

शब्द से जाति का बोध होता है और जाति ही व्यक्ति का भी बोध करा देती है; अतः व्यक्ति-बोध के लिए शब्द की किसी अन्य शक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं। कुमारिल की मान्यता है कि शब्द की अभिधा शक्ति केवल जाति का बोध कराती है और उसकी लक्षणा-नामक एक स्वतन्त्र शक्ति उस जाति से सम्बद्ध व्यक्ति का बोध कराती है। जाति व्यक्ति में अन्तर्व्याप्त रहती है। वह जाति ही शब्द का साक्षात् संकेतित मुख्य अर्थ होती है और उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाला व्यक्ति उसका लक्ष्यार्थ होता है। वह व्यक्तिरूप अर्थ उसी प्रकार लक्ष्य अर्थ होता है, जिस प्रकार 'गंगायां घोषः' वाक्य में गंगा का तट गंगा शब्द का लक्ष्य अर्थ होता है।

अभिहितान्वयवादी कुमारिल वाक्यार्थबोध या पद-समूह से लभ्य अर्थों में संसर्ग-बोध को लक्षणा शक्ति या गौणी वृत्ति पर आधृत मानते हैं। इस मान्यता के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि लक्षणा आरोपित शक्ति होती है और वह अभिधा शक्ति पर आधृत रहती है। जब अभिधा शक्ति से लभ्य पदार्थों की संगति बाधित या अनुपपन्न हो जाती है, तभी उस आरोपित लक्षणा शक्ति से मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध होता है और इस प्रकार अभिधा से अनुपपन्न अर्थ में लक्षणा उपपत्ति लाती है।[1] कुमारिल ने सभी प्रकार के वाक्यों में—चाहे उनके अर्थ अभिधा शक्ति से उत्पन्न हों या अनुपपन्न—वाक्यार्थबोध को लक्षणा शक्ति पर अवलम्बित मान लिया है, जो युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

इस सम्भावित आपत्ति के उत्तर में कुमारिल भट्ट के अनुयायियों ने यह युक्ति दी है कि लक्ष्यार्थ के बोध के लिए मुख्यार्थ का बाधित होना सार्वत्रिक नियम नहीं। उदाहरणार्थ, जब कोई व्यक्ति किसी से कहता है कि 'देखो, कौआ अनाज नहीं खाय' तो वह कौआ शब्द का प्रयोग सभी अन्नभक्षी प्राणियों के लिए उपलक्षण के रूप में करता है। वक्ता का यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि कौए के अतिरिक्त अन्य पशु-पक्षियों को अनाज खाने दिया जाय। श्रोता उसके तात्पर्य को समझ कर कौआ शब्द से उसके अभिधेय अर्थ के साथ तद्भिन्न पशु-पक्षी के लाक्षणिक अर्थ को भी ग्रहण कर लेता है। उक्त वाक्य में कौआ शब्द से अन्य पशु-पक्षियों के अर्थ-ग्रहण के रहस्य पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उसमें कौआ शब्द का मुख्य अर्थ अनुपपन्न नहीं। कौआ से अन्न की रक्षा भी विवक्षित है। फिर भी —मुख्य अर्थ के अबाधित या उपपन्न होने पर भी—कौआ शब्द से लक्षणा शक्ति के

---

१. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥—मम्मट, काव्यप्रकाश, २,९.

सहारे अन्य अर्थों का भी ग्रहण होता है और उक्त वाक्य का अर्थ होता है कौआ आदि अन्नभक्षी पशु-पक्षियों से अन्न की रक्षा करो। कुमारिल भट्ट और उनके अनुयायी लक्षणा के उक्त परम्परागत लक्षण से सहमत नहीं। उनकी मान्यता है कि अभिधा शक्ति से लभ्य मुख्य अर्थ के अनुपपन्न होने पर ही लक्षणा शक्ति का उपयोग मानना उचित नहीं। लक्ष्यार्थ-बोध के लिए मुख्यार्थ-बोध में बाधा आवश्यक शर्त नहीं। पदों के मुख्य अर्थों से वाक्यार्थबोध के अनुपपन्न होने से लक्षणा शक्ति वाक्य को उपपन्न करती है, यही लक्षणा का लक्षण माना जाना चाहिए।[1]

इस प्रकार लक्षणा के परम्परागत लक्षण को अस्वीकार कर और उसे वाक्यार्थ को उपपन्न करने वाली शक्ति के रूप में परिभाषित कर कुमारिल ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि वाक्य के अंगभूत पद अपनी अभिधा शक्ति से परस्पर निरपेक्ष अर्थों का ही बोध करा सकते हैं, जिससे समन्वित वाक्यार्थ का बोध उपपन्न नहीं होता। उन पदों से व्यक्त अर्थों में पारस्परिक संसर्ग का बोध जगा कर एक पूर्ण वाक्यार्थ का ज्ञान उत्पन्न करने के लिए लक्षणा शक्ति की आवश्यकता होती है। शब्द का मुख्य अर्थ बाधित हो या अबाधित—उपपन्न हो या अनुपपन्न—प्रत्येक स्थिति में केवल अभिधा शक्ति से वाक्यार्थ असिद्ध ही रह जाता है।

वाक्यार्थ-ज्ञान पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान है, जिसमें मुख्य अर्थ तिरोहित हो जाते हैं। वाक्य का अर्थ व्यक्ति और उनका पारस्परिक सम्बन्ध होता है, जबकि शब्द का मुख्य या साक्षात् संकेतित अर्थ है जाति। जाति व्यक्ति में अभिव्यक्त होती है और इसलिए बोधगम्य सम्बन्ध जातिरूप मुख्य अर्थ का अतिक्रमण या अपलाप नहीं करता। जाति में शब्द का संकेत मानने पर भी कुमारिल शब्द से व्यक्ति के बोध के रहस्य का स्पष्टीकरण आसानी से कर लेते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार व्यक्ति और जाति का सम्बन्ध भेद में अभेद का—अनेकत्व में एकत्व का—सम्बन्ध है। अतः वाक्यार्थ के रूप में गृहीत होने वाला व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध तत्त्वतः जातियों के संसर्ग का भी बोध करा ही देता है। अतः वाक्यार्थ को कुमारिल लक्ष्यार्थ मानना ही उचित समझते हैं।[2]

'श्लोकवार्तिक' की 'न्यायरत्नाकर' टीका में पार्थसारथि मिश्र ने इस तथ्य का विवेचन किया है कि न तो वाक्य और न विशिष्ट पद ही वाक्यार्थ का बोध सीधे उत्पन्न कर सकते हैं, पदों के अर्थ ही लक्षणा शक्ति के सहारे वाक्यार्थ का बोध

---

१. तस्मात् पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तद् एव लक्षणं लक्षणायाः।—तत्त्वप्रदीपिका, पृ० १५३

२. द्रष्टव्य—तत्त्वप्रदीपिका, पृ० १५५

कराते हैं।[1] 'न्याय रत्नमाला' में उन्होंने इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के क्रम में यह मान्यता व्यक्त की है कि शब्द का वाक्यार्थ के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता, परम्परा-प्राप्त सम्बन्ध ही रहता है। दोनों के बीच शब्दार्थ की सत्ता रहती है। शब्दार्थ का वाक्यार्थ के साथ सीधा अव्यवहित सम्बन्ध रहता है, पर शब्द अपने अर्थ के माध्यम से ही परम्परया वाक्यार्थ से सम्बद्ध होते हैं।[2] हम देख चुके हैं कि जयन्त भट्ट ने 'न्यायमञ्जरी' में अभिहितान्वयवादी चिन्तन का सबसे बड़ा दोष इसे ही सिद्ध करना चाहा है कि उस चिन्तन में शब्द और वाक्यार्थ के सम्बन्ध को अप्रत्यक्ष और दूरवर्ती मान लिया गया है।

शाब्दबोध-विषयक अभिहितान्वय-सिद्धान्त की स्थापना के क्रम में कुमारिल ने एक ओर वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की इस धारणा का खण्डन करना चाहा है कि वाक्य एक अखण्ड और अविभाज्य इकाई होता है, जिस अखण्ड तत्त्व से अपृथक्सिद्ध वाक्यार्थ का प्रत्यक्षतः बोध होता है, और दूसरी ओर नैयायिकों की इस मान्यता का भी विरोध किया है कि वाक्य पदों की एक ऐसी समष्टि है, जिसमें उसके घटक विशिष्ट पदों का भी अपना-अपना कार्य होता है, पर वाक्यार्थ का बोध सम्पूर्ण वाक्य ही कराता है, उसके घटक विशिष्ट पद या उनके अर्थ नहीं।

वैयाकरणों की वाक्यार्थ-धारणा के विरुद्ध कुमारिल ने यह युक्ति दी है कि किसी वाक्य का अर्थ उस वाक्य में नियत क्रम से आने वाले पदों के द्वारा यथाक्रम बोधगम्य पदार्थों से तत्त्वतः भिन्न नहीं होता। अतः वाक्य के घटक पदों और उनके अर्थों की सत्ता का अपलाप कर उनसे स्वतन्त्र अखण्ड वाक्य और वाक्यार्थ की कल्पना युक्तिसंगत नहीं। नैयायिकों की वाक्यार्थ-विषयक मान्यता के विरुद्ध उनकी युक्ति यह है कि पदों को वाक्य का घटक मान कर भी नैयायिक घटकों से पदों के समष्टि-भूत वाक्य की स्वतन्त्र सत्ता की कल्पना कर लेते हैं, जो अनावश्यक है। कुमारिल की मान्यता है कि वैयाकरण और नैयायिक पदों को वाक्यार्थ-बोधक शक्ति को नहीं परख सके। इसलिए उन्हें वाक्यार्थ-बोध के रहस्य का उद्घाटन करने के लिए वाक्य की स्वतन्त्र सत्ता की तथा उसमें वाक्यार्थ-बोधक शक्ति की सत्ता की दूरारूढ कल्पना करनी पड़ी। पद वाक्यार्थबोध कराने की शक्ति रखते हैं। यह ठीक है कि कुमारिल स्वयं वाक्यार्थबोधक लक्षणा शक्ति की शब्दार्थ-निष्ठ सत्ता मानते हैं, शब्द-निष्ठ सत्ता नहीं। यह भी ठीक है कि वे पद भेद (संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि) के रूप में पदों में वाक्यार्थ-बोध की शक्ति नहीं मानते, फिर

---

१. श्लोकवार्तिक, न्यायरत्नाकर टीका, पृ० ९०९

२. द्रष्टव्य—पार्थसारथि मिश्र, न्यायरत्नमाला, वाक्यार्थ निर्णय, पृ० १०५

भी वे यह मानते हैं कि वाक्य में पदों का चयन और उनके विन्यास का क्रम यह सिद्ध करता है कि जब तक वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न न हो जाय, तब तक पद की अर्थ-बोधक शक्ति सक्रिय रहती है। यही कारण है कि कुमारिल वाक्यार्थ-बोधक शक्ति को शब्दार्थ-निष्ठ मानने पर भी वाक्यार्थ-ज्ञान को शब्द-प्रमाण ही मानते हैं, अर्थ-प्रमाण नहीं। न्याय और व्याकरण में वाक्य के महत्त्व की स्थापना के लिए पद और पद की शक्ति की जो उपेक्षा की गयी उसे कुमारिल अनुचित मानते हैं।

मीमांसा दर्शन के प्रतिष्ठाता आचार्य शबर स्वामी ने वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण करते हुए केवल इतना कहा था कि पद की अभिधा शक्ति उसके संकेतित अर्थ का बोध करा लेने पर विरत हो जाती है और उस अर्थ से वाक्यार्थ-बोध उत्पन्न होता है।[1] शबर स्वामी के अनुयायी कुमारिल आदि ने वाक्यार्थ-बोध के रूप में तात्पर्य-शक्ति की कल्पना की। इस तात्पर्य-वृत्ति की सिद्धि के लिए उन्होंने शब्दार्थ-निष्ठ लक्षणा शक्ति की सत्ता मानी और शब्द के साथ उसका दूरागत सम्बन्ध माना।

कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवादी विचार के आलोचकों को जो सबसे बड़ी असंगति इस मान्यता में जान पड़ी है वह यह है कि एक ओर तो वाक्यार्थ-बोध की शक्ति को लक्षणा शक्ति कह कर पद के अर्थों में अन्तर्निहित माना गया है और दूसरी ओर उसे तात्पर्य-शक्ति कह कर पद-निष्ठ व्यापार मान लिया गया है। तटस्थ दृष्टि से विचार करें तो आपातत: दीख पड़ने वाली इस असंगति में तात्त्विक संगति ढूँढ़ी ज सकती है। शब्दार्थ का बोध शब्द-निष्ठ अभिधा शक्ति से ही होता है और उन शब्दार्थों में पारस्परिक संसर्ग के बोध का पर्यवसान वाक्यार्थबोध के रूप में होता है। शब्द-प्रयोग का उद्देश्य ही किसी विचार-खण्ड को व्यक्त करना होता है और विचार की अभिव्यक्ति एक संगत वाक्यार्थ के रूप में ही हो सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि शब्द में किसी विचार को व्यक्त करने की, दूसरे शब्दों में कहें तो, किसी सम्बद्ध वाक्यार्थ को व्यक्त करने की एक स्वभाव-सिद्ध प्रवृत्ति रहती है। अत: अभिहितान्वयवादी भी शाब्दबोध का मूल हेतु शब्द को ही मानते हैं। हाँ, उस मूल हेतु (शब्द) और वाक्यार्थ के बीच वे शब्दार्थ का व्यवधान मानते हैं, जो अनुचित नहीं। शब्दार्थ-बोध के बिना वाक्यार्थ का बोध असम्भव है। शब्दार्थ में वाक्यार्थ-बोधक लक्षणा शक्ति की सत्ता मानने तथा शब्द में तात्पर्य-शक्ति की सत्ता मानने में तात्त्विक अन्तर्विरोध नहीं। अर्थ शब्द के व्यापार के रूप में स्वीकृत है। अत: व्यापारगत लक्षणा शक्ति की स्वीकृति शब्द की स्वाभाविक तात्पर्य-शक्ति का खण्डण नहीं करती।

---

१. द्रष्टव्य—शाबर भाष्य, पृ० ९६

चित्सुखाचार्य ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है कि किसी वाक्य के अवयवभूत पद अपने-अपने जिन विच्छिन्न अर्थों का बोध कराते हैं वे अर्थ वाक्य के तात्पर्यार्थ का बोध नहीं करा सकते। अतः पदों के अर्थ अथवा उन अर्थों की सहायता से पद, लक्षणा शक्ति से, सम्बद्ध अर्थ का वाक्यार्थ के रूप में बोध कराते हैं। शब्द के संकेतित अर्थ ऐसे साधन तथा माध्यम हैं, जिनके द्वारा शब्द वाक्य के तात्पर्यार्थ को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार चित्सुखाचार्य लक्षणा शक्ति को पदार्थगत भी मानते हैं और पदगत भी।

वर्धमान ने 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' की 'प्रकाश' टीका में कुमारिल भट्ट की शब्दबोध-विषयक मान्यता को प्रस्तुत करते हुए उस पर, कुछ अंश में, न्याय-मत का भी रंग चढ़ा दिया है। उन्होंने अभिहितान्वयवादी चिन्तन का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

शाब्दबोध-विषय अभिहितान्वयवादी दृष्टि के अनुसार शब्द के तात्पर्यार्थ में वाच्य अर्थों के वाक्यीय संघटन की प्रवृत्ति रहती है। चूँकि यह तात्पर्यार्थ अपनी शक्ति से अथवा अभिधा शक्ति से अपनी सिद्धि नहीं कर पाता, इसलिए उसकी सिद्धि लक्षणा नामक एक सहायक शब्द-शक्ति से की जाती है। यह लक्षणा शक्ति ही शब्दार्थों के बीच वाक्यात्मक संसर्ग का बोध कराती है। वाच्य अर्थ और लक्ष्य अर्थ के परस्पर सम्बद्ध होने के कारण वाक्य में लक्ष्यार्थ-बोध के लिए अपेक्षित सभी स्थितियाँ रहा करती हैं। वाच्य अर्थों से वाक्यार्थ के सिद्ध नहीं होने पर लक्षणा शक्ति उस कार्य को पूरा करती है। यही कारण है कि वाच्य अर्थ तथा सम्बन्धरूप लक्ष्य अर्थ में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध भी नहीं होता। लक्षणा शक्ति से संसर्ग-रूप अर्थ के बोध में अभिधा शक्ति से लब्ध शब्द के संकेतित अर्थ साधक हेतु बन जाते हैं।[1]

वर्धमान की दृष्टि में शब्द के दोनों व्यापारों—अभिधा और लक्षणा—के विषय अलग-अलग हैं। अभिधा शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है और वे अर्थ संसर्ग-बोध के हेतु बनते हैं जो बोध लक्षणा व्यापार से होता है। वाक्यार्थ ही साध्य प्रमाण-ज्ञान होता है। उसमें साध्य ज्ञान की सभी विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं। वह साध्य वाक्यार्थ-ज्ञान अज्ञातपूर्व होता है। अज्ञातपूर्व ज्ञान की सिद्धि ही अनुमान की विशेषता होती है। शब्द का वाच्य अर्थ पूर्वसंकेतित या ज्ञात होने के कारण साध्य अनुमान-ज्ञान के अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि ज्ञात का

---

१. द्रष्टव्य—न्यायकुसुमाञ्जलि पर वर्धमानकृत 'प्रकाश' टीका, पृ० २१८-१९

ज्ञापन अनुमान का साध्य नहीं माना जाता। अनुमान-लभ्य साध्य ज्ञान में नवीनता अर्थात् पूर्व-ज्ञान का अभाव अपेक्षित माना जाता है।

अभिहितान्वयवाद में एक जटिल समस्या यह सामने आती है कि तात्पर्य का स्वरूप क्या है ? तात्पर्य को कहीं-कहीं संसर्ग बोधक व्यापार, वृत्ति या शक्ति भी कहा गया है और उसे कहीं-कहीं वक्ता के अभिप्रेत, विवक्षित या उद्दिष्ट अर्थ के रूप में भी स्वीकार किया गया है, जिसके आधार पर वक्ता वाक्य में प्रयुक्त पदों के बीच विशिष्ट सम्बन्ध का बोध प्राप्त कर वाक्य के चरम अर्थ का बोध प्राप्त करता है प्रश्न यह है कि यदि तात्पर्य को पद के अर्थों में संसर्ग का बोध कराने वाली शक्ति के रूप में स्वीकार किया जाय तो फिर उसी संसर्ग के बोध के लिए लक्षणा नामक एक स्वतन्त्र शक्ति की कल्पना का क्या औचित्य होगा ? कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायियों ने शब्द की अभिधा शक्ति से बोध्य अर्थों में लक्षणा शक्ति से संसर्ग-बोध के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ऐसी स्थिति में तात्पर्य-व्यापार का वाक्यार्थ-बोध में क्या कार्य माना जायगा ? एक ही संसर्ग के बोध के लिए लक्षणा तथा तात्पर्य; इन दो शक्तियों की कल्पना तो तार्किक दृष्टि से असंगत ही मानी जायगी।

इस समस्या के सम्बन्ध में अभिहितान्वयवादी विचारकों की मान्यता की सूक्ष्म परीक्षा करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वे पद के अलग-अलग अर्थों के बोध का हेतु अभिधा व्यापार को और उन अर्थों में संसर्ग-बोध का हेतु लक्षणा व्यापार को ही मानते हैं, पर इन दो व्यापारों के साथ एक तीसरे व्यापार—तात्पर्य व्यापार—की कल्पना की भी आवश्यकता समझते हैं। वे तात्पर्य-शक्ति के कार्य को लक्षणा के कार्य से अभिन्न नहीं समझते, तात्पर्य को लक्षणा शक्ति से ग्राह्य पदार्थ-संसर्ग-बोध का नियामक मानते हैं। हम देख चुके हैं कि लौकिक पदार्थों के बोध के बीच सम्बन्ध-बोध की अप्रामाणिकता का उदाहरण देकर जब अभिहितान्वयवाद के आलोचकों ने शब्द से होने वाले अर्थों के बोध के बीच लक्षणा शक्ति से होने वाले संसर्ग-ज्ञान को अप्रामाणिक बताने का प्रयास किया तो उसका उत्तर अभिहितान्वयवादियों ने तात्पर्य-शक्ति का सहारा लेकर ही दिया था। यह तात्पर्य शक्ति ही है, जिसके नियमन-शासन में लक्षणा अर्थों के बीच सार्वत्रिक रूप से निर्भ्रान्त और सर्वथा प्रामाणिक सम्बन्ध का बोध कराती है। अभिहितान्वय-वादियों की तात्पर्य-विषयक इस धारणा को दृष्टि में रख कर तात्पर्य के स्वरूप और वाक्यार्थबोध में उसके कार्य एवं महत्त्व का निर्धारण किया जा सकता है।

तात्पर्य का स्वरूप शब्द-अर्थ की अभिधा-लक्षणा वृत्तियों के स्वरूप से भिन्न है।

उसे केवल शब्द की शक्ति के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। वह ऐसा तत्त्व है जिसे पद के वाच्य अर्थों के बीच वाक्यात्मक संसर्ग-बोध की प्रेरक शक्ति मानना अधिक उपयुक्त होगा। वह बुद्धि-गत इच्छा-शक्ति का ही रूप है, जिससे प्रेरित होकर वक्ता किसी विचार को एक वाक्यार्थ के रूप में व्यक्त करने के लिए कुछ पदों को एक सम्बन्ध-सूत्र में पिरो कर वाक्यरूप में प्रयुक्त करता है और श्रोता वाक्य में वक्ता के विवक्षित अर्थ को ढूँढ़ने के लिए आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति के आधार पर पदार्थों में अन्वय स्थापित कर एक पूर्ण वाक्यार्थ का—वाक्य में व्यक्त पूर्ण विचार-समष्टि का—बोध प्राप्त करता है। इस अर्थ-बोध में अभिधा और लक्षणा शक्तियाँ सहायक होती हैं। पहले अभिधा पद के संकेतित अर्थों का अनन्य-सापेक्ष रूप में बोध कराती है, फिर उन अर्थों के बीच लक्षणा शक्ति पारस्परिक सापेक्षता स्थापित कर वाक्यार्थ-बोध उत्पन्न करती है। अभिधा शब्द के पूर्व-सिद्ध या संकेतित अर्थ का बोध कराती है, लक्षणा उन अर्थों के बीच अनिर्दिष्ट-पूर्व साध्य सम्बन्ध का बोध कराती है। अनिर्धारित-पूर्व सम्बन्ध का निर्धारण अर्थात् किसी वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों में किसी विशिष्ट अभिनव सम्बन्ध-बोध का नियमन तात्पर्य-शक्ति ही आकांक्षा, योग्यता आदि के आधार पर करती है। अतः तात्पर्य को वाक्यार्थ-बोध का नियामक और पदार्थों के बीच अन्वय स्थापित कर एक सम्पूर्ण विचार-समष्टि को वाक्यार्थ के रूप में ग्रहण करने की मनोगत प्रेरक शक्ति के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। अभिधा और लक्षणा उसके उद्देश्य में सहायक होती हैं। अतः उनमें कोई अन्तर्विरोध भी नहीं। एक की सत्ता किसी दूसरे की व्यर्थता सिद्ध नहीं करती।

आचार्य मम्मट ने तात्पर्य के इस स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए उसे अर्थ-बोध में सहायक शब्द या अर्थ का व्यापार नहीं मान कर वाक्य का उद्दिष्ट अर्थ ही मानना युक्तिसंगत समझा है। अतः उन्होंने परम्परा से प्रसिद्ध तात्पर्य-शक्ति के स्थान पर तात्पर्यार्थ पद का प्रयोग किया है और तात्पर्यार्थ को वाक्यार्थ का लगभग पर्याय मान लिया है।[1] मम्मट ने तात्पर्यार्थ या वाक्यार्थ को अपदार्थ अर्थात् प्रत्येक पद की वृत्ति का अविषय मान कर पद के अर्थों से उसकी विलक्षण सत्ता मानी है। पदों की अन्तर्निहित अभिधा शक्ति जिन परस्पर असम्बद्ध अर्थों का बोध कराती है, उनका योग-मात्र वाक्यार्थ नहीं, वह तात्पर्य से बोध्य एक विलक्षण सत्ता है। जयन्त भट्ट ने वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा व्यक्त की थी, जिसका विस्तृत विवेचन हम पहले कर चुके हैं। मम्मट ने वस्तुतः वाक्यार्थ-बोध-विषयक न्याय-मत को ही प्रस्तुत कर उसे अभिहितान्वयवादी मीमांसकों

१. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।—मम्मट काव्यप्रकाश

की शाब्दबोध-धारणा के रूप में विवेचित कर दिया है। आचार्य मम्मट जैसे शब्दशक्ति के पारखी के द्वारा अभिहितान्वयवादी शब्दार्थ-चिन्तन पर नैयायिकों की मान्यता के आरोप का कारण विचारणीय है। हम देख चुके हैं कि नैयायिकों और मीमांसकों की शाब्दबोध-विषयक मान्यताओं में साम्य के अनेक तत्त्वों के होने पर भी सूक्ष्म भेद के भी कुछ तत्त्व हैं। वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों के मतों में बहुत कुछ साम्य होने पर भी उस वाक्यार्थ के बोध तक पहुँचने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में उनकी मान्यताओं में वैषम्य है। अब प्रश्न है कि क्या आचार्य मम्मट इन अलग-अलग चिन्तनाओं में व्यक्त वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया-सम्बन्धी अलग-अलग मान्यताओं के भेद को रेखांकित नहीं कर पाये थे? ऐसा मान लेना एक महान विचारक की मनीषा की अविचारित उपेक्षा करना होगा। पर, यह विचारणीय है कि मम्मट ने अभिहितान्वयवादी चिन्तन पर नैयायिक वासना का आरोप क्यों कर दिया?

मम्मट के द्वारा शाब्दबोध-विषयक अभिहितान्वयवादी विचार को नैयायिकों की शाब्दबोध-विषयक वासना से वासित कर प्रस्तुत किये जाने का सबसे बड़ा कारण यह जान पड़ता है कि वे तात्पर्य को शब्द का व्यापार-मात्र नहीं मान कर वाक्य-प्रयोग का उद्दिष्ट फल मानना चाहते थे। उनकी दृष्टि में तात्पर्य वह मनोगत तत्त्व है जिसे व्यक्त करने में ही वाक्य-प्रयोग की सार्थकता होती है। उसी उद्दिष्ट फल की प्राप्ति के लिए—प्रयुक्त वाक्य में लक्ष्यभूत तात्पर्यार्थ की सिद्धि के लिए—पदों से व्यक्त अर्थों में आकांक्षा, योग्यता आदि के सहारे विशेष प्रकार के संसर्ग की स्थापना की जाती है। अतः तात्पर्य को वाक्यार्थ-बोध का साधन नहीं मान कर मम्मट ने उसे वाक्य का साध्य अर्थ समझा होगा। दूसरी बात यह कि, लक्षणा को पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग का बोध कराने वाली शक्ति मान लेने पर वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया की पूर्णता उसी शक्ति से मानी जा सकती थी और उसके साथ पुनः उसी की सिद्धि के लिए तात्पर्य नामक पृथक् शब्द-व्यापार की कल्पना की व्यर्थता की शंका हो सकती थी। लक्षणा शक्ति और तात्पर्य-शक्ति के बीच जो सूक्ष्म भेद अभिहितान्वयवादियों ने कल्पित किया था उसका सैद्धान्तिक तत्त्व-विश्लेषण में चाहे जो महत्त्व हो, पर वाक्यार्थ-बोध की व्यावहारिक-प्रक्रिया के विवेचन में यह सम्भव था कि लक्षणा से संसर्ग-बोध मान लेने पर तात्पर्य को वाक्यार्थ के बोधक व्यापार के रूप में स्वीकार करने में कठिनाई होती। इसलिए भी मम्मट ने तात्पर्य को व्यापार नहीं कह कर वाक्य का उद्दिष्ट अर्थ माना हो, इस सम्भावना का भी निषेध नहीं किया जा सकता। तीसरी बात यह कि, काव्य-शास्त्र के ग्रन्थ में शब्दशक्ति के विवेचन-प्रसंग में मम्मट को इतना अवकाश नहीं

था कि वे शाब्दबोध-विषयक प्रत्येक मत का विस्तृत विवेचन करते। अतः संक्षेप में अभिहितान्वयवादी विचार का परिचय देने के क्रम में उन्होंने उसमें अपने मतानुसार कुछ अपेक्षित परिष्कार भी मिला दिया, और समास शैली में काव्यप्रकाश की रचना करने के कारण, वे कुमारिल के मत को तथा अपनी मान्यता को पूर्व-पक्ष एवं उत्तर-पक्ष की शास्त्रीय निरूपण प्रणाली पर प्रस्तुत नहीं कर सके। जो हो, मम्मट अभिहितान्वयवादी मान्यता में न्यायमत के अनुसार इतना संशोधन प्रस्तुत करना चाहते थे कि तात्पर्य को शब्द का व्यापार नहीं मान कर वाक्य का अभिप्रेत अर्थ ही समझा जाना चाहिए।

मुकुल भट्ट ने कुमारिल की इस मान्यता का समर्थन किया है कि शब्द अपनी अभिधा शक्ति से साक्षात् सङ्केतित जाति-रूप अर्थ का बोध कराते हैं तथा लक्षणा शक्ति से जाति के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाले व्यक्ति का बोध कराते हैं।[1] आचार्य मम्मट ने इस मत को अस्वीकार कर यह धारणा व्यक्त की है कि शब्द की अभिधा शक्ति से जब शब्द के साक्षात् सङ्केतित जाति-रूप अर्थ का बोध होता है तब उस जाति के साथ अविनाभाव रूप से रहने वाले व्यक्ति का भी आक्षेप से बोध हो जाता है। व्यक्ति के बोध की कोई शक्ति शब्द में नहीं रहती।[2] स्पष्ट है कि आचार्य मम्मट अभिहितान्वयवादी विचार के समर्थक नहीं थे। उन्होंने जब यह कह कर शाब्द-बोध-विषयक इस विचार का निर्देश किया कि कुछ लोग तात्पर्यार्थ की सत्ता भी स्वीकार करते हैं, तब उसमें उनके अपने मत के सम्मिलित न होने की स्पष्ट ध्वनि थी। फिर भी, अभिहितान्वयवादी विचार को प्रस्तुत करने के क्रम में मम्मट पूर्ण तटस्थ नहीं रह सके और उसमें नैयायिकों की मान्यता के आधार पर किञ्चित् परिष्कार कर दिया। कुमारिल ने जहाँ यह मान्यता व्यक्त की थी कि वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया में लक्षणा शक्ति और तात्पर्य-शक्ति एक साथ सक्रिय रहती है और तात्पर्य-शक्ति लक्षणा के व्यापार का नियमन करती है, वहाँ मम्मट ने उनके मत को इस संशोधन के साथ, उन्हीं का मत कहकर प्रस्तुत कर दिया कि तात्पर्य-रूप वाक्यार्थ के बोध में अभिधा और लक्षणा वृत्तियाँ क्रम से सहायक होती हैं।

अभिहितान्वयवादी शब्दार्थ-चिन्तन के साथ शाब्दबोध-विषयक न्याय-मत को मिला देने का परिणाम यह हुआ कि काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों ने कुमारिल के अभिहितान्वयवादी विचार और नैयायिकों के शाब्दबोध-विषयक विचार को

---

१. द्रष्टव्य—मुकुल भट्ट, अभिधावृत्तिमातृका, पृ० ४
२. जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते।—मम्मट, काव्यप्रकाश, पृ.४४

अभिन्न मान लिया। काव्यप्रकाश की काव्यप्रदीप नामक टीका में गोविन्द ठक्कुर ने यह विचार व्यक्त किया है कि न्याय आदि में कुमारिल भट्ट की, तात्पर्यार्थ को वाक्यार्थ का स्वरूप मानने वाली अभिहितान्वयवादी दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है।[1] तथ्य इससे सर्वथा भिन्न है। नैयायिकों की शाब्दबोध-धरणा का विवेचन करने के क्रम में हम देख चुके हैं कि प्राचीन न्याय तथा नव्य न्याय में तत्त्व-चिन्तन की अणुवादी दृष्टि के अनुरूप वाक्यार्थ-बोध के स्वरूप और वाक्यार्थ-बोध तक पहुँचने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किया गया है। इतना ही नहीं, जैसा कि हम देख चुके हैं, नैयायिकों ने कुमारिल के अभिहितान्वयवाद के खण्डन के लिए अनेक युक्तियाँ भी दी हैं। अतः न्यायमत में अभिहितान्वयवादी चिन्तन का प्रतिपादन मानने का कोई आधार नहीं।

विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में शाब्दबोध-विषयक अभिहितान्वयवादी मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कुमारिल आदि अभिहितान्वयवादी वाक्य के अर्थ-बोध के लिए पद-निष्ठ तात्पर्य-शक्ति की कल्पना आवश्यक मानते हैं।[2] मम्मट ने जहाँ तात्पर्य-वृत्ति की जगह तात्पर्यार्थ पद का उल्लेख कर कुमारिल के मत को अपने मतानुसार कुछ संशोधन के साथ प्रस्तुत कर दिया था, वहाँ विश्वनाथ ने अभिहितान्वयवादियों के द्वारा प्रयुक्त तात्पर्य-शक्ति के ही पर्याय तात्पर्या वृत्ति पद का प्रयोग किया है। इस अंश में विश्वनाथ के द्वारा उद्धृत अभिहितान्वयवादी मत अधिक प्रामाणिक है। पर, विश्वनाथ ने भी तात्पर्या वृत्ति के आश्रय के सम्बन्ध में अभिहितान्वयवादियों के विचार पर नैयायिकों के मत का अरोप कर दिया है और यह उल्लेख कर दिया है कि अभिहितान्वयवादी तात्पर्या वृत्ति को वाक्यनिष्ठ वृत्ति मानते हैं।[3] यह मान्यता वस्तुतः अणुवादी नैयायिकों की है, जो अणुओं से घटित समष्टि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के कारण, पद-समूह से घटित वाक्य की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं और पद की शक्ति से स्वतन्त्र वाक्य की तात्पर्य-शक्ति या संसर्ग-मर्यादा की सत्ता की कल्पना करते हैं, जो शक्ति उनके अनुसार, पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग का बोध कराती हुई सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करती है। हम देख चुके हैं कि अभिहितान्वयवादी वाक्य की, उनके घटक पदों से स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। इसी आधार पर कुमारिल ने जयन्त भट्ट की इस मान्यता का खण्डन किया था कि तात्पर्य-शक्ति वाक्य-समष्टि में अन्तर्निहित रहती है। अतः पदनिष्ठ अभिधा आदि व्यापार से वाक्यनिष्ठ तात्पर्य-शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता की

१. द्रष्टव्य—काव्यप्रकाश पर काव्यप्रदीप टीका।
२. द्रष्टव्य—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण।
३. वही

कल्पना को अभिहितान्वयवादियों की कल्पना मानना उचित नहीं। तात्पर्य-शक्ति की, कुमारिल आदि अभिहितान्वयवादी, अन्य शक्तियों से—अभिधा तथा लक्षणा से—स्वतन्त्र सत्ता अवश्य मानते हैं, पर वे अभिधा आदि की तरह ही तात्पर्य-शक्ति को भी पद-निष्ठ व्यापार ही मानते हैं।

विश्वनाथ के द्वारा अभिहितान्वयवादी विचार पर नैयायिकों के मत का रंग चढ़ा कर प्रस्तुत किये जाने का एक कारण तो यह हो सकता है कि काव्य-शास्त्रीय चिन्तन में मम्मट के अनुयायी होने कारण विश्वनाथ ने मम्मट की ही पद्धति पर नैयायिकों के शाब्द-बोध-विषयक चिन्तन के आलोक में अभिहितान्वयवादी विचार में कुछ परिष्कार कर देना अपना कर्त्तव्य समझा हो और पद में ही अनेक शक्तियों की कल्पना में कुछ उलझन जान पड़ने पर उन्होंने तात्पर्य-शक्ति को वाक्यनिष्ठ व्यापार मानने वाले न्याय-मत में उस समस्या का समाधान ढूँढ़ लिया हो। तात्पर्य-शक्ति की पद-निष्ठ सत्ता मान लेने से आश्रय-भेद के कारण पद-निष्ठ अभिधा आदि से उसकी भिन्नता और इस प्रकार शाब्द-बोध में उस शक्ति की अन्वर्थता तो सिद्ध हो जाती है पर कठिनाई यह है कि मीमांसकों के तत्त्व-चिन्तन में अवयवभूत पदों से अवयवी वाक्य की ही स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। अतः आश्रय-भेद के आधार पर अन्य शक्तियों से तात्पर्य-शक्ति का भेद सिद्ध करने तथा उसे अभिहितान्वयवादियों का मत बताने में कोई युक्ति नहीं।

मम्मट और विश्वनाथ; दोनों को सम्भवतः अभिहितान्वयवादी चिन्तन में पद-पदार्थ की अभिधा एवं लक्षणा वृत्तियों के अतिरिक्त तात्पर्य-वृत्ति की स्वीकृति अनावश्यक जान पड़ी और इसलिए मम्मट ने जहाँ उसे शब्द-व्यापार की जगह तात्पर्यार्थ कह कर उस मत में परिष्कार करना चाहा, वहाँ विश्वनाथ ने तात्पर्य-शक्ति को वाक्यनिष्ठ व्यापार मान कर अभिहितान्वयवादी मत में परिष्कार करने की चेष्टा की। अभिहितान्वयवादी विचार में परिष्कार करने के लिए दोनों ने वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में नैयायिकों के द्वारा प्रस्तुत विचार का सहारा लिया। ध्यातव्य है कि पद में अनेक शक्तियों की कल्पना में जो असंगति मम्मट आदि को जान पड़ी है तथा अभिधा-लक्षणा वृत्तियों से ही वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया के निष्पन्न हो जाने से तात्पर्य-शक्ति की कल्पना की जो व्यर्थता उन्हें जान पड़ी है उसका समाधान अभिहितान्वयवादियों ने पहले ही कर दिया था। अभिधा शक्ति से पद के संकेतित अर्थ का बोध होने पर पदार्थनिष्ठ लक्षणा उनके पारस्परिक संसर्ग का बोध कराती है, पर इससे शब्दगत तात्पर्य-शक्ति व्यर्थ नहीं हो जाती। वही संसर्ग-बोध में लक्षणा का नियमन करती है, जिससे

संसर्ग-बोध में प्रामाणिकता रहती है। शब्द में एक-साथ रहने पर भी ये अलग-अलग शक्तियाँ वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया में अलग-अलग भूमिकाएँ निभाती हैं। अतः उनका एकाश्रयत्व दोष नहीं। काव्यशास्त्रीय चिन्तन में अभिहितान्वयवादी सिद्धान्त में अन्य विचारकों के विचार को मिला कर उसका जो संशोधित रूप प्रस्तुत किया गया है, वह शुद्ध अभिहितान्वयवादी शब्दार्थ-दृष्टि को समझने में बाधा ही उपस्थित करता है।

कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायियों ने खण्डन-मण्डन की तार्किक पद्धति पर वाक्यार्थ-बोध-विषयक जिस अभिहितान्वयवादी सिद्धान्त की स्थापना की है, उसके विरुद्ध सम्भावित अनेक आपत्तियों का उत्तर उन्होंने दे दिया है, फिर भी शाब्दबोध-विषयक कुछ प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। भाषिक व्यवहार में हम देखते हैं कि अपूर्ण वाक्य का भी पूर्ण अर्थ ग्रहण हो जाता है। कुछ अनुच्चरित शब्दों का भी अध्याहार से बोध हो जाता है। यह अध्याहार उच्चरित शब्दों के आधार पर ही सम्भव होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि वक्ता यदि अज्ञान-वश किसी गलत शब्द का प्रयोग कर दे, तो सुधी श्रोता उसमें सुधार कर देता है। प्रश्न यह है कि यदि वाक्यार्थ का बोध कराने की शक्ति शब्दार्थ-निष्ठ मानी जाय तो भ्रमवश गलत शब्दों का उच्चारण हो जाने पर अथवा शब्द के उच्चारण में कुछ स्खलन हो जाने पर अलग-अलग पदों के अर्थ में वह शक्ति अन्विति का बोध कैसे करा सकेगी? अपूर्ण या अशुद्ध पदों से युक्त वाक्यों से भी पूर्ण और समन्वित वाक्यार्थ का बोध होने के तथ्य से वाक्यस्फोटवादी व्याकरण-धारणा की ही पुष्टि होती है, जिसके विरुद्ध कुमारिल ने पद-पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता और उन्हीं के घटन से वाक्यार्थ की निष्पत्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

एक समस्या और है। कुछ ऐसे वाक्य होते हैं, जिनमें अनेक अर्थों के बोध की सम्भावना निहित रहती है। प्रसंग आदि के अनुकूल उन वाक्यों के अलग-अलग अर्थ का बोध होता है। ऊपर से वाक्य का रूप एक होने पर भी यह आवश्यक नहीं कि वाक्य का सर्वत्र एक ही अर्थ हो। आधुनिक विचारक चॉम्स्की ने, इसी लिए कथन की सतही संरचना और उसके सतही अर्थ के साथ उसकी अन्तर्वर्ती संरचना एवं अर्थ (Surface structure and Deep structure) का निर्देश किया है। एक वाक्य में जितने अर्थों की सम्भावना हो उसकी उतनी संरचनाएँ माननी पड़ेंगी। उदाहरण के लिए 'मोहन ने दौड़ते हुए शेर को मारा' यह सतही संरचना की दृष्टि से एक वाक्य है पर अन्तर्वर्ती संरचना की दृष्टि से उसमें दो सम्भावनाएँ हैं—(क) मोहन ने शेर को मारा, शेर दौड़ रहा था (ख) मोहन ने

शेर को मारा, मोहन दौड़ रहा था। ऐसे वाक्य का उदाहरण लें, 'गीता नाचने वाली है'। उसका एक सम्भावित अर्थ होगा कि गीता पेशे से नर्तकी है, दूसरा अर्थ होगा कि अभी कुछ ही देर में गीता नृत्य आरम्भ करने जा रही है। पद की अभिधा शक्ति से व्यक्त अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध-बोध की शक्ति मानने से एक ही वाक्य के समान पदों के अर्थों से अलग-अलग वाक्यार्थ के बोध का रहस्य स्पष्ट नहीं हो पाता।

तात्पर्य-शक्ति को पदार्थों के बीच संसर्ग-बोध कराने वाली शक्ति मानने की अपेक्षा मनोगत प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत होता, जिससे भाषा के माध्यम से विचार-विनिमय सम्भव होता है, पर अभिहितान्वय-वादियों ने ऐसा नहीं किया। स्पष्ट है कि शाब्दबोध के स्वरूप के स्पष्टीकरण में इस मत की कुछ सीमाएँ हैं।

शाब्दबोध-विषयक अभिहितान्वयवादी चिन्तन शब्दार्थ-विषयक वस्तु निर्देशात्मक सिद्धान्त पर आधृत जान पड़ता है, जो सिद्धान्त स्वयं शब्दार्थ के रहस्य की पूर्ण व्याख्या करने में असमर्थ है। शब्द से वस्तु या वस्तु की अवधारणा के ग्रहण का सिद्धान्त तथ्य का आंशिक स्पष्टीकरण ही प्रस्तुत करता है। शब्द में अर्थबोधक अभिधा शक्ति तथा जातिरूप अर्थ के साथ नित्य भाव से सम्बद्ध व्यक्ति का बोध कराने वाली लक्षणा शक्ति की सत्ता स्वीकार कर पुनः उन शब्दों से पृथक्-सिद्ध शब्दार्थों में संसर्ग-बोधक लक्षणा शक्ति की सत्ता मानने में इस बात की स्पष्ट ध्वनि है कि अभिहितान्वयवादियों ने शब्द और अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता मान ली है। इसी लिए वे अर्थबोधक तथा अर्थों के बीच संसर्ग-बोधक शक्तियों के अलग-अलग आश्रय की कल्पना आवश्यक समझते हैं। शब्द और अर्थ की अलग-अलग शक्तियों की कल्पना के मूल में शब्द-अर्थ के द्वैत की मान्यता निहित है। पर, समस्या यह है कि सभी शब्दों से व्यक्त होने वाले अर्थों की शब्द से पृथक्-सिद्ध सत्ता नहीं होती। उदाहरणार्थ या, तो, भी, नहीं आदि शब्दों के अर्थ की शब्द से पृथक् सत्ता नहीं बतायी जा सकती।

यह युक्ति दी जा सकती है कि उन शब्दों के वाच्य अर्थ की वस्तुगत सत्ता भले ही नहीं हो पर बोध-गत सत्ता तो होती ही है। मानव-बुद्धि की तार्किक संरचना के रूप में उन अर्थों का अस्तित्व माना जा सकता है और शब्दों को उनका वाचक माना जा सकता है। तार्किक प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों के शब्दों में कहें, तो कहा जा सकता है कि भाषिक जगत् में (world of discourse में) उन अर्थों का अस्तित्व रहता है। भाषिक जगत् की—शब्द-अर्थ के संसार की—इस भौतिक जगत् से स्वतन्त्र सत्ता है। अतः भूत-जगत् की वस्तु की सत्ता-असत्ता से भाषिक अर्थ की

सत्ता-असत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं। गणितीय भाषा के अर्थ-बोध की समस्या का भी इसी युक्ति से समाधान किया जा सकता है। एक, दो, शून्य आदि के वाच्य अर्थ की वस्तु जगत् में कोई सत्ता नहीं होती, फिर भी मानव मन की तार्किक संरचना के रूप में उन अर्थों की सत्ता होती है। वे अर्थ भाषिक जगत् में सिद्ध हैं। आकाशकुसुम आदि शब्दों के अर्थ का बोध भी इसी प्रक्रिया से मानव की तार्किक संरचना के रूप में ही होता है।

इस युक्ति से शब्द के अर्थबोध के रहस्य का स्पष्टीकरण तो किया जा सकता है, पर शब्दबोध-विषयक अभिहितान्वयवादी दृष्टि का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। मुख्य समस्या यह है कि क्या उन शब्दों के अर्थ की शब्द-निरपेक्ष सत्ता मानव के बोध में भी मानी जा सकती है? कुछ और उदाहरण लिये जा सकते हैं। उपसर्ग, प्रत्यय आदि भी सार्थक होते हैं, पर उनके अर्थ का ग्रहण क्या शब्द से स्वतन्त्र रूप में सम्भव होता है? उपसर्ग आदि न तो स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होते हैं और न उनका कोई संकेतित अर्थ होता है, फिर भी अर्थ में वैशिष्ट्य का आधान करने में उनकी सार्थकता तो होती ही है! स्पष्ट है कि असंख्य शब्दों के अर्थ की शब्द-निरपेक्ष सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। यों तो कुछ चिन्तनाओं में यह माना जाता है कि कोई भी अर्थ शब्द-निरपेक्ष रूप में बोध का विषय नहीं बनता?[1] पर शब्दार्थ-विषयक वस्तु-निर्देश-सिद्धान्त को मानने वाले भी या, तो, भी, एक, दो आदि पदों के अर्थ की शब्द-निरपेक्ष सत्ता सिद्ध नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह होगा कि अभिहितान्वयवादियों के द्वारा अभिधा शक्ति को शब्दनिष्ठ और संसर्ग-बोधक शक्ति को अर्थनिष्ठ स्वीकार किये जाने में क्या युक्ति है? उन पदों के अर्थ जब पद से अपृथक्-सिद्ध हैं तब उनके संसर्ग-बोधक व्यापार को पद निष्ठ ही क्यों नहीं माना जाय? उस शक्ति को अर्थनिष्ठ सिद्ध करने का जो अतिशय आग्रह अभिहितान्वयवाद में है, उसका क्या औचित्य है? इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर अभिहितान्वयवाद में नहीं मिल पाता।

शाब्दबोध की समस्या के विवेचन के प्रसङ्ग में अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के मत का मूल्याङ्कन वांछनीय है, जिसमें एक नवीन दृष्टि से इस समस्या का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है और जो मत आधुनिक युग में भाषा तत्त्वज्ञों के बीच अधिक मान्य हुआ है।

अन्विताभिधानवाद

भाषिक बोध-प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए प्रभाकर ने वाक्य से एक अन्वित अर्थ की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त स्थापित किया। भाषा-प्रयोग के उद्देश्य तथा

---

१. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १,१२३

उसकी प्रक्रिया पर ध्यान दें, तो यह स्पष्ट है कि किसी समन्वित पूर्ण विचार-खण्ड को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग किया जाता है और ऐसा करने के लिए उस विचार को व्यक्त करने वाले पदों को वाक्य के रूप में अन्वित कर ही वक्ता भाषा में उसका प्रयोग करता है। श्रोता की बोध-प्रक्रिया भी यह होती है कि वह वाक्य को—पदों की नियत क्रम से व्यवस्था को—सुन कर उन पदों के एक अन्वित अर्थ का ही ग्रहण करता है।

वाक्यार्थ को ही भाषिक बोध की मूल इकाई स्वीकार कर वाक्य में पदों के पूर्व-अन्वित अर्थ की अभिव्यक्ति मानने वाला यह सिद्धान्त अन्विताभिधानवाद के नाम से विख्यात हुआ। इस मत में पद और पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। वस्तुतः पद स्वतन्त्र रूप में भाषा में प्रयुक्त ही नहीं हो सकते। प्रयोग में आने के लिए उन्हें वाक्य का अंग बनना पड़ता है और तब वाक्य के अंगभूत सभी पद वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अपने-अपने अस्तित्व का वाक्य के अस्तित्व में समर्पण कर देते हैं। पदों और पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता वाक्य में नहीं रह जाती। पदों के परस्पर अन्वित एक पूर्ण वाक्यार्थ-बोध की सिद्धि में सहायक होने में ही उनकी सार्थकता रह जाती है।

वाक्य के अवयवभूत पद केवल अपने-अपने अर्थ का ही बोध नहीं कराते, पारस्परिक अन्विति या सापेक्षता का बोध भी उसके साथ-ही-साथ कराते हैं। पद सविभक्तिक होते हैं और विभक्ति या प्रत्यय की सार्थकता वाक्य में पदों और पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध के बोध में होती है। इस प्रकार जब व्युत्पन्न पद वाक्य में प्रयुक्त होते हैं तब वे अपनी अन्तर्निहित शक्ति से अपने आधारभूत प्रातिपदिक या धातु से प्राप्त अर्थ का तथा प्रत्यय-विभक्ति से प्राप्त पारस्परिक सम्बन्ध रूप अर्थ का एक ही साथ बोध कराते हैं और इस प्रकार एक समन्वित वाक्यार्थ का ही बोध उत्पन्न होता है, अलग-अलग पदों के विच्छिन्न अर्थों का नहीं। स्थान-प्रधान भाषाओं में पदों के सम्बन्ध-विशेष का बोध प्रयुक्त पदों के वाक्य में स्थान के आधार पर होता है। अतः वैसी भाषाओं में वाक्यगत पदों के स्थान में परिवर्तन कर देने से वाक्य का अर्थ बदल जाता है। विभक्ति-प्रधान भाषाओं के वाक्य में पदों के स्थान में चाहे कितना भी परिवर्तन क्यों न किया जाय, उन पदों की विभक्तियाँ उनके पारस्परिक सम्बन्ध का समान-रूप में ही बोध कराती हैं, अतः वाक्यार्थ में परिवर्तन नहीं होता।

अन्विताभिधानवादी विचारकों की दृष्टि में निश्चय ही, भारत की विभक्ति प्रधान भाषा, मुख्य रूप से संस्कृत भाषा—रही थी, फिर भी भाषिक बोध के सम्बन्ध में जिस तथ्य की स्थापना उन्होंने की है उसका औचित्य भिन्न प्रकृति की

भाषाओं के वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया के सन्दर्भ में भी परखा जा सकता है। प्रयुक्त पदों से एक समन्वित अर्थ का—एक पूर्ण वाक्यार्थ का—बोध ही भाषिक बोध का रहस्य है। पद स्वतन्त्र रूप से भाषा में प्रयुक्त नहीं होते, वाक्य का रूप ग्रहण कर ही—वाक्य के अंग बन कर ही—प्रयुक्त होते हैं। हाँ, न, आदि भी जब स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होते हैं तब वे एकपदात्मक वाक्य के रूप में ही प्रयुक्त माने जाते हैं, स्वतन्त्र पद के रूप में नहीं। वे पद सन्दर्भ-सापेक्ष अर्थ का बोध कराते हैं। किसी के प्रश्न करने पर जब हम कह देते हैं—'न', तो उस अस्वीकृति या निषेध का बोध कराने वाला 'न' एक वाक्य होता है, जो उस सन्दर्भ में हमारे एक स्वतःपूर्ण विचार का बोधक होता है। अतः इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि भाषा में किसी विचार के बोध के लिए वाक्य ही प्रयुक्त होते हैं, पद उन वाक्यों के घटक अवयव-मात्र होते हैं। दूसरी ओर समस्या यह है कि अर्थ का नियत संकेत शब्दों में ही रहा करता है, जिनका स्वरूप नियत होता है। वाक्य के स्वरूप साध्य हैं। अतः प्रत्येक वाक्य का पूर्व-संकेतित अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता। इसी समस्या ने भाषिक बोध के स्वरूप को इतना जटिल बना दिया है कि इस सम्बन्ध में विचारकों के अनेक सम्प्रदायों में परस्पर भिन्न दृष्टियाँ प्रस्तुत की गयीहैं।

वाक्य से एक सुसम्बद्ध अर्थ का बोध मानने में विचारकों में मतवैभिन्न्य नहीं, मतवैभिन्न्य है इस प्रश्न को लेकर कि भाषा की मूल इकाई पद और पदार्थ को मान कर वाक्यार्थ के रूप में उन्हें संघटित करने वाली किसी संसर्गबोधक शक्ति की कल्पना की जानी चाहिए या वाक्य और वाक्यार्थ को ही भाषा की मूल इकाई मान कर उसमें पूर्व-अन्वित अर्थ की अभिव्यक्ति मानी जानी चाहिए? वाक्य से पूर्ण अर्थ का बोध मानने में वैयाकरण, नैयायिक, वेदान्ती और दोनों प्रस्थानों के मीमांसक एकमत हैं, पर पद-पदार्थ तथा वाक्य-वाक्यार्थ के बीच सम्बन्ध-निरूपण में तथा भाषा की मूल इकाई के सम्बन्ध में अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के विचार परस्पर विरोधी हैं। वैयाकरण, नैयायिक आदि की इस विषय में अपनी-अपनी स्वतन्त्र मान्यताएँ हैं, जिन पर हम पहले विचार कर चुके हैं। इस सन्दर्भ में हम वाक्यार्थ के स्वरूप और उसकी बोध-प्रक्रिया के सम्बन्ध में अन्विताभिधानवादी दृष्टि की परीक्षा करेंगे।

अभिहितान्वयवादियों ने जहाँ पद से परस्पर निरपेक्ष अर्थों का बोध मान कर पदार्थनिष्ठ संसर्ग-शक्ति या तात्पर्य-शक्ति से उन अर्थों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध-बोध से वाक्यार्थ की निष्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार किया, वहाँ प्रभाकर आदि अन्विताभिधानवादी विचारकों ने पद की ही शक्ति से एक ओर अर्थ का बोध तथा

दूसरी ओर उन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध मान कर वाक्य में अन्वित अर्थ के ही बोध का सिद्धान्त स्थापित किया। उनकी दृष्टि में वाक्य के अवयवभूत पद अनन्यसापेक्ष अर्थात् विच्छिन्न अर्थों का बोध नहीं कराते, वे परस्पर सापेक्ष अर्थों का ही बोध कराते हैं। अतः वाक्य में किसी पद के स्वतन्त्र अर्थ की सत्ता नहीं। प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदों के अर्थों से सम्बन्ध-विशेष का बोध कराते हुए पूर्ण वाक्यार्थ की सिद्धि करता है। फलतः पूर्ण वाक्यार्थ के बोध में पद और पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता का विलयन हो जाता है। जैसे जल की धारा में बूंदों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता, वैसे ही पूर्ण वाक्यार्थ के बोध में उसके घटक पद-पदार्थ का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहता।

हम देख चुके हैं कि शाब्दबोध-विषयक अभिहितान्वयवादी चिन्तन के पक्ष में प्रबल तर्क हैं, और पद के संकेतित अर्थ के अलग-अलग अस्तित्व के सिद्धान्त को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। कोशार्थ के बोध में पद के अर्थ की अन्य-सापेक्षता की कल्पना नहीं की जा सकती और जब यह सिद्ध हो जाता है कि पद में अन्य-निरपेक्ष रूप में भी अपने संकेतित अर्थ का बोध कराने की शक्ति रहती है, तब यही मानना पड़ेगा कि वाक्य में घटित पदों में से अलग-अलग जिन अर्थों का बोध होता है, उन्हीं का अन्वित रूप वाक्यार्थ होता है और अर्थों में यह अन्वय संसर्गबोधक शक्ति से स्थापित होता है, पर प्रभाकर आदि अन्विताभिधानवादी विचारकों ने भाषिक व्यवहार के प्रत्यक्ष अनुभव के साक्ष्य पर वाक्य-प्रयोग में पूर्व-अन्वित पदार्थों की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त स्थापित किया है। वे वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की तरह इस सीमा तक तो आग्रह नहीं रखते कि वाक्य में पद की यथार्थ सत्ता को ही अस्वीकार कर दें, उसे केवल कल्पित या अयथार्थ सत्ता मान लें, फिर भी वाक्यार्थ को भाषिक बोध की मूल इकाई मानने में वे वाक्यस्फोट-सिद्धान्त के निकट अवश्य पहुँच जाते हैं। मीमांसा दर्शन के तत्त्व-चिन्तन के अनुरूप अन्विताभिधानवादी वाक्यार्थ को पदार्थ-समष्टि मान कर उस समष्टि के विधायक व्यष्टि की भी यथार्थ सत्ता स्वीकार करते हैं, पर उनके परस्पर अन्वित होकर ही वाक्यार्थ के रूप में बोधगत होने के तथ्य में विश्वास करते हैं।

भाषिक प्रयोग के मूल में निहित मनोवैज्ञानिक तथ्य पर विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता अपने पूर्ण, समन्वित विचार को व्यक्त करने के लिए ही वाक्य का प्रयोग करता है और श्रोता भी वाक्य में व्यक्त विचार को पूर्णता में ही ग्रहण करता है। वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया में अलग-अलग पद के परस्पर निरपेक्ष अर्थ का अलग-अलग बोध प्राप्त कर लेने के उपरान्त उनके बीच सम्बन्ध

का बोध प्राप्त करने का क्रम नहीं रहा करता, इसके विपरीत पूर्ण और समन्वित वाक्यार्थ का बोध प्राप्त कर ही भाषिक विश्लेषण में वाक्य के अवयवों का अलग-अलग विवेचन किया जा सकता है। तात्पर्य यह कि भाषिक बोध के स्वरूप-विश्लेषण में पद-पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता की उपादेयता भले ही हो, वाक्य के अर्थबोध में समष्टि-अर्थ—पूर्व-अन्वित पदार्थ—ही महत्त्व रखता है।

अन्विताभिधानवादियों ने अपनी मान्यता की पुष्टि में यह युक्ति दी है कि अन्य-निरपेक्ष पद भाषा में स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त नहीं हो सकते। शाबर भाष्य की टीका में प्रभाकर ने यह मान्यता प्रकट की है कि भाषिक व्यवहार में किसी अनन्य-सापेक्ष अर्थ का बोध कराने के लिए किसी एक स्वतन्त्र पद का प्रयोग नहीं किया जाता। यदि एक ही पद का प्रयोग कभी होता भी है तो उस पद का अर्थ सत्ता की धारणा के साथ अन्वित रूप में ही बोध का विषय बनता है।[1] उदाहरणार्थ, जब अचानक अपने सामने साँप को देख कर कोई भय और आतंक से चिल्ला उठता है—साँप ! तो वह एक ही पद का प्रयोग करता है, पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करें तो उस पद का अर्थ अन्य-निरपेक्ष नहीं। साँप शब्द का संकेतित अर्थ तथा उसकी सत्ता; दोनों का समन्वित बोध, इस प्रयोग में, साँप शब्द से होता है। स्पष्ट है कि ऐसे प्रयोग में 'साँप' को अन्य-निरपेक्ष स्वतन्त्र पद का प्रयोग नहीं माना जा सकता, उस पद के अर्थ के सत्ता-सापेक्ष होने के कारण उसे पूर्व-अन्वित अर्थ का बोध कराने वाले एकपदात्मक वाक्य के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। भाषा में प्रयुक्त एक पद के अर्थ के अनिवार्यतः सत्ता-सापेक्ष होने के सिद्धान्त का समर्थन पतञ्जलि की इस मान्यता से होता है कि पदार्थ और सत्ता का नित्य सम्बन्ध है। सत्ता-निरपेक्ष पदार्थ का बोध नहीं होता।[2] ध्यातव्य है कि भाषिक व्यवहार में प्रयुक्त एक पद का अर्थ अध्याहार से अप्रयुक्त पद के क्रिया, परिस्थिति आदि अर्थ के साथ भी अन्वित होकर बोधगत हो सकता है। प्यास से बेचैन होकर कोई पानी ! पानी ! की रट लगाता हो तो उससे 'पानी दो' के अन्वित अर्थ का बोध हो सकता है। सुन्दर दृश्य पर मुग्ध होकर कोई वाह ! कहे, तो सम्पूर्ण दृश्य की सुन्दरता के साथ समन्वित होकर वाह ! शब्द का अर्थ बोध-गत होगा। इससे स्पष्ट है कि किसी पूर्ण-विचार के बोध के लिए वाक्य का ही प्रयोग होता है, विच्छिन्न पद का नहीं। वाक्य से परस्पर अन्वित अर्थ का ही बोध होता है, उसके अवयवभूत पदों से परस्पर-निरपेक्ष पदार्थों का नहीं।

प्रभाकर आदि अन्विताभिधानवादियों की दृष्टि में वाक्य के अवयव के रूप में

१. पदार्थस्तावत् नाव्यतिषक्ताः क्वचिदुपलभ्यन्ते। अन्ततोऽसत्यर्थेन।—शाबर भाष्य, बृहती।

२. न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति।—पतञ्जलि; महाभाष्य, २.९४

प्रयुक्त होकर ही शब्द अर्थवत्ता प्राप्त करते हैं। उनके मतानुसार वाक्य वह सावयव समष्टि है जिसके अंगभूत पद अपने-अपने अर्थ के माध्यम से परस्पर सम्बद्ध होते हैं। उस समष्टि के अवयवों की भी यथार्थ सत्ता है, पर अर्थ-बोध की प्रक्रिया में अलग-अलग अवयवों के अर्थ का अलग-अलग ग्रहण न होकर अर्थ-समष्टि का ही एक अखण्ड वाक्यार्थ के रूप में ग्रहण होता है। अतः वाक्य ही, उनकी दृष्टि में, भाषा की मूल इकाई है, उसके घटक पद नहीं।

बच्चों के भाषिक ज्ञान अर्जित करने की प्रक्रिया पर विचार करते हुए अन्विताभिधानवादियों ने यह युक्ति दी है कि बड़े लोगों के भाषिक-व्यवहार को सुन कर बच्चा पहले वाक्यार्थ का ही बोध प्राप्त करता है और फिर आवाप-उद्वाप के द्वारा वाक्य में प्रयुक्त अलग-अलग पदों के अर्थ को समझता है। उदाहरणार्थ, जब वक्ता किसी से कहता है—'गाय को ले आओ' और बच्चा देखता है कि जिससे वह बात कही गयी है वह एक जानवर को ले आता है तो बच्चा उस सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ उस जानवर और उसे लाने की क्रिया के रूप में एक साथ ही ग्रहण करता है। फिर कभी वह बच्चा किसी को किसी से यह कहते सुनता है कि—'गाय को बाँध दो' और वह श्रोता को एक विशिष्ट क्रिया में प्रवृत्त होते देखता है। वह गायपदवाच्य पशु और उसके साथ की जाने वाली क्रिया का सम्बद्ध रूप में एक ही पूर्ण वाक्यार्थ का ग्रहण करता है। तदनन्तर वह 'गाय को दूहो', 'गाय को खाना दो' 'गाय को खोल दो' 'गाय बैठी है' आदि अनेक प्रयोगों को सुनता है और उनके सम्पूर्ण समन्वित अर्थ का बोध प्राप्त करता चलता है। एकाधिक वाक्यों का पूर्ण और पूर्व-अन्वित अर्थ समझ लेने के बाद ही आवाप-उद्वाप से वाक्य के घटक पदों के अर्थ-ग्रहण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। उक्त सभी वाक्यों में वह समान रूप से गाय पद का प्रयोग सुनता है और सभी वाक्यों के प्रयोग के अनन्तर एक ही जाति के पशु के साथ विभिन्न क्रिया का सम्पादन देखता है। इस प्रकार वह सभी वाक्यों में प्रयुक्त समान पद 'गाय' का अर्थ गो-जाति युक्त किसी प्राणी को समझ लेता है। इस प्रकार आवाप की पद्धति से वह विभिन्न वाक्यों में समान रूप से प्रयुक्त एक पद का एक विशेष पदार्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। विभिन्न वाक्यों में लाओ', बाँधो, 'दूहो' आदि पदों के साथ अलग-अलग क्रिया में प्रवृत्ति को देखते हुए वह उद्वाप की पद्धति से अलग-अलग क्रिया-पदों का अलग-अलग क्रियाओं के साथ सम्बन्ध-निर्धारित कर लेता है। स्पष्ट है कि बच्चा भाषिक व्यवहार में सम्पूर्ण वाक्य को एक इकाई के रूप में ग्रहण करता है, अलग-अलग पदों के समूह

के रूप में नहीं।[1]

आवाप और उद्धार की पद्धति से वाक्य के अवयवभूत पदों के अर्थ-बोध के तथ्य को अन्विताभिधानवादी इस बात का प्रमाण मानते हैं कि वाक्य ही भाषा की मूल इकाई है। उनकी मान्यता है कि विच्छिन्न, असम्बद्ध या अन्यनिरपेक्ष प्रत्यय का ग्रहण सम्भव नहीं। प्रत्येक पद से बोधगम्य प्रत्यय वाक्य के अन्य पदों से ग्राह्य प्रत्ययों के साथ पारस्परिक संसर्ग के साथ ही गृहीत होता है। उदाहरणार्थ, 'गाय को बाँधो' जैसे वाक्य में गाय पद-वाच्य अर्थ का बाँधना क्रिया के साथ तथा बाँधना क्रिया का गाय पद के वाच्य अर्थ के साथ अन्योन्य सम्बन्ध के साथ ही उन पदों के अर्थ का ग्रहण होता है। इस प्रकार वाक्य-गत पदों से बोध्य अर्थों में ही पारस्परिक सम्बन्ध भी निहित या पूर्वसिद्ध रहता है और उसके बोध के लिए पदार्थनिष्ठ किसी अतिरिक्त शक्ति की कल्पना अनावश्यक है।

इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि वाक्य में परस्पर सम्बद्ध प्रत्ययों के सम्बन्ध तत्त्व को उन से अलग कर भी समझा जा सकता है और अलग-अलग वाक्यों में उस सम्बन्ध को अलग-अलग प्रत्ययों के साथ जोड़ा जा सकता है, पर इससे यह मान लेने की भूल नहीं होनी चाहिए कि प्रत्यय सम्बन्ध-निरपेक्ष होकर भी बोधगत हो सकते हैं। असम्बद्ध प्रत्यय को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता, यह अन्विताभिधानवादी विचारकों की स्थापना है।

यह सही है कि एक वाक्य में एक पद दूसरे पद-विशेष के साथ सम्बद्ध रहता है और दूसरे वाक्य में उसी पद का किसी अन्य पद के साथ सम्बन्ध रहता है और इस लिए भाषा में किसी एक पद का किसी दूसरे पद के साथ नियत सम्बन्ध निर्धारित नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ, 'गाय को बाँधो' जैसे वाक्य में बाँधना का गाय के साथ और गाय का बाँधने के साथ पारस्परिक सम्बन्ध रहता है और उस सम्बन्ध के साथ ही वाक्य में उन दो पदों के अर्थ का बोध होता है, पर 'गाय को दूहो' या 'गाय को घास दो' जैसे वाक्यों में गाय पद का बाँधना पद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, दूहना, घास देना आदि के साथ क्रमशः सम्बन्ध हो जाता है। इसी प्रकार बाँधना का एक वाक्य में गाय के साथ सम्बन्ध हो सकता है पर अन्य वाक्यों में किसी भी अन्य पद के वाच्य अर्थ से उसका सम्बन्ध हो

---

१. वाक्येनैव हि वाक्यार्थः प्रथमं प्रतिपद्यते।
उपलक्षणतश्चास्य सम्बन्धग्रहसम्भवः॥
वाक्यं गोपदयुक्तं यत् तत् सास्नादिसमन्वितम्।
वाक्यार्थं वदतीत्येवं व्युत्पत्तिः सुकरैव हि॥ —एकावली, की तरला टीका में उद्धृत,

सकता है। अतः अन्विताभिधानवादी किन्हीं दो प्रत्ययों में सम्बन्ध का नियत स्वरूप मानने की भूल नहीं करते। उनकी मान्यता का सार केवल यह है कि किसी वाक्य में एक पद से बोध्य प्रत्यय किसी-न-किसी अन्य पद के प्रत्यय से सम्बद्ध होकर ही बोध का विषय बनता है, भले ही दो प्रत्ययों के बीच वह विशिष्ट प्रकार का सम्बन्ध सामयिक ही हो, नित्य नहीं। प्रत्ययों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का स्वरूप बदलता रहता है, पर यह तथ्य है कि सम्बन्ध-रहित प्रत्यय का अस्तित्व नहीं होता। इस प्रकार अन्विताभिधानवादी प्रभाकर के वाक्यार्थबोध-विषयक चिन्तन का सार-संक्षेप यह है कि किसी वाक्य का अर्थ अखण्ड और स्वतःपूर्ण एक विशिष्ट विचार होता है, जिसमें अवयव-भूत पदों के प्रत्यय-रूप अर्थों का अस्तित्व भी रहता अवश्य है, पर वे प्रत्यय विच्छिन्न न होकर एक सम्बन्ध-सूत्र से परस्पर अन्वित रूप में ही बोध-गत होते हैं। शब्द पहले अन्वित या परस्पर-सम्बद्ध अर्थ का ही बोध कराते हैं, फिर सम्बन्ध से अलग कर भी, आवापोद्धार की पद्धति शब्द के अपने अर्थ को समझा जा सकता है।[1]

शाब्दबोध-विषयक इस अन्विताभिधानवादी मान्यता के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि यदि वाक्य में पद से परस्पर अन्वित अर्थ का ही बोध माना जाय तो यह मानना पड़ेगा कि किसी पद का अर्थ तभी बोधगम्य होगा जब उससे सम्बद्ध अन्य प्रत्यय का अन्य पद से कथन होने पर, बोध हो जाय। अब प्रश्न यह है कि किसी पद से बोधगम्य अर्थ का जिस अन्य पद के अर्थ के साथ सम्बद्ध रूप में बोध माना जायगा, क्या उस सम्बद्ध अर्थ का बोध भी उसी पद से माना जायगा या उसके बोध के लिए उसके वाचक अन्य पद का प्रयोग आवश्यक माना जायगा? यदि अपने अर्थ का अन्य-सापेक्ष रूप में बोध कराने वाले पद से ही उसके अपने अर्थ के साथ अन्वित अन्य पदार्थ का बोध मान लिया जाय, तो उस सम्बद्ध अन्य अर्थ के बोध के लिए अन्य पद के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी और सम्बद्ध अर्थ के बोध के लिए वाक्य में जो अन्य पदों का प्रयोग किया जाता है उसे व्यर्थ मानना पड़ेगा। इस कठिनाई से बचने के लिए यदि दूसरा विकल्प मानकर यह कहा जाय कि एक पद के अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध उसके वाचक अन्य पद से होता है, तो एक दूसरी कठिनाई सामने आती है। एक पद के अर्थबोध के लिए अन्य सम्बद्ध पद के अर्थ का बोध आवश्यक मानने पर वाक्य के अंगभूत सभी पदों

---

१. यद्यपि प्रतिप्रयोगं विशेषान्तरतत्संसर्गयोर्व्यभिचारः तथापि योग्येतरान्वितस्य स्वार्थमात्रस्याव्यभिचारात् प्रथमावगतयोग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसामर्थ्यानुसारेण प्रयोगान्तरेष्वपि तथैव कल्पयिष्यते।—तत्त्वप्रदीपिका, पृ० १४५

के अर्थबोध में अन्योन्याश्रयत्व दोष उपस्थित हो जायगा। उदाहरणार्थ, 'गाय को ले आओ' जैसे वाक्य में 'गाय' और 'लाना' के अर्थों का परस्पर अन्वित रूप में बोध माना गया है। यदि यह मानें कि गाय शब्द अपने संकेतित अर्थ का बोध कराने के क्रम में लाना क्रिया के अर्थ का भी बोध अपनी अन्तर्निहित शक्ति से ही करा देता है, क्योंकि उस वाक्य में गाय का अर्थ पहले से लाना क्रियापद के अर्थ से अन्वित है, तो 'ले आओ' का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा और यदि यह माना जाय कि 'गाय' पद के अर्थ का बोध 'लाना' पद के अर्थ का बोध होने पर ही हो सकता है और इसी तरह 'लाना' के अर्थ का बोध गाय पद के अर्थ का बोध होने पर ही हो सकता है, चूँकि वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, तो इसमें परस्पराश्रयत्व दोष होगा। गाय पद के अर्थ-बोध का साधक लाना के अर्थबोध को तथा लाना पद के अर्थ-बोध का साधक गाय पद के अर्थबोध को मानने में यौक्तिक असंगति होगी। जब गाय पद के अर्थ का बोध लाना पद के अर्थ-बोध के बिना सिद्ध नहीं होगा तब उसके आधार पर लाना पद के अर्थ की सिद्धि कैसे होगी और इसी प्रकार जब लाना पद का अर्थ गाय पद के अर्थ-बोध के बिना असिद्ध होगा तो उसके आधार पर गाय पद के अर्थ बोध की सिद्धि कैसे होगी? इस मान्यता में एक और आपत्ति यह होगी कि 'गाय' पद का 'लाना' पद से सार्वत्रिक सम्बन्ध तो है नहीं, वह सम्बन्ध कुछ वाक्यों में ही सामयिक रूप में घटित माना जा सकता है फिर वाक्य के एक पद का अर्थ-बोध, किस अन्य पद के अर्थ के बोध पर निर्भर माना जायगा?[1]

इस आपत्ति के उत्तर में अन्विताभिधानवादियों ने यह युक्ति दी है कि परस्पर सम्बद्ध अर्थों का बोध वस्तुतः उनके वाचक शब्द ही अपनी अभिधा शक्ति से कराते हैं। इसलिए वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक पद की अर्थ-बोध में उपादेयता होती है। एक पद से जिस अर्थ का बोध होता है, उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध वही शब्द नहीं करा देता, उसके वाचक अन्य पद से ही उसका बोध होता है। अतः सम्बन्ध-बोध से अन्य पद के प्रयोग की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार पहले शब्द की अभिधा शक्ति से असम्बद्ध या स्वतन्त्र अर्थ का अभिधान और फिर उसी शब्द-निष्ठ अभिधा शक्ति से सम्बन्ध का बोध मान लेने पर अन्योन्याश्रयत्व दोष का तो परिहार हो जाता है; पर एक अन्य कठिनाई उपस्थित हो जाती है। पद में अभिधा शक्ति के दो व्यापारों की दूराकृष्ट कल्पना करनी पड़ती है—एक उसके साक्षात् सङ्केतित स्वतन्त्र अर्थ के बोध के लिए और दूसरा अन्य पदार्थों के साथ उसके

---

१. ननु किमनभिहितेन पदार्थेन अन्वितं स्वार्थमवबोधयति गोपदम्, उत पदान्तराभिहितेन। × × × × गोपदेन स्वार्थोऽभिधातव्य इति व्यक्तमेव परस्पराश्रयत्वम्।—तत्त्वप्रदीपिका, पृ० १४५

वाक्यात्मक सम्बन्ध-बोध के लिए। यह मान्य सिद्धान्त है कि एक बार प्रयुक्त शब्द में अर्थ के बोध की जो शक्ति रहती है, वह उस अर्थ का बोध करा लेने पर विरत हो जाती है और उसका व्यापार वैसे ही बोध के लिए क्रमिक रूप में नहीं चल सकता।[1] शब्द में निहित एक ही शक्ति से—अभिधा से—क्रमशः अर्थ का बोध तथा अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध मानने पर अभिधा व्यापार के सम्बन्ध में सर्वमान्य उक्त सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। अतः उक्त मान्य मत के विरुद्ध पड़ने वाली यह अन्विताभिधानवादी युक्ति मान्य नहीं होगी। यदि यह मान लिया जाय कि शब्द की अभिधा शक्ति अर्थ और सम्बन्ध का बोध क्रमिक रूप में नहीं, बल्कि एक ही साथ कराती है, तो भी समस्या का समाधान नहीं होता। प्रश्न यह है कि यदि वाक्य के अवयवभूत सभी पदों की अभिधा शक्ति से एककालावच्छेदेन उनके अर्थों और उनके बीच पारस्परिक सम्बन्ध का बोध माना जाय तो वाक्य में एक पद के अर्थबोध में तथा अन्य जिस पदार्थ के साथ उसका सम्बन्ध रहता है उसके बोध में जो पौर्वापर्य क्रम का बोध होता है, उसका समाधान कैसे किया जा सकेगा ? वाक्य में सभी पदार्थों के पौर्वापर्य-रहित युगपत् बोध का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। एक ही अभिधा के दो व्यापारों की कल्पना युक्तिसंगत नहीं। अतः शब्द में निहित अभिधा शक्ति से अर्थ बोध के साथ-साथ सम्बन्ध का न तो युगपत् बोध सिद्ध होता है और न क्रमिक बोध ही।[2]

पदनिष्ठ शक्ति से—अभिधा शक्ति से—अर्थ-बोध तथा सम्बन्ध-बोध की मान्यता के विरुद्ध उठायी गयी उक्त आपत्ति का उत्तर देते हुए प्रभाकर ने यह युक्ति दी है कि वाक्य के अवयव-भूत पदों में अन्तर्निहित शक्ति से जो उनके अर्थों का तथा उन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है, उसके लिए न तो अभिधा के दो व्यापारों की कल्पना की आवश्यकता है और न उसके विरम्य व्यापार की अर्थात् अर्थ का बोध कराने के उपरान्त सम्बन्ध-बोध कराने के क्रमिक व्यापार की कल्पना ही आवश्यक है। वाक्यगत पदों के अर्थ का बोध पहले स्मृति से होता है। शब्द के सङ्केतित अर्थ का बोध व्यक्ति के मन में संस्कार रूप से पहले से रहा करता है। पद को सुनते ही उसके सङ्केतित अर्थ की स्मृति हो जाती है और इस प्रकार स्मृति के फलस्वरूप पदार्थ का बोध सम्भव होता है। पदनिष्ठ अभिधा का व्यापार जो काम करता है, वह पदों के अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध

---

१. सकृत्प्रयुक्तशब्दस्य विरम्य व्यापारानुपपत्तिः।—तत्त्वप्रदीपिका पर नयनप्रसादिनी टीका, पृ० १४६.

२. पदार्थमात्राभिधानपूर्वके तु तदन्विताभिधाने द्विरभिधानमप्रमाणमनुपपद्यमानं चापद्येत।—वही पृ० १४६.

कराने का ही काम है। अतः अभिधा का एक ही व्यापार है—पदार्थों के बीच सम्बन्ध-बोध कराने का व्यापार। शब्द और अर्थ के सहज सम्बन्ध के बोध के लिए अभिधा के व्यापार की कल्पना आवश्यक नहीं। नैयायिकों ने शब्द और अर्थ के सहज सम्बन्ध का बोध—शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध—स्मृति के आधार पर ही माना है। प्रभाकर ने भी स्मृति से पदार्थ का बोध तथा पदनिष्ठ अभिधा व्यापार से पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध मान कर अभिधा के दो व्यापारों की कल्पना के दोष से अथवा एक ही अभिधा के विरम्य व्यापार से अर्थ-बोध तथा सम्बन्ध-बोध के क्रम की कल्पना के दोष से अपने अन्विताभिधानवादी चिन्तन को मुक्त करने का प्रयास किया है।

प्रभाकर आदि अन्विताभिधानवादियों की इस युक्ति से भी समस्या का पूर्ण समाधान नहीं हो पाता। प्रश्न यह है कि अन्विताभिधानवादी चिन्तन में पदार्थों के परस्पर सम्बद्ध रूप में ही बोधगत होने की जो धारणा व्यक्त की गयी है उसके अनुरूप तो स्मृति में आने वाले पदार्थों को भी परस्पर सम्बद्ध ही माना जायगा। दूसरे शब्दों में, पद से परस्पर अन्वित अर्थों की ही स्मृति माननी पड़ेगी। प्रभाकर तथा उनके मतानुयायी सभी प्रकार के ज्ञान को तथा किसी भी अभिव्यक्ति को अन्वितपूर्व ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में पद से होने वाली अर्थ-स्मृति को स्वतन्त्र अर्थ की स्मृति कैसे माना जा सकेगा? स्मृति पूर्वानुमान या पूर्व-प्राप्त ज्ञान पर आधृत होती है। जब आधारभूत पूर्व-ज्ञान को परस्पर-सम्बद्ध माना गया है, तब उसके आधार पर होने वाली पदार्थ-स्मृति को स्वतन्त्र, असम्बद्ध या अनन्यसापेक्ष मानने का क्या आधार होगा? अतः अन्विताभिधानवादी विचार में परस्पर अन्वित पदार्थों के बोध को जो वाक्यार्थ-बोध का स्वरूप माना गया है, उसमें परस्पराश्रयत्व दोष अपरिहार्य रूप से आ ही जाता है। इस दोष का परिहार तभी हो सकता है, जब अन्वित अर्थ से स्वतन्त्र पदार्थ की अन्य-निरपेक्ष सत्ता का बोध सिद्ध किया जा सके।[1]

अन्विताभिधानवादी अपने चिन्तन को निर्दुष्ट सिद्ध करने के लिए किसी पदार्थ के स्वतन्त्र और स्वतः सिद्ध रूप की स्मृति सिद्ध करने के पक्ष में यह युक्ति दे सकते हैं कि निश्चय ही स्मृति का आधारभूत पूर्व-अनुभव या पूर्व-ज्ञान परस्पर सम्बद्ध होता है और उस पर आधृत स्मृति भी सम्बद्ध होती है, फिर भी तथ्य यह है कि एक पदार्थ का सम्बन्ध असंख्य पदार्थों के साथ होता है और इसलिए जब उससे सम्बद्ध एक पदार्थ को छोड़ कर अन्य पदार्थ के साथ उसके सम्बन्ध का

---

१. ननु द्विरभिधानां न पदजातस्य साहचर्यदर्शनात् × × पदेभ्यः स्मृति स्यात्।—तत्त्वप्रदीपिका पृ० १४६

निर्धारण होने लगता है तब इस आवापोद्धार के क्रम में उस पदार्थ के स्वतः-सिद्ध अनन्यसापेक्ष रूप का भी बोध हो जाता है। उदाहरणार्थ, गाय पद-वाच्य अर्थ का 'लाना,, 'बाँधना' दूहना आदि असंख्य क्रिया-पदों या गुण आदि के बोधक पदों के अर्थ के साथ सम्बन्ध हो सकता है। इनमें से किसी-न-किसी पदार्थ के साथ या कम-से-कम सत्ता के अर्थ के साथ सम्बद्ध होकर ही 'गाय' पद का अर्थ बोध-गम्य होता है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से गाय पद से स्मृति में आने वाला अर्थ अन्वित-पूर्व ही होता है, पर जब हम अपनी स्मृति में आये हुए गाय पद के अर्थ को 'गाय को बाँधो', 'गाय को दूहो' आदि वाक्यों में लाना क्रिया से अलग कर बाँधना या दूहना आदि क्रियाओं के साथ सम्बद्ध करने लगते हैं, तब एक पदार्थ से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध-स्थापन की संक्रान्ति-दशा में गाय के स्वतः पूर्ण स्वतन्त्र रूप की भी स्मृति-गत सत्ता सिद्ध हो जाती है। अतः पद से होने वाली पदार्थ-स्मृति में पदार्थ के स्वतन्त्र, स्वतः पूर्ण, अन्य-निरपेक्ष रूप का बोध मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए और न इस मान्यता को अन्विता-भिधानवादी दृष्टि के प्रतिकूल ही माना जाना चाहिए, क्योंकि अन्विताभिधानवाद में पद से स्मृति में आये हुए पदार्थों के पदनिष्ठ अभिधा शक्ति से अन्वित होकर ही वाक्य में व्यक्त होने की धारणा प्रकट की गयी है।

पदार्थ-विशेष से सम्बद्ध होने वाले पदार्थों की अनन्तता तथा किसी पदार्थ के साथ किसी भी दूसरे पदार्थ के अव्यभिचारी या नित्य सम्बन्ध के अभाव के आधार पर पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध के व्यभिचरण की दशा में—एक पदार्थ के किसी पदार्थ से सम्बन्ध छोड़ कर अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ने की दशा में—स्वतः पूर्ण, स्वतन्त्र पदार्थ की स्मृति का यह सिद्धान्त सबल युक्ति पर आधृत नहीं है। अव्यभिचार को स्मृति का कारण नहीं माना जाता। साहचर्य को स्मृति का एक कारण माना गया है। 'गाय लाओ' जैसे वाक्य में 'गाय' और 'लाओ' में अव्यभिचारी सम्बन्ध तो नहीं है, पर इन दो पदार्थों में साहचर्य अवश्य रहता है, अतः 'गाय लाओ' में इन पदों के अर्थों की स्मृति भी साहचर्य से, परस्पर सम्बद्ध रूप में ही होती है। साहचर्य के आधार पर पदार्थों की परस्पर सम्बद्ध रूप में होने वाली स्मृति में, सम्बन्ध के व्यभिचार से बाधा नहीं आती। यह ठीक है कि गाय को लाओ, बाँधो, दूहो आदि प्रयोगों में से किसी के साथ गाय का अव्यभिचारी या नियत सम्बन्ध नहीं, फिर भी गाय पद का अर्थ किसी भी एक क्रियापद के अर्थ के साथ सम्बद्ध रूप में ही स्मृति में आ सकता है। उन क्रिया-पदों का गाय पद के साथ व्यभिचारी या अनित्य सम्बन्ध उनकी सम्बद्ध स्मृति में बाधक नहीं।[1] इस प्रकार स्मृति से स्वतन्त्र पदार्थ का बोध और शब्द

---

१. द्रष्टव्य—तत्त्वबिन्दु, पृ० ९६,९९ तथा
तत्त्वप्रदीपिका पृ० १४६ ४७

की अभिधा शक्ति से पदार्थों के सम्बन्ध का बोध सिद्ध नहीं होता। अतः अन्विताभिधानवादी विचार को परस्पराश्रयत्व दोष से मुक्त सिद्ध करने के लिए दी गयी यह युक्ति मान्य नहीं।

अन्विताभिधानवादी विचारकों ने अपने सिद्धान्त की संरक्षा में यह युक्ति दी है कि स्मृति का साहचर्य आदि से भी अधिक सबल हेतु अभ्यासातिशय होता है। शब्द को सुन कर जो स्वतन्त्र अर्थ की स्मृति होती है उसका कारण अतिशय अभ्यास होता है, साहचर्य नहीं। अतः साहचर्य-जन्य पदार्थ-स्मृति को परस्पर सम्बद्ध मान कर जो सम्बद्ध की स्मृति में परस्पराश्रयत्व दोष दिखाया गया है, वह उचित नहीं। पहले अलग-अलग पद से अभ्यास के फलस्वरूप स्वतन्त्र और स्वतः-पूर्ण पदार्थों की स्मृति होती है और तदनन्तर शब्द-निष्ठ अभिधा शक्ति से उनका एक वाक्यार्थ के रूप में अन्वित बोध होता है। इस प्रकार परस्पर अन्वित अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ का बोध शब्द-निष्ठ अभिधा शक्ति से ही होता है। अभिहितान्वयवादियों को पदार्थगत सम्बन्ध-बोध के लिए पदार्थ-निष्ठ एक अतिरिक्त शक्ति—तात्पर्य-शक्ति की—कल्पना करनी पड़ी है। अन्विताभिधानवाद में चिन्तन का यह लाघव है कि इसमें वाक्यार्थ-बोध के लिए पदार्थ-निष्ठ किसी शक्ति की कल्पना की आवश्यकता नहीं। अभ्यासातिशय के कारण वाक्य के अवयवभूत पदों से अनन्यसापेक्ष, स्वतः-पूर्ण और स्वतन्त्र अर्थों की स्मृति और शब्द-निष्ठ अभिधा शक्ति से उनके परस्पर सम्बद्ध रूप में ग्रहण का सिद्धान्त मानने से, अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध किये गये सभी आक्षेप निराधार सिद्ध हो जाते हैं। न तो इस चिन्तन में परस्पराश्रयत्व दोष है, न अभिधा शक्ति के दो व्यापारों की कल्पना का दोष है, न वाक्य में पदार्थ के क्रम-बोध को स्पष्ट करने की असमर्थता का दोष है और न एक पद से ही उसके अपने अर्थ के साथ सम्बद्ध अन्य पदार्थ की सिद्धि से अन्य पद के प्रयोग की व्यर्थता का ही दोष है।[1]

अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठायी गयी है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि 'गाय को ले आओ' जैसे वाक्य में पहले गाय शब्द से एक विशेष प्राणी की स्मृति हो जाती है और तदुपरान्त अभिधा शक्ति से वह गाय शब्द अपने वाच्य अर्थ का लाना क्रिया के साथ सम्बन्ध-बोध कराता है, तो प्रश्न यह होगा कि गाय पद की अभिधा से ही उसके अर्थ से सम्बद्ध लाना क्रिया के भी अर्थ का बोध हो जाने पर वाक्य में गाय के साथ 'ले आओ' प्रयोग की आवश्यकता ही क्या रह जायगी? पर तथ्य यह है कि वाक्य में 'गाय' कहने के बाद 'लाओ'

१. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० १४७

बाँधो, दूहो' आदि में से किसी क्रिया-पद का प्रयोग होने पर ही गाय के अर्थ का उस प्रयुक्त क्रियापद के साथ सम्बन्ध-विशेष का बोध हो सकता है। दूसरी बात यह है कि गाय शब्द का असंख्य क्रियापदों तथा गुणबोधक शब्दों के साथ सम्बन्ध हो सकता है। किसी एक क्रियापद या गुण-वाचक पद के साथ उसका नियत सम्बन्ध नहीं। ऐसी स्थिति में यह मानने का कोई आधार नहीं कि पदनिष्ठ अभिधा शक्ति किसी पद के अर्थ का अन्य पदार्थ से सम्बन्ध बता देती है। गाय शब्द के अर्थ का जितने पदार्थों के साथ सम्बन्ध सम्भव है, उन सब के साथ सम्बद्ध रूप में अपने अर्थ का बोध गाय शब्द कराता है, यह मान लेना युक्तिहीन दुराग्रह-मात्र होगा। अतः नैयायिकों की दृष्टि में पद-निष्ठ अभिधा व्यापार से वाक्यगत पदों के अर्थों का अन्वित होकर अभिधान मानने वाला अन्विताभिधानवादी सिद्धान्त मान्य नहीं।[1]

अन्विताभिधानवादी धिचारकों ने इस आपत्ति के उत्तर में यह युक्ति दी है कि तत्त्वतः गाय शब्द को सभी सम्भव क्रियाओं तथा गुणों से अन्वित अर्थ का ही बोधक माना जाना चाहिए, पर व्यावहारिक तथ्य यह है कि वाक्य में गाय के साथ किसी विशिष्ट क्रिया के सम्बन्ध का बोध कराने के लिए उस क्रिया के वाचक पद का प्रयोग किया जाता है और उसके फलस्वरूप अन्य सम्बन्धों का अपसारण करता हुआ वह क्रिया-पद गाय और उस क्रिया के बीच के ही विशिष्ट सम्बन्ध का बोध कराता है। तात्पर्य यह कि अन्विताभिधानवादी एक पद के अर्थ का अन्य सभी अर्थों के साथ सामान्य अन्वय मानते हैं और वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थों में विशिष्ट अन्वय मानते हैं। शब्द और अर्थ के अन्वय में कारण-कार्य सम्बन्ध मान कर इस तथ्य पर विचार किया गया है कि विशिष्ट कार्य को उत्पन्न करने के लिए कारण सहकारी की अपेक्षा रखता है। सामान्य कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण कुछ सहकारियों के योग से विशिष्ट कार्य उत्पन्न करता है। यही बात शब्द से अन्वित पदार्थ के सम्बन्ध में भी सही है। शब्द सामान्य रूप से अन्वित पदार्थ का बोध उत्पन्न करते हैं, पर सहकारी कारण के योग से—विशिष्ट क्रियापद या गुणबोधक पद आदि के योग से—अन्य सम्बन्धों का व्यावर्तन कर विशिष्ट सम्बन्ध का ही बोध कराने में समर्थ होते हैं। 'गाय लाओ' जैसे वाक्य के उदाहरण से ही इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। इस वाक्य में गाय शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है वह पहले तो सामान्य रूप से सभी गुण-क्रिया आदि के साथ अन्वित रूप में ही बोधगत होता है। गाय शब्द

१, जयन्त भट्ट, न्यायमञ्जरी, पृ० ३६७

का सङ्केतित अर्थ मीमांसा दर्शन के मतानुयियों के अनुसार होगा—गो जाति या गाय-सामान्य। उस जाति का बोध उससे अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध व्यक्ति के साथ ही होगा और उस व्यक्ति के गुण क्रिया आदि का उससे अन्वित बोध भी उसमें मिला रहेगा। ध्यातव्य है कि व्यक्ति से सम्बद्ध वह गुण, क्रिया आदि विशिष्ट न होकर सामान्य रूप से कुछ भी हो सकता है। गाय शब्द से जिस अर्थ का स्मरण होगा वह किसी भी गुण-क्रिया से युक्त हो सकता है। उदाहरण के लिए, उजली, काली, दुबली, मोटी, बैठी हुई, खड़ी, बँधी हुई, चलती हुई, खाती हुई, किसी भी स्थिति के साथ उसका रूप स्मृति में आ सकता है। पर, उक्त वाक्य में लाओ क्रिया 'गाय' और 'लाना' के सबन्ध को अन्य क्रियाओं से गाय के अर्थ के सम्बन्ध का व्यावर्तन कर केवल 'लाना' क्रिया के साथ उसके विशिष्ट सम्बन्ध का बोध कराता है। इस युक्ति से अन्विताभिधानवादियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यद्यपि किसी शब्द के अर्थ का अन्य असंख्य अर्थों के साथ सामान्य सम्बन्ध रहता है और इस सामान्य सम्बन्ध के साथ ही उसका बोध होता है, फिर भी वाक्य में किसी विशिष्ट अर्थ के साथ उसके सम्बन्ध-बोध के लिए अन्य पद के प्रयोग की आवश्यकता होती है। सम्बन्ध-बोध के लिए प्रयुक्त पद समग्र सामान्य सम्बन्धों का व्यावर्तन कर उस अर्थ के एक विशिष्ट सम्बन्ध का बोध कराता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि गाय शब्द से अन्वित अर्थ का बोध मानने पर वाक्य में 'लाओ' 'बाँधो' आदि के साथ सम्बन्ध का बोध गाय पद से ही सिद्ध हो जाने के कारण 'लाओ' आदि पद का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। तथ्य यह है कि गाय पद से उसके अर्थ के साथ सामान्य सम्बन्ध का बोध होने पर भी विशिष्ट सम्बन्ध के बोध के लिए 'लाओ' आदि के प्रयोग की आवश्यकता होगी ही। गाय पद सामान्य सम्बन्ध के बोध का कारण माना जायगा जिससे गाय अर्थ का किसी भी गुण, क्रिया आदि से अन्वित रूप में स्मरण हो सकता है और 'लाओ' क्रिया पद सम्बद्ध अर्थ के बोध का सहकारी कारण माना जायगा, जिससे अन्य सम्बन्धों का व्यावर्तन होकर एक विशिष्ट सम्बन्ध का ही बोध होगा।[1]

अन्विताभिधानवादियों ने इस युक्ति से जिस समस्या का समाधान करना चाहा है, वह समस्या का केवल एक पक्ष है। गाय शब्द के अर्थ का सभी सम्भावित

---

१. यदपि पदान्तरोच्चारणमफलमिति तदपि परिहृतम् × × × पदार्थानामन्वयः उपायाभावात्। जयन्त भट्ट, न्यायमञ्जरी, पृ० ३६७

गुण-क्रिया आदि के वाचक पदों के अर्थ के साथ सामान्य अन्वय और वाक्य में प्रयुक्त पद के अर्थ के साथ विशिष्ट अन्वय का सिद्धात मान कर गाय पद के अन्वित अर्थ के बोध की मान्यता को स्वीकार कर लेने पर भी समस्या का दूसरा पक्ष यह बच जाता है कि अन्विताभिधानवाद के सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार गाय पद के अर्थ का पूर्व-अन्वित बोध माना जाता है, उसी प्रकार 'गाय लाओ' वाक्य में लाना क्रिया के अर्थ का भी पूर्व-अन्वित रूप में ही बोध माना जायगा। 'लाना' क्रिया का केवल 'गाय' के साथ ही अव्यभिचरित या नियत सम्बन्ध नहीं, असंख्य पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रकार जहाँ एक ओर गाय के अर्थ के सम्बन्धों की अनन्तता है, वहाँ दूसरी ओर 'लाना' क्रियापद के अर्थ के सम्बन्धों की भी अनन्तता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों के अर्थ एक दूसरे के सामान्य सम्बन्धों में से अन्य सम्बन्धों का व्यावर्तन कर एक दूसरे के विशिष्ट सम्बन्ध का बोध कराता है ? निर्विशिष्ट, सामान्य या अनियत सम्बन्धों से युक्त गाय पद का अर्थ वैसे ही अनियत सम्बन्ध वाले 'लाना' पद के अर्थ के साथ मिलकर पारस्परिक विशिष्ट सम्बन्ध का बोधक बन जाता है, ऐसा मानने का कोई यौक्तिक आधार नहीं। इस प्रकार की मान्यता का स्वरूप यह होगा कि गाय पद के अर्थ के तत्त्वतः समग्र अर्थों के साथ अन्वित होने पर भी 'गाय को ले आओ' जैसे वाक्य में 'ले आओ' का अर्थ उसे एक विशिष्ट सम्बन्ध के साथ बोधगम्य बनाता है और 'ले आओ' के अर्थ के सामान्य रूप से असंख्य पदार्थों के साथ अन्वित होने पर भी 'गाय' शब्द उसे विशिष्ट सम्बन्ध के साथ बोधगम्य बनाता है। इस प्रकार गाय का अर्थ अपने विशिष्ट सम्बन्ध की सिद्धि के लिए 'ले आओ' के अर्थ पर निर्भर माना जायगा तथा 'ले आओ, का अर्थ अपने विशिष्ट सम्बन्ध की सिद्धि के लिए पुनः अपने पर निर्भर गाय शब्द के अर्थ पर निर्भर माना जायगा और फलतः परस्पराश्रयत्व दोष से यह मान्यता दुष्ट होगी। दो असिद्ध तत्त्व अपनी-अपनी सिद्धि के लिए एक दूसरे की अपेक्षा रखे तो इसका यौक्तिक परिणाम यह होगा कि किसी की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी, कारण यह है कि जो स्वयं असिद्ध हो उसमें दूसरे को सिद्ध करने की शक्ति नहीं रहती।[1]

प्रसङ्गानुरोध से इस संदर्भ में यह निर्देश अपेक्षित है कि प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने भी अन्विताभिधानवादी विचारकों की तरह ही पदार्थों के परस्पर अन्वित रूप में ग्रहण की धारण व्यक्त की थी। गणितीय शब्द के अर्थ-बोध की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह धारणा व्यक्त की थी कि किसी भी संख्या-वाचक पद का अर्थ अन्यसापेक्ष रूप में ही बोधगत होता है, अनन्यसापेक्ष या सर्वथा स्वतन्त्र रूप में नहीं।

---

१. द्रष्टव्य—शब्दनिर्णय, पृ. २२.

उदाहरण के लिए वे चार संख्या के बोध को एक, दो, तीन तथा पाँच, छह आदि संख्याओं से सापेक्ष ही मानते हैं। अन्य-निरपेक्ष चार या किसी अन्य संख्या का बोध उनकी दृष्टि में, सम्भव नहीं। इस मान्यता के विरुद्ध भी उनके परवर्ती विचारकों ने यह आपत्ति उठायी कि किसी एक संख्या के अर्थ का बोध अन्य सभी संख्याओं से अन्वित रूप में मानने से यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य के लिए किसी भी एक संख्या का बोध सम्भव नहीं, कारण यह है कि एक संख्या को समझने के लिए सभी पूर्ण और अपूर्ण संख्या के साथ उसका सम्बन्ध समझना पड़ेगा, जो किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। संख्या अनन्त है और उस अनन्त के साथ किसी एक संख्या के अनन्त सम्बन्धों को ग्रहण कर पाना मानव-बुद्धि की सामर्थ्य से परे है। इससे भी अधिक उलझन, अन्वित अर्थ का बोध मानने पर, तब होगी जब ऐसे कथन के अर्थ पर विचार किया जायगा—छह और चार का योग दश होता है। इसमें छह का सभी संख्या के साथ सामान्य अन्वय के साथ, फिर चार का और अन्त में दश का सबके साथ सामान्य अन्वय के साथ बोध हो जाने पर छह, चार और दश के पारस्परिक विशिष्ट सम्बन्ध का बोध मानना पड़ेगा। जब एक ही संख्या के अनन्त सम्बन्धों का बुद्धि से ग्रहण सम्भव नहीं, तब इन तीन-तीन संख्याओं के सामान्य और विशिष्ट अन्वय का बोध और अन्वित अर्थ का ग्रहण क्या किसी के लिए सम्भव होगा ?

इस समस्या पर हम पदार्थ के स्वरूप-विवेचन के सन्दर्भ में भी विचार कर चुके हैं। भाषिक बोध-प्रक्रिया के सम्बन्ध में अन्विताभिधानवादी चिन्तन के आलोक में कान्ट की मान्यता का स्पष्टीकरण और उसके सन्दर्भ में उठायी गयी समस्याओं का बहुत हद तक समाधान किया जा सकता है।

यह माना जा सकता है कि किसी भी एक संख्या का बोध अन्य सभी संख्या के बोध से अन्वित रहता है और वह अन्वय विशिष्ट न होकर सामान्य होता है। ६+४=१० जैसे बोध में इन तीन संख्याओं के बीच विशिष्ट सम्बन्ध का बोध होता है। इसी सम्बन्धगत विशिष्टता के कारण इसका बोध ६+४=१०, १०—६=४ या १०—४=६ आदि के रूप में भी हो सकता है। सम्बन्धगत विशिष्टता ४, ६ आदि के एक साथ परस्पर सापेक्ष रूप में प्रयोग से आती है, अन्यथा अलग-अलग ४, ६, १० आदि अन्य संख्यावाचक पदों के अर्थ के साथ सामान्य सम्बन्ध से अन्वित होकर ही बोधगत होते हैं, सर्वथा विच्छिन्न और अन्य-निरपेक्ष रूप में नहीं। एक से नौ तक की संख्या के क्रमबद्ध अर्थ को समझे बिना दश, ग्यारह, बारह आदि का बोध सम्भव नहीं।

अब समस्या है संख्या की अनन्तता की और अनन्त के साथ एक के अनन्त सम्बन्धों से युक्त बोध की ! इस सम्बन्ध में यह युक्ति दी जा सकती है कि मानव की बुद्धि अनन्त संख्या के जितने अंश का बोध ग्रहण कर पाती है, उन्हीं बोधगत सत्ता वाली संख्या में सामान्य अन्वय माना जायगा। संख्या आदि के बोध की सत्ता मानव-बुद्धि की यौक्तिक संरचना के रूप में होती है, उसकी कोई बाह्य वस्तुगत सत्ता नहीं। अतः व्यक्ति के बौद्धिक विकास के अनुरूप उसके बोध में व्यक्तिगत न्यूनाधिक्य का होना स्वाभाविक है। दश तक की ही संख्या का ज्ञान रखने वाला अबोध व्यक्ति उन्हीं के बीच सामान्य सम्बन्ध का—एक के अन्य सभी के साथ सामान्य अन्वय या कम-से-कम पौर्वापर्य क्रम आदि के सम्बन्ध का—बोध प्राप्त करता है। कुछ बौद्धिक दृष्टि से अविकसित जातियों में बीस तक या अधिक से अधिक सौ तक की गणना की जा सकती है और उसे ही संख्या की परा सीमा मान लिया जाता है, जबकि बुद्धि के उत्कर्ष के अनुरूप विकसित जातियों में हजार, लाख, करोड़, अरब आदि से ही बुद्धि के तुष्ट नहीं होने के कारण खरब, नील, पद्म, शंख और महाशंख तक की संख्या की कल्पना की गयी है। फिर भी एक सीमा के बाद उसकी असीमता मान ली गयी है। उसके बाद बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर पाती। निष्कर्षतः यह माना जा सकता है कि जितनी संख्या का बोध मानव की बुद्धि ग्रहण कर पाती है वह एक सामान्य सम्बध से अन्वित रूप में बोधगत होती है। ६+४=१० जैसे बोध में वह सम्बन्ध विशिष्ट रूप ग्रहण कर बोध का विषय बनता है।

अन्विताभिधानवादी विचार के विरुद्ध जो आपत्ति सामान्य और विशेष अन्वय के बोध की मान्यता के सन्दर्भ में उठायी गयी है, वह इस मान्यता के प्रसङ्ग में भी विचारणीय है। ६+४=१० में छह के अनन्त अनियत सम्बन्ध होंगे। चार और दश के सम्बन्ध में भी यही बात है। फिर, अनियत, अनन्त और सामान्य सम्बन्ध विशिष्ट रूप ग्रहण कर बोधगत कैसे हो सकेगा ? चार से छह में, छह से चार में और दोनों से दश में सम्बन्धगत विशिष्टता की सिद्धि मानी जाय तो यह अनेक असिद्ध तत्त्वों को अपनी-अपनी सिद्धि के लिए परस्पर सापेक्ष मानने के समान होगा।

अपने-अपने विशिष्ट रूप की सिद्धि के लिए दो अर्थों के अनियत सम्बन्धों के परस्पर सापेक्ष रहने की जो आपत्ति अन्विताभिधानवाद के विरुद्ध उठायी गयी है उसके उत्तर में प्रभाकर ने यह युक्ति दी है कि अर्थों के सामान्य सम्बन्ध की अनन्तता होने पर भी प्रसङ्ग आदि से उनके पारस्परिक सम्बन्ध नियत होकर विशिष्ट रूप में बोधगत होते हैं। शाब्दबोध-विषयक एक उदाहरण से इस तथ्य को स्पष्ट किया जा सकता है। गाय शब्द से जिस गोत्व जाति-रूप अर्थ का बोध होता है उसके साथ सम्बद्ध अनन्त गाय व्यक्तियों का बोध हो सकता है और

इसलिए गाय के अर्थ के असीम सम्बन्ध माने जायेंगे। 'गाय की हत्या नहीं करनी चाहिए' जैसे वाक्य में, इसीलिए सभी सम्भव गाय व्यक्तियों का बोध वह शब्द कराता है, पर 'गाय मर गयी', 'गाय को बाँध दो' आदि वाक्यों में गाय शब्द से विशिष्ट गाय व्यक्तियों का ही बोध होता है। इस प्रकार प्रसङ्ग आदि से शब्द का अर्थ तथा उसका सम्बन्ध सीमित, नियत, विशिष्ट तथा व्यवहारानुकूल हो जाता है। यह तथ्य अर्थ के असीम सामान्य सम्बन्ध के सिद्धान्त का खण्डन नहीं करता। इस प्रकार 'गाय को ले आओ' जैसे वाक्य में अनियत तथा अनन्त सम्बन्धों वाले दो पदों में—गाय तथा लाओ पदों में—परस्पर विशिष्ट सम्बन्ध के बोध का रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

अर्थों के पूर्व-अन्वित बोध के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रसङ्ग आदि से अर्थ के नियत और विशिष्ट सम्बन्ध-बोध की जो यह युक्ति दी गयी है, उसमें डॉ० विष्णु पद भट्टाचार्य ने यह आपत्ति की है कि शब्दार्थ के स्वरूप निर्धारण में प्रसङ्ग आदि बाह्य तत्त्वों का सहारा लेना उचित नहीं।[1] ध्यातव्य है कि अन्विताभिधानवादी विचारकों ने तात्त्विक दृष्टि से शाब्दबोध के स्वरूप निरूपण में—शब्दों के अर्थ के अनन्त सामान्य सम्बन्धों से युक्त होने के तत्त्व-निरूपण में—प्रसङ्ग आदि बाह्य तत्त्वों का सहारा नहीं लिया है, उसके व्यावहारिक स्वरूप के स्पष्टीकरण में ही बाह्य तत्त्वों का सहारा लिया है। भाषिक व्यवहार में प्रसङ्ग आदि के आधार पर विशिष्ट अर्थ-बोध के तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। शब्द से तत्त्वतः गृहीत सामान्य या जातिरूप अर्थ, प्रसङ्ग आदि बाह्य तत्त्वों के आधार पर ही, व्यक्ति के प्रवृत्ति-निवृत्ति-रूप भाषिक व्यवहार में उपयोगी होता है। इसी लिए संकेत-ग्रह के साधनों में प्रसङ्ग आदि बाह्य तत्त्वों की भी गणना की जाती है।

तात्त्विक दृष्टि से पदार्थों के अनन्त सम्बन्धों से सामान्यतया अन्वित होने तथा व्यावहारिक दृष्टि से प्रसङ्ग आदि के कारण विशिष्ट सम्बन्धों से अन्वित होने के इस सिद्धान्त के सन्दर्भ में समस्या दूसरी है, वह यह कि वस्तु जगत् में सत्ता रखने वाले पदार्थों में विशिष्ट सम्बन्ध के बोध का स्पष्टीकरण तो प्रसङ्ग आदि के आधार पर आसानी से हो जाता है, क्योंकि बाह्य परिस्थितियों से जोड़ कर वैसे पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वैसे भाषिक बोध का नियमन ऐन्द्रिय बोध कुछ हद तक करता है, पर ऐसे पदों के अर्थ जिनकी तार्किक संरचना या मानस विकल्प के रूप में केवल बोधगत सत्ता होती है, बाह्य

---

१. द्रष्टव्य—डॉ० विष्णुपद भट्टाचार्य, ए स्टडी इन लेंग्वेज एण्ड मीनिंग, पृ० १८४

प्रसंग-सापेक्ष नहीं माने जा सकते। संख्यावाचक शब्दों के अर्थबोध के सन्दर्भ में सम्बन्ध की विशिष्टता के बोध के लिए बाह्य प्रसंग की बात नहीं उठायी जा सकती। उसमें २ + ३ = ५ या २ × ३ = ६ आदि के विशिष्ट सम्बन्ध का जो बोध होता है, उसका हेतु उनके सह-प्रयोग का प्रसंग ही होता है। दो के सभी संख्यावाचक पदों के अर्थ के साथ सामान्य सम्बन्ध की सम्भावना होने पर भी तीन का प्रयोग उसी के साथ विशिष्ट सम्बन्ध का बोध करा देता है। एक-दूसरे में पारस्परिक अपेक्षा के साथ एक के द्वारा दूसरे के और दूसरे के द्वारा पहले के सम्बन्ध की विशिष्टता की सिद्धि मानने में परस्पर सापेक्षता की जो समस्या उठायी गयी है, उसका समाधान इस युक्ति से किया जा सकता है कि उनके प्रयोग का भाषिक सन्दर्भ उन्हें परस्पर विशिष्ट सम्बन्ध से अन्वित कर बोध का विषय बनाता है।

अन्विताभिधानवादी चिन्तन के विरुद्ध एक आपत्ति यह की गयी है कि यदि पद-निष्ठ अभिधा शक्ति से ही पदार्थ के सम्बन्ध-बोध का सिद्धान्त मान लिया जाय, तो अलग-अलग वाक्यों में एक ही पदार्थ के सम्बन्धों के भिन्न-भिन्न रूप होने के कारण अभिधा के अनन्त व्यापारों की कल्पना करनी पड़ेगी, जो युक्तिसंगत नहीं होगा। उदाहरण के लिए 'गाय को ले आओ' 'गाय को बाँध दो', 'गाय को दूहो' आदि वाक्यों में एक ही गाय के अलग-अलग क्रियाओं के साथ सम्बन्ध का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है। यदि यह माना जाय कि उन सभी सम्बन्ध-रूपों के बोध की शक्ति गाय पद में अन्तर्निहित अभिधा में रहती है तो यह मानना पड़ेगा कि अभिधा के अनन्त व्यापार हैं, जिनसे असंख्य वाक्यों में एक ही पदार्थ के विभिन्न सम्बन्धों का बोध सम्भव होता है। इस आपत्ति का उत्तर देते हुए अन्विताभिधानवादियों ने यह युक्ति दी है कि अनन्त सम्बन्धों के बोध के लिए एक पद की अभिधा के अनन्त व्यापारों की कल्पना आवश्यक नहीं। एक ही शक्ति सम्बन्ध के अनेक रूपों का बोध करा सकती है। आँख अपनी एक ही शक्ति से असंख्य रूपों का बोध प्राप्त कर लेती है। अलग-अलग रूप के बोध के लिए आँख की अलग अलग शक्तियों की कल्पना आवश्यक नहीं। उसी प्रकार गाय पद की अभिधा के एक ही व्यापार से उसका बाँधना, लाना, दूहना आदि के साथ विभिन्न सम्बन्धों का बोध सम्भव होता है। अतः अभिधा के अनन्त व्यापारों की कल्पना का दोष नहीं आता। व्यापार की एकता के होने पर भी सम्बन्ध-रूपों की अनेकता के बोध का रहस्य सहकारी कारणों की अनेकता में रहता है।[1]

---

१. यथा चक्षुषो नीलपीतादिविषयसहकारिभेदात् एव एकयापि रूपप्रकाशनशक्त्या नीलपीतादिविज्ञानकार्यभेदः। तर्हि शब्देष्वपि सहकारिभेदात् कार्यभेदो न दण्डवारितः।—शब्दनिर्णय, कारिका ३१ पर प्रकाशानन्द की टीका।

इन युक्तियों से प्रभाकर तथा उनके मतानुयायियों ने अन्विताभिधानवादी चिन्तन के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियों का समाधान प्रस्तुत कर वाक्य को अभिव्यक्ति की मूल और अखण्ड इकाई सिद्ध करने का प्रयास किया है तथा वाक्यार्थ के अखण्ड स्वरूप के—उसके अवयवभूत पदार्थों के अन्वित रूप के—बोध को ही भाषिक बोध की अखण्ड इकाई माना है। वाक्य के अवयवभूत पदों और उनके अर्थों की भी तात्त्विक सत्ता वे मानते हैं, पर पदों की सार्थकता वाक्य के रूप में घटित होकर एक अन्वित वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करने में ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे न तो वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की तरह वाक्य की तात्त्विक सत्ता मान कर अवयवभूत पदों और पदार्थों की सत्ता का निषेध करते हैं और न अभिहितान्वयवादियों की तरह पद-पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मान कर वाक्य और वाक्यार्थ को पद-पदार्थों का योग-मात्र ही मानते हैं। इन दोनों मतों के बीच वे शाब्दबोध-विषयक एक नवीन दृष्टि लेकर वाक्यार्थ-बोध के स्वरूप का विश्लेषण करते हैं। न्यायमञ्जरी में अन्विताभिधानवादी चिन्तन को शाब्दबोध-विषयक व्याकरण-सिद्धान्त तथा अभिहितान्वयवादी विचार के बीच समन्वय स्थापित करने वाला एक मध्यवर्ती चिन्तन माना गया है।[1]

उदयन ने न्यायकुसुमाञ्जलि में अन्विताभिधानवादी शाब्दबोध-दृष्टि के परीक्षण के क्रम में उस विचार के कुछ सम्भावित रूपों को प्रस्तुत किया है। वाक्य में अन्वित अर्थ के अभिधान का सिद्धान्त प्रभाकर तथा उनके मतानुयायी मीमांसकों ने स्थापित किया है। अन्वित अर्थ के अभिधान का तात्पर्य क्या है? इसके उत्तर में अन्विताभिधानवादी चिन्तन का सार कई विकल्पों के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। उदयन ने अन्विताभिधानवाद के एक सम्भावित रूप का उल्लेख करते हुए यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि यदि अन्विताभिधानवादी यह कहना चाहते हों कि वाक्य के अवयवभूत पद ऐसे वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करते हैं, जिसमें पदों के अर्थ परस्पर एक-दूसरे से अन्वित होते हैं, तो इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी।[2] यह तथ्य है कि वाक्यार्थ के बोध के लिए अलग-अलग पदों के परस्पर स्वतन्त्र अर्थों का बोध ही पर्याप्त नहीं, उन अर्थों में पारस्परिक अन्वय का बोध भी आवश्यक होता है। इसी लिए केवल पदों के समूह को वाक्य नहीं कहा जाता। सभी पदों के अर्थ जब एक सम्बन्ध-सूत्र में बँध कर बोध-गत होते हैं, तभी वाक्यार्थ का स्वरूप निष्पन्न होता है। अतः पदों के अर्थों को अन्वय के साथ वाक्यार्थ के

---

१. द्रष्टव्य—जयन्त, न्यायमञ्जरी, पृ० ३६७

२. द्रष्टव्य—उदयन, न्यायकुसुमाञ्जलि, ३, पृ० ७२

रूप में बोधगत कराने वाले पद-समूह को वाक्य मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अन्विताभिधानवाद के स्वरूप के स्पष्टीकरण के दूसरे विकल्प की सम्भावना करते हुए उदयन ने यह मान्यता व्यक्त की है कि यदि अन्विताभिधानवादी यह मानते हों कि पहले विशिष्ट पदों का चयन कर तब उनके अर्थों को पारस्परिक सम्बन्ध से जोड़ने के उद्देश्य से, उन्हें विशिष्ट रूप में वाक्य में व्यवस्थित किया जाता है, तो इस मत में भी कोई मतवैभिन्न्य नहीं होगा।[1] किन्तु यदि उक्त दोनों विकल्पों से भिन्न, अन्विताभिधानवादियों की यह धारणा हो कि वाक्य के अवयव-भूत पद अपनी अभिधा शक्ति से पदार्थों के सम्बन्ध का बोध कराते हैं, तो इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अन्विताभिधानवादियों की यही धारणा है। प्रथम और द्वितीय विकल्पों में शाब्दबोध-विषयक न्यायमत तथा अभिहितान्वयवादी विचार की छाया है। तीसरे विकल्प में—जिसे अमान्य कहा गया है---उदयन ने अन्विताभिधानवादी विचार को सही रूप में प्रस्तुत किया है और उस मत के खण्डन के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं।

शब्द की अभिधा शक्ति से शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का ही बोध होता है। वह अर्थ शब्द में पूर्व-सिद्ध तथा ज्ञातपूर्व रहता है। शब्द या पद का स्वरूप सिद्ध होता है और उसका संकेत नियत होता है, अतः शब्द की अभिधा शक्ति शब्दार्थ का बोध करा पाती है। पर, पद से पदार्थ के बोध की तरह अभिधा शक्ति के द्वारा वाक्य से वाक्यार्थ का बोध नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि वाक्य का स्वरूप स्थिर, सिद्ध या नियत नहीं होता। वाक्य साध्य होते हैं। वाक्य के स्वरूप-विश्लेषण के क्रम में हम यह देख चुके हैं कि वाक्य के नियत स्वरूप का निर्धारण सम्भव नहीं। एक वाक्य में नये-नये विशेषणों को जोड़ कर उसे असीम विस्तार दिया जा सकता है। उसे नये-नये सन्दर्भों में नयी-नयी छटाओं के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके साथ ही, प्रत्येक व्यक्ति की भाषिक उत्पादक क्षमता से नव-नव वाक्यों के प्रयोग की या वाक्यों के नवनिर्माण की सम्भावना का भी निषेध नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में वाक्य के साध्य रूपों के संकेतित अर्थ का निर्धारण नहीं किया जा सकता और असंकेतित वाक्यार्थ का शब्द-निष्ठ अभिधा व्यापार से बोध नहीं माना जा सकता। ध्यातव्य है कि नये-नये शब्दों का भी निर्माण

१. उदयन, न्यायकुसुमाञ्जलि पृ० ७२-७३
२. वही पृ० ७३

व्यक्ति या समुदाय किया करता है, पर वे शब्द भाषिक व्यवहार में लोक-मानस से कुछ नियत अर्थ के संकेत की स्वीकृति पा लेने पर ही भाषा में प्रयुक्त हो सकते हैं पर नये वाक्यों के प्रयोग और उनके अर्थ-बोध की प्रक्रिया इससे भिन्न होती है। वे वाक्य अपने नियत अर्थ का संकेत प्राप्त करने के लिए लोक-मानस की अपेक्षा नहीं रखते, अपने अवयव-भूत पदों के संकेतित अर्थ के आधार पर ही अपने अर्थ का बोध करा देते हैं।

उदयन का तर्क यह है कि जब वाक्य का स्वरूप सिद्ध, स्थिर या नियत नहीं, तब वाक्य में सम्पूर्ण वाक्यार्थ के साथ पद के सम्बन्ध का पूर्वज्ञान कैसे माना जा सकेगा ? अतः सम्बन्ध-बोधक अभिधा व्यापार की सत्ता पद में नहीं, विशिष्ट पदार्थों में ही निहित मानी जानी चाहिए।[1]

अन्विताभिधानवाद के पक्ष से यह युक्ति दी जा सकती है कि वाक्य के पदों में निहित अभिधा शक्ति विशिष्ट पदार्थों का बोध तत्क्षण करा देती है और तदनन्तर वही शक्ति शब्दार्थ के सहारे उनके एक समन्वित वाक्यार्थ का बोध कराती है। इस मान्यता में नैयायिकों की आपत्ति यह होगी कि इस प्रकार की मान्यता अभिधा शक्ति को वाक्यार्थबोध का करण बना देगी, जो युक्तिसंगत नहीं। नैयायिकों की मान्यता है कि वाक्यार्थ-बोध में शब्द तो साधक या करण होता है, पर शब्द की अभिधा शक्ति को करण नहीं माना जा सकता। अभिधा व्यापार की स्थिति करणभूत पद तथा कार्यभूत वाक्यार्थ के बीच ही मानी जानी चाहिए। अभिधा शक्ति से यदि विशिष्ट अर्थ के बोध के अनन्तर फिर अभिधा शक्ति से ही वाक्यार्थ का बोध माना जाय तो विशिष्टार्थ-प्रतिपादक अभिधा तथा वाक्यार्थ के बीच सम्बन्ध-बोधक अभिधा व्यापार की सत्ता मानने से विशिष्टार्थ-प्रतिपादक अभिधा की स्थिति करण की-सी हो जायगी, क्योंकि करण और फल के बीच व्यापार का व्यवधान रहा करता है। शब्द की जगह उसकी मुख्य शक्ति को करण बना देना तार्किक दृष्टि से अनुचित होगा।

इस आपत्ति के उत्तर में अन्विताभिधानवादियों ने यह युक्ति दी है कि उनकी शाब्दबोध-विषयक मान्यता पर अभिधा शक्ति को करण मानने का मिथ्या आरोप किया गया है। वस्तुतः यह दोष दिखाने के लिए नैयायिकों ने उनके मत को कुछ विकृत रूप में प्रस्तुत किया है। अन्विताभिधानवादियों का मत है कि जब वाक्य के अवयवभूत पदों के प्रयोग से वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न होता है, और वाक्यार्थ-बोध में पदों के वाच्य अर्थों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का बोध निहित रहता है, तो इसका यौक्तिक निष्कर्ष यह होता है कि शब्दों में अपने वाच्य अर्थ

---

१. उदयन, न्यायकुसुमाञ्जलि ३, पृ० ७३

के रूप में ही उस वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करने की शक्ति निहित रहती है। अतः अन्विताभिधानवादी विचारधारा में पद की अभिधा शक्ति से ही अर्थों के बीच सम्बन्ध का या पूर्ण वाक्यार्थ का बोध माना जाता है। अभिधा शक्ति से पहले विच्छिन्न और स्वतन्त्र अर्थों का बोध और तदुपरान्त उसी शक्ति से अलग-अलग अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध का बोध—जिसके आधार पर अभिधा शक्ति को वाक्यार्थ-बोध का करण बनाये जाने की आशंका व्यक्त की गयी है—अन्विताभिधानवादी चिन्तन पर उसके विरोधियों के द्वारा आरोपित तथ्यहीन विचार है। अन्विताभिधानवादी वस्तुतः अन्वित अर्थ का ही अभिधा व्यापार से अभिधान मानते हैं। अन्वित अर्थ के बोध के लिए यह आवश्यक नहीं कि जिस पद के अर्थ का अन्य पदों के अर्थ के साथ अन्वित रूप में बोध हो उन पदों के विशिष्ट अर्थ का अलग-अलग बोध पहले हो जाय और तभी सबके बीच अन्वय का बोध हो। पदार्थ का अन्वित बोध मानने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पद के वाच्य अर्थ का उन समग्र पदार्थों के साथ अस्फुट और सामान्य सम्बन्ध के साथ ही बोध होता है, जो अर्थ की आकांक्षा, योग्यता आदि की पूर्णता के लिए अपेक्षित होते हैं। सामान्य सम्बन्ध का बोध पदार्थों के स्फुट बोध के बिना भी सम्भव है। अतः अन्विताभिधानवादी चिन्तन में परस्पराश्रयत्व का तथा अभिधा के व्यापार-द्वय की कल्पना का दोष बताना तो निर्मूल है ही, अभिधा शक्ति को करण के रूप में स्वीकार करने का दोष दिखाना भी निराधार है। अन्विताभिधानवादी वाक्यार्थ-बोध का कारण पद को मानते हैं, अतः वे पद में ही अन्वित अर्थ के अभिधान की शक्ति स्वीकार करते हैं।

वाक्यार्थ के रूप में समन्वित पदार्थ के बोध के लिए दो बातें अपेक्षित होती-हैं। एक तो यह कि पहले पदार्थ का बोध हो और दूसरी यह कि वे पदार्थ आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के आधार पर परस्पर अन्वित हों। अन्विताभिधानवादी चिन्तन के विरुद्ध एक आपत्ति यह की गयी है कि प्रभाकर किसी पद की सन्निधि में अप्रयुक्त पद के वाच्य अर्थों में भी वाक्यीय सम्बन्ध सम्भव मानते हैं। ऐसी स्थिति में अन्विताभिधानवादी सन्निधि या आसत्ति को वाक्यार्थबोध का एक नियामक कैसे मानते हैं? इस आपत्ति का उत्तर प्रभाकर ने इस युक्ति से दिया है कि ऐसे स्थल पर पदार्थ का अनुमान से बोध हो जाता है और वाक्यार्थ की पूर्णता के लिए जो आकांक्षा शेष रह जाती है उसकी पूर्ति के लिए अपेक्षित पदार्थ का पद-प्रयोग के अभाव में भी अध्याहार से ग्रहण हो जाता है। वाक्यार्थ का पदार्थ से सीधा सम्बन्ध होता है तथा उनके वाचक पदों से उसका परम्परित सम्बन्ध रहा करता है।[1]

१. द्रष्टव्य—पार्थसारथि मिश्र न्यायरत्नमाला, पृ० ९९

इस प्रकार शाब्दबोध-विषयक ऊहापोह के निष्कर्ष के रूप में प्रभाकर तथा उनके मतानुयायियों ने वाक्य से अन्वित अर्थ के अभिधान के सिद्धान्त की स्थापना की है जिस सिद्धान्त का सार संक्षेप में इस प्रकार है—

वाक्य में कुछ पदों की नियत व्यवस्था रहती है, जिसका उद्देश्य एक सुघटित पूर्ण अर्थ का बोध कराना होता है। वाक्य के अवयवभूत पदों और उनके वाच्य अर्थों की भी तात्त्विक सत्ता है, पर वाक्य में उसके अंग के रूप में प्रयुक्त पदों की सार्थकता समष्टि-अर्थ अर्थात् अखण्ड वाक्यार्थ के बोध में सहायक-मात्र बनने में होती है। अलग-अलग पदों के परस्पर निरपेक्ष अर्थों का बोध वाक्य में अभिप्रेत नहीं होता। वाक्य से पूर्ण वाक्यार्थ के बोध की प्रक्रिया यह है कि पहले वाक्य के अंगभूत पदों से अलग-अलग उनके संकेतित पदार्थों की स्मृति होती है, जो स्मृतिगत पदार्थ उनके वास्तविक अर्थ के अंश-मात्र होते हैं। पदार्थों का यह अलग-अलग बोध पद की अभिधा शक्ति से नहीं होता, बल्कि शब्द के वास्तविक अर्थ के साथ उन पदार्थों के साहचर्य के कारण उनकी स्मृति हो आने से उनका बोध हो जाता है। इस प्रकार पद से स्मृति में आने वाले पदार्थ तथा पद के वास्तविक अर्थ में अन्विताभिधानवादियों की दृष्टि में, थोड़ा अन्तर है। स्मृतिगत होने वाले पदार्थ तथा पद की अभिधा शक्ति से बोध्य अर्थ में निकट साहचर्य होने पर भी उनकी सत्ता तत्त्वतः अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ, गाय शब्द को सुन कर एक आकृति आदि से युक्त जिस प्राणी की स्मृति हो आती है, वह शब्द की अभिधा से वाच्य अर्थ से—गो जाति रूप अर्थ से—अविनाभाव रूप में सम्बद्ध अवश्य होता है, पर उससे अभिन्न नहीं। जातिरूप अभिधेय अर्थ से अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण प्राणी-रूप बाह्य वस्तु की स्मृति गाय शब्द करा देता है। इसीलिए शब्द से स्मृतिगत होने वाले पदार्थ को शब्द की अभिधा से बोध्य वास्तविक अर्थ का अंश-मात्र माना गया है। उन स्वतन्त्र पदार्थों के बोध के लिए शब्द की अभिधा शक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं।

जब वाक्यगत पदों से अलग-अलग पदार्थों का स्मृति से बोध हो जाता है तब तत्क्षण ही पदनिष्ठ अभिधा शक्ति से उन पदों के अर्थों के बीच एक वाक्यीय सम्बन्ध का बोध भी हो जाता है और इस प्रकार सभी पदों के अर्थ योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति के अनुरूप परस्पर अन्वित होकर एक स्वतः-पूर्ण वाक्यार्थ के रूप में ही व्यक्त होता है।

इस युक्ति से अन्विताभिधानवादियों ने वाक्यार्थ की अखण्डता के सिद्धान्त की स्थापना करने के साथ ही वाक्यार्थ में अंगभूत पदार्थों के क्रम के तथ्य का भी स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है।

हम देख चुके हैं कि वाक्य में पूर्व-अन्वित शब्दार्थ के बोध के सिद्धान्त के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठायी गयी हैं, जिनका उत्तर देने के लिए अन्विताभिधानवादियों को कुछ दूराकृष्ट कल्पना करनी पड़ी है। मीमांसक समष्टि के घटक व्यष्टि की सत्ता में विश्वास करते हैं। इसीलिए अन्विताभिधानवादी मीमांसक वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों की तरह वाक्यार्थ में पद और पदार्थ की यथार्थ सत्ता को अस्वीकार नहीं करते। वे इस भाषिक तथ्य का भी अपलाप नहीं करते कि वाक्यार्थ के रूप में अन्वित पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता भी होती है और इसीलिए वाक्यार्थबोध में पदार्थों के क्रम का भी बोध निहित रहता है। उनका आग्रह केवल इस बात में है कि वाक्यार्थ के बोध में पूर्व-अन्वित पदार्थों का ही बोध स्वीकार किया जाना चाहिए, पदार्थों का अलग-अलग बोध हो लेने के उपरान्त पदार्थ की शक्ति से उनमें आकांक्षा, योग्यता आदि के आधार पर सम्बन्ध-स्थापन का सिद्धान्त नहीं माना जाना चाहिए।

भाषिक प्रयोग के रहस्य पर विचार करें तो अन्विताभिधानवादी चिन्तन का उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। यह तथ्य है कि हम अपने किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को व्यक्त करने के लिए ही वाक्य के रूप में कुछ पदों को घटित कर उसका प्रयोग करते हैं और इसलिए उस सम्पूर्ण वाक्य की सार्थकता उस अन्वित विचार को व्यक्त करने में ही होती है। पर श्रोता की बोध-प्रक्रिया में वाक्यगत पदों के अर्थ के क्रमिक बोध का तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं, जिसके स्पष्टीकरण के लिए अन्विताभिधानवादियों को शब्द को सुनने से साहचर्य या अभ्यासातिशय के आधार पर उनके द्वारा बोध्य पदार्थों की अलग-अलग स्मृति की कल्पना करनी पड़ी है। प्रश्न यह है कि किसी शब्द के अर्थ का जब प्रथम ज्ञान अर्जित किया जाता है, उस समय अभ्यासातिशय या साहचर्य से अर्थ की स्मृति का सिद्धान्त कैसे माना जायगा? भाषिक ज्ञान के अर्जन में नये-नये शब्दों के स्वतन्त्र अर्थों को सीखने की प्रक्रिया उपेक्षणीय नहीं। जब हम किसी शब्द के अर्थ को जानने के लिए कोश का सहारा लेते हैं, या दूसरों से शब्द का अर्थ पूछते हैं, तब हमें शब्द के स्वतन्त्र और अन्य-निरपेक्ष अर्थ का ही ज्ञान होता है। हाँ, यह तथ्य है कि किसी वाक्य में जितने पद प्रयुक्त होते हैं, उनके अर्थ परस्पर सम्बद्ध होकर ही बोधगत होते हैं और इस तथ्य को सभी विचारकों ने एकमत होकर स्वीकार किया है।

वाक्यार्थ का बोध प्राप्त कर आवाप-उद्धार के सहारे पदार्थ का बोध प्राप्त करने का सिद्धान्त शब्दार्थ के बोध के रहस्य का आंशिक स्पष्टीकरण ही कर पाता है। भाषिक व्यवहार में निश्चय ही हम वाक्य के अर्थ से आवापोद्वाप के सहारे कुछ पदों का अर्थ निर्धारित कर लेते हैं, पर कुछ पदों का अर्थ सीखने के लिए हमें

कोश या आप्तजनों का भी सहारा लेना पड़ता है। लोक व्यवहार में ऐन्द्रिय बोध प्राप्त कर उसके बोधक शब्द भी लोगों से सीखते हैं। गाय को दिखाकर जब कोई बच्चे से कहता है, 'यह गाय है', या 'इसे गाय कहते हैं', तब वस्तु के सहारे शब्दार्थ सीखने की प्रक्रिया चलती है। वस्तुतः वह निर्दिष्ट प्राणी-विशेष गाय शब्द का तात्त्विक अर्थ नहीं, पर वह गाय शब्द के अमूर्तीकृत सार रूप शब्दार्थ के ग्रहण का प्रथम आधार अवश्य है। इस प्रकार मूर्त वस्तु के ज्ञान से अमूर्त शब्दार्थ के बोध की प्रक्रिया का अन्विताभिधानवादी सिद्धान्त युक्तिसंगत विश्लेषण नहीं कर पाता। स्पष्ट है कि अन्विताभिधानवाद में भाषा के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा की गयी है।

अन्विताभिधानवादी चिन्तन की शक्ति ऐसे शब्दों के अर्थ के बोध की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण में देखी जा सकती है, जिनका बाह्य वस्तु के बोध से कोई सम्बन्ध नहीं होता, फिर वाक्यीय अर्थ के बोध में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। या, तो, भी, परन्तु आदि शब्दों का अर्थ वाक्यीय सन्दर्भ में ही ग्रहण किया जाता है। ऐसे पदों के स्वतन्त्र अर्थ का ज्ञान कोश आदि से अर्जित नहीं किया जाता, वाक्य-प्रयोग में सम्पूर्ण वाक्यार्थ का ज्ञान प्राप्त कर ही आवाप-उद्धार की पद्धति से विभिन्न पदों के अर्थ का विश्लेषण करते हुए ऐसे पदों के अर्थ का बोध प्राप्त किया जा सकता है।

पद के अर्थ का अन्य पदार्थों से अन्वित बोध मानने के आग्रह में किसी भी एक पद के अर्थ का समग्र पदार्थों से पूर्व-अन्वय के जिस सिद्धान्त की स्थापना की गयी, उसमें जब यह आपत्ति उठी कि एक ही पद से अन्वित अर्थों का भी बोध मान लेने पर वाक्य में अन्य पदों के प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी, तब यह युक्ति दी गयी कि किसी पद के अर्थ का सामान्य सम्बन्ध तो समग्र अर्थों से रहता है और उसका बोध उस सामान्य सम्बन्ध के साथ ही होता है, पर विशिष्ट सम्बन्ध के बोध के लिए वाक्य में अन्य पदों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। इस प्रकार की युक्ति का उद्देश्य भाषिक तथ्य के तटस्थ विश्लेषण की अपेक्षा अपने पूर्वग्रह को सिद्ध करना है। इस सन्दर्भ में दो बातें विचारणीय हैं। एक तो यह कि भाषिक ज्ञान विकासशील होता है। एक व्यक्ति को जितने पदों के अर्थ का ज्ञान है, दूसरे को उससे अधिक या कम पदार्थों का ज्ञान हो सकता है। ऐसी स्थिति में एक पद के अर्थ का कितने पदार्थों से सामान्य सम्बन्ध के साथ ग्रहण माना जायगा? यदि यह माना जाय कि व्यक्ति को जितने पदार्थों का ज्ञान होगा उनमें सामान्य अन्वय का बोध रहेगा, तो प्रश्न यह होगा कि जब नवजात शिशु किसी एक ही पद के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करता है, तब उसके ज्ञान को अन्य पदार्थों से सामान्यतया अन्वित पदार्थ का ज्ञान कैसे माना जा सकेगा? जब एक

कुत्ते की ओर निर्देश कर बच्चे को पहले-पहल यह बताया जाता है कि 'यह कुत्ता है' तब क्या कुत्ते के भूँकने, उसके रंग, गुण आदि के ज्ञान के बिना बच्चा उनसे असम्बद्ध रूप में कुत्ता का अर्थ नहीं समझ लेता ? यह तर्क कि कम-से-कम कुत्ते का बोध उसकी सत्ता के साथ अन्वित रहता है, बच्चे की बोध-प्रक्रिया में व्यावहारिक महत्त्व नहीं रखता। उस समय बच्चा सत्ता-असत्ता का अर्थ नहीं समझ सकता। बच्चे का वह प्रथम शब्द-ज्ञान अन्य-निरपेक्ष ही होता है, जिसका धीरे-धीरे अन्य पदार्थों के साथ अन्वय वह सीखने लगता है। बौद्धों के अन्यापोह पूर्वक पदार्थ-बोध के सिद्धान्त में तथा प्रत्यक्षवादी दार्शनिकों (Positivist Philosophers) की एक कथन के अन्य कथनों के सन्दर्भ में बोध-विषयक मान्यता में भी यही व्यावहारिक कठिनाई आयी है। यदि इस दार्शनिक विश्वास को छोड़ दें कि नवजात शिशु पूर्व जन्म के संस्कार के रूप में समग्र भाषिक ज्ञान लेकर उत्पन्न होता है और अपने संस्कारगत अर्थों के साथ अन्वित अर्थ का बोध पद से प्राप्त करता है, तो अन्य-सापेक्ष पदार्थ-बोध के सिद्धान्त को सार्वत्रिक रूप में सिद्ध करना कठिन होगा। अतः भाषिक बोध के शुद्ध बौद्धिक विश्लेषण में एक ऐसी स्थिति अवश्य माननी होगी, जिसमें अनन्यसापेक्ष, स्वतन्त्र पदार्थ का बोध पद से होता है। इस स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए अन्विताभिधानवादियों ने असम्बद्ध पदार्थ की स्मृति की जो कल्पना की है, उसका सबल यौक्तिक आधार नहीं है; क्योंकि प्रथम ज्ञान को स्मृति-ज्ञान नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि एक पद के अर्थ का भाषा के सभी पदों के अर्थ के साथ सामान्य सम्बन्ध भी नहीं होता। भाषा में पदार्थ के सम्बन्ध का क्षेत्र नियत रहा करता है। उदाहरणार्थ उड़ना का पक्षियों के साथ; हँसना, चलना, खाना, रोना आदि का विशिष्ट प्राणियों के साथ; भूँकना, हिनहिनाना, म्याऊँ-म्याऊँ करना आदि का क्रमशः कुत्ता, घोड़ा, बिल्ली आदि के साथ नियत सम्बन्ध रहता है। ऐसे सम्बन्धों में भी सार्वत्रिक रूप से एक पद के अर्थ का उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी पदार्थों के साथ अन्वित बोध के सिद्धान्त को सिद्ध करना कठिन है। कुत्ता शब्द का अर्थ-बोध भूँकना के अर्थ के साथ अन्वित ही हो यह नहीं माना जा सकता। जब प्रथम बार बालक कुत्ता शब्द का अर्थ सीखता है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह भूँकना का अर्थ सीख कर ही दोनों के सामान्य सम्बन्ध के साथ कुत्ता पद का अर्थ ग्रहण करे। स्पष्ट है कि अन्विताभिधानवादी चिन्तन की भी अपनी कुछ सीमाएँ हैं। अन्विताभिधानवादियों ने भाषिक बोध के स्वरूप-विश्लेषण में भाषा के व्यावहारिक पक्ष की कहीं-कहीं उपेक्षा कर अपनी दार्शनिक मान्यता का पूर्वग्रह लेकर उसका स्पष्टीकरण करना चाहा है जिसके परिणामस्वरूप उनके चिन्तन में एक वैज्ञानिक की-सी निर्लिप्तता और तटस्थता नहीं रह पायी है।

इन कुछ सीमाओं के होने पर भी किसी वाक्य के पूर्ण और परस्पर सम्बद्ध अर्थ के बोध के स्वरूप-निरूपण के क्रम में अन्विताभिधानवादियों ने कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है, जो उनके तत्त्व-चिन्तन की महनीय उपलब्धि है। इन उपलब्धियों की चर्चा पहले की जा चुकी है।

वाक्यार्थबोध के स्वरूप और उसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मानी जाने वाली अभिहितान्वयवादी तथा अन्विताभिधानवादी दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर कई नये तथ्य सामने आते हैं। प्रभाकर तथा उनके अनुयायियों के शाब्दबोध-विषयक अन्विताभिधानवादी चिन्तन में यह मान्यता व्यक्त की गयी है कि शब्द अन्वित अर्थों का अभिधा से बोध कराते हैं। अर्थ के अन्वित होने के बोध में सम्बन्ध का बोध निहित रहता है। इस प्रकार सम्बद्ध अर्थ के बोध को सम्बद्ध वस्तु या वस्तु तथा सम्बन्ध का बोध माना गया है। इस सिद्धान्त के विपरीत कुमारिल भट्ट तथा उनके मतानुयायी अभिहितान्वयवादी विचारकों की धारणा है कि शब्द अपनी अभिधा शक्ति से परस्पर-निरपेक्ष, स्वतन्त्र अर्थों का ही बोध कराते हैं और उन अर्थों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का बोध अर्थनिष्ठ सम्बन्ध-बोधक शक्ति से होता है। उनकी युक्ति है कि सम्बन्ध का स्वरूप सिद्ध या नियत नहीं रहता। विभिन्न उक्तियों में पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार का हुआ करता है। अतः सम्बन्ध को शब्द का अर्थ नहीं माना जा सकता। शब्द का संकेतित अर्थ नियत होता है, जबकि वाक्यीय सम्बन्ध साध्य होने के कारण अनियत होता है। शब्द के संकेतित अर्थ से सम्बन्ध की प्रकृति की भिन्नता को दृष्टि में रखते हुए अभिहितान्वयवादियों ने अर्थ को शब्द की अभिध शक्ति से बोध्य तथा उनके सम्बन्ध को अर्थ की संसर्ग-शक्ति अर्थात् तात्पर्य-शक्ति से बोध्य माना है।

प्रभाकर आदि अन्विताभिधानवादी शब्द से परस्पर स्वतन्त्र अर्थों की स्मृति मान कर उनके बीच सम्बन्ध-बोध को शब्दनिष्ठ अभिधा शक्ति का कार्य मानते हैं। प्रभाकर की धारणा है कि शब्द का संकेत जाति में रहता है। शब्द अपने उस जाति-रूप अर्थ का ही अभिधा से बोध कराते हैं। किन्तु, व्यक्ति-निरपेक्ष जाति का बुद्धि से ग्रहण सम्भव नहीं होता। अतः जाति के बोध के साथ ही उससे अविनाभाव रूप से सम्बद्ध व्यक्ति का भी बोध हो जाता है। शब्द की अभिधा जाति-बोध तक ही सीमित रहती है, पर जाति अपने से सम्बद्ध व्यक्ति का भी बोध करा देती है। जाति से अविनाभाव रूप में सम्बद्ध व्यक्ति के बोध की शक्ति जाति में ही अन्तर्निहित रहती है। अतः प्रभाकर जाति से सम्बद्ध व्यक्ति को भी शब्द का अर्थ मानते हैं, पर उस व्यक्ति के बोध के लिए शब्द की पृथक्

शक्ति की कल्पना आवश्यक नहीं समझते। वाक्यार्थ-बोध के स्वरूप के सम्बन्ध में उनके चिन्तन का निष्कर्ष यह है कि किसी भी पद का अर्थ अनिवार्यतः दूसरे अर्थ से सम्बद्ध रहता है। अतः अर्थ और सम्बन्ध को अलग नहीं किया जा सकता। दोनों साथ ही रहते हैं। एक अर्थ का अन्य पदार्थों के साथ एक सामान्य सम्बन्ध रहा करता है, पर वाक्य में जब एक पद के साथ अन्य कुछ विशिष्ट पदों का प्रयोग होता है तब आकांक्षा, योग्यता आदि के आधार पर वाक्यगत पदों के अर्थों में परस्पर कुछ नियत या विशिष्ट सम्बन्ध-का बोध सम्भव होता है। पदार्थों का यह विशिष्ट सम्बन्ध ही वाक्य के वास्तविक अर्थ का बोध कराता है। वाक्य से जिस सुघटित अर्थ-सन्दर्भ का—एक पूर्ण परिस्थितिरूप अर्थ का—बोध होता है, वह परस्पर-निरपेक्ष पदों से सम्भव नहीं। अतः प्रभाकर पद से परस्पर अन्वित अर्थ के अभिधान का सिद्धान्त मानते हैं। कुमारिल भट्ट आदि अभिहितान्वयवादी इस तथ्य को तो स्वीकार करते हैं कि वाक्यार्थ के रूप में विभिन्न पदार्थों का सुघटित बोध होता है, पर उनकी धारणा है कि पहले पद अपनी अभिधा शक्ति से अपने अपने स्वतन्त्र अर्थ का बोध कराते हैं, फिर पदार्थ-निष्ठ सम्बन्ध-बोधक शक्ति से उनके पारस्परिक अन्वय का बोध होता है और इस प्रकार एक सुघटित वाक्यार्थ का ग्रहण होता है। पद के स्वतन्त्र अर्थों में अन्वय स्थापित करने में आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति सहायक होती है।

हमारी विनम्र मान्यता है कि वाक्यार्थ-बोध की शक्ति वाक्य के अवयवभूत पदों में ही मानी जानी चाहिए। भाषिक प्रयोग का यह वैशिष्ट्य है कि जब अर्थवान प्रातिपादिक और धातु व्युत्पादक तथा सम्बन्धबोधक प्रत्ययों के योग से व्युत्पन्न होकर वाक्य में प्रयुक्त होने के योग्य बनते हैं, तब उन पदों में न केवल अर्थबोधक शक्ति रहती है, अपितु सम्बन्ध बोधक शक्ति भी रहा करती है। अर्थ-बोधक शक्ति प्रातिपदिक और धातु में भी रहती है। इसीलिए वे अर्थवान होते हैं, पर उनमें भाषा में प्रयुक्त होने की योग्यता नहीं रहती। इसका कारण यह है कि वे अव्युत्पन्न रूप में अपने वाच्य अर्थों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का बोध नहीं करा सकते। वाक्य में प्रयुक्त व्युत्पन्न पद अपने-अपने अर्थ का बोध कराने के साथ ही उनमें पारस्परिक सम्बन्ध का भी बोध करा देते हैं। स्थानप्रधान भाषाओं में सम्बन्ध-बोध का कार्य प्रयुक्त पदों का स्थान करता है। अतः वाक्यार्थ-बोध में पदों के अर्थों के बीच सम्बन्ध-बोध के लिए पृथक् शक्ति की कल्पना अनावश्यक है जैसी कल्पना अभिहितान्वयवादियों ने की है। पदार्थ के सामान्य सम्बन्धों की कल्पना भी आवश्यक नहीं जान पड़ती। वाक्य के अवयवभूत पदों के अर्थों में पद

की शक्ति से विशिष्ट सम्बन्ध का बोध होता है, यह मान्यता ही अधिक युक्ति-संगत जान पड़ती है।

परस्पर अन्वित सार्थक पदों से वाक्य का निर्माण होता है। अतः वाक्यार्थ के बोध में पदों के संकेतित अर्थ का बोध भी अन्तर्निहित रहता है और उन पदों के पारस्परिक अन्वय का बोध भी। अतः भाषिक बोध में पदों के अपने-अपने संकेतित अर्थों का भी महत्त्व होता है और उनमें पारस्परिक अन्वय के बोध का भी महत्त्व होता है।

बाल्य काल में भाषा का ज्ञान अर्जित करने और फिर अपने भाव-विचार को भाषा में बाँध कर व्यक्त करने की प्रक्रिया अभिन्न नहीं होती। समग्र भाषिक व्यवहार का रहस्य स्पष्ट करने के लिए दोनों प्रक्रियाओं पर विचार करना आवश्यक है। बाल्य काल के भाषा-बोध में पद-पदार्थ का विच्छिन्न ज्ञान भी हो सकता है, पर भाषा का प्रयोग करने वाला अपने बोध को वाक्य में समन्वित रूप में व्यक्त करता है, जिस वाक्य के अवयवभूत पद और पदार्थ उस परस्पर अन्वित एक अखंड बोध को व्यक्त करने में ही सार्थकता पाते हैं। अतः वाक्य को ही भाषा की मूल इकाई माना जाता है, उसके अवयवभूत पदों को नहीं। अर्थवान होने पर भी अनन्वित पद में प्रयोगार्हता नहीं होती। फिर भी अखंड बोध में सहायक अर्थवान पदों के स्वतन्त्र अर्थों के बोध की—वाक्य के अवयवों की—उपेक्षा करना उचित नहीं। प्रकृति-प्रत्यय के योग से निष्पन्न पदों में अर्थबोध के साथ पारस्परिक सम्बन्ध-बोध की भी शक्ति रहती है। स्थान-प्रधान भाषाओं में वाक्य में विन्यस्त पदों के स्थान ही सार्थक पदों को विशिष्ट सम्बन्ध के बोध की शक्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार वाक्य के अवयवभूत पदों के अर्थ तथा उनके परस्पर अन्वय के बोध से ही पूर्ण वाक्यार्थ-बोध उत्पन्न होता है।

—o—

निर्दिष्ट ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

अद्वैतसिद्धि टीका—गौड़ ब्रह्मानन्द—निर्णयसागर

अभिधावृत्तिमातृका—मुकुल भट्ट

अष्टाध्यायी—पाणिनि

काव्यप्रकाश—मम्मट

काव्यप्रदीप—गोविन्द ठक्कुर

किरणावली—उदयन

तर्कताण्डव—व्यासतीर्थ

तत्त्वप्रदीपिका—चित्सुखाचार्य

तत्त्वसंग्रहपञ्जिका—कमलशील

तत्त्वप्रदीपिका की नयनप्रसादिनी टीका—परमहंस प्रत्यग्रूप भगवान

तत्त्वसंग्रह—शान्तरक्षित

तन्त्रवार्तिक—कुमारिल भट्ट

तत्त्वचिन्तामणि—गंगेश उपाध्याय

तत्त्वबिन्दु—वाचस्पति मिश्र

निरुक्त—यास्क

न्यायकणिका—(विधिविवेक की टीका)

न्यायकन्दली—श्रीधर

न्यायकुसुमाञ्जलि—उदयन

न्यायकुसुमाञ्जलि प्रकाश—वर्धमान

न्यायमञ्जरी—जयन्त भट्ट

न्याय रत्नमाला—पार्थसारथि मिश्र

न्याय सिद्धान्त मुक्तावली—विश्वनाथ

न्याय सूत्र वार्तिक—उद्योतकर

न्यायामृत—व्यासतीर्थ

प्रमाणवार्तिक—धर्मकीर्ति

प्रमेयकमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्र सूरि

ब्रह्मसूत्र—बादरायण

बृहती (मीमांसा भाष्य पर टीका)—प्रभाकर मिश्र

भामती—वाचस्पति मिश्र
महाभाष्य—पतञ्जलि
मानमेयोदय—नारायण
मीमांसादर्शन—जैमिनि
रघुवंश—कालिदास
वाक्यपदीय—भर्तृहरि
विधिविवेक—मण्डन मिश्र
वैयाकरणभूषणसार—कौण्ड भट्ट
वैयाकरण परमलघुमञ्जूषा—नागेश भट्ट
शब्दशक्तिप्रकाशिका—जगदीश
शाबर भाष्य—शबर स्वामी
शारीरक भाष्य—शङ्कराचार्य
शिव दृष्टि—सोमानन्द नाथ
श्लोकवार्तिक—कुमारिल भट्ट
सर्वदर्शन संग्रह—सायनमाधव
सांख्य दर्शन—कपिल
साहित्यदर्पण—विश्वनाथ
स्फोटसिद्धि—मण्डन मिश्र

हिन्दी

अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन—कपिलदेव द्विवेदी
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—गोपीनाथ कविराज
भारतीय अर्थविज्ञान—हरिसिंह सेंगर
भाषा और समाज—राम विलास शर्मा
मनोभाषिकी—सूर्यदेव शास्त्री
रामचरित मानस—तुलसी दास

ENGLISH

A System of Logic—John Stuart Mill

A Study of Writing—I. J. Gelf

A Study in Language and Meaning—Bishnupada Bhattacharya

A Survey of wittgenstein's Theory of Meaning—A. P. Rao.

Alices Adventure in wonderland—Lewis Carroll

A Treatise of Human Nature—David Hume

A Treatise concerning the principles of Human Knowledge —Berkeley

An Alphabet of Meanings for the oncoming Revolutions in Man's Thinking—S. C. Dod

An Essay Concerning Human Understanding—John Locke

Ancient Ideas on the origin and Development of Language —Ed.by W. S. Allen

An Inquiry into Meaning and Truth—Bertrand Russell

An Introduction to Descriptive Linguistics—H. A. Gleason

Analysis of Mind—B. Russell

Behaviorism—J. B. Watson

Buddhist philosophy of Universal Flux —Dr Satkari Mukerjee

Critique of pure Reasoning—Kant

Communication Theory—*W.* Jackson

Coral garden and their Magic—Bronislaw Malinowski

Four Articls on Metalinguistics—B. J. Whorf

From the Logical point of view —*W.* V. Quine

Fundamentals of Language—R. Jacobson and M. Halki

Garland of Letters—*W*odroff

General Theory of Communication—J. Ruesch, New york,

Handbook of Biolinguistics—Meader and Muyskens, London

History of Formal Logic—Bodensky

Indian Theories of Meaning—K. Kunjunni Raja

Infant-Speech—M. M. Lewis, Kegan Paul, London, 1936
Inquiries into Human Faculty and its development—P. Gallon
Introduction to semantics—Rudolph Carnap
Introduction to semantics—Adams Schaff
Language—Edward Sapir
Language—Leonard Bloomfield
Language—Otto Jesperson
Language and Style—S. Ullmann
Language and Thought of the child—Jean Piaget
Language, Thought and Culture—P. Henle
Language; Thought and Reality—Benjamin Lee Whorf
Language Truth and Logic—A. J. Ayer
Language in Society—M. M. Lewis
Language in Relation to the United Thought of the structure of Human Behavior—K. Pike
Linguistics and the problem of Meaning—J. R. Firth
Logic—B. Russell
Logical Syntax of Language—R. Carnap
Marxism and the National and Colonial Question—Stalin
Methods and Theory in experimental Psychology —C. E. Osgood
Methods in Structural Linguistics—Harris
Mysticism and Logic—B. Russell. 1918
New Essays—Leibnitz
On defining Linguistic Units—W. Hall
On Interpritation—Aristotle
On Translation—W. V. Quine
Paper in Linguistics—J. R. Firth
Paralogism—Rojler
Philosophy in a New Key—Susanne K. Langer
Philosophical Investigations—Ludwig Wittgenstein
Philosophy of Logical Construction—Hemant Kumar Ganguli
Philosophy of Language—Allport

Philosophy of Language—Quine
Philosophy of Sanskrit Grammer—Dr. P. C. Chakravarti
Poetics—Aristotle
Pragmetism—William James
Primitive Mentality—L. Levy
Principles of Mathematics—B. Russell
Problem of Meaning in Indian Philosophy—R. C. Pandeya
Principles of Semantics—Stephen Ullmann
Psycho-biology of Language—G. K. Cipf
Psycho-Linguistics—Edited by Sol Sapota
Selected writings—J. H. Jackson
Selected Writings—E. Sapir
Semantic Difficulties in International Communication —E. S. Glenok
Semantics—Stephen Ullmann
Signs, Language and Behaviour—C. W. Morris
Signs, Signals and Symbols—S. E. Meson
Signification and Language—Lady Webly
Social Living and Imitation—M. E. Miller & J. Dollard
Sophistical Refutation—Plato
Speaking Objects—W. V. Quine
Semantics—M. Breal, tr.by Henery Cust
Speech and Brain Mechanism—W. Penfield and L. Robert
Structural Linguistics—Z. S. Harris
Structural Semantics—John Lions
Structure of Language—Carnap
Studies in Linguistics—T. R. Firth
The Child's Conception of World—J. Piaget
The Child's Conception of Physical Casuality—J. Piaget
The Child's Conception of Number—J. Piaget
The Chomskeyan Revolution—Daniel Yergin
The Diversity of Meaning—L. J. Cohen
The Fundamentals of Language—R. Jacobson

The Heritage of Symbolism—C. M. Bowra
The Linguistic Speculations of the Hindus—P. C. Chakravarti
The Logical Syntax of Language—R. Carnap
The Meaning of Meaning—C. K. Ogden & I. A. Richard
The Measurement of Meaning—C. E. Osgood
The Mind of Primitive Man—F. Boas
The Need for Abstract Entities in Semantics—A. Church
The Problems of Philosophy—B. Russell
The Philosophy of word and Meaning—Gaurinath Shastri
The Philosophy of a Sentence and its Parts—V. Subba Rao
The Psychology of Language—W. B. Pillsbury
The Philosophical Investigation—*Wittgenstein*
The Structure of Semantic Theory—*J.* A. Fodor
The words ond Things—R. Brown
Thinking—G. Humphry *Wiley*
Tractatus Logico-Philosophicus L. *Wittgenstein*—D. F. Pears
Translations—Freg
Wittgenstein's Lectures in 1930-33—G. E. Moore. Mind 1954
Wittgenstein : A Collection of Critical Essays—ed. G. Pitcher

□□□